श्री गुरुजी समग्र



खंड ११

चिंतन-सुधा

स्वत्वाधिकार

डा हेडगेवार स्मारक समिति
डा हेडगेवार भवन
महाल नागपुर-४४००३२

प्रकाशक

सुरुचि प्रकाशन
देशबन्धु गुप्ता मार्ग
नई दिल्ली-११००५५

प्रथम संस्करण

माघ कृष्ण एकादशी युगाब्द ५१०६

मुद्रक

गोपसन्स पेपर्स लि
नोएडा-२०१३०१

मूल्य प्रति सच

दो हजार रुपए

पारिभाषिक शब्द

सरसघचालक	–	सघ के मार्गदर्शक।
सरकार्यवाह	–	सघ के निर्वाचित सर्वोच्च पदाधिकारी।
सघचालक	–	स्थानीय कार्य व कार्यकर्ताओं के पालक।
मुख्यशिक्षक	–	नित्य चलनेवाली शाखा के कायक्रमों को सचालित करनेवाला।
कार्यवाह	–	शाखा क्षेत्र का प्रमुख।
गटनायक	–	शाखा क्षेत्र के एक छोटे भौगोलिक भाग का प्रमुख।
प्रचारक	–	सघकार्य हेतु पूर्णत समर्पित अवैतनिक कार्यकर्ता।
शाखा	–	सस्कार निर्माण हेतु नित्यप्रति का एकत्रीकरण।
उपशाखा	–	एक स्थान पर चलने वाली विभिन्न शाखाएँ।
बैठक	–	विचार-मथन व सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया हेतु एकत्र बैठने की प्रक्रिया।
बौद्धिक	–	वैचारिक प्रबोधन का कायक्रम भाषण।
समता	–	अनुशासन के प्रशिक्षण हेतु शारीरिक कार्यक्रम।
सपत्	–	कायक्रम प्रारभ करने हेतु स्वयसेवकों को निश्चित रचना में खडा करने की आज्ञा।
विकिर	–	शाखा-कार्यक्रम की समाप्ति की अतिम आज्ञा।
दड	–	लाठी।
चदन	–	एक साथ मिल-बैठकर जलपान करना।
सहभोज	–	अपने-अपने घर से लाए भोजन को एक साथ मिल-बैठकर करना।
शिविर	–	कैंप।
सघ शिक्षा वर्ग	–	सघ की कार्यपद्धति सिखाने हेतु क्रमबद्ध त्रिवर्षीय प्रशिक्षण योजना।
सार्वजनिक समारोप	–	शिविर तथा वर्ग का अतिम सार्वजनिक कार्यक्रम।
खासगी समारोप	–	वर्ग का केवल शिक्षार्थियों के लिए दीक्षात कार्यक्रम।

भाग-३

वैभव का मार्ग

भाग-४

व्यक्ति निर्माण

खंड ११

चिंतन-सुधा

इस खंड मे प्रस्तुत सामग्री 'विचार नवनीत' से ली गई है। इसमे से केवल उस सामग्री को छोडा है, जो विस्तार से अन्य किसी खंड मे आ चुकी है। शेष यथावत रखी गई है।

प्रथम भाग जीवन लक्ष्य

१ हमारा जागतिक लक्ष्य

वर्तमान मानसिक ग्रंथि

आज हमारे देश के बहुत लोगों का विचार यह है कि जिस किसी भी उपक्रम को हम अगीकार करें, वह देश, जाति अथवा धर्म की सभी सीमाओं से परे एक महत् जागतिक विचार के व्यापक आधार पर अधिष्ठित तथा सपूर्ण मानवता का हित-साधन करने में समर्थ होना चाहिए। इस दृष्टिकोण के समर्थन में कुछ लोग प्रतिपादन करते हैं कि मिसाइल और राकेटों के इस युग में दूरी लुप्त हो चुकी है, देशों की सीमा-रेखाएँ अर्थहीन हो चुकी हैं तथा सपूर्ण ससार सिकुड गया है। उन्हें लगता है कि देश, राष्ट्र आदि की कल्पना ही कालातीत हो गई है। इसलिए एकमात्र विश्व-ऐक्य की भावना ही हमारे कार्यकलापों की प्रेरणा होनी चाहिए। उनका निष्कर्ष है कि वे आधुनिक 'वाद' ही, जिन्होंने 'अतर्राष्ट्रीयतावाद' को अपना दलीय सिद्धात स्वीकार कर रखा है, हमें उस प्रिय लक्ष्य तक ले जा सकते हैं।

अब स्वाभाविक ही जो प्रश्न हमारे सामने आता है, वह यह है कि राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ द्वारा ग्रहण किया हुआ हिंदुओं के राष्ट्रीय जीवन को पुन सगठित करने का कार्य ससार के ऐक्य एव मानव-हित भावना के साथ कहाँ तक समरूप है।

इस क्षेत्र मे प्रथमागत

आरभ में ही यह स्पष्ट कर देना है कि आधुनिक विचारक ससार के ऐक्य एव विश्वकल्याण की दृष्टि से चितन के क्षेत्र में प्रथम नहीं हैं। बहुत काल पूर्व, वास्तव में तथाकथित आधुनिक युग के आगमन के बहुत

पहले इस देश के ऋषि-मनीषी इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर गम्भीरता से मनन कर चुके थे। अनतकाल से मानव की एकता का आदर्श, सघर्ष एव सब प्रकार के दैन्य से मुक्त एक ससार की कल्पना हमारे हृदयों को उद्दीप्त कर चुकी है। युग-युगातर से हमारी निरतर एक प्रार्थना रही है– 'सर्वेऽपि सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया' (सभी सुखी हों और सबकी सभी अनिष्टों से मुक्ति हो) जबकि वर्तमान काल का पश्चिम 'अधिकतम सख्या का अधिकतम हित' के आदर्श वाक्य से आगे नहीं बढ पाया है। हमने प्रत्येक मानव के ही नहीं किसी भी प्राणी के दुखी होने का विचार कभी सहन नहीं किया। 'प्राणिमात्र का पूर्णकल्याण' ही सदैव हमारा उदात्त आदर्श रहा है।

दो पक्ष

ससार की आज की परिस्थिति का अवलोकन करने पर मानव-समाज को उद्ध्वस्त कर रहे और चारों ओर फैले कलह एव विध्वस के कठोर सत्य का सामना हमें करना पड़ता है। आज मानवता, राष्ट्र और राज्य कहलानेवाले कितने ही छोटे-छोटे एकातिक गुटों में विभक्त एव अतर्विभक्त हैं। उनमें से प्रत्येक अपने ही सकुचित स्वार्थ में डूबा हुआ है। यह एक साधारण अनुभव की बात है कि जहाँ केवल अपने ही स्वार्थों से प्रेरित गुट रहते हैं वहाँ परस्पर सघर्ष होता ही है। स्पष्ट है कि जब इस प्रकार के सघर्ष होते रहेंगे, मानव का ऐक्य एव कल्याण असभव है।

कलह एव युद्धों की वर्तमान दशा ने और परिणामस्वरूप विनाश तथा दैन्य ने अनेक विचारकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचाया है कि एकातिक स्वार्थ का पोषण करनेवाली यह राष्ट्रवाद की भावना ही ससार की एकता और कल्याण के मार्ग की सबसे बडी बाधा है। अत उन्होंने घोषणा की है कि सपूर्ण ससार में मनुष्यों के मस्तिष्क से राष्ट्रवाद का उन्मूलन कर देना चाहिए। कम्युनिस्ट विचारधारा जो अतर्राष्ट्रीयतावाद को अपना आधार मानती है, प्राय इसी ढग से प्रस्तुत की जाती है।

दूसरी ओर एक और भी विचार प्रणाली है, जो इस बात को स्वीकार करती है कि राष्ट्रवाद की जडें इतनी गहरी और इतनी प्राचीन हैं कि उन्हें नष्ट करना असभव है। अतर्राष्ट्रीयतावाद को स्वीकार करने के लिए राष्ट्रवाद का परित्याग करनेवाला सोवियत रूस अनुभव द्वारा शीघ्र ही समझ गया कि इस भावना का विनाश जनता को समर्पण-भाव के प्रयास

करने की प्रेरणा से वंचित कर देता है। क्रांति के प्रथम संवेग में तो निस्संदेह रूस ने एक सीमा तक भौतिक प्रगति उपलब्ध की थी। उनकी प्रथम कतिपय पंचवर्षीय योजनाएँ कुछ परिमाण में सफल रहीं। किंतु धीरे-धीरे जनता का जोश ठंडा होने लगा। कार्य के लिए उनकी प्रेरणा भी निर्जीव सी होने लगी। अतः में बड़े-बड़े कारखानों में श्रमिकों को संगीनों की नोक पर काम करने के लिए बाध्य किया जाना आवश्यक हुआ। फिर द्वितीय विश्वयुद्ध में जिस समय हिटलर के टैंक रूस की भूमि को रौंदते हुए आगे बढ़ रहे थे, अंतर्राष्ट्रीयतावाद और कम्युनिज्म का घोष रूसी जनता में जोश उत्पन्न करने में असफल रहा। इससे रूसी नेताओं की आँखें खुलीं। रूसी जनता में प्रसुप्त देशभक्ति की भावना को जगाने के लिए मातृभूमि एवं अपने वीर पूर्वजों के प्रति अति प्राचीनकाल की भक्ति के जागरण की नितांत आवश्यकता उन्हें प्रतीत हुई। अतः यह स्पष्ट है कि मातृभूमि, समाज एवं परंपराओं के प्रति श्रद्धा, जो कि राष्ट्र की कल्पना के अंतर्गत आती है, ही व्यक्ति में वास्तविक सेवा और बलिदान की भावना को प्रेरित करती है।

विफल प्रयोग

इस प्रकार हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राष्ट्रवाद नष्ट नहीं किया जा सकता और न ही उसे नष्ट करना चाहिए। ऐसी दशा में जो समस्या शेष बचती है, वह राष्ट्रीय आकांक्षाओं एवं विश्वहित के समन्वय की है। वास्तव में भूतकाल में समय-समय पर विविध प्रकार के समन्वयों पर प्रयास किए जा चुके हैं। कभी-कभी साम्राज्यवाद ने भी इस समन्वय के लिए एक महत् प्रयास करने का दावा किया था। छोटे-छोटे राष्ट्रों को एक ही साम्राज्य के अंग बनाकर उनके पारस्परिक संघर्षों को मिटाया जा सकता है— ऐसा यह विचार था, किंतु स्वयं के स्वार्थ की पूर्ति उसका मूल उद्देश्य होने के कारण साम्राज्यवाद राष्ट्रों के संघर्ष मिटाने में असफल रहा। परतंत्र राष्ट्रों द्वारा उनके उत्पीडन एवं शोषण के विरुद्ध विद्रोह होने लगे।

'लीग आफ नेशन्स' का निर्माण प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् हुआ था। वह भी युद्धों को टालने और विश्व-एकता की उपलब्धि का एक प्रयोग था, किंतु अपने जन्म के दो दशाब्दियों के भीतर ही वह भी अनियंत्रित राष्ट्रीय आकांक्षाओं के संघर्षों की चट्टान से टकराकर चूर-चूर हो गई। पिछले सभी युद्धों से अधिक भीषण युद्ध ने मृत्यु और विनाश के द्वारा

पृथ्वी के मुख को मलिन कर दिया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् निर्मित राष्ट्रसघ भी कुछ अधिक भली प्रकार से नहीं चल पा रहा है। कश्मीर के मामले में हमारा अनुभव ही हमें बताता है कि वह न्याय करने, गलती करनेवाले सदस्यों की कटु आलोचना करने तथा राष्ट्रों के मध्य एक सम्मानपूर्ण सौहार्द स्थापित करने में असमर्थ है। वह तो राष्ट्रीय सघर्षों के अखाडे में बदल चुका है। शक्तिशाली राष्ट्र अपने विस्तारवादी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसकी वाद-सभा पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करते रहते हैं। ससार पर तृतीय विश्वयुद्ध के काले बादल मँडरा रहे हैं, जिसके कारण वर्तमान सभ्यता का आकस्मिक एव सपूर्ण अत हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवता के कल्याण के लिए सौहार्द की भावना से राष्ट्र एक साथ आने के लिए उद्यत नहीं हैं। इसके विपरीत राष्ट्रीय भावनाएँ अधिकाधिक एकातिक होती हुई तीव्र हो रही हैं। विश्व-मच पर नए-नए राष्ट्रों का उदय हो रहा है। सपूर्ण विश्व राष्ट्रों के सघर्षों से घिरा हुआ है।

सक्षेप में निष्कर्ष यही निकलता है कि राष्ट्रवाद का विनाश नहीं हो सकता। राष्ट्रों की आकाक्षाओं में मेल बिठाने के अब तक के सभी प्रयत्न बुरी तरह असफल हो गए हैं तथा ससार आणविक महाविध्वस के तट पर आ खडा हुआ है। ऐसी दशा में मानवता के उद्धार का कौन-सा मार्ग शेष रहता है? इस चुनौती का कोई भी उत्तर आता प्रतीत नहीं होता। सपूर्ण ससार के विचारक एक प्रकार की दुविधा से ग्रस्त हैं।

एकता का आतरिक बध

तथापि इसका हल हम हिंदुओं के पास है। हमारा हल भौतिकवाद पर आधारित नहीं है। अब तक के किए गए सभी प्रयास एव प्रयोग भौतिकवाद से प्रसूत सिद्धातों और वादों पर आधारित थे, पर भौतिकवाद के पास इस अत्यत प्रमुख तथा मूलभूत प्रश्न का कोई उत्तर नहीं कि विश्व की एकता एव मानव-कल्याण की थोडी भी आकाक्षा लोगों में क्यों होनी चाहिए? मनुष्य के विरोध में मनुष्य के खडे होने के दृश्य से उन्हें थोडी भी दया क्यों होनी चाहिए? हमें एक-दूसरे से थोडा भी प्यार क्यों करना चाहिए? भौतिक दृष्टिकोण से हम सबकी समान रूप से स्थूल सज्ञा है, जो

प्रत्येक अपने में अलग-अलग और एकातिक है। जिनमें परस्पर लगाव अथवा प्रेम के कोई बधन नहीं हो सकते। ऐसे प्राणियों में कोई आतरिक सयम भी नहीं हो सकता जो सपूर्ण मानवता के हित में उन्हें अपने उन्मादी स्वार्थ को सयमित करने की प्रेरणा दे सके।

अतत विश्वकल्याण की उपलब्धि के लिए निर्मित कोई व्यवस्था उसी परिमाण में फलप्रद हो सकती है, जिस परिमाण में उससे सबधित व्यक्ति मानव के सच्चे प्रेम से उत्स्फूर्त होंगे और जो उन्हें मानवता के कल्याण के साथ अपने व्यक्तिगत एव राष्ट्रीय चारित्र्य के सुर को मिलाने की योग्यता प्रदान करेगी। बिना इस परम श्रेष्ठ प्रेरणा के कोई भी योजना उसका कितना ही उत्तम अभिप्राय क्यों न हो, सत्ता के मद में चूर राष्ट्रों को अपने-अपने स्वार्थ-सवर्धन के लिए एक और मोहक आवरण ही प्रस्तुत करेगी। वर्तमान समय तक इतिहास का यही निर्णय रहा है।

अत हमारे प्राचीन हिंदू दार्शनिकों ने अपनी दृष्टि को भौतिकवाद से उच्चतर तत्त्व की ओर मोड दिया था। उन्होंने भौतिक विज्ञानों की पहुँच के अत्यत परे मानवात्मा के रहस्यों की गहराई में उतरकर सपूर्ण सृष्टि में परिव्याप्त चरम सत्य का, प्राणिमात्र में वर्तमान एक महान समान तत्त्व, जिसे हम आत्मा, ईश्वर, सत्य, वास्तविकता अथवा शून्य कोई भी सज्ञा दे सकते हैं, का आविष्कार किया। समय-समय पर इस समान तत्त्व की होनेवाली अनुभूति ही हमें दूसरों के सुख के लिए उद्यम करने की प्रेरणा प्रदान करती है। जो 'अह' मुझमें है, वही दूसरे प्राणियों में भी होने के कारण वह मुझसे अपने सहचर जीवित प्राणियों के सुख-दु ख में उसी प्रकार प्रतिक्रिया करवाता है, जिस प्रकार मैं अपने निजी सुख-दु ख में करता हूँ। आतरिक तत्त्व की सजातीयता से प्रसूत तादात्म्य की यह विशुद्ध अनुभूति ही मानव-एकता एव भ्रातृत्व के लिए हमारी नैसर्गिक आकाक्षा के पीछे की वास्तविक प्रेरक शक्ति है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्व की एकता तथा मानव-कल्याण उसी सीमा तक अस्तित्व में लाया जा सकता है, जहाँ तक मानव-प्राणी इस समान आतरिक बधन की अनुभूति करता है। एकमात्र उसी अनुभूति में यह शक्ति है, जो भौतिकवाद से प्रसूत चित्त-क्षोभ और कलह का दमन कर सकती है, मानव मन के क्षितिज को विस्तृत कर सकती है और मानव-कल्याण के साथ व्यक्तिगत एव राष्ट्रीय आकाक्षाओं का स्वैक्य सपादित कर सक्ती है।

सही रास्ता

अब हम दूसरे प्रश्न पर आते हैं। यह समान आधार मानव-समाज की जटिल संघटना में स्वयं को किस प्रकार व्यक्त करेगा? क्या इसका परिणाम राष्ट्रों के सभी विशिष्ट लक्षणों का उच्छेद होने में और उन सबके एक ही साँचे में ढाले जाने में होगा अथवा यह लोगों के विभिन्न समुदायों को उनकी अपनी विशेष राष्ट्रीयता की रक्षा करते हुए मानव-मात्र की एकता की अनुभूति के आधार पर सहचारित्व की भावना से एक साथ लाएगा?

इस विषय में हमारे दार्शनिकों ने निर्भ्रांत रूप से मानव के वास्तविक आनंद का मार्ग-निर्देश किया है। व्यक्ति के समान ही राष्ट्र (व्यक्तियों का सामूहिक योग) का भी अपना एक पृथक व्यक्तित्व होता है। भूमंडल के सभी भागों में व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के अलग-अलग विशिष्ट लक्षण तथा स्वरूप हुआ करते हैं, जिनका प्रत्येक का विश्व की योजना में अपना स्थान होता है। विभिन्न मानव-सम्प्रदाय, अपने-अपने मार्ग से अपनी प्रकृति के अनुसार एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। अतः चाहे वह व्यक्ति हो अथवा समुदाय, उसकी अपनी विशिष्टताओं का विनाश उसके सामंजस्य के नैसर्गिक सौंदर्य को ही नष्ट नहीं करेगा, वरन् उसके आत्माभिव्यक्ति के आनंद को भी नष्ट कर देगा। मानव-जीवन का विकास जो बहुमुखी होता है, इससे रुद्ध हो जाएगा।

यह एक सामान्य अनुभव का विषय है कि अपनी विशिष्टताओं के विकास द्वारा ही कोई भी व्यक्ति अपनी पूर्ण क्षमता तक विकास कर आनंद एवं सुख का अनुभव कर सकता है। इसलिए विविध विशिष्टताओं के बीच सामंजस्य की खोज संसार के चिंतन में हमारी विशिष्ट देन है। हमारी जातीय प्रतिभा का जो लक्षण (अर्थात् 'विविधता के बीच एकता की पहचान') प्रायः उद्धृत किया जाता है वह मानव की एकता उसके आनंद एवं विकास की जड़ों को सिंचित करनेवाले सिद्धांतों के गंभीर एवं यथोचित मूल्यांकन से उत्पन्न होता है। इस प्रकार संक्षेप में हम राष्ट्रों के मध्य सामंजस्यपूर्ण संयोग चाहते हैं उनका विलोप नहीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि भौतिक अस्तित्व के किसी विशिष्ट स्तर पर समस्त मानव प्राणियों को लाकर उनके व्यक्तिगत तथा सामुदायिक वैशिष्ट्यों को मिटाते हुए एक राज्यविहीन अवस्था के निर्माण का विचार हमारे लिए परकीय है। अतः वह

विश्व-राज्य, जिसकी हम कल्पना करते हैं स्वायत्त एव आत्मनिर्भर उन सभी राष्ट्रों के सघ द्वारा विकसित होगा, जो उनके सबध सूत्रों को बनाए रखनेवाले एक केंद्र के अधीन रहेंगे।

दैवी धरोहर

यह स्पष्ट है कि हिंदू-समाज की अप्रतिम राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुरूप उसे पुन सगठित करने का पवित्र कर्तव्य, जिसे सघ ने ग्रहण किया है, केवल भारत के ही सच्चे राष्ट्रीय पुनरुत्थान का एक कार्यक्रम नहीं है, अपितु ससार की एकता एव मानव-कल्याण के स्वप्न को चरितार्थ करने की अनिवार्य पूर्व भूमिका भी है। जैसा कि हम देख चुके हैं, ससार की एकता का सपादन करनेवाला यह केवल हिंदुओं का ही महान विचार है, जो मानव भ्रातृत्व के लिए स्थायी आधार प्रदान कर सकता है। अतरात्मा का यह ज्ञान मनुष्य मात्र के सुख के लिए परिश्रम करने की दिव्य प्रेरणा से मानव-मस्तिष्क को प्रेरित करते हुए भूतल की प्रत्येक छोटी से छोटी जीवन-विशिष्टता को अपनी पूर्ण क्षमता-पर्यत विकास के लिए पूर्ण एव स्वतत्र अवसर प्रदान करेगा।

यह ज्ञान केवल हिंदुओं के ही पास सुरक्षित है। हम कह सकते हैं कि यह दैवी धरोहर है, जिसका भार नियति ने हिंदुओं को सौंप रखा है। जब किसी व्यक्ति के पास कोई अमूल्य निधि होती है तो उसकी रक्षा कर दूसरों के कल्याण के लिए उसे उपलब्ध बनाए रखना उसका कर्तव्य हो जाता है। यदि व्यक्ति अपने इस परम कर्तव्य के पालन में असफल होता है तो वह अपना ही नहीं, दूसरों का भी विनाश करता है। अतएव हिंदू-समाज को स्वस्थ दशा में सुरक्षित रखने के पवित्र कर्तव्य का दायित्व हम पर है।

हम यह केसे कह सकते हैं कि जागतिक महान लक्ष्य केवल हिंदू ही पूर्ण कर सकता है, अन्य कोई नहीं? प्रथम दृष्टि में इस प्रकार दावा करना शायद अत्यधिक गर्वोक्ति प्रतीत हो, तथापि यह वस्तुस्थिति का सीधा निरूपण है, जिसका वास्तविक मूल्याकन अपने देश तथा अन्यान्य देशों की ऐतिहासिक प्रक्रिया का सम्यक् निरीक्षण करके हम कर सकते हैं। इतिहास का यह कथन है कि केवल इसी देश में अति प्राचीनकाल से विचारकों और दार्शनिकों, ऋषियों और मनीषियों की पीढी के पश्चात् पीढी मानव-प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन करने के लिए उठती रही। उन्होंने आत्म-जगत् में

गहराई तक गोता लगाया तथा उस महान एकरूपता के सिद्धांत की अनुभूति के शास्त्र को आविष्कृत किया, उसे परिपूर्ण बनाया। एक संपूर्ण राष्ट्र की तपस्या और त्याग तथा सैकड़ों शताब्दियों का अनुभव संसार की आध्यात्मिक तृषा को शांत करने के लिए इस ज्ञान के अक्षय स्रोत के रूप में यहाँ वर्तमान है।

दूसरी ओर भारत से बाहर के संसार ने आत्मा के इस शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। आज तक अपनी इंद्रियों से बाह्य संसार के अध्ययन के अभ्यस्त हो, वे बहिर्मुखी बने हुए हैं। इंद्रियाँ बहिर्मुखी होने के कारण आंतरिक प्रकृति के दृश्य की ओर जाने में असमर्थ हैं। इसीलिए पाश्चात्य लोग आत्म-जगत् के ज्ञान एवं अनुभव से शून्य बने रहे, चाहे स्थूल जगत् के रहस्यों का कितना ही उद्घाटन उन्होंने क्यों न कर लिया हो। दूसरी ओर हमारे पूर्वज, जिन्होंने इंद्रियों से परे विश्व में प्रवेश किया, अंदर देख सके और उस भासमान आंतरिक सत्य की झाँकी प्राप्त कर सके।

व्यावहारिक सफलता

यह केवल शुष्क ज्ञानमात्र नहीं था, जो अपने वन्य आश्रमों में बैठकर थोड़े से विचारकों के बौद्धिक अनुमानों तक ही सीमित रहा हो। यह था एक सजीव विचार, जो हमारे पूर्वजों को जिनमें विचारक, प्रशासक, व्यापारी, वैज्ञानिक, कलाकार और दार्शनिक भी थे, विश्व भ्रातृत्व का संदेश पहुँचाने के लिए दूर देशों तक ले गया। जहाँ भी उन्होंने कदम रखा, वहाँ के लोगों को उन्होंने जीवन के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों तथा भौतिक उन्नति के शास्त्रों की शिक्षा दी और अपनी कल्याणकर छाया में राष्ट्रों के सजातीय भ्रातृत्व का निर्माण किया। सशक्त आत्मविश्वासपूर्ण एवं आत्मतेज से उद्भासित हमारे हिंदू-समाज ने दूर-दूर तक फैले उस आध्यात्मिक साम्राज्य को एकरूपता की धुरी प्रदान की।

कोलंबस के अमरीका का पता लगाने के बहुत पहले हमारा विस्तार एक ओर तो अमरीका तक फैल चुका था और दूसरी ओर चीन, जापान, कंबोज, मलय, श्याम हिंदेशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के सभी देशों तथा उत्तर में साइबेरिया और मंगोलिया तक फैला था। हमारा सशक्त राजनीतिक साम्राज्य इन दक्षिण-पूर्वी क्षेत्रों में १४०० वर्षों तक फैला रहा। शैलेंद्र साम्राज्य ७०० वर्षों से अधिक काल तक चीनी विस्तार के विरुद्ध एक शक्तिशाली रोक के रूप में अत्यंत उत्कर्ष की अवस्था में रहा है।

उन सभी शताब्दियों में वहाँ के स्थानीय लोगों के द्वारा न तो कभी कोई जन-विप्लव हुआ और न उनका उन्मूलन ही। यदि विदेशी लोगों और विदेशी सस्कृति के द्वारा आधिपत्य अथवा शोषण के कुछ भी लक्षण होते तो उसका उपर्युक्त परिणाम अनिवार्य रूप से हुआ होता। इसके विपरीत वे लोग हमारे प्रति कृतज्ञ थे। वे हमारे राष्ट्र के प्रति श्रद्धा रखते थे और अपने इस नश्वर शरीर को गगाजी के किनारे छोडने की कामना करते थे। यह बात इतिहास के उन रक्ताकित पन्नों के कितनी विपरीत है, जिनमें इस्लाम, ईसाइयत और अब कम्युनिज्म तथा दूसरे देश में उत्पन्न अन्यान्य 'विश्वविजेताओं' के विस्तार वर्णित हैं। आज के दिन भी उनमें से बहुतों की आधारभूत जीवन-रचना हिदू ही है। वे 'हिदू' नाम धारण करते हैं। हम वहाँ चारों ओर हिदू चेहरे देखते हैं, जिनमें से अनेक लोग सप्रदाय के रूप में मुसलमान होते हुए भी अपने हिदू उत्तराधिकार पर गर्व करते हैं। फिलिपाइन्स में न्यायालय के विशाल कक्ष में मनु की स्फटिक की प्रतिमा स्थापित है, जिसपर अकित है– 'मानव जाति का प्रथम महान एव श्रेष्ठ प्रज्ञासपन्न विधि-निर्माता।'

शताब्दियों से हमारे समाज में ऐसी-ऐसी महान आत्माओं का उदय हुआ है, जिनमें की प्रत्येक आत्मा, ससार के विचाराकाश का कातिमान नक्षत्र है और अब भी वह समाज वर्तमान काल तक श्री रामकृष्ण परमहस के समान ज्योर्तिमान अनेक आत्माओं को जन्म दे रहा है। उन्होंने केवल मानव-जाति के सुख-दु ख से ही अपना तादात्म्य अनुभव नहीं किया, वरन् चेतन एव अचेतन– सभी वस्तुओं से अद्वैत रखा। जब उन्होंने एक बार एक गौ को चाबुक से पिटते देखा, तो वे पीडा से चीत्कार कर उठे थे। उनकी पीठ पर चाबुक के निशान उभर आए थे। एक अन्य अवसर पर चरागाह में चरते हुए एक बैल के घायल खुर का चिह्न उनकी छाती पर बन गया था। आत्मज्ञान के हमारे महान शिक्षकों ने इस सीमा तक तादात्म्य प्राप्त किया था। उसके बाद ही उसका उपदेश दिया।

प्रथम पग

फिर भी आज इस प्रकार का महान पैतृकदाय उसकी अपनी ही सतति के द्वारा तिरस्कृत हो रहा है और मिटाया जा रहा है। अपने प्राचीन आदर्शो एव परपराओं का उपहास करना, और अन्य आधुनिक 'वादों' के साँचे में अपने समाज को ढालने की बात करना इन दिनों का फैशन हो

गया है, किंतु अपनी जीवन-रचनाओं (प्रतिमानों) के स्थान पर दूसरों की जीवन-रचना अधिष्ठित करने के प्रयत्न करना तथा अपनी स्वाभाविक प्रकृति के नैसर्गिक विकास की दिशा में ध्यान न देना केवल अधोगति का ही परिणाम दे सकेगा। हम अपने समाज पर इसके भयंकर परिणाम के चिह्न भी देख रहे हैं। अपना असंगठित एवं आत्मविश्वासहीन समाज विविध वादों और पंथों के परिधान में घूमती हुई हिंस्र शक्तियों का सरल शिकार हो गया है। आत्म-भर्त्सना का अभ्यस्त सर्वतोन्मुखी विघटन एवं छिन्न-विच्छिन्नता से दुर्बल, दुनिया में प्रत्येक देश के द्वारा बात-बात में ठुकराया हुआ और अपमानित समाज संसार को कैसे शिक्षा दे सकता है? वह व्यक्ति किस प्रकार दूसरों को महानता का मार्ग दिखा सकता है, जिसमें अपने निजी जीवन को उन्नत बनाने की लगन अथवा योग्यता का अभाव है?

अतएव यह अनिवार्य है कि मानव जाति को अपना अद्वितीय ज्ञान प्रदान करने की योग्यता-संपादन करने के लिए तथा संसार की एकता और कल्याण हेतु जीवित रहने एवं उद्योग करने के लिए हमें संसार के समक्ष आत्मविश्वासी पुनरुत्थानशील और सामर्थ्यशाली राष्ट्र के रूप में खड़ा होना पड़ेगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने उस युग-युगांतर से चले आए राष्ट्रीय लक्ष्य को पूर्ण करने का संकल्प किया है, जिसके प्रथम पग के रूप में इस समय हिंदू-समाज के बिखरे हुए तत्त्वों को संगठित करके, आध्यात्मिक एवं भौतिक जीवन के दोनों ही क्षेत्रों में वह एक संगठित और अजेय शक्ति निर्माण करेगा।

ॐ ॐ ॐ

२ मानवता का परम आश्रय

विश्व के कुछ राष्ट्र 'विकासशील व आधुनिक समाज' होने का दंभ भरते हैं। उनके जीवन का मुख्य तत्त्व भौतिक सुख-साधन है— सुख के इस साधन का प्रथम पहलू है अनंत प्रतिस्पर्धा। सुखोपभोग की सामग्री के संचय के लिए हर कोई दूसरे से स्पर्धा कर रहा है। जिसे आजकल 'उन्मुक्त समाज' की संज्ञा दी जाती है, वह इस सुख के साधन का दूसरा पक्ष है।

सामाजिक आत्महनन का मार्ग

अब हम आधुनिक समाज के दूसरे प्रेरणा-सूत्र 'उन्मुक्तता' पर विचार करते हैं। इसका सीधा अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन का आनद स्वैच्छिक ढग से प्राप्त करने के लिए सर्वतत्र-स्वतत्र हैं। किसी प्रकार का बधन नहीं है। यह वासना, खान-पान, पारिवारिक जीवन, सामाजिक अत सबध इत्यादि सभी विषयों में बेलगाम एव स्वैराचारी है। यह उसके वार्तालाप, लेखन, आचार-विचार– सभी में परिलक्षित होता है। इस प्रकार की 'उन्मुक्तता' मानवता के वास्तविक सुख में साधक नहीं हो सकती। इस प्रवृत्ति का पहला और सबसे जबरदस्त प्रभाव यह होगा कि समाज का तानाबाना ध्वस्त हो जाएगा। पश्चिमी जगत् का आधारभूत *'सामाजिक अनुबध का सिद्धात'* भी इस ज्वार को रोकने में असमर्थ है, क्योंकि यह सिद्धात मुख्य रूप से व्यक्ति और समाज के बीच पारस्परिक स्वार्थो की सुरक्षा का आपसी समझौता है। परतु जब व्यक्ति यह मानने लगता हे कि यह तो व्यक्तियों के बीच आपसी अनुबध-मात्र है, इसमें कोई पवित्र बधन नहीं है। अत अपने हित में न होने पर वह इसको तोडने के लिए स्वतत्र है। तब समाज के पास इस तर्क का कोई सतोषजनक उत्तर नहीं होता कि इस प्रकार कोई पक्ष (व्यक्ति) अनुबध को तोडता है, तो सामाजिक सगठन का आधार स्वत नष्ट हो जाएगा। तब समाज विखडित होकर छिन्न-भिन्न हो जाएगा। ऐसे विखडित समाज में व्यक्ति के सुख की नियति क्या होगी, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

जब समाज को एक जीवत समष्टिसत्ता मानकर व्यक्ति को उसके अग के रूप में देखा जाएगा तभी ऐक्यकारी सामाजिक चेतना का भाव उसके मन पर अकित किया जा सकेगा। तभी वह अपने मनोविकारों को नियन्त्रित कर समाजहित के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकेगा। हिदू-दर्शन ठीक इसी बात का प्रतिपादन करता है।

अस्वस्थ मनोभावो का उदय

आधुनिक समाज का एक तत्त्व है प्रतिस्पर्धा। ऐसा दावा किया जाता है कि प्रगति के लिए स्पर्धा आवश्यक है, परतु यह सामान्य अनुभव की बात है कि प्रतिस्पर्धा लबे समय तक स्वस्थ नहीं रह सकती, क्योंकि स्वस्थ रहना उसकी प्रकृति में नहीं है। स्पधा शीघ्र ही विकृत हो जाती है, क्योंकि दूसरे की तुलना में अपना निष्पादन उत्तम करने की इच्छा शीघ्र ही

किए गए बर्बर उत्पीडन एव पाशविक नरसहार पढकर ही रोंगटे खडे हो जाते हैं। मूल रेड इडियन कुछ क्षेत्रों में अपने को जीवित बचा सके, वे सिर्फ दिखाने के, नमूने भर के हैं। अमरीका ही इसका एकमात्र उदाहरण नहीं है। आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अमरीका आदि जहाँ कहीं भी ये पश्चिमी श्वेत लोग गए, वहीं अपने पीछे हत्या एव विनाश की शृखला छोड गए। अभी पिछले ही दिनों दक्षिणी अमरीका में श्वेतों द्वारा मूलनिवासियों पर किए गए भयकर अत्याचारों के विषय में सुना है।

साम्यवादी रूस और चीन की साम्राज्यवादी कहानी भी ऐसी ही है। मित्र-शब्दावली के आवरण में उनकी समस्त योजनाओं का लक्ष्य जीवन-स्तर का उन्नयन है। परिणामस्वरूप वही प्रक्रिया यहाँ भी चालू है। भौतिक साधनों का एकत्रीकरण और इसकी पूर्ति हेतु अधिकाधिक सपत्ति-सचय, दुर्बल राष्ट्रों पर अतिक्रमण, शोषण व नरसहार द्वारा अमानवीय भावनाओं के फलक पर शक्ति-सवर्धन का खेल खेला जाता है।

यदि हम आज के तथाकथित सभ्य और आधुनिक समाजों के लक्षणों का निरपेक्ष भाव से अवलोकन करें, तो 'श्रीमद्‍भगवद्‍गीता' में वर्णित असुरों के लक्षणों से शब्दश समानता परिलक्षित होगी। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक पश्चिमी समाज की दो प्रमुख विशेषताओं– उन्मुक्तता व प्रतिस्पर्धा ने मानवता को सुख और शाति से कोसों दूर ढकेल दिया है।

अब हम इस विफलता के कारणों की खोज के लिए मूल समस्या की कुछ अधिक गहन विवेचना करेंगे।

आधुनिकता या दुर्दशा

सर्वविदित है कि सभी प्राणियों का मूल प्रेरक-सवेग सुख की खोज है। मनुष्य की भी यही इच्छा है। वह एक दो दिन के लिए नहीं, जीवन पर्यंत सुखी रहना चाहता है। अन्य प्राणियों की भॉति वह भी अपनी इद्रियों के माध्यम से इस सुख को प्राप्त करने का प्रयास करता है। प्रारभ में शारीरिक व मानसिक आवश्यकताओं एव क्षुधाओं की तृप्ति उसे सुख की अनुभूति प्रदान करती हे। इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि यह अनुभूति थोडे समय के लिए सुख देती हे। साथ ही यह भी उतना ही सत्य हे कि यह अस्थायी और क्षणभगुर हे। मनुष्य अनुभव से इस परिणाम पर

पहुँचता है कि वह दैहिक आनद प्राप्त करने का जितना अधिक प्रयास करता है, उसकी भूख उतनी ही तीव्र होती जाती है। उसे कभी सतुष्टि का अनुभव नहीं होता। इच्छाओं के तुष्टिकरण की चेष्टा जितनी अधिक होगी, उतना ही असतोष बढेगा। भौतिक सुख-साधनों का सग्रह करने की इच्छा जितनी ही प्रबल होगी, निराशा भी उतनी ही अधिक होगी। आसक्ति जितनी अधिक होगी, मोहभग भी उतना ही तीव्र होगा। हमारे शास्त्रो ने घोषणा की है– 'न जातु काम कामानामुपभोगेन शाम्यति।' (महाभारत आदिपर्व, ७५-५०) विषय-भोगों से कामनाओं का शमन नहीं होता। शरीर के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर भी इच्छाएँ पूर्ववत युवा बनी रहती है। भर्तृहरि ने भी कहा है– 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा' (वैराग्य शतक- ७) यही वास्तविक दुर्दशा है, जिसमें आधुनिक मानव स्वय को फँसा हुआ पाता है।

समाधान – अत करण मे

यह क्षणिक आत्मविश्लेषण से ही सिद्ध हो जाता है। सुख का वास्तविक स्रोत अत करण मे है न कि कहीं बाहर। इसके विषय में हिदू-दर्शन अकाट्य समाधान प्रस्तुत करता है। सगीत की धुन में खोए व्यक्ति को यदि उसके किसी आत्मीय व्यक्ति की मृत्यु का समाचार दिया जाए, तो सगीत मे उसकी सारी रुचि समाप्त हो जाएगी और वह उठकर चला जाएगा। वस्तुत यदि सगीत में सुख देने की अतर्निहित क्षमता होती, तो व्यक्ति अपने दु ख को विस्मृत कर सगीत-सुख का आनद लेने मे ही लीन रहता, किंतु प्रभाव इसके ठीक विपरीत हुआ। वही सगीत जो एक क्षण पहले तक आनद का स्रोत था, अब वितृष्णा का विषय बन गया। इसका तात्पर्य यही है कि सुख का स्रोत प्रतीत होनेवाली भौतिक वस्तुएँ निमित्त या साधन मात्र है, वास्तविक स्रोत तो अपने अत करण मे विद्यमान है। फिर भी हम भ्रम के कारण भौतिक वस्तुओं की चाह करते है। यह उसी प्रकार है, जैसे कुत्ता सूखी हड्डी को काटता एव चूसता रहता है। हड्डी का टुकडा चुभने से अपने ही जबडे से निकले रक्त के स्वाद से वह आनदित-उल्लसित होता है। उसी प्रकार भौतिक वस्तुएँ हमें सुख देती प्रतीत होती हैं। स्पष्ट है कि ऐसी सुखानुभूति कुछ ही क्षणों के पश्चात् समाप्त होकर हमें निराशा व विषाद के अधकार में धकेल देती है।

आनद का रहस्य

अत करण से सुखप्राप्ति का मार्ग अतत क्या है? थोडा विचार करने से ही यह समझा जा सकता है कि किसी भौतिक वस्तु का उपभोग करते हुए भी वह वस्तु उस क्षण मस्तिष्क से लुप्त हो जाती है। निष्कर्षत हम अपने अतर्निहित सुख की ही अनुभूति प्राप्त करते हैं न कि भौतिक वस्तु से उत्पन्न किसी स्पदन की। इसका स्पष्ट निष्कर्ष हुआ कि शाश्वत एव घनीभूत सुख की प्राप्ति हेतु हमे वह स्थिति प्राप्त करनी होगी, जहाँ सुख-सपादन के लिए किसी बाहरी वस्तु की आवश्यकता ही न रहे।

सामान्य अनुभव की बात है कि अशात मन कभी सुखी नहीं हो सकता। मन के स्थिर एव शात होने पर ही सुख की अनुभूति सभव है। निश्चल और प्रशात मन स्थिति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि मन में विभिन्न प्रकार की इच्छाएँ सिर न उठाएँ। लहरो से आलोडित जल का तल दिखाई नहीं देता और अपना प्रतिबिब भी ओझल हो जाता है। किंतु तरगों के ठहरने से शात जल में सब कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगता है। उसी प्रकार जब मन शात होता है, तब व्यक्ति मानव-मस्तिष्क की गहराइयों की वास्तविकता के प्रति जागरूक होता है। जब तक मन अशात रहता है, तब तक यह जागरूकता विलुप्त रहती है और इस वास्तविकता की जागरूकता से आनद प्राप्य हो जाता है। इसका अर्थ इतना ही है कि यदि मन की लहरों को निश्चल किया जा सके, तो मनुष्य किसी बाहरी वस्तु की सहायता के बिना भी आनद का आस्वादन कर सकता है।

सर्वोच्च लक्ष्य

जब मनुष्य को इस तथ्य की अनुभूति होती हे कि सुख भौतिक वस्तुओं में नहीं, वरन् उसके स्वय के अत करण में हे, तब उसकी दृष्टि भीतर की ओर उन्मुख होगी ओर उन पदार्थो का आकर्षण उसके लिए शनै शनै कम होता जाएगा। इस प्रकार वह भौतिक वस्तुओं के आकर्षण से पूर्णतया मुक्त हो जाएगा। वह मुक्ति की परमावस्था को प्राप्त हो जाएगा। ऐसा व्यक्ति भौतिक जगत् मे सुख की खोज नहीं करेगा, क्योंकि मन को अशात करनेवाली भौतिक अभिलाषाओं के प्रति उसकी लालसा समाप्त हो चुकी हे। वह परम सतुष्ट, शात एव आत्मतृप्त

हो गया है, क्योंकि उसे अपने अत करण में वास्तविक और शाश्वत आनद का आदि-स्रोत मिल गया है। यह सुख सतत एव निर्बाध है, जिसकी तुलना में भौतिक पदार्थो से प्राप्त सुख महत्त्वहीन हो जाता है। यही वह सर्वोच्च काम्य स्थिति है जो मनुष्य को अतत प्राप्त करनी है– अर्थात् परम मुक्ति या मोक्ष की स्थिति।

विफलता के कारण

शाश्वत सुख के इस मूलभूत दर्शन को कसौटी पर कसने पर क्या हिसा, घृणा, विद्वेष और गलाकाट स्पर्धा से परिपूर्ण तथाकथित प्रगतिशील समाज से यह प्रत्याशा की जा सकती है कि वह मानव सुख में वृद्धि करेगा? क्या यह स्थिति मानव-मन को शात एव निश्चल बनाने में सहायक है? वस्तुस्थिति सर्वथा विपरीत है। कामनाओं को अधिकाधिक उद्दीप्त करने के लिए हर चेष्टा की जा रही है। जब तक इच्छाएँ अतृप्त हैं, तब तक मन अशात रहता है। वासनाओं की लपटें अधिकाधिक प्रचड की जाती हैं और मनुष्य-मन ऐंद्रिय सुख देनेवाले पदार्थों के पीछे दौडता है। ऐसा मन शात एव निश्चल कैसे हो सकता हैं?

योगमार्ग

भारत में हमारी साधना का एकमेव लक्ष्य मन शान्ति प्राप्त करना है। महर्षि पतजलि ने 'योग सूत्र' में परामर्श दिया है कि किसी सुखी, वैभवसपन्न, सदाचारी एव पुण्यवान व्यक्ति के प्रति ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए, बल्कि प्रसन्नतापूर्वक उसे साधुवाद देना चाहिए। स्वय प्रेरणा से आत्मोन्नति का प्रयास करना चाहिए। इर्ष्या या स्पर्धा में लिप्त नहीं होना चाहिए, भौतिक सुख की वस्तुओं के सचय तथा भोग के स्वरूप व परिमाण का निर्धारण करने में मनुष्य को सतर्क एव विवेकी होना चाहिए, अन्यथा इसकी परिणिति दूसरों के सुख के मूल्य पर स्वय सुखी होने के प्रयास में होती है। इससे अपना मानसिक सतुलन बिगाडकर मनुष्य अपना ही सुख नष्ट कर बैठता है। पतजलि कहते हैं कि किसी को पतित एव दु खी देखकर हमारी स्वाभाविक प्रतिक्रिया करुणा की होनी चाहिए। हमें अपनी सपूर्ण क्षमता से दूसरे के कष्ट-निवारण का भरपूर प्रयास करना चाहिए। यह दृष्टिकोण हमारे मन को शाति और नीरवता देकर आतरिक सुख प्रदान करेगा।

उन्मुक्तता दु ख भोगने के लिए

आधुनिक सभ्यता का दूसरा लक्षण उन्मुक्तता, प्रशातता का विरोधी है। हमारे प्राचीन धर्मग्रथ उस समय का विवरण देते हैं, जब समाज-व्यवहार का कोई नियम या आचार-सहिता नहीं थी। तब मनुष्य-मनुष्य के बीच शत्रुता व सघर्ष की वृद्धि हुई। इसने हर दिशा में अराजकता को बढावा दिया। परिणामस्वरूप मन की शाति को भग करनेवाली अनिश्चितता, आशका, भय, विद्वेष, घृणा इत्यादि प्रवृत्तियों का आविर्भाव हुआ। इसलिए मानसिक अशाति को दूर करने में सहायक तथा सतुलन का पुन स्थापन करनेवाले व्यवहारगत नियमों की रचना की गई।

ये आधुनिक समाज गत एक या दो शताब्दियों में ही उद्‌भूत हुए हैं। अत भौतिक सपन्नता और वैज्ञानिक तकनीकी उपलब्धियों की ऊपरी जगमगाहट के आधार पर मानव के आवश्यक पक्षों के सबध में इनके अल्पकालीन अनुभवों से निष्कर्ष निकालना निरापद नहीं है। जीवन-सबधी दृष्टिकोण के विषय में सही धारणा का निर्माण सुदीर्घ व स्थायी अनुभवों की कसौटी पर कसकर ही किया जा सकता है। दोनों का वास्तविक समन्वय ही सच्चे सुख की ओर ले जा सकता है।

हमारे राष्ट्रीय जीवन का लाखों वर्षो का अनुभव कहता है कि अनत इद्रिय सुख की कामना और इसकी तृप्ति हेतु उन्मादी प्रतिस्पर्धा कभी भी सुख-प्राप्ति का साधन नहीं हो सकती। इसने हमें व्यक्ति-विकास एव समाज के ताने-बाने की सुरक्षा के लिए आत्मसयम की साधना का पाठ पढाया है। आत्मसयम की भावना की जागृति के लिए चतुर्दिक पुरुषार्थ-चतुष्टय की अवधारणा की गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का यह चतुर्विध लक्ष्य आत्मसयम, सतुलन और समरसता से पूर्ण जीवन जीने में सहायक होता है। व्यवस्था हमें व्यक्ति व समाज के प्रति अपने कर्तव्य एव दायित्व का निरतर बोध कराती रहती है। 'धर्म', अर्थात् व्यवहार सहिता वह प्रेरक तत्त्व है, जो जीवन के सभी उत्कृष्ट आनद प्राप्त करने के लिए हमारा मार्गदर्शन करता है तथा जीवन के सभी भौतिक पक्षों— अर्थ (राजनीति एव अर्थशास्त्र) और काम (भौतिक इच्छाओं की पूर्ति) पर अकुश रखता है।

जीवन-सरिता के तटबध

इन आचार-सहिताओं की भाव-भावना का उत्कृष्ट लक्ष्य अर्थात् हमारे अस्तित्व की वस्तुस्थिति अथवा पुरुषार्थ का अतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त

करने की सर्वोच्च आकांक्षा उत्पन्न करता है। इस प्रकार हमारी सभी प्रवृत्तियाँ और विषय-भोग एक ओर धर्म तथा दूसरी ओर मोक्ष के बीच सधे हुए हैं। जैसे दोनों तटों के बीच बहती नदी जीवनदायिनी होती है, परंतु उनका उल्लंघन करते ही वह विनाशकारी हो जाती है, ठीक यही स्थिति मानव-जीवन के प्रवाह की है। धर्म और मोक्ष के बीच बहता जीवन-प्रवाह व्यक्ति व समाज– दोनों के लिए सुखदायी होता है। दोनों सीमाओं के बीच जो कुछ भी अनुभूति प्राप्त होती है, उसका आनंद सभी उठा सकते हैं। यही व्यवस्था मन की शांति व जीवनोपभोग के बीच संतुलन स्थापित कर सकती है और अंततः व्यक्ति को उच्चतम आनंद की भूमिका में आरूढ कर सकती है।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा अंगीकृत हिंदू-संगठन का कार्य संपूर्ण मानव-जाति के लिए परमानंद के द्वार उद्‌घाटित करने के इसी स्वप्न से प्रेरित है। हमें विश्वास है कि समय की धारा के साथ तथाकथित प्रगतिशील आधुनिक समाज इस पवित्र भूमि के पुरातन तथा जीवन तत्त्वज्ञान की शरण में आने को बाध्य होंगे। शास्त्र का कथन है–

तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महातेजा यावद् वेदान्तकेसरी।।

(अन्य मतवादों के शृगाल तभी तक कोलाहल करते हैं, जब तक वेदांत के महातेजस्वी सिंह की गर्जना सुनाई नहीं देती।)

२ समय की चुनौती

दो प्रतिमान

यहाँ से अंग्रेजों के चले जाने के बाद हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि हम अपनी भावी राष्ट्र-पुनर्रचना के लिए कौन-सा प्रतिमान (पैटर्न) चुनें? आज के संसार में समाज-व्यवस्था के दो बड़े प्रतिमान प्रचलित हैं।

प्रथम प्रतिक्रिया की गति

इन दोनों में जो प्राचीनतर है 'जनतंत्र' कहा जाता है। यूरोप के देशों में निरंकुश राजसत्ता की प्रतिक्रियास्वरूप इसका उद्‌भव हुआ। उस

समय वहाँ व्यक्ति दास मात्र था। स्वप्रेरणा और स्वतत्रता से विहीन तथा ईश्वर के समान समझे जानेवाले बादशाहों के हाथ का एक खिलौना मात्र था। जनता ने विद्रोह कर 'नृपत्व के दैवी अधिकार' उलट दिए तथा सदा के लिए राजसत्ता की शक्ति को चूर कर दिया। उस समय प्रत्येक की जिह्वा पर था एक प्रेरणादायी घोष– 'स्वतत्रता, समानता और बधुता।' यह उच्च स्वर से उद्घोषित हुआ कि अत मे दासता एव अत्याचारों की एक अधेरी रात का अवसान होकर अब 'व्यक्ति-स्वातत्र्य', 'व्यक्ति के अधिकारों का पावित्र्य' तथा 'सभी के लिए समान अवसरो' के युग का उदय हो चुका है।

लगभग उसी समय यत्र-युग का भी आरभ हो चुका था। उद्योगों का पनपना आरभ हो गया। विज्ञान एव तकनीकी ने उद्योगपतियों को अधिकाधिक बडे यत्र लगाने में सहायता करना आरभ कर दिया। बडे परिमाण में उत्पादन करनेवाली उन मशीनों पर लाखों मजदूर नियुक्त हो गए। 'समान अवसर' के घोष के आधार पर अधिक बुद्धि और धन से सपन्न व्यक्तियों ने सपत्ति के उत्पादन के उन सभी नवीन साधनों पर एकाधिकार कर लिया और वही एकमात्र आर्थिक सर्वाधिपति बन गए। अपने प्रचुर धन की शक्ति से उन्होंने राजनीतिक तत्र को भी अपने अधिकार में कर लिया। सामान्य व्यक्ति केवल वोट देने के राजनैतिक अधिकार को प्राप्त करके सूखा का सूखा ही बना रहा। असह्य आर्थिक परिस्थितियों में पिसता हुआ वह वोट के अपने अधिकार को भी उपयोग में लाने के लिए स्वाधीन नहीं था।

इस प्रकार 'व्यक्ति-स्वातत्र्य' की ऊँची कल्पना का अर्थ रह गया कुछ धीमानों की स्वतत्रता, ताकि वे शेष सामान्य जनता का उपयोग अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए कर, उसे दीन-हीन तथा दास बनाए रखें। उन कारखानों में मजदूरी करनेवाले स्त्री, पुरुष और बालकों की भयकर दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता। वे अब पुरानों के स्थान पर नए अत्याचारियों के पैरों के नीचे दबे हुए कराह रहे थे।

दूसरी प्रतिक्रिया की दुर्गति

इस अवस्था में पूँजीवाद की नवीन क्रूरता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में 'कम्युनिज्म' आया। कम्युनिज्म यह मानकर चला कि औद्योगिक क्राति के परिणामस्वरूप भयकर आर्थिक असमानता का निर्माण होना

अवश्यभावी है, जिससे दो वर्गों का निर्माण होगा— 'पूँजीपति' और अकिंचन मजदूर 'सर्वहारा'। कम्युनिज्म में आगे की कल्पना यह की गई कि इन दोनों श्रेणियों में वर्ग-सघर्ष प्रारम्भ होगा तथा अत में श्रमिक वर्ग विजयी होगा। इसके पश्चात् जनता के दैन्य का अवसान हो जाएगा, क्योंकि श्रमिक वर्ग द्वारा सचालित शासन सपत्ति के उत्पादन तथा वितरण के सभी साधनों का नियमन करता हुआ जनता की भौतिक आवश्यकताओं की देख-रेख का सपूर्ण भार वहन कर लेगा। इस प्रकार यह भविष्यवाणी की गइ कि देश का जितना अधिक औद्योगीकरण होगा, उतनी ही आर्थिक असमानता में वृद्धि होगी और इसलिए तीव्रतर वर्ग-सघर्ष तथा उसके परिणामस्वरूप श्रमिक-शासन का उदय होगा।

किंतु भविष्यवाणी, जो उनके इतिहास के भौतिकवादी भाष्य की पराकाष्ठा थी, को इतिहास के भावी क्रम ने पूर्णरूपेण असत्य सिद्ध कर दिया। सब देशों में औद्योगिक दृष्टि से सर्वाधिक पिछडा हुआ देश रूस ही था, जहाँ कम्युनिस्ट क्राति की सफलता सबसे पहले लिखी गई। अमरीका, इग्लैंड तथा जर्मनी जो आज तक औद्योगिक विकास में अग्रणी थेऔर इसी कारण वास्तव में जहाँ सबसे पहले औद्योगिक क्राति की रूपरेखा बनी थी, उन्होंने कम्युनिज्म की ओर बढने के कोई लक्षण प्रकट नहीं किए हैं। इसके विपरीत, जहाँ वह पुन प्रकट हुई, वह औद्योगिक रूप से पिछडा हुआ एक अन्य देश चीन था, जो अभी ही कुछ वर्षो से कम्युनिस्ट हो गया है। इस प्रकार मानव-इतिहास के भौतिकवादी भाष्य के आधार पर कम्युनिज्म की ऐतिहासिक अनिवार्यता का दावा वास्तविकताओं की कठोर चट्टान पर चूर-चूर हो गया है।

प्रश्न है कि स्वाधीनता शाति एव सपन्नता के उस आश्वस्त देश में सामान्य जन की दशा क्या हे? इन देशों में श्रमिक के अधिकार, शासन में एकाधिकार रखनेवाले दल, अर्थात् कम्युनिस्ट दल के एकाधिपति के हाथों में पहुँच गए हैं। सामूहिक नरसहार, दास बदीगृह, कम्यून बलात् श्रम, मस्तिष्कमार्जन तथा एकाधिपत्य के सभी अमानवीय यत्रों ने व्यक्ति को दैन्य एव दास्य की इतनी निम्न अवस्था तक पहुँचा दिया है, जितना कि अनियन्त्रित राजसत्ता अथवा पूँजीवादी के निकृष्टतम समय में भी नहीं सुना गया था। इस प्रकार जनसाधारण के लिए उनके उस आह्वान का कि मजदूरो तुम्हें बधन छोडकर अन्य कुछ नहीं गँवाना' का वास्तविक व्यवहार में यह परिणाम निकला।

प्रतिज्ञा और कृति

क्या वे अपेक्षा से की गई अपनी प्रथम प्रतिज्ञा के अनुसार समाज की प्रारंभिक भौतिक आवश्यकताएँ पूरी करने के अपने लक्ष्य में सफल हुए? रूस का उदाहरण लीजिए, जो पूर्ण रीति से इस सिद्धात पर प्रयोग करनेवाला प्रथम महान देश है। उन्होंने सभी व्यक्तिगत सपत्ति और सभी उद्योगपतियों को समाप्त कर दिया तथा सभी उद्योगों को अपने अधिकार में ले लिया। कृषि के मोर्चे पर भी उन्होंने सभी जमींदारों और किसानों को मिटा दिया तथा उनकी कृषि का कम्यून तथा सामूहिक फार्मो में एकीकरण कर दिया। यह एक पूर्ण प्रयोग था। स्वाभाविकत गत पचास वर्षो में रूस की समृद्धि में महती उन्नति की आशा करना उचित ही था, किंतु क्या वह पूर्ण हुई?

कुछ लोगों का कथन है कि 'देखो, उनमें चद्रमा पर राकेट भेजने का सामर्थ्य आ गया है।' किंतु जहाँ तक सामान्य जन का सबध है, जिसके नाम पर वे बडी-बडी भविष्यवाणियाँ करते हैं, चद्रमा पर जाना उनकी मुख्य समस्या नहीं है। पेट उनकी सबसे बडी समस्या है। वास्तव में कम्युनिस्ट क्राति की मुख्य धुरी यही थी। प्रथम प्रश्न यह है कि क्या रूसी प्रशासन अपने देशवासियों को दोनों समय भरपेट भोजन देने में समर्थ हुआ? वास्तव में किसी भी प्रशासन अथवा किसी प्रशासनिक सिद्धात की सफलता को इन्हीं मूल्यों पर नापा जाना चाहिए कि उसमें अपने प्रत्येक नागरिक को दोनों समय भरपेट भोजन, आश्रय के लिए स्थान, पर्याप्त वस्त्र, रुग्णावस्था के समय चिकित्सा तथा शिक्षा देने की कितनी क्षमता है? इसी से उसकी अग्निपरीक्षा होती है। क्या रूस इस परीक्षा का उत्तर दे सका?

रूस के पास एक विस्तृत भू-प्रदेश है। एक समय वह ससार में सर्वाधिक गेहूँ उत्पन्न करनेवाला देश था। इस सबके अनुपात में वहाँ की जनसख्या न्यून होने से उसके पास भोजन करनेवाले मुख भी कम ही हैं। उनके पास कृषि के सभी आधुनिक उपकरण हैं। इस सबके साथ उनकी प्रत्येक योजना के पीछे शक्तिसपन्न राज्य के विशाल साधन हैं। यह सब होते हुए भी रूसी सरकार को गेहूँ तथा अन्य खाद्यों का प्रत्यक्ष आयात कनाडा, अमरीका तथा अन्य देशों से करना पडा। कम्युनिज्म की परिपूर्ण पराजय का इससे अधिक प्रमाण क्या हो सकता है?

दोनों का अपक्रमण

इस प्रकार के दुष्परिणाम देखकर कम्युनिस्ट देश अपनी पूर्ण सरकारीकरण की पद्धति के विषय में फिर से विचार करने लगे हैं। उन्हें यह अनुभव होने लगा है कि व्यक्तिगत स्वाधीनता का विनाश व्यक्ति की क्रियात्मक शक्ति एवं कार्य के लिए उत्साह का हनन कर देता है। अत वे व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की दिशा में शनै-शनै बढ रहे हैं। पूर्वी यूरोप के कुछ कम्युनिस्ट देशों और रूस में भी उन्हें विवश होकर व्यक्ति को उसकी कुछ वस्तुओं पर स्वामित्व रखने और अपनी संपत्ति के उपभोग की आंशिक स्वतंत्रता की अनुमति देनी पडी है।

अमरीका के चेस्टर बॉल्स का कथन है– 'रूस कृषकों को 'किचनफार्म' (बाडी अथवा रसोईघर से लगे जमीन के टुकडे) को व्यक्तिगत रूप से जोतने की अनुमति दी जा रही है। यह कृषिक्षेत्र उनकी कुल जोत का लगभग ३४ प्रतिशत होता है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस ३४ प्रतिशत व्यक्तिगत जोत द्वारा किया गया उत्पादन कुल उत्पादन का ६० प्रतिशत है। जबकि ६६ प्रतिशत भूमि के सरकारी कृषिक्षेत्र से केवल ४० प्रतिशत पैदावार ही हुई है। स्मरणीय है कि इस व्यक्तिगत जोत को उन बडे-बडे यंत्रों का लाभ भी नहीं मिल सका, जिनपर राज्य का एकाधिकार है। इससे यह बात एक बार पुन सिद्ध हो गई कि पूर्ण सरकारीकरण अथवा संपूर्ण समूहवाद की भूमिका, जिससे उन्होंने आरंभ किया था, अपने जन्मस्थान में ही शीघ्रता से पीछे हट रही है।

दूसरी ओर वे देश भी, जहाँ पूर्ण व्यक्तिवाद की भूमिका के साथ जनतंत्र पैदा हुआ था, अपनी मूल धारणा से पीछे हट गए हैं। जब उन्होंने असंयमित 'समान अवसर' ओर 'व्यक्ति स्वातंत्र्य' के दुष्परिणामों को देखा तो समाज के समान हित में वे उन सैद्धांतिक कल्पनाओं को प्रत्यक्ष व्यवहार में सीमित करने के लिए कठोर साधन अपनाने को बाध्य हो गए। वास्तव में इसी प्रकार वे क्रांति से अपने को बचा पाए और अपने जनतांत्रिक ढाँचे को बनाए रखने में समर्थ हुए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊपर के दोनों ही सिद्धांतों, जनतंत्र और कम्युनिज्म में दो चीजें समान हैं। दोनों ही पूर्व व्यवस्था की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए ओर दोनों ही को अपने-अपने मूल आधार से पूर्व स्थिति की ओर लौटना पडा एवं एक-दूसरे की ओर चलने के लिए बाध्य

होना पडा– जनतत्र को अपने व्यक्तिवाद से समूहवाद की ओर तथा कम्युनिज्म को अपने समूहवाद से व्यक्तिवाद की ओर। जन्म और विकास की दृष्टि से दोनों ही में एक महत्त्वपूर्ण समानता है, यद्यपि ऐतिहासिक कारणों से उनके प्रारम-विदु परस्पर विरोधी थे।

एक ही मूल से उत्पन्न

इसमें हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि और भी गहराई में जाने से हम पाते हैं कि दोनों ही की उत्पत्ति मानव-जीवन के लक्ष्य की एक ही कल्पना में से हुई है। पाश्चात्य विचार के अनुसार जनतत्र और कम्युनिज्म– दोनों ही कल्पनाओं ने जिससे जन्म लिया है, उस मानव का जीवन व्यावहारिक विचार से भौतिक स्तर तक ही सीमित है और मानव भौतिक तृष्णाओं का एक गट्ठर मात्र है। तदनुसार, मनुष्य की भौतिक तृष्णा का समाधान करनेवाले पदार्थो का उत्पादन और वितरण ही उनके सभी सिद्धातों का सर्वोपरि प्रेरक आवेग हो गया। मानव के साम्य का प्रतिपादन भी भौतिक आधार पर ही किया गया, क्योंकि सभी मनुष्यों की प्राथमिक भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की आवश्यकता सदैव समान भाव से अनुभव होती रही है।

एक भौतिक सत्ता मात्र होने के कारण तथा उन्हीं भौतिक आकाक्षाओं से प्रेरित होने के फलस्वरूप कोई कारण नहीं था कि व्यक्ति समाज को उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के अतिरिक्त कुछ और माने। किंतु ऐसे व्यक्तियों से बने समाज, जिसमें व्यक्ति सपूर्ण रूप से अपने ही स्वार्थ-साधन में जुटा हो, के एक दिन भी टिकने की आशा नहीं की जा सकती। समाज अपने पोषण के लिए अपने घटकों से बलिदान की भावना की अपेक्षा करता है और बिना समाज के व्यक्ति अपने भौतिक अस्तित्व को नहीं टिका सकता। अत व्यक्ति और समाज के टकराते हुए हितों के बीच एक प्रकार का समझौता, एक प्रसविदा कर लेना आवश्यक था।

यह समझौता किंवा 'प्रसविदा-सिद्धात' (कान्ट्रैक्ट थ्योरी) व्यक्ति और समाज के बीच अतर्निहित सहज सघर्ष की धारणा का परिणाम है। इसी मूलभूत सघर्ष ने अपने को एक ओर तो पूँजीवाद के स्वरूप में और दूसरी ओर कम्युनिज्म के स्वरूप में व्यक्त किया। अर्थात् एक में व्यक्ति समाज का शत्रु हो रहा है तो दूसरे में समाज व्यक्ति का। जैसा हम देख चुके हैं, अब दोनों ही पद्धतियाँ उन बुराइयों को कम करने का प्रयास कर

रही हैं, जो उनकी मानव-लक्ष्य की समान भौतिक कल्पना से निकली हैं।

भौतिकवाद असफल

किंतु केवल भौतिक तृष्णाओं के गट्ठर के रूप में मनुष्य का निरूपण करना उसे पशु की समानता देना है। यदि मनुष्य एक पशु ही है तो वह स्नेहशील एवं व्यवस्थित जीवन क्यों व्यतीत करे? इस संबंध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि पशुओं के समान मनुष्य एक-दूसरे का शिकार केवल इसी कारण नहीं करता कि यदि 'क', 'ख' को खा जाना चाहता है तो कोई 'घ', 'क' को खा डालने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार आपस में एक-दूसरे के द्वारा विनष्ट होने से अपने को बचाने के लिए किसी प्रकार की व्यवस्था या समझौता होना आवश्यक हो जाता है, किंतु इससे इस बात का स्पष्टीकरण नहीं होता कि मनुष्य के मन में दूसरों के लिए त्याग करने की, बलिदान हो जाने की इच्छा तथा किसी दैन्य में सहभागी होने की भावना क्यों उठनी चाहिए? अवश्य ही मानव-प्राणी के संपूर्ण इतिहास में हमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जिन्होंने दूसरों के लिए अपने जीवन का बलिदान स्वेच्छा से, प्रेम से और मुस्कराते हुए कर दिया। हमारे प्राचीन साहित्य में दधीचि की कथा है, जिन्होंने वृत्रासुर के विनाश हेतु अस्त्र बनाने के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी अस्थियों का दान किया था। वह एक वनवासी ऋषि थे। व्यक्ति के रूप में उनकी कोई आकांक्षाएँ नहीं थीं। फिर किस चीज ने उनसे यह बलिदान कराया? हम इस बीसवीं शती का ही एक उदाहरण लें। एक बार कोलकाता में दो छोटे बच्चे सड़क के किनारे खेलते हुए भूमिगत नाली के खुले मेनहोल में गिर गए। एक सज्जन जो अपने कार्यालय जा रहे थे, उन बच्चों को 'मेनहोल' में गिरते देखा। कोट उतारने में समय न लगाते हुए वे 'मेनहोल' में कूद पड़े और धारा में बहते हुए उन बच्चों को पकड़कर बाहर निकाला, किंतु स्वयं कीचड़ में फँस जाने के कारण मर गए। वे क्यों मरे? वह क्या था, जिसने उनसे कहा कि 'जाओ, तुम्हारा वह कार्य है।' भौतिकवाद इसको समझा नहीं सकता।

सच्चा आधार

केवल एक ही स्पष्टीकरण है और वह यह कि हम सभी में एक ही समान सजीव सत्य विद्यमान है, जो एक आंतरिक और समान बंध प्रस्तुत करता है। हमारा दर्शन उसे 'आत्मा' कहता है। हम एक-दूसरे का प्यार और सेवा बाह्य संबंधों के कारण नहीं करते वरन् आत्मा की

सजातीयता के कारण करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय २- ब्राह्मण ४- मत्र ५) में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं–

न वा अरे मैत्रेयि पत्यु कामाय पति प्रियो भवति
आत्मनस्तु कामाय पति प्रियो भवति।

ओ मैत्रेयी! पत्नी पुरुष को इसलिए प्यार नहीं करती कि वह उसका पति है, वरन् इसलिए करती है कि उसमें आत्मा है। इस अर्थ में कि एक ही आत्मा सबमें अतस्थ होने के कारण सभी मनुष्य समान हैं, परम आत्मा के इस स्तर पर एकता सगत होती है। किंतु भौतिक स्तर पर वही आत्मा अपने को भाँति-भाँति की आश्चर्यकारक विविधताओं एव असमानताओं में व्यक्त करती है।

हमारे दर्शन के अनुसार विश्व का यह द्वैतस्वरूप, यह अस्तित्व अपने सत, रज और तम इन तीन गुणों के सतुलन में सक्षोभ होने के कारण है। यदि गुणसाम्य (तीनों गुणों का पूर्ण सतुलन) हो जाए तो यह विश्व अपनी अव्यक्त अवस्था में विलीन हो जाएगा। इस प्रकार असमानता प्रकृति का एक अविभक्त अग है और हमें उसके साथ रहना पडेगा। उसे केवल सीमाओं में बनाए रखने तथा असमानता से उत्पन्न कटुता को निकाल देने के लिए हमारे प्रयास होने चाहिए।

झूठे भविष्यवक्ता

कोई भी व्यवस्था, जो स्वाभाविक असमानता को ऊपरी समानता के आधार पर पूर्णरूपेण दूर करने का प्रयत्न करती है, निश्चय ही असफल होगी। पाश्चात्य देशों में इतनी प्रगति की अवस्था होते हुए भी जनतत्र अत में कुछ ऐसे ही लोगों का शासन है, जो राजनीति की कला के पूर्ण ज्ञाता तथा सामान्यजन को अपने पक्ष में लाने का सामर्थ्य रखते हैं। जनतत्र की वह कल्पना कि राज्य 'जनता द्वारा' और 'जनता का है', जिसका अर्थ होता है कि राजनीतिक प्रबध में सभी समान रूप से भागी हैं, व्यवहार में एक कल्पित कथा मात्र है।

कम्युनिज्म भी एकता की अपनी घोषित कल्पनाओं में से किसी एक को भी साकार करने में पूर्ण असफल हो चुका है। उसने कल्पना की थी कि श्रमिक का एकाधिपतित्व स्थापित हो जाने पर सभी के भोजन तथा जीवन की अन्य आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँगी। उस स्थिति में परस्पर सघर्षों के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा और इसलिए केंद्रीय प्रभुत्व की

आवश्यकता भी नहीं रहेगी। इस प्रकार राज्य लुप्त हो जाएगा और एक शासनरहित समाज का उदय होगा। कम्युनिज्म के अनुसार यही एकता की उच्चतम अवस्था है, जिसकी मनुष्य कल्पना कर सकता है।

किंतु कम्युनिज्म भौतिकवाद पर आधारित है, स्पष्ट नहीं कह सकता कि वह आदर्श अवस्था कैसे अस्तित्व में आ सकती है? यदि मनुष्य केवल एक पशु है, अर्थात् एक भौतिक जीव मात्र है, वह एक-दूसरे का भक्षण केवल इसीलिए नहीं करता कि उसे अधिष्ठित सत्ता का भय है। जब वह शक्ति अथवा प्रभुत्व नहीं रहेगा, तब क्या वे बिना कलह के रह सकेंगे? पशु के रूप में मनुष्य मनोवेगों का शिकार है और मनोवेगों को जब तुष्ट किया जाता है तो वे और भी अधिक तीव्र हो जाते हैं। इस प्रकार का असतुष्ट मनुष्य दूसरों के साथ प्रेम एव शातिपूवक कैसे रहेगा? इस बात का भी क्या भरोसा है कि अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर भी मनुष्य, जो पशुओं की अपेक्षा अधिक चतुर है, 'न खाओ, न खाने दो' की नीति का अनुसरण नहीं करेगा? इसलिए यदि हम यह मान भी लें कि समानता स्थापित हो गई, तब भी वह पुन असमानता की ओर ले जाएगी। इस प्रकार एक अन्य खूनी क्राति आवश्यक हो जाएगी। इसका अर्थ है कि हिमात्मक विप्लव तथा कलह कम्युनिज्म के सिद्धात की कोण-शिलाएँ हैं। सदैव क्राति के नारे लगाते रहना, सशस्त्र सघर्ष अराजकता और शाति की हत्या को प्रोत्साहन एव आमत्रण है।

इस प्रकार जो चित्र दृष्टिगोचर हुआ, उसमें न तो केंद्रीय सत्ता के लुप्त हो जाने के लक्षण हैं और न केवल सयोगवश प्रभुत्व का लोप हो जाने की दशा में शाति के उदय की कोई सभावना है। रूस में कम्युनिस्ट राज्य ने गत पचास वर्षों में अपने लुप्त होने के कोई चिह्न प्रकट नहीं किए, वरन् वह और भी अधिक शक्तिशाली हो गया है। यह उसके सैद्धातिक आधार की पूर्ण असत्यता का जीवत प्रमाण है।

समानता नहीं, वरन् सामजस्य

दूसरी ओर हमारे दर्शन ने समाज की उच्चतम अवस्था का चित्रण किया और उसका अकाट्य स्पष्टीकरण भी इस प्रकार दिया है—

न वै राज्य न राजाऽऽसीन्न च दण्ड्यो न दाण्डिक ।
धर्मेणैव प्रजा सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ।।

(महाभारत-शातिपर्व ५९-१४)

(न तो राज्य था, न राजा। न दडनीय अपराधी और न दड। धर्म के द्वारा ही सपूर्ण प्रजा एक-दूसरे की रक्षा करती थी।)

सदाचरण की सहिता है धर्म, जो समान आतरिक बधों को जागृत करता है, स्वार्थपरता को सयमित करता है तथा बिना किसी बाह्य प्रभुत्व के जनता को सामजस्य की स्थिति में एक साथ बनाए रखता है। न तो स्वार्थपरता होगी, न अपसचय तथा सभी मनुष्य सपूर्ण समाज के लिए जिएँगे और कार्य करेंगे। यह धर्म ही मानव-जीवन का विशिष्ट लक्षण है।

आहारनिद्राभयमैथुन च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेपामधिको विशेपो धर्मेण हीना पशुभि समाना ।।

(हितोपदेश, कथामुख–२५)

(आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन की कामना पशु और मनुष्य में समान हैं। मनुष्यों में धर्म ही विशेष होता है, अत धर्महीन मनुष्य पशु के समान होता है।)

मानव-जीवन में धर्म के पूर्ण उदय से ही स्वाभाविक असमानताओं के रहते हुए भी, मानव-प्राणी उच्चतम सामजस्य की अवस्था में रहने की योग्यता प्राप्त करेगा। यह एक अधे और एक लँगडे के सहयोग के समान है। लॅंगडे आदमी को टाँग मिल जाती है और अधे को आँख। सहयोग की भावना असमानता की कटुता दूर कर देती है। व्यक्ति और समाज के सबधों का हमारा दृष्टिकोण सदैव सघर्ष का न होकर सभी व्यक्तियों में उस एक सत्य के विराजमान होने के बोध से उत्पन्न सामजस्य और सहयोग का रहा है। व्यक्ति सगठित सामाजिक व्यक्तित्व का एक सजीव अग होता है। व्यक्ति एव समाज दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं। परिणामत दोनों ही एक-दूसरे से शक्ति प्राप्त करते हुए लाभान्वित होते हैं।

साधनों को साध्य मानने की भूल

अत अनिवार्य विषय है स्वाभाविक एकता एव सामजस्य, अर्थात् धर्म के उदात्त सिद्धांतों से अनुप्राणित मनुष्य की वास्तविक प्रतिमा के अनुसार व्यक्ति का निर्माण। यह सत्य है कि काम करनेवाले बुरे अथवा भले मनुष्यों के अनुसार ही कोई पद्धति बुरी अथवा भली प्रकार से कार्य करती है। इसीलिए सही भावना से स्फूर्त मनुष्यों के अभाव में जनतत्र का ह्रास हो जाता है तथा वह एक हीनतत्र (मीडियोक्रेसी) बन जाता है और

प्राय उत्तेजना-प्रवण भीड (मॉबोक्रेसी) मात्र बनकर रह जाता है। पश्चिम द्वारा प्रतिपादित सिद्धातों एव वादों के दु खात होने का यह कारण है कि मनुष्य की योग्यता के निर्माण की पूर्ण उपेक्षा करते हुए वे (वाद) स्वय ही साध्य के रूप में मान लिए गए। उन्होंने इस सरल, फिर भी मूलभूत सत्य की उपेक्षा की कि पद्धति एव वाद मनुष्य के जीवन की पूर्णता के लिए साधन मात्र होते हैं। साधनों को साध्य मान लेने की भूल से इन प्रयत्नों का परिणाम उनकी भविष्यवाणी अथवा आशा से नितात विपरीत हुआ।

आज तक जनतात्रिक देश उन गभीर सामाजिक समस्याओं से पीडित हैं, जो पद्धति को मनुष्य से ऊपर स्थान देने की मूल भ्राति से उत्पन्न हुई है। जनतत्र की पद्धति, जिसका उन्होंने विकास किया है, दो बुराइयों को पैदा करती है– आत्मप्रशसा तथा परनिदा। ये दोनों मनुष्य के मस्तिष्क की शाति एव निराकुलता को विषाक्त कर देते हैं तथा समाज में व्यक्तियों के पारस्परिक सामजस्य को नष्ट करते हैं। वर्तमान व्यवस्था में इन दोनों का चुनाव-काल में खुलकर प्रयोग होता है। यही कारण है कि हम अपनी राष्ट्र की परपराओं में शासन के बाह्य स्वरूप के विषय में अधिक चिता नहीं करते थे, वरन् सभी पद्धतियों के मुख्य सचालन तत्त्व के रूप में मनुष्य के निर्माण पर ही बल दिया करते थे।

यहाँ गणतत्र से लेकर एकस्वामिक राजतत्र तक अनेक पद्धतियों का परीक्षण हुआ है। हम यह देखते हैं कि वही एकतत्री राजतत्र, जिसने पश्चिम में ऐसे प्रजापीडन को जन्म दिया कि अनेक खूनी क्रातियाँ उठ खडी हुई, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सजीव स्वातत्र्य की भावना के साथ सहस्रों वर्षों तक हमारे सपूण समाज पर शाति एव सपन्नता की वर्षा करता हुआ एक अत्यत लाभदायक सस्था सिद्ध हुआ है।

४ सम्यक् राजनैतिक एव आर्थिक सरचना

हमारे देश ने लोकतात्रिक प्रणाली को अपनाया है, परतु इस व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक है कि जनसामान्य को पर्याप्त प्रशिक्षित एव प्रबुद्ध बनाया जाए। केवल अक्षरज्ञान देने से उद्देश्य-प्राप्ति नहीं होगी। हमारे राष्ट्रजीवन के राजनैतिक, आर्थिक आदि विविध पक्षों के

विषय में दायित्व एव भूमिका के प्रति लोगों को जागरूक बनाना होगा।

वर्तमान विकृतियाँ

ऐसी ही प्रवुद्ध जनता सही प्रकार के प्रतिनिधियों का चयन करने में समर्थ होती है। दूसरी ओर अशिक्षित एव अबोध सामान्यजनों को स्वार्थपूर्ण, सकीर्ण और अनैतिक प्रलोभनों से आकर्षित करना सरल होता है। ऐसे मतदाताओं द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि अपेक्षानुरूप अथवा वाछित प्रकार के नहीं हो सकते। सारी जनता को कम-से-कम आगामी चुनावों तक इसके दुष्परिणाम झेलने पड़ेंगे। इस प्रकार की असफलता से लोकतत्र की क्षमता के प्रति मोहभग होगा तथा शकाएँ जन्म लेने लगेंगी।

प्रतिनिधियों के निर्वाचन की वर्तमान प्रणाली एक और विचित्र स्थिति सामने लाती है। एक डाक्टर या वकील अथवा साधारण राजनेता, जिन्हें कृषि का ज्ञान शून्य होता है, ग्रामीण जनता के प्रवक्ता के रूप में चुना जाता है। निर्वाचित होने की योग्यता का मापदड केवल वोटों की जोड़-तोड करके चुनाव जीतने से निर्धारित होता है। पिछले चार दशकों में उभरते ऐसे नए नेता और प्रतिनिधियों का वर्ग इस दोषपूर्ण प्रणाली की उपज है, जिन्हें 'प्रतिनिधि' कम और 'राजनेता' अधिक कहा जा सकता है।

सन् १९६५ के भारत-पाक युद्ध के समय एक आघातकारी उदाहरण देखने को मिला। अपनी सीमाओं की ओर की नहरें सूख गई थीं, क्योंकि बाँध से पानी छोड़ने की अनुमति नहीं दी गई थी, जबकि पाकिस्तान की ओर की नहरें पूरी तरह लबालब बह रही थीं। रक्षा मत्रालय में उपमत्री के साथ अपनी भेंट में मैंने जानना चाहा कि नहर में पानी न देने का कारण क्या है और क्या इससे फसलें सूखने, खाद्यान्न की कमी और आतरिक मोर्चो पर ढिलाई जैसे दुष्परिणाम नहीं होंगे? मत्री ने उत्तर दिया कि नहर में पानी बहना सुरक्षा की दृष्टि से जोखिम-भरा है, क्योंकि उससे चमक पैदा होगी, जिसपर शत्रु आसानी से निशाना लगा सकेगा। क्या पाकिस्तान की ओर को बहती नहरों में यह जोखिम नहीं है? मेरे इस प्रश्न का उनके पास कोई उत्तर नहीं था? इसके कुछ दिन बाद एक वरिष्ठ मत्री से भेंट हुई। मैंने उनसे उपमत्री के उत्तर की उपयुक्तता के विषय में पूछा। उन्होंने कहा कि यह पूर्णतया निराधार है, क्योंकि उपमत्री को इन विषयों का तनिक भी ज्ञान नहीं है।

इस प्रकार अपने दायित्वों से पूर्णतया अनभिज्ञ प्रतिनिधि ऐसे

महत्त्वपूर्ण दायित्वों का प्रभार सँभाल रहे हैं। जिन्हें और विषय की जानकारी है, वे तकनीकी विशेषज्ञ ऐसी परिस्थिति में असहाय हो जाते हैं। उन्हें ऊपर के आदेशों का पालन मात्र करना है। सर्वविदित है कि विहार में प्रतिवर्ष वाढ की विनाशलीला का ताउव होता है। मैंने एक सेतु-विशेषज्ञ रेल-अभियता से पूछा कि क्या पुलों की सख्या व लबाई का निर्धारण करते समय पहाडी जल-प्रवाह के कारण आनेवाली वाढ को ध्यान में रखा गया था? उसने माना कि ऐसा नहीं किया गया था। उसने कहा कि ऐसे विषयों पर प्राय विशेषज्ञों के मत को महत्त्व नहीं दिया जाता। इसके बजाय राजनीति या अन्य कारकों को ही ध्यान में रखा जाता है।

क्षेत्रीय एव क्रियात्मक प्रतिनिधित्व

यह वर्तमान निर्वाचन पद्धति वडी बाधाओं में से उपजी एक बाधा है। इसका निवारण कैसे हो? एक मार्ग तो यह हो सकता है कि दोनों प्रकार साथ-साथ चलने दिए जाएँ। १ जनसख्या के आधार पर वर्तमान क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व और २ विभिन्न व्यवसायों व योग्यताओं पर आधारित व्यावसायिक प्रतिनिधित्व। द्वितीय में राष्ट्रजीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र से चयन किए गए प्रतिनिधियों का समावेश वाछित हे। जैसे— कृषि जगत् का प्रतिनिधि कृषि-विशेषज्ञ। इससे निर्वाचित समूहों को समाज की सभी आवश्यकताओं व क्रियाकलापों का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम बनाने तथा कुछ हद तक असतुलन दूर करने में सहायता मिलेगी।

पचायत की आधारशिला

प्राचीन काल से प्रचलित ग्राम-पचायत प्रणाली हमारे देश के आर्थिक सामाजिक ढाँचे की आधारशिला रही है। समाज के विविध वर्धमान दायरों से अष्टप्रधान समिति का गठन ही पचायत है। यह अष्टसदस्यीय मन्त्रिपरिषद् राजा की परामर्शदात्री होती है। पचायत का दायित्व व्यावसायिक होता है। वस्तुत उन दिनों का जीवन आज जैसा नहीं था। उस समय मुख्यत चार व्यावसायिक समूह होते थे। पहला समूह उन लोगों का था जो भौतिक विज्ञानों और अध्यात्म के अध्ययन-अध्यापन के प्रति समर्पित थे। दूसरे में वे लोग थे, जिनको प्रशासन चलाने का दायित्व सौंपा गया था। तीसरा वर्ग व्यापारियों का था और चौथे वर्ग में वे लोग थे, जो कृषि व सबधित हस्तकलाओं में सलग्न थे। एक पाँचवाँ समूह भी था, जो जगल में रहकर शिकार व वन्योत्पादों से अपनी जीविका चलाता था। इन्हें 'निषाद'

कहा जाता था। सपूर्ण समाज के हित में पचायत में इन पाँचों वर्गो का प्रतिनिधित्व होता था।

सुधार का मार्ग

आजकल प्राय पचायत-राज का उद्‌घोष सुनाई पडता है, परतु सपूर्ण तत्र विकृत हो गया है। व्यावसायिक योजना का स्थान जातिवाद व गुटवाद ने ले लिया है। पचायत में प्राय कुख्यात गुडों का चयन हो जाता है। जातिवाद की दुहाई, धन का प्रलोभन, भय तथा शारीरिक आक्रमण निर्णायक तत्त्व बन गए हैं। व्यावसायिक गुणों की धज्जियाँ उडा दी गई हैं। जो भी हो, विकृतियों को ठीक तो करना ही होगा।

हर क्षेत्र के नेक-नीयत एव सामाजिक चेतनासपन्न लोगों को एक साथ आने के लिए प्रोत्साहित करके, उन्हें अपने प्रभाव से सपूर्ण राष्ट्रीय परिदृश्य को स्वच्छ एव क्रियाशील आधार देने हेतु खडा करना आवश्यक है। पचायत के लिए सर्वसम्मत अथवा निर्विरोध चुनाव इस दिशा में महत्त्वपूर्ण पग होगा। स्वस्थ एव सोद्देश्य सरचना का आधार सुनिश्चित करने के लिए चुनाव-नियमों व मतसूचियों में समुचित सुधारों की आवश्यकता है। इस हेतु आवश्यक होने पर सविधान में भी उचित सशोधन किए जा सकते हैं। इससे विभिन्न वर्गो में आपसी सहयोग की भावना जगाने एव उनकी आवश्यकताओं व हितों में सामजस्य बिठाने में सहायता मिलेगी। निस्संदेह यह उपक्रम इतना आसान नहीं है और इसमें अनेक बाधाएँ उत्पन्न होंगी, परतु यह प्रयोग परीक्षण करने योग्य है। इसके लाभकारी परिणाम निकल सकते हैं।

शब्दो की दासता क्यो?

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सरचना के विषय में भी हमारे परपरागत विचार हैं, जो केवल आर्थिक पक्ष पर बल नहीं देते। हमने अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र की सज्ञा दी है। आज यह नीति केवल राजनीति बनकर रह गई है। परतु हमारी पुरातन मान्यता में अर्थ व राजनीति– दोनों एक ही शब्द में समाहित हैं।

आजकल दोनों में अर्थशास्त्र अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गया है। इस सबध में समाजवाद को उसका आदर्श माना जाता है। इसीलिए इसके वास्तविक सारतत्त्व स्वरूप को समझना नितात असभव हो गया है। श्रेणी

समाजवाद, अराजकतावाद, श्रमिक सघवाद, साम्यवाद आदि समाजवाद के विभिन्न स्वरूप कहे जाते हैं। ये चाहे कुछ भी हों, हम शब्दों के दास क्यों बनें? यह सर्वथा उचित होगा कि हम अपनी इस भूमि की प्रतिभा को प्रतिबिंबित करनेवाली मूल विचारधारा के अनुरूप नया चिंतन प्रारभ करें। हाँ, अन्य विचारों में यदि कोई सकारात्मक तत्त्व हों और हमारे लिए उपयोगी हों, तो उन्हें अवश्य ही ग्रहण करना चाहिए।

अतिकेंद्रीकरण के पीछे हटते कदम

समाजवाद का मूल सिद्धात आर्थिक शक्ति का विकेंद्रीकरण है। समाजवाद इस पर भी बल देता है कि यह विकेंद्रीकरण ठीक और न्यायसगत होना चाहिए। यहाँ तक तो कोइ मतभेद नहीं हो सकता। परतु जैसे ही विकेंद्रीकरण की न्यायसगतता और औचित्य के निर्णय के अधिकार का प्रश्न उठता है, मतभेद उभरने लगता है। वह निर्णायक अभिकरण कौन-सा हो? इन दिनों यह प्रवृत्ति बल पकडती जा रही है कि विकेंद्रीकरण की सफलता के लिए केंद्रीकरण आवश्यक है। अर्थात् आर्थिक शक्ति-केंद्रों के स्थान पर राज्य को ही अपने पास सब अधिकार केंद्रित करने चाहिए। केवल राजनैतिक शक्ति-केंद्र प्रभावशाली होना चाहिए, जिसके पास उत्पादन के समस्त साधनों का भी एकाधिकार हो।

ऐसी परिस्थिति में राजनैतिक सत्ता सर्वशक्तिमान हो जाती है और सपूर्ण समाज राजनैतिक प्रभुओं का दास बनकर रह जाता है। राज्य द्वारा खैरात में दी गई शक्ति ही जनसामान्य के भाग्य में आती है, जिसका समय, प्रकार व मात्रा भी शासक ही निर्धारित करते हैं। सर्वशक्तिमान राज्य का पिछलग्गू बनकर सतुष्ट हो जाना ही जनसामान्य की नियति बन जाती है।

अस्तु। इस दिशा में विदेशों में किए गए अनेक प्रयोग जनहित करने में अक्षम रहे हैं। पहले प्रयोगात्मक प्रवाह में उन्होंने व्यक्ति के घर के स्थान पर सामूहिक पकाने-खिलाने की योजना की। उन्होंने यह प्रयोग भी किया कि बच्चे अपने माता-पिता की व्यक्तिगत नहीं, बल्कि समाज की सपति हैं। अत शिशुओं का पालन-पोषण व दुग्धपान आदि सामूहिक रूप से कराया जाएगा। माताएँ निश्चित मध्यावकाश में वहाँ जाकर अपने शिशुओं को दुग्धपान कराएँगी। इस बात की क्या गारटी है कि इतने कम समय में माँ उस विशाल भीड़ में अपने बच्चों को खोज ही लेती होगी। इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं। सयोगवश उसे जो शिशु मिल जाए उसे

ही दुग्धपान करा दे और तुरत अपने काम पर लौट जाए।

अस्तु। इन प्रयोगों के कटु अनुभवों के बाद उन्होंने अब यह सीखना प्रारम्भ किया कि मनुष्य एक यत्र नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना विशिष्ट स्वभाव, क्षमता व रुचियॉ होती हैं। जब मानव-जीवन के इस वैशिष्ट्य की उपेक्षा की गई और सभी को निर्जीव यत्र का पुर्जा मात्र मानकर व्यवहार किया गया, तब-तब असतोष पनपा। इससे अनेक सघर्ष उत्पन्न हुए और क्षमता का ह्रास हुआ। परिणामस्वरूप उन्हें ऐसे प्रयोगों को छोड़ना पड़ा। यद्यपि प्रयोगों एव सभावनाओं की खोज की भावना निस्सदेह प्रशसनीय है, परतु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हमें भी इन निस्सार प्रयोगों में उलझना चाहिए।

क्या न्यास-भावना से काम नहीं चलेगा?

अब हम इस समस्या पर स्वतत्र रीति से विचार करें कि अर्थ शक्ति के न्यायसगत व समुचित विकेंद्रीकरण के मूलभूत सिद्धातों को सर्वोत्तम व्यावहारिक रूप देना किस प्रकार सुनिश्चित किया जाए। महात्मा गाँधी ने इस भूमि के जीवन-दर्शन एव परपराओं के सबध में अपनी अवधारणा के आधार पर 'न्यास-भावना' के सिद्धात का प्रतिपादन किया है। इसके अनुसार मानव की उत्पादन क्षमता की प्रेरणा पगु नहीं होती। उससे अधिकाधिक उत्पादन करने का आह्वान किया जाता है, कितु उसे स्वय को उस सारी सपत्ति का स्वामी नहीं मानना चाहिए। वह तो अनिवार्यत समाज की ही होती है। समाजसेवा में इसका उचित उपयोग सुनिश्चित करने हेतु उसे स्वय को उस सपत्ति का न्यासी (धरोहर-रक्षक) समझना चाहिए।

यद्यपि यह दृष्टिकोण पुरातन हिंदू विचारों से मेल खाता है, तथापि इसमें एक गभीर दोष विद्यमान है। आधुनिक युग में मानव-मन इतना दुविधाग्रस्त एव विकृत हो गया है कि जहॉ उसे अपने लाभ की सभावना नहीं दिखती, वहॉ वह अपनी क्षमता व इच्छा का आह्वान व केंद्रीकरण नहीं कर पाता। हमें यह कारक भी ध्यान में रखना होगा। आयकर का ही उदाहरण लें। सरकार ने इतना उच्च कराधान किया है कि एक निश्चित सीमा के बाद उत्पादक अपने उत्पाद के १०० रुपए में से केवल २ ५० रुपए ही बचा पाता है। ऐसी परिस्थिति में उत्पादक स्वाभाविक रूप से अनुभव करेगा कि इतना अधिक उत्पादन करने का कोई लाभ नहीं है,

क्योंकि उसे कम उत्पादन से ही अधिक धनार्जन हो सकता है। तात्पर्य यह है कि वह या तो कम उत्पादन करेगा अथवा कर-वचना करेगा। ऐसा अनुभव केवल हमारे देश में ही नहीं, विदेशों में भी हुआ है।

इस सबध में विलोम उदाहरण पश्चिमी जर्मनी का दिया जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् वहाँ की अर्थव्यवस्था तहस-नहस हो गई थी। अत अर्थशास्त्रियों ने उत्पादन के प्रोत्साहन पर लगे सभी प्रतिबध व अकुश हटाने का निश्चय किया। तत्पश्चात् वहाँ सपत्ति के विकेंद्रीकरण की उत्तम योजना बनाई गई। यह विधि पश्चिमी जर्मनी की अर्थव्यवस्था को स्थिर करने एव अग्रगामी बनाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई। विश्व का औद्योगिक अनुभव भी इससे भिन्न नहीं है। जब श्रमिक को यह अनुभव होता है कि उसे प्रतिफल नहीं मिलेगा, तब उसे अपने कार्य के प्रति कोई मनोयोग और उत्साह नहीं रह जाता।

सतुलन का क्षितिज

अत हमें ऐसे सतुलन की खोज करनी होगी, जो व्यक्तिगत अभिरुचि को जीवत बनाए रखे और साथ ही साथ उत्पादित सपत्ति का विकेंद्रीकरण भी किया जा सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें व्यक्ति पर अकुश लगाने होंगे। व्यक्तिगत स्वतत्रता को इतना सकुचित अर्थ नहीं दिया जा सकता कि जिससे आम समाज के हितों की ही हानि हो। सपत्ति के किचित सचय और उपभोग की व्यक्तिगत स्वतत्रता को कतिपय सीमाओं में इस ढग से मर्यादित करना होगा कि समाज के शेष लोगों की स्वतत्रता भी सुनिश्चित हो सके तथा सपन्न व सुखी भौतिक जीवन के समान अवसर सभी को उपलब्ध हो सकें।

यहीं हिंदू दृष्टि की प्रतिभा सपन्नता परिलक्षित होती है, जो व्यक्ति के मन को इस सामजस्य के लिए तैयार करती है। आनद के सच्चे स्वरूप के विषय में उसे शिक्षित-सस्कारित किया जाता है और उसके समक्ष भौतिक विलास का ही लक्ष्य नहीं रखा जाता, क्योंकि उससे उसे शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं होगी। इसके लिए उसे भौतिक निर्भरता से ऊपर उठना होगा, अपनी आत्मिक गहराई में निमज्जन करना होगा और निस्सीम तथा शाश्वत आनद-सिंधु का अन्वेषण करना होगा। तब उसे अनुभूति होगी कि उसके चारों ओर विद्यमान समस्त जन उसी परमात्मा के अभिव्यक्त रूप हैं और उनके द्वारा उसकी श्रम-साधना के फलों का उपभोग उसके निजी आनद के समकक्ष ही है।

}

इस जीवन दृष्टि की पृष्ठभूमि में ही संतुलन बना सकना संभव है। व्यक्ति को अपनी व अपने परिवार की आवश्यकताओं व दायित्वों की पूर्ति हेतु संपत्ति के अधिकार का आश्वासन दिया जा सकता है। संपत्ति का अधिकार भी मर्यादित होना चाहिए, अर्थात् सुखोपभोग को निश्चित सीमा के भीतर पूर्ण करने की स्वतंत्रता के साथ ही समाज के अन्य सदस्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने के दायित्व का अनुबंध भी आवश्यक है। इस प्रकार अर्थनीति की एक मोटी रूपरेखा खींची जा सकती है, जो वर्तमान परिस्थितियों में व्यक्ति के प्रोत्साहन को बनाए रखे तथा विकेंद्रीकरण की सम्यक् प्रणाली को सुनिश्चित कर सके।

सफलता का आधार

इस सफलता के मानवीय दृष्टिकोण का समुचित गठन परमावश्यक है। समाज को उचित जीवन-दर्शन से अनुप्राणित करना होगा। लोगों में यह क्षमता होनी चाहिए कि आत्मकेंद्रित प्रवृत्तियों पर अंकुश लगा सकें और स्वबांधवों के सुख-दुख से एकाकार हो सकें। इसके लिए जागृत करना होगा– आत्मानुशासन। केवल उसी से समरसतापूर्ण समायोजन संभव है। राष्ट्र-वैभव के सर्वतोमुखी विकास हेतु सहकारी प्रयास की अभिप्रेरणा भी उद्दीप्त करनी होगी। इस प्रकार ऐसी सामाजिक संरचना खड़ी हो जाए, जिसमें व्यक्तियों को जीवन के सर्वोच्च ध्येय के संबंध में सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो, समस्त समाज के प्रति प्रेम और आत्मीयता की भावना छलकती हो तथा आत्मानुरूप होने का भाव विद्यमान हो।

५ हमारी राष्ट्रीय आत्मा की पुकार

संस्कृति का नवतारुण्य

हिंदू-राष्ट्र की हमारी कल्पना राजनीतिक एवं आर्थिक अधिकारों के एक गट्ठर मात्र की नहीं है। वह तत्त्वतः सांस्कृतिक है। हमारे प्राचीन एवं उदात्त सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों से उसके प्राणों की रचना हुई है और हमारी संस्कृति की भावना का उत्कट नवतारुण्य (रिजुविनेशन) ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की सही दृष्टि हमें प्रदान कर सकता है तथा आज राष्ट्र के सम्मुख

खडी अगणित समस्याओं के समाधान में हमारे सभी प्रयत्नों का सफल दिशा-निर्देश भी कर सकता है।

किंतु इन दिनों संस्कृति के नवतारुण्य को प्राय 'पुनरुज्जीवनवाद' और 'प्रतिक्रियात्मक' होने की उपाधि दी जाती है। प्राचीन पूर्वाग्रहों, मूढ विश्वासों अथवा समाज-विरोधी रीतियों का पुनरुज्जीवन प्रतिक्रियात्मक कहा जा सकता है, क्योंकि इसका परिणाम समाज का पाषाणीकरण (फॉसिलाइजेशन) हो सकता है, किंतु शाश्वत एव उत्कर्षहारी जीवन-मूल्यों का नवतारुण्य कभी प्रतिक्रियात्मक नहीं हो सकता। इसे केवल प्राचीन होने के कारण ही प्रतिक्रियात्मक नाम दे देना बौद्धिक दिवालियापन प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अपनी सस्कृति के नवतारुण्य से हमारा आशय उन शाश्वत जीवनादर्शों को पुन जीवन में उतारने से है, जिन्होंने इन सहस्रो वर्षों तक हमारे राष्ट्रजीवन को पोषित किया और अमरता प्रदान की।

परिभाषा के लिए अति सूक्ष्म

लोग कभी-कभी कहते हैं– 'आप हिंदू-सस्कृति की परिभाषा बताइए।' हॉ, यद्यपि उसकी परिभाषा नहीं कर सकते, पर हम उसे अनुभव करते हैं। कुछ लोग केवल इसीलिए इसे पूर्ण रूप से अस्वीकार कर देते हैं कि वे इसकी परिभाषा नहीं कर सकते। वे कहते हैं– 'ऐसी वस्तु से क्या लाभ जिसकी हम परिभाषा ही नहीं कर सकते।' किंतु यह तर्क क्या युक्तिसगत है? उदाहरण के लिए चिकित्साशास्त्र का सपूर्ण पाठ्यक्रम जीवन की रक्षा हेतु ही विकसित हुआ है। लेकिन आधुनिकतम वैज्ञानिक भी यह बताने में असमर्थ हैं कि 'जीवन' क्या है? इसके कारण चिकित्साशास्त्र की उपयोगिता में कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई। जीवन का बाह्य प्रकटीकरण एव मानव पर उसका सघात हमें उसकी सत्यता में विश्वास कराने के लिए पर्याप्त है।

इसी प्रकार हमारी भावनाएँ, आदर्श एव आकाक्षाएँ अपनी निजी सत्यता रखती हैं तथा हमारे जीवन में उनका अति महत्त्वपूर्ण कार्य है, यद्यपि परिभाषा और गणित के नियम-सूत्रों द्वारा वे व्यक्त नहीं की जा सकतीं। वास्तव में ऐसी स्थूल वस्तुओं की अपेक्षा जो नापी जा सके और जिनकी परिभाषा हो सके, ऐसे सूक्ष्म तत्त्व ही सच्चे मानव-व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं।

अस्वीकृतियों के बीच सत्य का प्रकटीकरण

हमारी संस्कृति, जो परिभाषा के क्षेत्र में नहीं आती, ने हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। हम इस प्रकार की सभी अभिव्यक्तियों में संस्कृति के तत्त्व को पहचान सकते हैं। प. जवाहरलाल नेहरू के जीवन का एक उदाहरण है। वे जीवन के प्रश्नों को भौतिक आधार पर ही देखा करते थे। ईश्वर, धर्म, आत्मा, पुनर्जन्म आदि का उनके लिए कोई अर्थ नहीं था। दुर्भाग्य से उनकी पत्नी, जो चिकित्सा के लिए विदेश ले जाई गई थीं, का देहात हो गया। अपनी रीति के अनुसार उनके शरीर का अग्नि-संस्कार किया गया। उस मुट्ठी-भर राख का क्या करना चाहिए– यह प्रश्न था। एक अज्ञेयवादी (एग्नॉस्टिक) कहेगा– 'यह राख मात्र है, इसका लाभदायक उपयोग केवल इतना ही है कि खाद के समान खेत में डाल दी जाए।' भौतिकवाद के अनुसार उस राख के लिए कोई आदर भाव प्रकट करने का कुछ अर्थ नहीं। इससे अधिक वह और कुछ नहीं कह सकता 'तू मिट्टी है और मिट्टी में लौट गया।'

प. नेहरू के मस्तिष्क में एक संघर्ष उत्पन्न हो गया। उनके भीतर का अज्ञेयवादी उनसे कहता था– 'फेंक दो इस राख को इस विदेशी भूमि में और लौट चलो।' पर उनके पुरातन हिंदू रक्त की पुकार थी कि अपनी प्यारी पत्नी के अवशेषों को गंगा माता की गोद में समर्पित करो। अंत में पुरातन संस्कारों की विजय हुई। राख अपने देश में लाई गई और प्रयाग में पवित्र गंगा, यमुना तथा अदृश्य सरस्वती के संगम में विसर्जित की गई। बाद में पंडित नेहरू ने स्वयं कहा कि 'उनकी आधुनिक शिक्षा तथा प्रशिक्षण सभी विद्रोह कर रहे थे, किंतु उनके भीतर की किसी चीज ने, किसी ऐसी चीज ने, जिसका स्पष्टीकरण नहीं हो सकता, उन्हें राख को त्रिवेणी संगम में विसर्जित करने के लिए बाध्य कर दिया।'

प्राणधारी ईश्वर

प्रथम एवं सर्वाधिक मूलभूत पहलू है उस परम सत्य, जो संपूर्ण विश्व में व्याप्त है, चाहे उसे कुछ भी नाम दिया गया हो, की अनुभूति की आकांक्षा अथवा सरल शब्दों में कहा जाए तो 'ईश्वर का साक्षात्कार करना।' किंतु ईश्वर है कहाँ? हम उसे कैसे जान सकते हैं? उसका स्वरूप कैसा है, उसके रूप-गुण क्या हैं, जिससे कि हम उसका ध्यान कर सकें, उसको पा सकें। उसका यह वर्णन कि वह निराकार और निर्गुण है, हमारी

समस्याओं को सुलझाता नहीं। पूजा के विविध पंथ विकसित हुए। लोग मंदिरों में जाकर सर्वशक्तिमान का प्रतीक मानकर मूर्तियों पर ध्यान केंद्रित करने का प्रयत्न करते हैं। किंतु हम, जो कार्यशक्ति से पूर्ण है, इस सबसे संतुष्ट नहीं होते। हम एक प्राणधारी ईश्वर चाहते हैं। ऐसे ईश्वर से क्या लाभ जो सुनता है, किंतु उत्तर नहीं देता? जब तक असामान्य उच्च योग्यतासंपन्न भक्त न हों, ये विग्रह न तो रोते हैं, न हँसते हैं और न उनमें कोई प्रतिक्रिया ही दृष्टिगोचर होती है। सर्वसाधारण के लिए तो वे परमात्मा के अनुभूतिरहित प्रतीक हैं। अतएव हमें एक प्राणधारी ईश्वर चाहिए जो हमें कर्म में व्यस्त रखकर, हमारे अंदर निवास करनेवाली सभी शक्तियों का आह्वान करे।

अतएव हमारे पूर्वजों ने कहा— 'हमारा समाज ही हमारा ईश्वर है', अथवा 'जनता जनार्दन' आदि। मानव-जाति के एक महानतम शिक्षक श्री रामकृष्ण परमहंस ने कहा है— 'मनुष्य की सेवा करो'। उनके महान शिष्य स्वामी विवेकानंद ने भी अत्यंत बल देकर यही बात कही है। किंतु संपूर्ण मानवता के भाव में 'मनुष्य' अत्यंत व्यापक कल्पना है और ऐसा होने से हमारे देखने और अनुभव करने के लिए वह एक ठोस सत्ता के रूप में सरलता से ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसीलिए यह देखा जाता है कि जिन्होंने मानवता की सेवा को ग्रहण किया उनमें से अनेकों के जीवन की परिणति जड़ता एवं निष्क्रियता में हुई। इसीलिए मानव-मन एवं मेधा की सीमाओं को समझते हुए हमारे पूर्वजों ने कहा कि मानवता इत्यादि की बातें ठीक हैं, किंतु उस स्तर तक पहुँच पाने से पूर्व उस सर्वशक्तिमान की कल्पना कुछ सीमाओं के साथ ग्रहण करनी चाहिए, जिसको समझा और अनुभव किया जा सके और जिसकी सेवा की जा सके। उन्होंने कहा कि हिंदू-समाज ही वह विराट पुरुष है, सर्वशक्तिमान की स्वयं की अभिव्यक्ति है। यद्यपि वे हिंदू शब्द का प्रयोग नहीं करते, किंतु 'पुरुषसूक्त' में सर्वशक्तिमान के निम्नांकित वर्णन से यही स्पष्ट है। उसमें कहा गया है कि सूर्य व चंद्रमा, उसकी आँखें हैं। नक्षत्र और आकाश उसकी नाभि से बने हैं। यथा—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रो अजायत।।

(ऋग्वेद १० ९० १२)

(ब्राह्मण उसका मुख क्षत्रिय भुजाएँ, वैश्य उसकी जंघाएँ तथा शूद्र

पैर हैं।) इसका अर्थ है कि समाज, जिसमें यह चतुर्विध व्यवस्था है, अर्थात् हिंदू-समाज हमारा ईश्वर है।

सेवा की सही भावना

जनता में जनार्दन को देखने की यह अति श्रेष्ठ दृष्टि ही हमारी राष्ट्र-कल्पना का हृदय है। इसने हमारे चिंतन को परिव्याप्त कर हमारे सांस्कृतिक दाय की विविध अनुपम कल्पनाओं को जन्म दिया है।

यह दृष्टि हमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उस दिव्य पूर्ण के एक अंश के रूप में देखने की प्रेरणा देती है। अतः सभी व्यक्ति समान भाव से पवित्र एवं हमारी सेवा के योग्य हैं। अतएव उनके बीच भेदभाव का कोई भी विचार निंदनीय है। इस प्रकार समाजसेवा की भावना को हमारी संस्कृति में ईश्वर की पूजा का पवित्र रूप दे दिया गया है।

हमारे चारों ओर सहस्रों मानव हैं, जो भूखे एवं निराश्रित हैं, जो जीवन की निम्नतम आवश्यकताओं से वंचित हैं और जिनकी कष्ट-कथाएँ पाषाण के समान हृदयों को भी पिघला देंगी। निश्चय ही वह ईश्वर है, जिसने गरीब, निराश्रित एवं पीड़ित का रूप धारण किया है। वह हमें अपनी सेवा के लिए अवसर प्रदान करने उन रूपों में आता हैं। श्री रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें 'दरिद्रनारायण' कहा है।

यदि एक बार सच्ची सेवा-भावना हमारे जीवन में प्रवेश कर जाती है तब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि हमारी व्यक्तिगत और पारिवारिक संपत्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो, वास्तव में हमारी नहीं है। ये तो समाज-देवता की पूजा के लिए उपकरण मात्र हैं। तब हमारा संपूर्ण जीवन समाज की सेवा के लिए एक उपहार हो जाएगा। उपनिषद् कहते हैं–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

(यजुर्वेद, ४०-१)

(यह संपूर्ण सृष्टि ईश्वर से व्याप्त है, उसे समर्पण करने के पश्चात् जो शेष बचे उसी का भोग करो। दूसरे के धन के लिए लालच मत करो।)

अतएव हम अधिक से अधिक भौतिक संपत्ति का अर्जन करें, जिससे समाजरूपी ईश्वर की सेवा श्रेष्ठ रीति से यथासंभव कर सकें। उस संपूर्ण संपत्ति में से हमें अपने लिए केवल उतना ही उपभोग में लाना

चाहिए, जितने के विना हमारी सेवा की क्षमता में रुकावट आती हो। इससे अधिक पर अधिकार जताना या अपने उपयोग में लाना निश्चय ही समाज की चोरी का कार्य है। श्रीमद्‌भागवत में नारद ने कहा है–

यावत् भ्रियेत जठर तावत् स्वत्व हि देहिनाम्।
अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।

(श्रीमद्‌भागवत ७ १४ ८)

(शरीर की स्थिति के लिए जितना अत्यत आवश्यक है, उतने ही पर मनुष्य का अधिकार है। जो अधिक ग्रहण करता है वह चोर है तथा दडनीय है।)

इस प्रकार हम समाज की सपत्ति के सरक्षक (ट्रस्टी) मात्र हैं। हम उत्तम रीति से समाज-सेवा तभी कर सकते हैं, जब सच्चे रूप में उसकी धरोहर के सरक्षक हो जाते हैं। सेवा का यह शुद्ध भाव उदय हो जाने पर अह अथवा आत्मप्रशसा के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

अधिकार नहीं कर्तव्य

आज हम सभी जगह अधिकारों के लिए मचा हुआ कोलाहल सुनते हैं। हमारे सभी राजनीतिक दल भी समान अधिकारों की बात बोलते हुए लोगों में अह भाव जागृत कर रहे हैं। कहीं भी कर्तव्य और नि स्वार्थ भाव की सेवा पर वल नहीं दिया जाता। स्वकेंद्रित अधिकार-ज्ञान के वायुमडल में सहयोग की भावना, जो समाज की आत्मा होती है, जीवित नहीं रह सकती। इसी कारण आज हम अपने राष्ट्रजीवन में विविध घटकों के बीच सघर्ष देख रहे हैं, चाहे वे अध्यापक हों या छात्र, श्रमिक हों या उद्योगपति। अपनी सास्कृतिक दृष्टि को आत्मसात करने से ही हमारे राष्ट्रजीवन में सहयोग की सच्ची भावना एव कर्तव्य की चेतना पुनर्जीवित हो सकती है।

हमारा सास्कृतिक इद्रधनुष

हमारी सस्कृति की हिमालय के समान उन्नत दृष्टि का एक और शिखर है, जिसपर पहुँचने की महत्त्वाकाक्षा तक ससार में अभी तक अन्य किसी ने नहीं की है। उस भाव की अभिव्यक्ति– एक सत् विप्रा वहुधा वदन्ति (ऋग्वेद १-१६४-४६) वाक्य द्वारा की गई है। अर्थात् सत्य एक है, ऋषि उसका विविध प्रकार से वखान करते हैं। इस सुदर भाव को व्यक्त करने के लिए अग्रेजी में कोई शब्द नहीं है। इस भाव को व्यक्त करने के

लिए 'सहिष्णुता' शब्द को प्राय प्रयोग में लाया जाता है। यह बहुत हल्का है, यह तो सहन करने मात्र का भाव व्यक्त करने के लिए एक शब्द है। इसमें अह का भाव है जिसमें दूसरों के दृष्टिकोण को मात्र सहन करना है, किंतु उनके लिए कोई प्रेम अथवा सम्मान नहीं रखता। परतु हमारी शिक्षा अन्य विश्वासों एव दृष्टिकोणों को इस रूप में सम्मान करने तथा स्वीकार करने की रही है कि वे सब एक ही सत्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं।

यह एक पहाडी के उन विविध वर्णनों के समान है, जो भिन्न-भिन्न मार्गों से उसकी चोटी पर पहुँचनेवाले व्यक्तियों ने किए हैं। एक मनुष्य कहता है कि वह एक भीषण चट्टान के समान है, दूसरा कहता है कि वह चट्टान नहीं बिल्कुल जगल है, तीसरा कहता है कि यह तो झाडियों से भरी हुई है, आदि-आदि। इनमें प्रत्येक सही होते हुए भी अपूर्ण है। इस प्रकार के कुल अपूर्ण वर्णनों से हमें उस पहाडी का नि शेष एव निर्दोष निरूपण प्राप्त होता है। एक बटे दो या एक बटे तीन अपूर्णांक हैं। किंतु इस प्रकार के अपूर्णांकों को जोड देने से पूर्णांक प्राप्त करना सभव हो सकता है।

ठीक इसी प्रकार व्यक्ति, जो यद्यपि अपूर्ण है, परस्पर समष्टिगत रूप में उपस्थित होकर एक सर्वांगपूर्ण समाज का निर्माण कर सकते हैं। अतएव व्यक्ति की अपूर्णताओं से उत्पन्न विषमताएँ केवल उस एक महान एव निर्दोष तथा शक्तिमान सत्य, अर्थात् समाज की नानाविध अभिव्यक्तियाँ ही हैं। सत्य के इस अतर्निहित स्फुलिंग, याने प्रत्येक व्यक्ति में विद्यमान दिव्यता का यह बोध हमारे राष्ट्रीय जीवन के विविध घटक अशों तथा धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हो चुका है तथा उन्हें ऐसे अविरोध प्रतिमान के रूप में घटित कर दिया है, जिसमें एक दूसरों के प्रति सद्भाव एव सम्मान बना रहे। आत्मा की यह सार्वलौकिकता विश्व के चिंतन-क्षेत्र में हमारी सस्कृति की एक नितात अनोखी देन है।

सामान्यजन का स्तर उन्नत करना

अपनी सस्कृति के इन उदात्त वैशिष्ट्यों के पुनरुज्जीवन से ही हमारे समाज का सर्वसाधारण व्यक्ति अपने राष्ट्रजीवन की दृष्टि से स्फूर्त होगा तथा आज के वैयक्तिक, पारिवारिक एव अन्य सकीर्ण विचारों के आवेष्टन से बाहर आकर चारित्र्य, सेवा एव बलिदान की भावना से उन्नत होगा। ऐसा कोई भी राष्ट्र उन्नत नहीं हो सकता, जिसका औसत व्यक्ति बौना हो और केवल कुछ ही असामान्य व्यक्तित्व हों। असामान्य गुणों से

सपन्न होना बहुत थोड़े लोगों का सौभाग्य होता है। हम इस प्रकार की आत्माओं के प्रति नमन करते हैं, पर हम सामान्य जन स्वय से प्रश्न करते हैं कि 'हमारे स्वय का क्या?' इस प्रकार के अपवादस्वरूप जीवन हमें साहस दे सकते हैं, किंतु कभी-कभी वे हमें इस प्रकार से खिन्न कर देते हैं कि हम सब जिस भूमि पर हैं उससे इतनी भव्य ऊँचाई तक उठने में हम असमर्थ हैं।

विदेशी इतिहासकार तथा उस समय के यात्रियों के तुलनात्मक अध्ययन हमें बताते हैं कि एक समय इस देश का जनसाधारण अन्य देशों के सामान्यजन से अतुल्य श्रेष्ठ था। क्योंकि हमारे नेताओं ने समाज के प्रत्येक स्तर में सास्कृतिक सस्कारों को निर्विष्ट करने के लिए लगातार अथक प्रयत्न किए थे। इसीलिए हमारे समाज के प्रत्येक वर्ग से विद्वान और ज्ञानियों से लेकर कृषक, कोरी, मोची, डोम तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों तक से सत-महात्मा तथा शूरवीर मिलते हैं, जिनके विचारों एव कृतियों ने ऊपरी व्यवधानों को पार करते हुए लोगों को प्रेरणा दी।

वर्तमान 'जागृति

आज इस सही सास्कृतिक दृष्टिकोण के पूर्ण अभाव के कारण हमारे लोग अनत समस्याओं की आपदा में फँसे हैं। ये सभी समस्याएँ जन-साधारण का स्तर निम्न होने के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। हम प्राय सुनते हैं कि एक बहुत बडी जागृति आई है और हमारे लोगों में राजनीतिक चेतना बढ रही है। जागृति ज्ञान है तथा ज्ञान वह योग्यता है, जिससे विविधता में एकता की अनुभूति होती है, कलह के स्थान पर सामजस्य की प्राप्ति होती है और स्वार्थ के स्थान पर समाज की आराधना होती है। अत एकता के लिए प्रेरणा उत्पन्न करते हुए विघटन की प्रवृत्तियों का लोप हो जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि हम अपने लोगों की एकता के लिए कार्य नहीं करते, किंतु विविध समस्याओं को अधिकाधिक पक्षोपपक्ष उत्पन्न करने के लिए उपयोग में लाते हैं तो हम अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति नहीं करते, वरन् अज्ञान की गहराई में और भी गहरे डूब रहे हैं।

फिर भी अधिक क्रियाशीलता दिखाई देती है। हमारे चारों ओर इतने अधिक आदोलन और सक्षोभ हो रहे हैं क्योंकि जीवित प्राणी सज्ञाशून्य होने पर भी क्रियाशीलता प्रदर्शित करता है। उदाहरण के लिए हम सूक्ष्मदर्शक यत्रों द्वारा देख सकते हैं कि मेंढक की बाह्य चेतना के शून्य

हो जाने पर भी सूक्ष्मतम शिराओं में रक्तसचार होता रहता है। तो क्या वह प्रगति कर रहा है? नहीं। इसके विपरीत वह मृत्यु की ओर जा रहा है। इसी प्रकार जब चारों ओर अज्ञान छाया रहता है, तब भी क्रियाएँ होती रहती हैं। हमारी वर्तमान काल की अधिकतर क्रियाओं के प्रेरक उद्देश्यों पर ऊपरी दृष्टिपात भी हमें विश्वास दिला देगा कि वे सच्ची जागृति, अर्थात् ज्ञान से उत्पन्न नहीं हुई हैं, वरन् उनकी उत्पत्ति अधकार एव अज्ञान से है।

वर्तमान विपर्यासों को दूर करो

जब हम अपने उदात्त सास्कृतिक मूल्यों की बात करते हैं, तो आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता में पले हुए लोग सोचते हैं कि यह कोई रहस्यात्मक चीज है, कुछ पारलौकिक वस्तु है। यह केवल हमारे मानसिक दास्य की वर्तमान गहराई को प्रकट करता है, जिसने हमें उन सिद्धातों को समझने के सामर्थ्य से भी वचित कर दिया है, जो कभी हमारे राष्ट्रजीवन का गौरव थे। एक बार एक मित्र ने मुझसे एक किताब ली। जिस दिन वह मुझे लौटानेवाला था कि उसे बदर ले गया। वह एक वृक्ष की चोटी पर बैठ गया और उसे उलट-पलटकर देखने लगा। सभवत वह मेरे मित्र को ऐसा करते देख चुका था। कई बार उसे खोला और बद किया। अत में वापस आया और मेरे मित्र को चकित करते हुए मेज पर रखकर चला गया। सभव है, उसने यह सोचा हो कि मानव-प्राणी की क्रियाएँ रहस्यमयी और गुप्त हैं। हमारी सस्कृति के उपदेशों के सबध में भी आज कुछ इसी प्रकार की दशा है।

आज हम नाच, गान, चलचित्र तथा नाटकों को सस्कृति मानने लगे हैं। इस प्रकार के 'सास्कृतिक कार्यक्रम' अपने देश में सभी जगह चलते हुए दिखते हैं। नि सशयरूपेण हल्के मनोरजन का दूसरा नाम 'सस्कृति' हो गया है। यह इतनी हास्यास्पद एव अपमानकारक सीमा तक पहुँच गया है कि नैतिक दुश्चरित्रता के कीचड में फँसे हुए चलचित्र के कुख्यात नट-नटी हमारे सास्कृतिक प्रतिनिधिमडलों में सम्मिलित किए जाते हैं। जिस देश में राम और सीता जैसे आदर्श चरित्र हुए, जिसने पूर्वकाल में श्रेष्ठतम दार्शनिक एव ऋषियों को तथा वर्तमान काल में विश्व में सहज सम्मान तथा प्रेमादर प्राप्त करनेवाले विवेकानद और रामतीर्थ जैसे व्यक्तियों को अपने सास्कृतिक प्रतिनिधि के नाते भेजा है। अब वहाँ से ऐसे व्यक्तियों का देश के सास्कृतिक प्रतिनिधि के नाते जाना हमारे पतन का एक भयावह दृश्य उपस्थित करता है।

हम यह भी देखते हैं कि हमारे प्रमुख 'सास्कृतिक पुरुष', 'मिस इडिया' की सौंदर्य प्रतियोगिता में निर्णायकों के रूप में भाग लेते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी सस्कृति के सबध में उनकी जो कल्पना है, उसमें हमारे नारीत्व के आदर्श सीता, सावित्री, पद्मिनी अथवा निवेदिता का कोई स्थान नहीं है।

शात अथवा गुप्त

वर्तमान काल के इन विपर्यासों से हमें अपने को दूर रखना होगा और अपनी सस्कृति के शाश्वत एव जीवनदायी तत्त्व को आत्मसात करना होगा। स्पष्टतया यह सास्कृतिक सस्कार देने का कार्य है, जिसे बिना किसी डिमडिम अथवा प्रचार के दृढतापूर्वक वर्षानुवर्ष शाति से चलना चाहिए, किंतु आज अपनी सस्कृति के सही दृष्टिकोण के अभाव में इस शाति को भ्रमवश 'गुप्तता' मान लिया जाता है। हमारी सस्कृति प्रदर्शन का समर्थन नहीं करती।

उदाहरणार्थ– हिंदू पति-पत्नी अपने प्रेम का प्रदर्शन सबके सामने नहीं करते। हिंदू पत्नी आँसू, आलिगन अथवा चीत्कार से अपने प्रेम को व्यक्त नहीं करती। इसके विपरीत पाश्चात्य लोग अपने प्रेम को नाटकीय आलिगनों और चुबनों से प्रकट करते हैं। यह नितात बाह्य प्रदर्शन है, क्योंकि दूसरे ही दिन उनके सबध-विच्छेद होने की सभावना रहती है। हमारे यहाँ के लोग प्रदर्शन नहीं करेंगे, वरन् उनके मुखमडल पर प्रेम की एक आभा प्रकट होती है और वह प्रेम सदैव अखडित बना रहता है। हमारी सस्कृति ने सदैव यह शिक्षा दी है कि असयत प्रदर्शनों की अपेक्षा सवेगों का सयमन अधिक शक्तिशाली और मोहक होता है। यदि प्रेम को व्यक्त करने का हमारा ढग श्रेष्ठ माना जाता है, तो कार्य का शात ढग भी उतना ही श्रेष्ठ है।

शाश्वत मूल्यो का सिचन

हमारी सस्कृति के इन प्राचीन एव जीवनदायी लक्षणों को पुन तारुण्य प्रदान करने के कार्य की अविलब आवश्यकता और सर्वोपरि महत्ता हमारे राष्ट्र के वर्तमान सदर्भ में ही नहीं, वरन् अतर्राष्ट्रीय सदर्भ में भी है। हमारी सास्कृतिक दृष्टि, जो मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम एव सामजस्य के लिए सच्चा आधार प्रदान करती है और जीवन के सपूर्ण दर्शन को मूर्त

करती है, आज के इस युद्ध से ध्वस्त हुए विश्व के सामने प्रभावी ढग से रखने की आवश्यकता है। यदि महान जागतिक लक्ष्य में हम सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें प्रथम अपना उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। हमें विदेशी विचारों की मानसिक शृखलाओं और आधुनिक जीवन में विदेशी व्यवहार तथा अस्थिर 'फैशनों' से अपने को मुक्त रखना होगा। परानुकरण से बढकर राष्ट्र की अन्य कोई अवमानना नहीं हो सकती। हम स्मरण रखें कि अधानुकरण, माने प्रगति नहीं, वह तो आत्मिक पराधीनता की ओर ले जाता है।

फिर भी हमें विश्वास है कि वर्तमान विपर्यास एव मिथ्या कल्पनाएँ केवल क्षणिक दृश्य हैं। हमारी सस्कृति की जडें अमरता के स्रोतों में अत्यत दृढता से गहराई तक जमी हुई हैं, जो सरलता से सूख नहीं सकतीं। वे अपने प्राचीन ओज एव जीवन-शक्ति को निश्चय के साथ प्रकट करेंगी ही और विगत कुछ शताब्दियों में वृद्धिगत परोपजीवी वृत्ति का परित्याग करते हुए अपनी सपूर्ण पुरातन शुद्धता एव भव्यता के साथ एक बार पुन अकुरित होंगी।

ॐ ॐ ॐ

६ सच्चे राष्ट्रीय वैभव के लिए

पुनरुज्जीवन

अपने हिंदू-राष्ट्र का पूर्ण वैभव एव इसकी महानता का पुनरुज्जीवन हमारा एकमात्र परम लक्ष्य है। अपने इस लक्ष्य का आकलन करने के लिए आवश्यक है कि अपने राष्ट्र के उस परम वैभव, जिसे हम प्रार्थना में उच्चारित करते हैं, के अर्थ को भली-भाँति समझें। इसके पश्चात् हमें यह भी समझना होगा कि अपने राष्ट्र की वह वैभवशाली अवस्था कैसे प्राप्त की जाए और किस भाँति उसे स्थिर रखा जाए।

सामान्य रूप से किसी राष्ट्र का वैभव उसकी भौतिक सपन्नता के आधार पर नापा जाता है। निस्सदेह गौरवशाली राष्ट्र को सब भाँति सपन्न होना आवश्यक है। राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति पूर्ण रूप से होनी चाहिए। किंतु क्या जिस राष्ट्रीय वैभव की

कल्पना हम अपने राष्ट्र के लिए करते हैं, उसका पूर्ण चित्र यही है? यह एक अत्यत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसपर हमें गभीरता से विचार करना है।

वैभव की हमारी कल्पना

प्रत्येक राष्ट्र का अपना विशिष्ट जीवन-सगीत रहता है और उसकी लय तरग में राष्ट्र प्रगति-पथ पर अग्रसर होता है। अपने हिंदू-राष्ट्र ने भी अनादि काल से एक अनुपम विशिष्टता को सुरक्षित रखा है। हमारे लिए भौतिक सुख के स्वरूप, अर्थात् 'अर्थ' (सपत्ति का सचय) और 'काम' (भौतिक तृष्णाओं का समाधान) मनुष्य जीवन के एक अश मात्र हैं। हमारे महान पूर्वजों ने घोषणा की है कि मानव पुरुषार्थ के दो और भी पहलू हैं– 'धर्म' एव 'मोक्ष'। उन्होंने हमारे समाज की रचना चतुर्विध निर्धारित की है। यह चतुर्विध पुरुषार्थ-रचना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के आधार पर की गई है। अति प्राचीनकाल से हमारा समाज केवल सपत्ति एव वैभव के लिए ही प्रसिद्ध नहीं रहा, वरन् इससे भी अधिक जीवन के उन अन्य दो पहलुओं के लिए रहा है। इसीलिए हम एक उच्च नैतिक, आध्यात्मिक एव दार्शनिक लोग कहे जाते हैं, जिन्होंने अपना अतिम लक्ष्य ईश्वर से सीधे सपर्क करने, अर्थात् मोक्ष से कम नहीं रखा।

यदि मानव-सत्ता का यह अंतिम उद्देश्य त्याग दिया जाए, तो मनुष्य में, जो पशु है, उसकी इच्छाओं की पूर्ति के अतिरिक्त और क्या बचता है? यदि यह सत्य है कि मनुष्य और पशु में अतर होता है तो उन दोनों की सपन्नता एव सुख की कल्पना में भी अतर होना ही चाहिए। यदि खाना-पीना और खूब आनद-भोग ही दोनों की कसौटी है, तो मनुष्य की तुलना पशु के ही साथ ही करनी होगी। इसीलिए हम कहते हैं कि हमें मनुष्य की आत्मा को भी खाद्य देना है। जब हम यह कार्य करते हैं, तभी अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को वास्तव में महान एव वैभवसपन्न मान सकते हैं। इसलिए जब हम अपने राष्ट्र की महानता और वैभव का विचार करते हैं, तो हम उनकी सपत्ति और उसकी समृद्धि तथा शरीर की आवश्यकताओं को सतुष्ट करने के सब साधनों का ही विचार नहीं करते, वरन् हम व्यक्ति के मन के विषय में भी विचार करते हैं। उसे शनै-शनै सभी से ऊपर उठाने का प्रयत्न कर व्यक्ति को उस स्थिति में पहुँचाना चाहिए, जिसका उसे मानव-प्राणी के रूप में अधिकार प्राप्त है, अर्थात् ईश्वरत्व के साथ सीधा सबध। यह कहा गया है कि 'धर्मादर्थश्च कामश्च', अर्थात् प्रथम धर्म का आचरण करो धर्म तुम्हें अर्थ और काम की भी प्राप्ति करा देगा।

धर्म का स्थान

जब हम कहते हैं कि धर्म की रक्षा एव उसका कायाकल्प करना चाहते हैं तो क्या हमारा आशय उसके कर्मकाड के बाह्य स्वरूप एव औपचारिकताओं से है? हमारे देश में कुछ लोग पवित्र सूत्र यज्ञोपवीत धारण करते हैं, जबकि कुछ लोग नहीं करते, कुछ चोटी रखते हैं, कुछ नहीं, कुछ मूर्ति-पूजा करते हैं, कुछ नहीं। ये वस्तुएँ उनके लिए अर्थ रखती हैं, जो उन्हें मानते हैं। ये हमारे सर्वव्यापी धर्म के छोटे-छोटे बाह्य लक्षण मात्र हैं। उन्हीं को धर्म मान लेने का भ्रम नहीं होना चाहिए।

हमारे धर्म की परिभाषा दुहरी है। प्रथम तो मनुष्य के मस्तिष्क का उचित पुनर्वासन तथा द्वितीय है सामजस्यपूर्ण साधिक अस्तित्व के लिए विविध प्रकार के व्यक्तियों का परस्पर अनुकूल बनना, अर्थात् समाज धारणा के लिए एक उत्तम समाज-व्यवस्था।

हम प्रथम पहलू को लें। हम जानते हैं कि मनुष्य का व्यक्तित्व उसके मन का प्रक्षेपण मात्र होता है। किंतु मन एक ऐसे पशु के समान है, जो कितनी ही वस्तुओं के पीछे भागता है तथा उसकी रचना कुछ इस प्रकार की है कि सभी वस्तुओं के साथ वह एक हो जाता है। साधारणत मनुष्य का मन यह विचार करने के लिए नहीं रुकता कि क्या ठीक है और क्या गलत। वह अपनी आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए किसी भी स्तर तक नीचे झुक सकता है। इस प्रकार के मन के साथ मनुष्य के साधारण पशु के स्तर से ऊँचा उठने की सभावना नहीं होती। अतएव मन को आत्मसयम एव कुछ अन्य महान गुणों से सस्कारित करना है। अच्छे आचरण के वे लक्षण भगवद्गीता एव हमारे अन्य पवित्र ग्रथों में विविध सदर्भों में उल्लिखित हैं। उन्होंने शरीर के लिए पाँच 'यम' और मन के लिए पाँच 'नियमों' का वर्णन किया है।

दूसरा है सामाजिक पहलू। मनुष्य के जीवन का समाज के व्यापक हितों के साथ तालमेल बैठना चाहिए। ये दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं। प्रथम पहलू की परिभाषा इस प्रकार की है—

यतोऽभ्युदय नि श्रेयस् सिद्धि स धर्म

(वैशेषिक दर्शन १ २)

जिसका अर्थ है कि धर्म एक प्रकार की व्यवस्था है जो मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर सयम रखने को प्रोत्साहित करती है और सपन्न

भौतिक जीवन का उपभोग करते हुए भी दैवी तत्त्व अथवा शाश्वत सत्य की अनुभूति के लिए क्षमता का निर्माण करती है। द्वितीय स्वरूप है–

धारणात् धर्ममित्याहु धर्मो धारयति प्रजा

अर्थात् वह शक्ति, जो व्यक्तियों को एकत्र लाती है और उन्हें समाज के रूप में धारण करती है– धर्म है। इन दो परिभाषाओं का मेल प्रकट करता है कि धर्म की स्थापना का अर्थ एक ऐसे सुसगठित समाज का निर्माण करना है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने एकत्व का अनुभव करता है तथा दूसरों के भौतिक जीवन को अधिक सपन्न, अधिक सुखमय बनाने के लिए त्याग की भावना से अनुप्राणित होता है एव उस आध्यात्मिक जीवन का विकास करता है, जो उसे चरम सत्य की अनुभूति की दिशा में ले जाता है।

समाज की सुस्थिति एव कल्याण के साथ व्यक्ति के विकास के मेल को देखने की एक और भी दृष्टि है। हमारे महान विचारदाताओं ने हमसे नित्य और अनित्य का भेद जान लेने को कहा है। शकराचार्य ने इसे 'नित्यानित्य वस्तु विवेक' कहा है। थोडी देर के लिए हम इसके उच्च दार्शनिक अर्थ को एक ओर रख दें और इसे अपने राष्ट्रीय जीवन पर लागू करें। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं। अगणित पीढियों का आना-जाना हो चुका है, किंतु राष्ट्र बना हुआ है। जल के बिंदु आते हैं, कुछ देर के लिए रुकते हैं और भाप बनकर उड जाते हैं, किंतु गगा का प्रवाह अनवरत चलता रहता है। इसी प्रकार हमारे राष्ट्रजीवन का प्रवाह भी शाश्वत है। हम व्यक्ति सतह पर एक बुलबुले अथवा बूँद के समान प्रकट होते हैं और लुप्त हो जाते हैं। इसलिए राष्ट्रजीवन ही 'नित्य' है। व्यक्ति 'अनित्य' है। अत आदर्श व्यवस्था होगी 'अनित्य' व्यक्ति को 'नित्य' की प्राप्ति के साधनों में (सामाजिक हित के रूप में) बदल दिया जाए, जो व्यक्ति को अपनी अतर्निहित दिव्यता की वृद्धि एव विकास के लिए सामर्थ्य प्रदान करेगा। यही धर्म अपने दुहरे स्वरूप में मनुष्य को उसके अतिम लक्ष्य ईश्वरत्व– मोक्षप्राप्ति के अतिम लक्ष्य की ओर ले जाता है।

वर्तमान चेतावनी

दुर्भाग्य से आज हमारे देश के कर्णधार इस राष्ट्रीय दृष्टि से विहीन हैं और ऐसे विदेशी विचारों से विमोहित हो गए हैं, जो उन्नति एव वैभव के भौतिक दृष्टिकोण को ऊपर नहीं उठा पाए हैं। उन्होंने जीवन-स्तर को

उन्नत करने का घोष प्रचलित किया है, जिसका अर्थ है केवल मनुष्य की इच्छाओं को बढाना और शारीरिक सुख-सुविधाओं को बढाते हुए उनकी पूर्ति का प्रयत्न करना। आज का विलास-बाहुल्य कल की आवश्यकताएँ हो जाता है और इस प्रकार मनुष्य की भौतिक आकाक्षाओं की अधिकाधिक अतितृप्ति के लिए अतहीन सघर्ष चलता रहता है।

यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि भौतिक कामनाओं की शाति कभी नहीं हो सकती। जितना ही अधिक कोई उन्हें सतुष्ट करने का प्रयास करता है, वे उतनी ही अधिक तीव्र होती जाती हैं। जिस प्रकार आग में तेल उडेलने से वह बुझने के स्थान पर और भी प्रज्ज्वलित होती है। टालस्टाय ने एक अत्यत शिक्षाप्रद कहानी लिखी है, जिसका शीर्षक है– 'मनुष्य को कितनी भूमि की आवश्यकता होती है।' एक किसान से वादा किया गया कि सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यत वह जितनी भूमि की परिक्रमा कर लेगा, उतनी भूमि उसे दे दी जाएगी। अधिक से अधिक भूमि प्राप्त करने के लोभ के कारण वह इतनी दूर तक दौडा कि सूर्यास्त के पूर्व अपने प्रारभ स्थान पर नहीं लौट सका और इस श्रम-क्षीणता के कारण मर गया। उसे गाढने के लिए केवल सात फीट लबी और ढाई फीट चौडी जमीन की आवश्यकता पडी।

यह बात भी भली प्रकार जानी हुई है कि जिस व्यक्ति के पास गह्वर-भर अपूर्ण कामनाएँ हैं, उन्हें सतुष्ट करने के लिए कितने ही अधिक साधनों के प्राप्त होने पर भी वह कभी सुखी नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए– अमरीका में असीम सपत्ति एव सपन्नता के होते हुए भी विविध प्रकार की भीषण आपराधिक घटनाएँ तथा मानस रोगों की वृद्धि भयावह गति से हो रही है। सहस्रों अमरीकावासी नित्य रात्रि में शैया पर जाने से पूर्व निद्रा की गोलियों का सेवन करते हैं। यह उनके जीवन-दर्शन के एक गभीर छिद्र का ही सूचक है। राजनीतिक तथा आर्थिक तत्त्वों का ही जीवन में पूर्ण एव सर्वाधिक विचार रखते हुए उन्होंने आध्यात्मिकता की जडों की उपेक्षा की है। यह आध्यात्मिकता ही वह वस्तु है, जो मानव-मस्तिष्क को सयमित और उदात्त बनाती है तथा शाति एव सुख में विकसित और स्फुटित होने के लिए मानवात्मा का परिपोषण करती है।

व्यवहार मे

अतएव हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह चतुर्विध पुरुषार्थ की

पूर्ण जीवन-कल्पना ही थी, जिसने हमारे समाज के स्वरूप को विशिष्टता प्रदान की और विश्व के क्षितिज पर हमारे नाम को प्रकाशित किया है। इस तथ्य को प्रकट करनेवाले हमारे राष्ट्रीय अतीत के यथेष्ट साक्ष्य हैं कि यह जीवन-कल्पना कोरी काल्पनिक जगत् की बात नहीं थी, वरन् हमारे राष्ट्र के जीवन के सहस्रों वर्ष तक एक सजीव सत्य रही थी। हमारे देश में आनेवाले सभी विदेशी यात्रियों ने यहाँ के मनुष्यों के अति श्रेष्ठ स्तर और असीम संपत्ति एवं वैभव को अपने प्रशंसात्मक कथनों द्वारा प्रमाणित किया है। हमारे लोगों का श्रेष्ठ चारित्र्यगठन जीवन की उस पूर्ण कल्पना का परिणाम था, जिसके अंतर्गत अर्थ और काम का समन्वय धर्म और मोक्ष के उच्चतर मूल्यों के साथ किया गया, जिसे हमने व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर क्रियान्वित किया। इतिहास में इस बात के असंख्य उदाहरण मिलते हैं कि दूसरे देशों ने हमारे राष्ट्र के समक्ष अतीव श्रद्धापूर्वक नमन किया, जिसका मुख्य कारण हमारे आध्यात्मिक महत् पुरुषों का विशुद्ध चारित्र्य ही रहा है। उन्होंने संपूर्ण संसार में मनुष्य की दिव्यता का संदेश दिया। बाद में बौद्ध-संन्यासी एवं धर्म-प्रचारक अपने देश की सीमाओं को पार करके दूर-दूर के देशों में गए। उन सभी देशों में उनकी पूजा हुई तथा उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए उदाहरण एवं उपदेशों को आदर्श के रूप में माना गया। बुद्ध का एक शिष्य तिब्बत, चीन और जापान गया था। इन सभी देशों में उसकी मूर्ति की पूजा देवता के समान होती थी। स्वार्थ-त्याग एवं सेवा की तीव्र भावना, सभी को हृदय से लगा लेनेवाले प्रेम, और इस प्रकार के धर्म-प्रचारकों के उदात्त चरित्र की विशुद्ध श्रेष्ठता ने उन्हें लोगों का सांस्कृतिक गुरु बना दिया। उन्होंने ही हमारे भारत के लिए 'विश्वगुरु' का नाम अर्जित किया।

आज हम अपने देश के लोगों को अन्य देशों में राजदूत अथवा आचार्य, विद्यार्थी या व्यापारी अथवा यों ही आनंद के लिए यात्रा करनेवालों के रूप में जाते देखते हैं और पाते हैं कि वहाँ जाकर वे शारीरिक भोगों के पंक में धँस जाते हैं तथा वहाँ के लोगों की अपेक्षा श्रेष्ठतर व्यवहार न करके बहुत बार अपने आपको उनसे भी तुच्छ व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं तब राष्ट्रीय जीवन के इस स्वरूप पर बल देने की अतीव आवश्यकता और भी स्पष्टता से अनुभव होती है।

हमारे राष्ट्र का सच्चा पुनरुद्धार मनुष्य-निर्माण से होना चाहिए। उसमें शक्ति का ऐसा संचार होना चाहिए कि वह मानवीय दुर्बलताओं को

पराभूत कर प्रेम, आत्मसयम, त्याग, सेवा एव चारित्र्य के हमारे परपरागत सद्गुणों की मूर्ति बनकर हिंदू पुरुषार्थ के भासमान प्रतीक के रूप में खडा होने में समर्थ हो सके। अपने वैभवशाली राष्ट्रत्व का यह महत्त्वपूर्ण और वास्तविक सारतत्त्व अपनी दृष्टि के समक्ष सदैव रखना होगा, जिससे कि हम अपने विश्वगुरु के मूल पद पर पुन आरूढ हो सकें।

अनुशास्ति

अव हम इस प्रश्न के दूसरे पक्ष पर आते हैं। आज के ससार में जीवन की अपनी चतुर्विध उपलब्धि के साथ राष्ट्रीय वैभव के उच्चतम शिखर पर पहुँचने तथा उनको बनाए रखने के लिए हमें क्या करना चाहिए? हमें ज्ञात है कि ऐसी वैभवशाली अवस्था के विनाश का भय आतरिक अव्यवस्था अथवा बाहर से होनेवाले आक्रमणों से उत्पन्न होता है। हमारा अपना ही इतिहास बताता है कि इन्हीं दोनों कारणों ने हमें उस वैभव की दशा, जो किसी समय ससार की ईर्ष्या का विषय थी, से इस वर्तमान हेय दशा में लाकर खडा कर दिया है। अतएव आज हमें अपने राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण करना है, ताकि इन दोनों ही प्रकार के सकटों का निराकरण कर सकें।

यह भी भली प्रकार से ज्ञात होता है कि विशेषतया इस युग में बाह्य आक्रमण, आतरिक विक्षोभ एव अस्तव्यस्तता से अपने को सुरक्षित रखने की शक्ति समाज के सगठित जीवन में ही है– 'सघे शक्ति कलौ युगे'। अत जब हम यह कहते हैं कि अपने राष्ट्र को वैभव के शिखर पर ले जाना चाहिए तो उसका यह भी अर्थ होता है कि समाज जागरूक, सगठित एव सामर्थ्यशाली बनना चाहिए। आखिर यह एक सत्य है कि राष्ट्र अपनी सगठित शक्ति के ठोस आधार पर ही खडे हो सकते हैं। जीवन के अन्य विषय, जैसे– भोजन, वस्त्र, घर, औषधि तथा अन्य भौतिक प्रयोजन कितने ही आवश्यक क्यों न हों, गौण हैं। प्रथम एव सबसे महत्त्वपूर्ण पूर्वापेक्षा है अजेय सगठित समाज-जीवन की, जिसके अभाव में उच्चतम राष्ट्रीय सपन्नता भी अत्यल्प काल में धूल में मिल जाती है।

दुर्बल कडियो से सबल शृखला नहीं बनती

अब हम इस प्रकार की शक्ति के उद्गम की ओर दृष्टिपात करें। हम कहते हैं कि वह लोगों के सगठित जीवन में निवास करता है। लोग इस प्रकार के होने चाहिए कि जिनके मन एव विचार ऐक्य से रजित हों,

जिनकी नैतिकता के समान नियम हों, एक-दूसरे के प्रति प्रामाणिक हों तथा राष्ट्र के प्रति एकातिक रूप से निष्ठावान हों। जब तक वे इस प्रकार के नहीं होते, केवल सगठन-शक्ति राष्ट्ररक्षा का कार्य नहीं कर सकती। इसके विपरीत वह राष्ट्रजीवन के लिए विभीषिका का स्रोत सिद्ध होगी। क्या हम स्वार्थी और समाज-विरोधी तत्त्वों अथवा चोर-डाकुओं तक को सगठित होते नहीं देखते?

हम यह भी देखते हैं कि स्वार्थी और चरित्रहीन लोगों को सामाजिक हित में घातक उद्देश्यों के लिए एकत्र कर लेना सरल है। आज इस प्रकार के गुट, जिनके अपने साप्रदायिक अथवा कुछ सकुचित हित हैं, सपूर्ण देश में उठ रहे हैं। वे अपने स्वार्थी हितों की पूर्ति के लिए देश की पवित्रता एव अपने राष्ट्रजीवन की एकता का विनाश करने के लिए भी उद्यत हैं। ऐसे लोग बहुत सरलता से एकत्रित हो जाते हैं। यह सगठित जीवन का निम्नतम स्तर है। निम्न स्तर के जीवन में सगठन बहुत ही सादा और सरल होता है। मास का एक टुकडा फेंकने पर कौओं का पूरा झुड एकत्रित हो जाता है। यह झुड की सहज प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति उस समय सक्रिय हो जाती है, जब राष्ट्रजीवन की विशाल कल्पना की पकड मन से हटकर मत, पथ, जाति अथवा इसी प्रकार की अन्य सकुचित कल्पनाएँ मन पर सर्वोपरि अधिकार कर लेती हैं। किंतु यह सरल है, इसीलिए इस मार्ग को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

हमारा यह निष्कर्ष है कि योग्य व्यक्तियों के एकत्रीकरण द्वारा सगठित शक्ति का निर्माण करना होगा। इसलिए सोचना होगा कि उन व्यक्तियों के लिए कौन से गुणों की अपेक्षा है, जो इस प्रकार की सगठित शक्ति के सजीव अग बनेंगे।

शक्ति ही जीवन है दुर्बलता मृत्यु

प्रथम वस्तु है अजेय शारीरिक शक्ति। हमें इतना शक्तिशाली होना है कि सपूर्ण ससार में हमें कोई न तो विजित कर सके और न अभिभूत कर सके। इसके लिए हमें सशक्त एव स्वस्थ शरीर चाहिए। हमारे सभी अवतार जिन्होंने मानव-शरीर धारण किया इसी प्रकार के थे। हमारे शास्त्रों का सार यही रहा है कि 'शक्ति ही जीवन है, दुर्बलता मृत्यु है। स्वामी विवेकानद कहा करते थे— 'मैं लोहे की मासपेशियाँ एव फौलाद की नसोंवाले मनुष्य चाहता हूँ। वह स्वय भी ऐसे ही थे। अपने कुछ साथी

शिष्यों को बैठकर आँसू बहाते हुए देखकर वह कहते थे– 'यह भक्ति नहीं है। यह तो नाडी सस्थान की दुर्बलता है। लडकियों के समान बैठकर रोओ मत।'

दर्पण के सामने खडे होकर अपनी ओर देखने पर क्या हमें पौरुष एव शक्ति का कोई लक्षण दिखाई देता है? यह मत कहो कि 'आखिर शरीर में रखा क्या है।' हमारे शास्त्र कहते हैं– 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्', अर्थात् जीवन के कर्तव्यों को पूर्ण करने के लिए शरीर ही प्रथम साधन है।

एक सक्षम शरीर के बिना हम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। ईश्वर के साक्षात्कार के लिए भी स्वस्थ एव सशक्त शरीर की आवश्यकता है। ईश्वर दुर्बलों के लिए नहीं है। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।'

जब हम ईश्वर का ध्यान करने बैठते हैं, उस समय यदि हमारे सिर में चक्कर आने लगता है, हमारी रीढ दुखने लगती है और हम अपने आसन पर काँपने लगते हैं तथा हृदय धडकने लगता है, उसका कारण ईश्वर नहीं, वरन् ज्वर होता है। हमारे वर्तमान काल के युवकों में त्वचा के प्रसाधनों की महत्ता और स्नायुओं की उपेक्षा की जो वृत्ति उत्पन्न हुई है, उसे अवश्य त्यागना चाहिए तथा उन्हें योग्य व्यायाम एव स्वस्थ अभ्यास के द्वारा ऐसे सशक्त शरीर का विकास करना चाहिए जो ताप एव शीत, भूख और श्रम तथा जीवन की सभी कठोरताओं में भी प्रसन्न चित्त रहे।

चरित्र सर्वस्व है

शारीरिक शक्ति आवश्यक है, किंतु चरित्र उससे भी अधिक महत्त्व का है। बिना चरित्र के केवल शक्ति मनुष्य को पशु बना देगी। वैयक्तिक तथा उसी प्रकार राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी चरित्र की शुद्धता राष्ट्र के वैभव एव महानता की जीवन-प्राण होती है।

प्रह्लाद की एक कथा चरित्र की महत्ता को अच्छी तरह चित्रित करती है। पुण्य कर्मों के परिणामस्वरूप वह इद्र पद प्राप्त कर देवताओं का राजा बना। पूर्ववर्ती इद्र देवताओं के गुरु बृहस्पति के पास गए और कहा– 'श्रीमान् आप मेरी दयनीय दशा से अवगत हैं। मुझे अपने सिहासन को पुन प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए, बताइए।' बृहस्पति ने कहा– 'एक साधारण याचक का रूप धारण कर 'इच्छादान' के समय प्रह्लाद के दरबार में जाओ और उसका शील (चरित्र) माँग लो।' इद्र ने वैसा ही किया। वह प्रह्लाद के पास भिक्षुक के रूप में गया और उसका शील माँग लिया।

प्रह्लाद ने कहा– 'तुम केवल मेरे शील से ही क्यों संतुष्ट हो।' उस याचक ने उत्तर दिया कि 'मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है।' प्रल्हाद के इतना कहते ही कि 'तुमको वह दिया', एक तेजस्वी आकृति उसके शरीर से बाहर आई और याचक के शरीर में प्रवेश कर गई। प्रह्लाद ने पूछा– 'तुम कौन हो? तुम मेरे शरीर को छोड़कर याचक के शरीर में क्यों प्रवेश कर रहे हो?' अशरीरी तेजस ने उत्तर दिया– 'मैं तुम्हारा शील हूँ। चूँकि तुमने मुझे दान कर दिया है, अतः अब मुझे उसके शरीर में प्रवेश करना है।' पल भर में ही एक अन्य देदीप्यमान आकार बाहर आया। प्रल्हाद ने उससे पूछा– 'तुम कौन हो, मेरे शरीर को क्यों छोड़ रहे हो।' उसने कहा– 'मैं तुम्हारा शौर्य हूँ। मैं शील का सेवक मात्र हूँ। जब तक तुम्हारे पास शील था, मैंने उसकी सेवा की। अब शील चला गया है, मैं भी उसका अनुसरण कर रहा हूँ।' ऐसा कहते हुए वह भी याचक के शरीर में प्रवेश कर गया। इसी प्रकार कुछ और शक्तियों ने भी प्रह्लाद के शरीर को छोड़ दिया। अंत में एक देदीप्यमान आभा से युक्त स्त्री-आकार उसके शरीर से निकला। उसने कहा– 'मैं आपकी राज्यश्री हूँ। मैं भी शील की सेविका हूँ, इसलिए उसके पास जा रही हूँ। परिणामतः प्रह्लाद की संपूर्ण सत्ता एवं वैभव समाप्त हो गया और इंद्र ने अपना सिंहासन पुनः प्राप्त किया।

संक्षेप में इस कहानी का उपदेश यह है कि चरित्रवान होने से हमें सब कुछ उपलब्ध हो सकता है तथा बिना चरित्र के हम प्रत्येक वस्तु खो देते हैं। यह बात व्यक्तियों के लिए भी उतनी ही सत्य है, जितनी राष्ट्रों के लिए। अतएव वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय चरित्र के ये दोनों ही पक्ष राष्ट्रीय वैभव के दो फेफड़ों के समान हैं।

सफलता के लिए सुदृढ़ सामान्य बुद्धि

अब मान लीजिए कि हमारे पास सशक्त शरीर एवं शुद्ध और निष्ठावान हृदय है, किंतु शरीर और मन का उपयोग कैसे किया जाए इसके लिए हमें मेधासंपन्न निपुणता की आवश्यकता होती है जो परिस्थिति की वास्तविकताओं एवं जटिलताओं को ग्रहण करने और ठीक-ठाक आचरण का निर्णय करने में समर्थ हो। अतएव हमें एकाग्रता की शक्ति का विकास करना चाहिए, अपनी मेधा-शक्ति को तीव्र करना चाहिए और ठीक क्षण पर ठीक कार्य में जुटते आना चाहिए तथा निर्णयों को कार्यान्वित करने में हमें आशुकारी एवं क्रियाशील होना चाहिए।

इस प्रकार की व्यावहारिक बुद्धि के बिना हमारी सभी क्षमताएं और शक्ति बेकार होंगी। हमारे प्राचीन इतिहास में विजय के अनेक युद्ध इसी कारण हारे कि हममें इस कुशल व्यावहारिक बुद्धि का अभाव सा रहा था। हम यह न भूलें कि युद्ध के कुछ नियम का सदा दृढ़-पालन नहीं है और जब धूर्त तथा कुटिलों से काम पड़ता है, तब बिना चातुर्य के केवल शुद्ध-हृदयता काम नहीं देगी। व्यवहार जगत् में विजय और यश प्राप्त करने के लिए केवल नेकनीयत होना ही पर्याप्त नहीं। समाज के सामान्य स्तर के व्यक्ति भी इस प्रकार के चातुर्य को अभ्यास द्वारा विकसित कर सकते हैं। गाँव के एक साधारण निरक्षर कृषक कार्यकर्ता का उदाहरण है। स्वयंसेवक [illegible] में वह आसपास के दस-पंद्रह ग्रामों का निरीक्षण एवं मार्गदर्शन किया करता था। वह जीवन के सभी क्षेत्रों में गाँव के वयोवृद्ध लोगों को भी उचित मार्गदर्शन दे पाता था। हममें से प्रत्येक को अपने आप में यह दृढ़ विश्वास जागृत करना होगा कि 'जन्मतः [illegible] के सजीव बीज मुझमें प्राप्त हैं और यदि उनका उचित रीति से पोषण किया जाए तो मुझे सफलता अवश्य मिलेगी।' तदनुरूप जीवनयापन का प्रयास करना चाहिए।

निर्भीकता और श्रद्धा

मान लीजिए हमारा शरीर सशक्त है, चरित्र उज्ज्वल एवं मेधाशक्ति तीव्र है किंतु विपत्ति में धैर्य का अभाव है, तो क्या लाभ। परिस्थितियाँ सदैव हमारे पक्ष में ही रहनेवाली नहीं हैं। हमें बाधाओं और प्रतिकूलता का सामना करना पड़ेगा। वीर के लिए प्रथम गुण है निर्भीकता। यह सभी गुणों का आरम्भ पद है। गीता में भी विविध दैवी गुणों की गणना 'अभयम्' से ही आरम्भ होती है। हमारे संघ-संस्थापक डा. हेडगेवार कहा करते थे कि राष्ट्र के दृढ़ीकरण का कार्य इस प्रकार से आरंभ होना चाहिए कि न तो हम किसी को भयभीत करें और न किसी से भयभीत हों।

'ना भय देत काहू को ना भय मानत आप।'

हमारे सभी आदर्श वीर निर्भीकता एवं धैर्य के मूर्तिमान स्वरूप हुए हैं। खर और दूषण के साथ एक बड़ी सेना राम पर आक्रमण करने आई। शत्रु को आते देख राम ने लक्ष्मण से कहा– 'सीता इन दृश्यों से अभ्यस्त नहीं है। तुम उसकी रक्षा के लिए यहीं रहो। मैं इनसे सामना करके लौटूँगा। यह कह, अपने हाथ में धनुष लेकर वह अकेले ही चले गए। उन्हें अकेले जाते देख सीता भय से कंपित होने लगीं। तब लक्ष्मण ने

'इन चौदह हजार की तो क्या गणना, वे तो रावण की सपूर्ण सेना को अकेले ही सहार करने में समर्थ हैं। चिंता की कोई बात नहीं'। राक्षसों का नाश करके राम सदा की भाँति सक्षोभरहित, अत्यत शातभाव से लौट आए मानो कुछ हुआ ही न हो।

ईश्वर की पूजा के लिए भी वीरता का भाव आवश्यक होता है। कायर यह नहीं कर सकता। ज्ञानेश्वरी में लिखा है कि जब कोई ईश्वर का ध्यान करने बैठता है तो पहले वह भीषण आकृतियाँ देखेगा। यदि वह दुर्बल हृदय है तो उसका प्रयास निष्फल होगा। कायर को न तो इस लोक में कुछ प्राप्त होता है और न परलोक में। यदि हम सही मार्ग पर हैं तो किसी से भयभीत होने का कोई कारण नहीं।

कुछ वर्षों पूर्व अपने एक कार्यकर्ता का शरीरात हो गया। उसकी मृत्यु के एक सप्ताह पूर्व मैं उससे मिला था। उसने कहा– 'कोई चिकित्सा मेरे ऊपर परिणाम करती प्रतीत नहीं होती। बचने की कोई आशा नहीं है। लगता है कि मैं मरने वाला हूँ।' मैंने कहा– 'तुमने एक महान आदर्श की नि स्वार्थ भाव से अथक सेवा की है। कभी किसी का अनिष्ट नहीं किया। सदैव सबकी भलाई करते रहे। अत तुम्हें मृत्यु का भय क्यों होना चाहिए? आनद से शातिपूर्वक मृत्यु से मिलो।' उसने शात एव निराकुल भाव से मृत्यु का सामना किया। हम एक अच्छा कार्य कर रहे हैं, हम एक सही मार्ग पर हैं– इस निष्ठा से प्रसूत निर्भीकता की भावना हमारे आदर्श की प्राप्ति में बहुत सहायक होगी।

अपने में इन सब गुणों को विकसित करने के लिए लगन की आवश्यकता है। जिस आदर्श को हमने अपने सामने रखा है, उसके प्रति उत्कट भक्ति का भाव आवश्यक लगन प्रदान करेगा, जिससे हम अपने को उन सभी गुणों से युक्त कर पाएँगे, जिनकी आवश्यकता हमारे राष्ट्र के वैभव की उपलब्धि के लिए है।

जब हम अपनी समस्त शक्तियों को मनुष्य-निर्माण की मूलभूत महान प्रक्रिया-की ओर मोड देंगे, तभी हमारा प्राचीन एव पवित्र राष्ट्र महानता और वैभव का अपना पूर्व पद पुन प्राप्त कर चारों ओर शाति, सपन्नता सस्कृति एव चारित्र्य का वर्षण कर सकेगा।

ऌऌऌ

७ भावात्मक सक्रिय हिंदुत्व जीवन

हिंदू की परिभाषा

जब हम कहते हैं कि हिंदू-जीवन पद्धति के नवोन्मेषी तारुण्य स्वरूप को पुन प्राप्त करने के अनुपम कार्य के लिए सघ ने अपनी समस्त शक्तियाँ समर्पित की हैं, तो ऐसे बहुत लोग हैं जो प्रश्न करने लगते हैं कि पहले यह तो बताओ कि तुम 'हिंदू' की क्या परिभाषा करते हो। हाँ, यह वास्तव में बडा कठिन कार्य है। एक बार एक सज्जन बोले– 'मैं मुसलमान अथवा ईसाई की तो परिभाषा कर सकता हूँ, किंतु हिंदू की परिभाषा नहीं कर सकता।' उनका ऐसा कहना ठीक ही था। हम सूर्य और चद्रमा की परिभाषा कर सकते हैं, किंतु उस 'चरम सत्य' की परिभाषा नहीं कर सकते जिससे इन सभी वस्तुओं का उद्गम हुआ है। इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। केवल इसीलिए कि वह प्रतीकों के स्वरूप में प्रकट नहीं हो पाता और परिभाषा के परे है। इससे क्या उसकी अस्तित्वहीनता सिद्ध हो जाती है? श्री रामकृष्ण ने कहा है कि केवल ईश्वर ही 'अनुच्छिष्ट', शुद्ध एव अकलुष है, क्योंकि उसका कभी वर्णन नहीं हो पाया। वह कभी जिव्हा द्वारा अपवित्र नहीं किया गया। हम अन्य सब वस्तुओं की परिभाषा कर सकते हैं, किंतु वह, जो सर्वव्यापक है, जो 'सत्य' कहा जाता है, उसकी परिभाषा नहीं कर सकते।

अपरिभाष्य हिंदू

हम हिंदुओं ने परमात्मा को अपने सपूर्ण अस्तित्व का आधार माना है। इसीलिए यह सभव है कि हिंदू-समाज का विकास एक सर्वसमावेशक ढग से हुआ है, जिसमें अवस्थाओं एव आकारों की आश्चर्यजनक विविधता है, किंतु विपुल भावव्यजनाओं एव अभिव्यक्तियों में एक अतर्जात एकता का सूत्र बना रहता है। हिंदुओं के अतर्गत सभी मतों और विविध जातियों की परिभाषा हो सकती है। किंतु 'हिंदू' पद की परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें उन सभी का समावेश है। निस्सदेह समय-समय पर इसकी परिभाषा के अनेक प्रयास किए जा चुके हैं, किंतु ऐसी सभी परिभाषाएँ अपूर्ण सिद्ध हो चुकी हैं। वे पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करतीं। उन लोगों के सबध में यह बात स्वाभाविक भी है, जिनकी वृद्धि तथा विकास गत अनेक शताब्दियों से होता आ रहा है।

हमारे समाज का मूल तथा कब से हम यहाँ सुसभ्य जीवन व्यतीत करते आ रहे हैं, उसकी तिथि से इतिहास के विद्वान अनभिज्ञ हैं। एक प्रकार से हम 'अनादि' हैं। ऐसे समाज की व्याख्या करना ठीक उसी प्रकार असभव है, जैसे उस परम सत्य की परिभाषा करना, क्योंकि शब्दों का उद्भव तो उसके पश्चात् ही हुआ है। यही बात हिंदू-समाज के लिए है। हमारा अस्तित्व उस काल से है, जब किसी भी नाम की आवश्यकता ही नहीं थी। हम आर्य प्रबुद्ध लोग थे। हम लोग प्रकृति एव आत्मा के नियमों के ज्ञाता थे। हमने एक महान सभ्यता, महान सस्कृति तथा एक अनुपम समाज-व्यवस्था का निर्माण किया था। हम ऐसी सभी वस्तुओं का जीवन में समावेश कर चुके थे, जो मानव के लिए हितकर थीं। उस समय शेष मानवता द्विपाद पशु मात्र थी। इसीलिए हमें कोई विशिष्ट नाम नहीं दिया गया था। कभी-कभी दूसरे लोगों से अपने को अलग करके पहचानने के प्रयास में हमें प्रबुद्ध 'आर्य' तथा शेष को 'म्लेच्छ' कह दिया जाता था। कुछ समय बीतने पर जब विदेशों में भिन्न-भिन्न सप्रदायों का उदय हुआ और विरोधी सप्रदाय हमारे सपर्क में आए तब नामकरण की आवश्यकता का अनुभव हुआ। भिन्न-भिन्न कालों में अलग-अलग नाम रखे गए। यह ठीक ऐसे ही है, जैसे विभिन्न स्थानों पर गगा को गगोत्री, भागीरथी, जाह्नवी तथा हुगली नाम से पुकारा जाता है। यह 'हिंदू' नाम जो 'सिधु' नदी से लिया गया है, हमारे इतिहास एव परपराओं में हमसे इतने काल से सबधित है कि अब वह हमारे लिए सपूर्ण विश्व के द्वारा स्वीकृत एव आदर का नाम बन गया है।

उद्देश्यपूर्ण जीवन

इस प्रकार इस जगत् में हम हिंदू यद्यपि परिभाषा से परे हैं, फिर भी वास्तविक सत्य के रूप में विद्यमान हैं। हिंदू-समाज एक जीवत सत्य है, जिसे हम सब अपने रक्त की बूँद-बूँद में अनुभव करते हैं। यद्यपि हम उसकी परिभाषा नहीं कर सकते, फिर भी हमें उसके उन विशिष्ट लक्षणों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए, जो हिंदुओं को एक विशिष्ट समाज के रूप में व्यक्त करते हैं। हम ऐसा नहीं कह सकते कि कोई विशिष्ट व्यक्ति मुसलमान और ईसाई न होने के कारण ही हिंदू है। हमारे देश में राजनैतिक नेता हिंदू को प्राय गैरमुस्लिम कहा करते हैं। हमारी वास्तविक प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह कोई स्वस्थ भावात्मक तरीका नहीं है। हिंदू कोई नकारात्मक प्राणी नहीं है। तब इस शब्द का भावात्मक तथ्य क्या है?

हिंदू के लिए जीवन लक्ष्यहीन नहीं हैं। उसका लक्ष्य कोई ऐसी महानता नहीं है, जो सत्ता, पद, नाम अथवा ख्याति से नापी जाए। उसके सामने तो एक ही लक्ष्य है, अर्थात् अपनी वास्तविक प्रकृति-अतर्जात देवत्व के स्फुलिग, उसमें निवास करनेवाले परम सत्य– की अनुभूति, जो मनुष्य को स्थायी परम आनद की अवस्था तक ले जाती है। किंतु मनुष्य का जीवनकाल बहुत छोटा है। इतने अल्पकाल में वह इस सर्वश्रेष्ठ अवस्था तक कैसे पहुँच सकेगा। वह तो शरीर के विषय में भी पूर्णतया नहीं जानता। यद्यपि वह अपने जीवन-पर्यत इसका उपयोग करता है। ऐसी दशा में वह सर्वव्यापक अविनाशी को कैसे जान सकता है, जो शरीर में अतर्भूत है। कार्य-कारण का नियम बताता है कि हमारी प्रत्येक क्रिया, अर्थात् 'कारण' का विशेष परिणाम होता है। यह कार्य-कारण का चक्र वृद्धिगत होना, विकसित होना और परा अवस्था को प्राप्त होना है। इसीलिए मनुष्य की यह वर्तमान सत्ता उसके वास्तविक अस्तित्व की पूरी कहानी नहीं है। मनुष्य में विशिष्ट एव सहज प्रेरणा इस बात की रहती है कि वह विस्तार करे और अपनी दिव्य प्रकृति को व्यक्त करे। वह तब तक बार-बार जन्म लेता रहेगा, जब तक उसमें अपनी सच्ची दिव्य आत्मा के विषय में अज्ञान का लेश भी रहेगा। यदि वह प्रामाणिकता से प्रयत्न करता रहेगा तो प्रत्येक जन्म में अधिकाधिक प्रगति करता जाएगा।

उस परम सत्य के साथ अपनी एकता की अनुभूति के लिए यह पुनर्जन्म का सिद्धात मानव-आत्मा के लिए एक बहुत बडी आशा है। यह तो हिंदुत्व का ही दीपस्तभ है, जो इस अमर आशा के प्रकाश को विकीर्ण करता है कि इस वर्तमान जीवन के साथ ही सब कुछ समाप्त नहीं हो जाता, अपितु हमारे सामने एक जीवन के पश्चात् दूसरा जीवन, अर्थात् अनत समय पडा हुआ है, कार्य में जुटने और अपने गन्तव्य तक पहुँचने के लिए। इस विशाल मानव-समाज में यह हिंदू ही है, जो आशा एव विश्वास की दीपिका को ऊँचा उठाए हुए है। हमारे सभी पवित्र ग्रथों तथा प्राचीन अथवा अर्वाचीन सभी सप्रदायों में यही मूलभूत तत्त्व अतर्निहित है।

मानव की सेवा करो

हम इस ससार में रहते हुए अगणित सासारिक सम्मोहनों एव ध्यान हटानेवाली बातों से घिरे हुए हैं। सभवत हम एक बार भी जीवन के वास्तविक लक्ष्य पर विचार नहीं करते। तब हमारा व्यवहार कैसा हो, जिससे हम जीवन में अपनी वास्तविक प्रकृति को उत्तरोत्तर अधिक अनुभव

करने में समर्थ हो सकें तथा विकास क्रम में अपने को निम्न स्तर में घसीटते हुए उत्तरोत्तर अधिक अज्ञान से पतित न हों। कानून भी इस बात को मान्यता देता है कि यदि कोई व्यक्ति बिना किसी बुरे हेतु के घातक कार्य कर बैठता है तो उसका अपराध कम होता है। कभी-कभी तो उसे सपूर्ण पाप से मुक्त मान लिया जाता है। अत यदि हम स्वार्थरहित भाव से केवल कर्तव्य के नाते कार्य करते हैं, अर्थात् यदि कार्यों में आसक्ति नहीं रखते, उनमें से अपने आनदोपभोग का प्रयोजन अलग कर देते हैं तो हमारे विविध कर्म एव उनके फल हम पर प्रभाव नहीं डालते। तब हम बाह्य ससार के धक्कों और प्रभावों से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं और अपने सच्चे स्वरूप पर ध्यान केंद्रित करने की योग्यता प्राप्त करते हैं। इसीलिए हमारा दर्शन कहता है कि अपना कर्म व अपना कर्तव्य निष्काम भाव से करो।

अब हमें जो कार्य करना है, उसका क्या स्वरूप है, हमारे कर्तव्यों का क्या स्वरूप है?, उस चरम शक्ति की प्राप्ति के लिए हम जीवन कहाँ से प्रारभ करें? और जीवन किस प्रकार से चलाएँ? इतना घोषित कर देने मात्र से ही कि सत्य नाम की कोई वस्तु है, जो समय आने पर स्वत अपने आपको व्यक्त करेगी, हमारे लिए उस चरम सत्य की उपलब्धि सभव है? नहीं, हमें इस वास्तविक ससार में उसकी बाह्य अभिव्यक्ति देखनी चाहिए– कोई ऐसी ठोस और सजीव वस्तु, जिसे इद्रियगोचर करके हम अनुभव कर सकें और जिसके माध्यम से अनुभूति के क्रम को पूर्ण कर सकें। हमारे दार्शनिकों ने उस सत्य की बाह्य अभिव्यक्ति के रूप में 'मनुष्य' को रखा है और उसे पूजा तथा सेवा की वस्तु माना है। उन्होंने घोषणा की है– 'हमारे समान ही प्रत्येक मनुष्य उस सत्य का एक स्फुलिंग है। हम अपने सुख-दु खों को अधिकाधिक मनुष्यों के सुख-दु खों के साथ समरस करने का प्रयत्न करें और इस प्रकार अपने व्यक्तित्व का विस्तार करते हुए अत में उस महान सत्य का साक्षात् करें जो सपूर्ण विश्व में परिव्याप्त है।'

अत वह कौन सी व्यवस्था है, जो हम सबके लिए अपने-अपने विकास के स्तर के अनुरूप 'मनुष्य' की सेवा सभव बना देती है।

मनुष्य अकेला नहीं रहता, वह अकेलेपन से बचना चाहता है। वह प्रकृति से सघचारी है। इसीलिए मानव-प्राणी एकत्र आते हैं और सामाजिक प्राणी की भाँति समाज के स्वरूप में रहते हैं। इसी प्रकार वह भली-भाँति जीवनयापन कर सकता है, विकास कर सकता है ओर उसमें जो कुछ सर्वोत्तम है, उसकी अभिव्यक्ति कर सकता है। इस प्रकार वह सामाजिक घेरे

में उन्नति करता हुआ जीवन के लक्ष्य की पूर्णता की दिशा में बढ सकता है। इसका अर्थ होता है– एक ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण एव उसको सुचारु रूप से बनाए रखना, जो प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का पूर्ण अवसर प्रदान कर सके कि वह व्यापकतर सामाजिक समुदायों के साथ तादात्म्य का अनुभव करे तथा अपने पास जो कुछ है, उस सबके द्वारा समाज की सेवा करे। प्रत्येक व्यक्ति के लिए उस चरम सत्य की अनुभूति की दिशा में मार्ग को प्रकाशित करने के लिए यही एक उपाय है। इसीलिए हमने कहा है कि बिना किसी स्वार्थी आकाक्षा अथवा स्वार्थपूर्ण आसक्ति के हम समाज की सेवा करें। मानवता की सेवा निश्चय ही ईश्वर-सेवा है। यह हमारे जीवन-दर्शन का विशिष्ट लक्षण रहा है।

हमारे आदर्श

यह अतिम लक्ष्य सदैव हमने अपनी दृष्टि के सामने रखा, जिसके कारण यह स्वाभाविक है कि हमारे सपूर्ण इतिहास में अन्य लोगों के समान भौतिक सपत्ति को महत्त्व प्रदान न कर मानवता के कल्याण के लिए मस्तिष्क एव हृदय के गुणों को बहुत महत्त्व दिया है। हृदय की विशालता, मन की शुद्धता एव चरित्र की उदात्तता सदैव हमारे जीवन-मूल्यों की कसौटी रही है। हमारी महानता का माप सदा ही अपनी आतरिक सपदा रहा है, बाह्य नहीं। बाह्य वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं। उन अशाश्वत वस्तुओं के पीछे हम क्यों दौडें? हमने उस सपत्ति का वरण किया है, जो मानव-जीवन की अनुपम निधि है, जिसे हम अपने में विकसित कर सकते हैं, ऐसे श्रेष्ठ सद्गुणों, पूर्ण ज्ञान तथा आत्मा के उदात्त भाव की सपत्ति। वही सत्य है तथा वही शाश्वत है। इसलिए जहाँ अन्य देशों के सामान्य जनसमुदाय ने किसी महान सेनानायक अथवा किसी पराक्रमी राजा की पूजा की, वहीं हमारे देश में बडे-बडे शूरवीर अथवा सम्राट ने भी ऐसे अर्धनग्न सन्यासियों के चरणों की पूजा की, जो वनों में निवास करते हैं और जिनके पास अपना कहने के लिए वस्त्र का टुकडा भी नहीं होता। यही है जीवन को देखने का हमारा ढग। हमारा अनुभव है कि अतरात्मा का गुण ही स्थायी होता है, जो जन्म-जन्मातर पर्यत, अर्थात् तब तक चलता है, जब तक वह पूर्णत्व को प्राप्त नहीं कर लेता।

सजीव चलते-फिरते प्रतीक बनो

ये कुछ थोडे से ऐसे आधारभूत तत्त्व हैं, जो हमें वास्तविक एव

असंदिग्ध रूप से हिंदू बनाते हैं। जब हम उनपर विशेष ध्यान देते हैं, मनसा उन्हें ग्रहण करते हैं, अपने जीवन में उनको प्रकट करते हैं तथा उन उज्ज्वल कल्पनाओं के सजीव चलते-फिरते वास्तविक प्रतीक के रूप में खडे हो जाते हैं, तभी उस दिव्य हिंदू परंपरा में हमारा जन्म निरर्थक नहीं होगा।

तब क्या हम विश्वासपूर्वक यह कह सकते हैं कि हम सच्चे और भावात्मक रूप से हिंदू हैं? हम अपने से प्रश्न करें। हम कैसे रहते हैं? हमारे सामने कौन से आदर्श हैं? हमारी भावनाएँ क्या हैं? क्या हम केवल परिस्थिति-वश अथवा हिंदू परिवार में 'संयोगवश जन्म' हो जाने से ही हिंदू हैं? क्या हम इसलिए हिंदू हैं कि इस्लाम तथा ईसाई धर्म के धर्म-परिवर्तन के प्रयत्न हमें स्पर्श नहीं कर पाए, क्योंकि उन धर्म-परिवर्तनकारियों की संख्या हमारी अपेक्षा अति अल्प है? क्या हमारे हिंदू होने का इतना ही अर्थ है? केवल यह कहने मात्र से कोई लाभ नहीं कि 'हमारी एक महान संस्कृति है।' पर हम उसके विषय में कितना जानते हैं? हम उसके अनुरूप कितना व्यवहार करते हैं? क्या हम अपने वैयक्तिक जीवन को समाज के लिए समर्पित मानते हैं? क्या हम यह अनुभव करते हैं कि हमें केवल संपत्ति एवं सत्ता के पीछे नहीं दौडना चाहिए, वरन् जीवन में सद्गुणों को उच्च स्थान देना चाहिए? क्या हमें ऐसा लगता है कि हम सच में ऐसे मनुष्य बनें कि जो कोई हमें देखे, वही कहने लगे कि 'यह है मनुष्य, जो उन सभी बातों में पूर्णत्व प्राप्त करने के प्रयत्न में है, जिनसे सच्चा मनुष्य बनता है।' इस दृष्टि से हम आत्म-निरीक्षण करें और धीरे-धीरे उन सभी विशिष्ट हिंदू लक्षणों को आत्मसात करें जिससे कि संसार के समक्ष एक भावात्मक क्रियाशील हिंदू के रूप में हम खडे हो सकें। अपने दर्शन, अपने धर्म तथा अपने उन महान गुणों के अनुरूप हम जीवनयापन करें, जिन्होंने अगणित पीढियों से हमारे जीवन को आकार देने का कार्य किया है।

यद्यपि हिंदू-समाज को संगठित करने का विचार साधारण ही क्यों न प्रतीत होता हो इसका वास्तव में अर्थ है कि हमें अपने दैनंदिन जीवन में इस बात का विचार बनाए रखना चाहिए कि हम हिंदू हैं और हम अपने जीवन का प्रत्येक छोटे से छोटा पहलू उन्हीं महान परंपरागत जीवन-मूल्यों के अनुसार ढालेंगे। हम जो कुछ भी करें हमारा परिधान हमारा व्यवहार तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में हमारी भावात्मक निष्ठा की छाप स्पष्ट रूप से व्यक्त होनी चाहिए। यही है हमारे ऊपर सबसे बडा उत्तरदायित्व।

प्रतिक्रियात्मक हिंदुत्व

किंतु, दुर्भाग्यवश आज हम अपने चारों ओर देखते हैं कि कुछ हिंदू ऐसे हैं, जो निष्ठा के कारण नहीं, वरन् प्रतिक्रिया के कारण अपने को हिंदू कहते हैं। एक बार हमारे कार्यकर्ता गोवध पर प्रतिबंध की माँग के लिए चलाए गए हस्ताक्षर अभियान में एक अति प्रमुख हिंदू नेता के पास गए। किंतु उन्हें यह कहते हुए सुनकर बड़ा धक्का लगा कि 'व्यर्थ के पशुओं का वध रोकने से क्या लाभ है, उन्हें मरने दो। इससे क्या बिगड़ता है? आखिर पशु तो सब समान ही हैं। लेकिन मुसलमान गोवध की जिद पकड़े हैं, इसलिए हमें इस प्रश्न को उठाना चाहिए और इसीलिए हम अपने हस्ताक्षर तुम्हें देंगे।' इससे यह प्रकट होता है कि हम इसलिए गाय की रक्षा नहीं चाहते कि वह युगों से हिंदू-श्रद्धा की प्रतीक रही है, वरन् इसलिए चाहते हैं कि मुसलमान उसका वध करते हैं। यही वह 'नकारात्मक हिंदुत्व' है, जिसका जन्म प्रतिक्रिया से हुआ है।

कुछ ऐसे भी हैं, जिनके लिए हिंदू शब्द केवल उनके राजनीतिक प्रयोजनों की सिद्धि के लिए है। चूँकि कांग्रेसी अथवा समाजवादी अथवा अन्य कोई 'मिली-जुली संस्कृति' की बात करता है, इसलिए वे विशुद्ध हिंदू संस्कृति चाहते हैं। इससे भी विचित्र है 'हिंदू-कम्युनिज्म' का घोष। कोई व्यक्ति या तो हिंदू हो सकता है या कम्युनिस्ट। वह दोनों नहीं हो सकता। इसका यही अर्थ है कि जो हिंदू-कम्युनिज्म के लिए चिल्लाते हैं, वे न तो कम्युनिज्म को समझते हैं और न हिंदुत्व को। यह सब प्रतिक्रिया के कारण है। एक बार एक सज्जन ने मुझसे पूछा कि 'क्या मुसलमानों के विविध कार्यकलापों को विफल करने के लिए हम लोग हिंदुओं का संगठन कर रहे हैं?' मैंने उनसे यही कहा कि 'यदि पैगंबर मुहम्मद का जन्म न भी हुआ होता और इस्लाम का भी अस्तित्व न होता तथा हिंदू की दशा यदि वर्तमान काल के समान असंगठित और आत्मविस्मृत होती तो भी हम यह कार्य उसी प्रकार करते, जैसे कि आज कर रहे हैं। यह भावात्मक दृढ विश्वास चाहिए कि यह मेरा हिंदू-राष्ट्र है, यह मेरा धर्म है, यह मेरा दर्शन है, जिसके अनुरूप मुझे जीना है और जिसका मुझे अन्य राष्ट्रों द्वारा अनुसरण करने के लिए एक प्रतिमान स्थापित करना है। हिंदुओं के पुनर्संगठन के लिए यही ठोस आधार होना चाहिए।

यदि हमें केवल राजनीति अथवा प्रतिक्रिया द्वारा बना हुआ हिंदू

नहीं होना है तो निष्ठावान हिंदू के रूप में जीवनयापन करना चाहिए, जो दैनदिन जीवन के सभी पहलुओं में उस निष्ठा को व्यक्त करने में सक्षम है। साहित्य तथा वृत्त-पत्रों में हिंदू विचारों के प्रचार मात्र से हमें कोई लाभ नहीं होगा। वीर सावरकर जी ने 'हिंदुत्व' नाम की एक सुंदर पुस्तक लिखी है तथा हिंदू-महासभा ने हिंदू राष्ट्रीयता के उस शुद्ध तत्वज्ञान को ही अपना आधार बनाया है। किंतु हिंदू महासभा ने एक बार इस आशय का प्रस्ताव पारित किया कि कांग्रेस को मुस्लिम लीग से वार्ता करके अपना 'राष्ट्रीय' आधार नहीं त्यागना चाहिए, अपितु यह कार्य करने के लिए हिंदू महासभा से करना चाहिए। इसका यही अर्थ होता है कि कांग्रेस की सकरित, मिली-जुली, राष्ट्रीयता शुद्ध प्रकार की थी, जबकि हिंदू महासभा, साम्प्रदायिकता के पागलपन से युक्त राष्ट्रविरोधी मुस्लिम लीग की हिंदू प्रतिमूर्ति प्रस्तुत करती थी। यह विचित्र वैपरीत्य कैसे उत्पन्न हो गया? इसका कारण यह है कि मन में बैठा हुआ वह गहरा निश्चय विद्यमान नहीं था, जिसके आधार पर स्वप्न में अथवा किन्हीं भी परिस्थितियों में एक ही उत्तर निकल पड़े कि 'हाँ! यह हिंदू-राष्ट्र है।

वे चीजें, जिनका महत्त्व है

इसलिए हम कहते हैं कि हमें अपने राष्ट्रत्व के गहरे एवं भावात्मक संस्कारों को मन से ग्रहण करना होगा, जिससे कि राजनीतिक अथवा किन्हीं अन्य विचारों के प्रवाह में हमारे पैर न उखड़ें। हमारे व्यावहारिक दैनदिन आचरण में तदनुरूप जीवन प्रतिमान के बिना हिंदू-राष्ट्रत्व तथा हिंदू-जीवन रचना की महत्ता की बात करना व्यर्थ है।

हमारे प्राचीन आचारों में प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व उठ जाना भी एक आचार है। एक बार एक साधु ने अपनी बाल्यावस्था का मुझसे वर्णन किया। उसने बताया कि किस प्रकार उसकी माता बहुत सवेरे उठा करती थी और गृहस्थी के साधारण कार्य करते हुए अपने मधुर स्वर में देवी जगन्माता की महानता का वर्णन करनेवाले विविध पदों का पाठ किया करती थी तथा किस प्रकार उस जगत्-जननी के पवित्र आशीर्वचनों का आह्वान करनेवाले शब्दों से उसे जगाती थी। साधु ने बताया कि 'उन्हीं पवित्र शब्दों' जिन्हें मैं निद्रा का त्याग करते हुए प्रातःकाल सुना करता था ने मुझमें बहुत गहराई तक प्रविष्ट होकर मुझे शुद्ध किया। सभी सांसारिक प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करने की श्रद्धा एवं शक्ति दी तथा अपने को उस

माता की सेवा में समर्पित करने की प्रेरणा प्रदान की।' यही होते हैं हिंदू-सस्कार। हम अपने जीवन को दिन-भर (प्रात से रात्रि तक) अनुशासन के भाव से एक आकार प्रदान करें। अनुशासन एव आत्मसयम के सपूर्ण जीवन-क्रम में प्रशिक्षित होने के लिए हिंदू का जन्म हुआ है, जो उसे जीवन में श्रेष्ठतम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए शुद्ध करता है और शक्ति प्रदान करता है।

हमें यह नहीं कहना चाहिए कि यह तो छोटी बातें हैं, हमें इनकी चिंता नहीं करनी चाहिए। यही छोटी-छोटी चीजें हमारे जीवन को अनुशासित करती हैं और हमारे चरित्र को आकार एव शक्ति प्रदान करती हैं।

किंतु दुर्भाग्य है कि आजकल इस प्रकार के सभी हितकारी आचार तथा व्यवहार के नियमों का 'मूढ विश्वास' कहकर उपहास किया जाता है। अभी हाल में इसे व्यक्त करनेवाली एक घटना घटित हुई है। हमारे देश से एक विद्यार्थी अध्ययन के लिए अमरीका गया। वहाँ एक साधारण परिवार में वह पेइग-गेस्ट के रूप में ठहरा। प्रथम दिन उसने सभी परिवार के सदस्यों के साथ भोजन के लिए बैठते ही अपने लिए परोसना प्रारभ कर दिया। तब उस घर की स्वामिनी ने कहा कि उनके यहाँ की यह रीति है कि भोजन के पूर्व ईश्वर की प्रार्थना करते हैं। ध्यान दीजिये कि वह युवक ऐसे देश से गया था, जो आध्यात्मिकता का और ईश्वरभक्ति का देश माना जाता है और गया था ऐसे देश में, जो लक्ष्मी का पुजारी और अत्यत भौतिकवादी माना जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि बडी सीमा तक इसी ईश्वर-विश्वास एव इसी धर्म-विश्वास ने पश्चिम को वह शक्ति दी है, जिससे कि वह इस ससार में सफल हुआ है।

आधुनिकतावाद

हम अपनी आध्यात्मिक परपराओं पर गर्व करते हैं। किंतु हम रहते किस प्रकार हैं? हमारे दैनिक सस्कार क्या हैं? क्या हमारे नित्य के क्रियाकलापों में ईश्वर का कोई स्थान है? क्या हमारे घरों में कम से कम एक स्थान ऐसा है, जहाँ बैठकर हम उसका ध्यान कर सकें? एक बार मेरे एक परिचित ने अपने नए बने हुए मकान को देखने के लिए मुझे बुलाया। वह भली प्रकार सुसज्जित तथा प्रत्येक अर्थों में एक आधुनिक गृह था। जब उसने मकान की विशेषताएँ बताना समाप्त किया, तब मैंने पूछा कि देवगृह कहाँ है? क्या तुम्हारे कोई कुल-देवता नहीं हैं, जिसकी पूजा तुम्हारे पूर्वज

करते रहे हों और तुम्हें सौंप गए हों? मेरे प्रश्न से चकित होकर क्षमा माँगते हुए उसने कहा– 'मैं उस विषय में बिल्कुल भूल गया था।' कुछ महीने पश्चात् जब मैं पुन उस स्थान पर गया तो उन्होंने विशेष रूप से यह कहकर मुझे अपने घर पर आमंत्रित किया कि मेरे कथनानुसार काम कर लिया गया है। मैं उसे देखने गया। जीने के नीचे एक टेढे-मेढे स्थान में बनी हुई छोटी सी आलमारी मुझे दिखाई। परिवार के सदस्यों के चप्पल, जूते उस आलमारी के ऊपर बडी सफाई से रखे हुए थे और वे पर्याप्त सख्या में थे, क्योंकि उनके जीवन का स्तर काफी ऊँचा था। उन्होंने बडे सतोष के भाव से कहा– 'मैंने इसे नया बनवाया है और अपने कुलदेवता को यहाँ रखा है।' मैं तो उसे देखकर सत्रस्त हो गया। मैंने कहा 'देवता को दूषित करने के स्थान पर इन चप्पलों को ही अदर रखकर क्यों नहीं पूजते।' ऐसा है– 'आधुनिक प्रगतिशील' हिदू-जीवन।

हमें यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि श्रीराम, शिवाजी अथवा विवेकानद इस प्रकार के आधुनिकतावाद की उत्पत्ति नहीं थे। शिवाजी उन आदर्शो से स्फूर्त थे, जिनकी प्रतिष्ठा रामायण और महाभारत में हुई है। हिदू-जीवन के प्रति उनकी महान श्रद्धा ही थी, जिसने उनके सगठन-चातुर्य के साथ मिलकर उन्हें एक ऐसी शक्ति बना दिया, जिससे इतिहास की सपूर्ण गति ही बदल गई। वैदिक काल के सतों से लेकर रामकृष्ण, विवेकानद, रामतीर्थ तथा इसी प्रकार के अन्य आधुनिक युग की महान आत्माओं तक सभी ने अपने युगों पुरातन आदर्शो के प्रति भावात्मक प्रेम तथा उनकी अनुभूति से युक्त अपने जीवन द्वारा हमारे समाज पर अपने प्रेरणादायी व्यक्तित्व की छाप छोडी है। चुनौती देती हुई विरोधी शक्तियों के सामने वे तनकर खडे रह सके और चुनौती भरे स्वर में विश्व से बात कर सके। हम उन्हीं की सतान किस दयनीय दशा को प्राप्त हो गए हैं? हम उन आदर्शो का 'क, ख, ग' भी नहीं जानते, जिन्होंने उन पराक्रमी आत्माओं को प्रेरित किया और ढाला था।

मैं एक युवक को जानता हूँ जो सरकारी छात्रवृत्ति पर विदेश गया था। वहाँ उसे मित्रों तथा अपरिचितों के 'आत्मा', 'प्राणायाम', 'गीता' तथा अन्य बहुत से हिदू विचारों एव जीवन-पद्धतियों के सबध के अनेक प्रश्नों का सामना करना पड़ा। यह युवक इन सब बातों से बिल्कुल अनभिज्ञ था। उसने मुझे अपनी कठिनाई लिखी। किंतु मैं क्या कर सकता था? क्या मैं उसे योगाभ्यास समाधि प्राणायाम तथा ऐसी सभी चीजों की पत्रों द्वारा

शिक्षा दे सकता था? यह कितना अपमानजनक है कि इस देश के हमारे तथाकथित शिक्षित युवक को अपने ही दर्शन की मूलभूत बातों का ज्ञान भी नहीं है। उनकी पूर्ण अनुभूति की तो बात ही छोडिए।

आदर्श के विविध पहलू

अब दूसरे पहलू पर भी हम दृष्टिपात करें। जैसे समाज के साथ संपर्क के विविध क्षेत्रों से हमारे संबंध का पहलू। हमारा पडोसी, हमारे शिक्षा-केंद्र, हमारे व्यवसाय का क्षेत्र आदि। क्या जीवन के इन सभी क्षेत्रों में हिंदू का स्पष्ट योगदान नहीं हुआ है? इसके विपरीत यह हिंदू तत्वज्ञान ही है, जो मानव क्रियाकलापों के छोटे से छोटे और बडे से बडे क्षेत्रों को प्रभावित करता है। हमारे लिए परिवार आत्मविस्तार का प्रथम पग है। फिर परिवार के सदस्यों के नाते हमें विविध कर्तव्यों का भार वहन करना पडता है, जिससे कि परिवार के सदस्यों के बीच मधुर प्रेम एवं ऐक्य के कोमल बंध बने रहें। पुत्र के रूप में, भाई के रूप में, पति के रूप में अथवा किसी भी संबंध में गृहस्थ का उदात्त हिंदू आदर्श ग्रहण करें। हमारे लिए यह कहना कोई अच्छी बात नहीं है कि 'ओह, मैं तो समाज-कार्य कर रहा हूँ, पारिवारिक बंधों की मैं क्यों परवाह करूँ?' पुनः हमारे देश के महान आदर्श चरित्र की ओर दृष्टिपात करो। श्रीराम यद्यपि किशोरावस्था में ही थे कि पिता की आज्ञा से राक्षसों का वध करने के लिए विश्वामित्र के साथ वन को गए। पश्चात् उन्होंने अपने पिता की प्रतिज्ञा के पावित्र्य की रक्षा के लिए चौदह वर्ष का वनवास प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया। भाई के रूप में लक्ष्मण आदि पर उनका कितना गहन प्रेम था। वह एक आदर्श पुत्र, एक आदर्श भ्राता, एक आदर्श पति, एक आदर्श मित्र, एक आदर्श शिष्य तथा वैरियों के लिए एक आदर्श शत्रु भी थे। उन एक में आदर्श हिंदू पुरुषत्व का सब कुछ समाहित था। ऐसे ही श्रीकृष्ण भी थे। यशोदा और नंद के लिए वह कैसे आनंद और सांत्वना के स्रोत थे। किस प्रकार उन्होंने अपने मधुर व्यवहार से सभी पडोसियों को मोहित कर लिया था।

विद्यार्थी जीवन में ज्ञान एवं चरित्र का अर्जन ही हमारी सतत प्रेरणा रही है, भिन्न-भिन्न जानकारियों के द्वारा मस्तिष्कों को भर देना मात्र नहीं। हमें किताबी कीडे ही नहीं बनना है। संपूर्ण ज्ञान के लिए एक कुंजी है और वह है— मन की एकाग्रता। यदि हम शरीर और मन के लिए नियमित स्वस्थ आदतें ग्रहण कर लें तो हमारे लिए मन की एकाग्रता को

विकसित करना कठिन नहीं होना चाहिए। और फिर विविध शिक्षण संस्थाओं में हम अध्ययन करते हैं, वहाँ हम अपने आचार्यो एव सहपाठी विद्यार्थियों के सपर्क में आते हैं। हिंदु परपरा में शिक्षक तथा शिक्षार्थी के सवध किसी सविदा के समान नहीं होते। यह एक उदात्त सवध है। शिष्य गुरु को ज्ञान एव दिव्यता की साक्षात् मूर्ति मानता है और उसके प्रति नम्रता एव भक्ति की भावना से व्यवहार करता है।

यह कहते ही लोग पूछते हैं कि क्या आज का शिक्षक ऐसी भक्ति के योग्य है। कितु विद्यार्थियों को इस प्रकार के विकृत दृष्टिकोण का शिकार नहीं बनना चाहिए। हम वैसा ही व्यवहार करें, जैसा हमें करना चाहिए। यह हमारे ही हित में, हमारे ही परिष्कार के लिए है। हम मदिर में हनुमान जी की मूर्ति का पूजन करते हैं। कुछ समय पश्चात् लगातार सिदूर लगते रहने से वह मूर्ति सिदूर के मोटे पर्त से ढक जाती है और उसका रूप इतना बदल जाता है कि किसी भी प्रकार पहचाना नहीं जा सकता। कितु फिर भा उसी भक्ति भाव से उसका पूजन हनुमान के रूप में होता रहता है। ज्ञान के देवता विनायक हैं, जिनका बडा पेट और हाथी का सिर है। किंतु इस कारण उनके प्रति किसी की भक्ति पर प्रभाव नहीं पडता। जन्मजात विश्वगुरु श्रीकृष्ण को सदीपनी ऋषि के आश्रम में एक साधारण शिष्य का सा व्यवहार करते हुए देखकर तुम एक आदर्श हिंदू विद्यार्थी का सही चित्र पा सकते हो। उन्होंने अन्य शिष्यों के समान ही अपने गुरु की सेवा पूर्ण श्रद्धा एव प्रेम से की थी। वह वर्षा और तूफान में गुरु के यज्ञ के लिए सूखी समिधाएँ लेने वन में गए। जो स्वय ज्ञानस्वरूप थे, उन्हें वहाँ पढने के लिए क्या था? फिर उन्हें अपने साथियों एव सहपाठियों के बीच घूमते-फिरते देखो। कितना गहरा एव शुद्ध प्रेम था उनमें, उन सबके लिए। सुदामा नाम का एक गरीब ब्राह्मण का लडका सदीपनी आश्रम में उनका सहपाठी था। बाद में जब श्रीकृष्ण की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी तब फटे वस्त्रों में मुट्ठी भर चावल की पोटली लिए हुए उनका सहपाठी सुदामा उनके यहाँ पहुँचता है। जैसे ही श्रीकृष्ण की दृष्टि अपने पुराने मित्र पर पडती है, वह झपटकर उसे सीने से लगा लेते हैं। वह मित्र की लाई हुई उस मूल्यवान भेंट को बडे स्वाद से खाते हैं। अत में वे सुदामा को अतुल सपत्ति भी प्रदान करते हैं।

यदि सयोगवश अपने बडों से विचारधारा का कुछ सघर्ष भी उत्पन्न हो जाए तो भी हमें उनके प्रति सम्मान का व्यवहार बदलने का कारण नहीं। महाभारत के युद्ध में जब भीष्म और अर्जुन एक-दूसरे के



सामने आए, तव अर्जुन ने प्रथम पाँच वाण उनके पैरों की ओर चलाए। भीष्म के सारथी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि अर्जुन के अमोघ वाण भीष्म की छाती में न लगकर पैरों की ओर आए। भीष्म ने कहा– 'मेरा प्यारा अर्जुन मेरा आशीर्वचन प्राप्त करने के लिए पाँच बाणों से मुझे प्रणाम कर रहा है।'

स्वधर्मे निधन श्रेय

हमें ये उदाहरण 'प्राचीन पौराणिक आख्यायिकाएँ' कहकर नहीं त्यागने चाहिए। इनमें हमारी सस्कृति के वे अमूल्य रत्न जडे हुए हैं, जिन्होंने एक समय में हिंदू-जीवन को ससार की ईर्ष्या की वस्तु बना दिया था। यह कहकर भी उन्हें छोडना ठीक नहीं कि वे इस समय के लिए अव्यावहारिक हैं। इस बीसवीं शताब्दी में भी हमें इस प्रकार के प्रेरणादायी उदाहरण देखने को मिलते हैं। अपने सघ के सस्थापक डाक्टर हेडगेवार का ही एक उदाहरण है। एक वार वे सगठन के कार्य से पूना गए थे। प्रौढ लोगों की वैठक में वहाँ के एक सज्जन जो डाक्टर जी के शिक्षक भी रह चुके थे, आमन्त्रित थे। डाक्टरजी को वहाँ भाषण देना था। नगर के अनेक गणमान्य लोग उस सभा में एकत्रित हुए थे। वह वृद्ध अध्यापक कुछ देर से आए। किंतु जैसे ही डाक्टर जी ने उन्हें देखा, वे उठ खडे हुए और उनके चरण छूकर उन्हें अपने आसन पर वैठाया।

अपने स्थायी जीवनमूल्यों की पृष्ठभूमि पर ये हैं हमारे वर्तमान जीवन के कुछ वैशिष्ट्य। एक व्यक्ति के ही समान जव तक कोई राष्ट्र अपने स्वधर्म के मूलाधारों पर जमा रहता है, तव तक वह चतुर्दिक वृद्धि करता है एव फलता-फूलता है। किसी के स्वधर्म की जडों को उखाड लेना और उनके स्थान पर कुछ और ही आरोपित करने का परिणाम पूर्ण अस्तव्यस्तता एव पतन ही होगा। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा है– 'स्वधर्मे निधन श्रेय परधर्मो भयावह। (३-३५)' अर्थात् अपने धर्म का पालन करते हुए मृत्यु भी श्रेयस्कर है। दूसरे का धर्म ग्रहण करने के परिणाम भयावह होते हैं।

अतएव, हमारे लिए राष्ट्र के स्वधर्म का यह आह्वान है कि हिंदू जीवनपद्धति को पुनरुद्दीप्त करके आत्मविस्मृति एव अनुकरण की उस राख को झाड दें, जो हिंदू हृदयों में युगों पुराने सस्कारों के अमर अगारों को ढके हुए है, जिससे इस पवित्र देश की राष्ट्रीय आत्मा की ज्वाला अपने सपूर्ण तेज के साथ पुन प्रज्ज्वलित हो उठे।

८ कार्य और लक्ष्य का स्वरूप

समर्पित जीवन चाहिए

हमारे कार्य के लक्ष्य का अतिम स्वरूप हमारे समाज की पूर्ण सगठित अवस्था है। उससे ही प्रत्येक व्यक्ति आदर्श हिंदू मनुष्यत्व की मूर्ति बनकर समाज के सगठित व्यक्तित्व का सजीव अग होगा। यही हमारे सगठन-प्रयासों के लिए जीवत प्रेरणा रही है।

यह स्पष्ट है कि यह कल्पना ऐसी नहीं है, जो कुछ दिनों अथवा कुछ वर्षो में साकार की जा सके। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सैंकड़ों और हजारों समर्पित जीवन चाहिए, जो शाति के साथ अथक प्रयास करते रहें। इसके लिए ऐसे सबल एव धैर्यवान हृदयों की आवश्यकता है, जो विपरीत परिस्थितियों तथा प्रलोभनों के बीच अडिग बने रहें। इस प्रकार के स्फूत जीवन निर्माण करने के लिए ही सघ प्रतिदिन के सस्कारों पर अत्यधिक बल देता है तथा व्यक्ति के मन पर मस्तिष्क एव हृदय के उन सभी गुणों का महत्त्व प्रतिदिन अकित करता हे, जो उसे सपूर्ण जीवन के समर्पण के मार्ग पर अग्रसर होने की शक्ति और योग्यता प्रदान करते हैं।

सरल उपाय की झलक

कार्य के लिए इस प्रकार स्थिर, शात एव आजीवन श्रद्धा आजकल के ससार में विचित्र और असाधारण प्रतीत हो सकती है। इसमें इसकी अपनी स्वय की एक मौलिकता और नवीनता है। ऐसा होने के कारण हमारे इस दृष्टिकोण को समझने और आत्मसात करने में सामान्य जन को कुछ समय लगना स्वाभाविक ही है। उदाहरणार्थ– ऐसे अनेक लोग हैं, जो हमारी कार्यपद्धति में यह बात देखकर भय और विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं कि इसमें जीवन-भर वर्षानुवर्ष एक निश्चित समय एव स्थान पर प्रतिदिन उपस्थित होना आवश्यक रहता है।

एक बार एक युवक ने मुझसे प्रार्थना की कि कोइ ऐसा उपाय बताइए जिससे वह अपने मन को एकाग्र करने की शक्ति का विकास कर सके। उसके अध्यवसाय की परीक्षा लेने के लिए उसे नियमित रूप से करने के लिए कुछ विशेष अभ्यास बताए। उसने तुरत प्रश्न किया, 'यह कब तक करना होगा?' मैंने कहा 'इसे जीवन भर चालू रखिए। वह साश्चर्य कह उठा 'जीवन-भर! यह कैसे सभव है?' मैंने उससे पूछा, 'क्या तुम्हारे लिए

कम से कम जीवन-भर जिंदा रहना असंभव है?'

यह है आज की मनोवृत्ति। लोग शीघ्र फल एवं सफलता का आसान उपाय चाहते हैं। अल्पतम उद्योग एवं अधिकतम लाभ चाहने के इस मानव-दौर्बल्य ने हमारे राष्ट्रजीवन के सभी क्षेत्रों को ग्रसित कर रखा है। हार्दिक एवं कठोर परिश्रमवाले ईमानदारी के रास्ते का स्थान ऐसे उपायों ने ले लिया है, जिनमें बुरे-भले का कोई विचार नहीं होता और जिनसे फल शीघ्र मिलता है। धन अर्जन करनेवाला मनुष्य धनी बनने के लिए इसी प्रकार के आसान उपायों को सोचता रहता है। यदि एक रात में ही धनवान बनने की संभावना हो तो उसके लिए कितना ही नीच कर्म करने के लिए उद्यत हो जाता है। वह काला बाजार करता है, सट्टेबाजी करता है और जुआ खेलता है। वह बड़ी उत्सुकता से यह जानने के लिए ज्योतिषियों को भी पकड़ता है कि क्या कोई ग्रह-नक्षत्र उसके लिए कुछ कर सकता है। चोरी और डकैती तो आसान उपायों के लिए राजमार्ग ही है।

लोगों ने तो ईश्वरानुभूति के लिए भी आसान मार्ग खोजना आरंभ कर दिया है। ईश्वरप्राप्ति के लिए एकाग्र निष्ठा से संपूर्ण जीवन तपस्या करने का कष्ट कौन उठाए? वे किसी संत अथवा संन्यासी को बीच का दलाल बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिसके विषय में उनका यह विश्वास होता है कि वह उनके सब पापों को लेकर अपने पुण्य उन्हें दे देगा तथा उन्हें ईश्वर के समक्ष शुद्ध और पवित्र कर उपस्थित करेगा। हमारे सामाजिक जीवन का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है, जो इस क्षुद्र एवं हीनता के कलंक से बचा हो।

आत्मघाती प्रलोभन

चारों ओर के इसी वातावरण के कारण लोग संघ के कार्य में भी छोटा एवं सरल मार्ग कौन-सा है, इसका विचार करने लगते हैं। वे पूछते हैं— *'कितने समय तक इस प्रकार इसे चलाते रहोगे? तुम अपनी कल्पना* के अनुसार समाज का पूर्ण रूपांतर करने योग्य कब होगे? तुम और कितने वर्षों तक इसी मार्ग पर घिसटते रहोगे?' तब वे चारों ओर दृष्टि डालते हैं और देखते हैं कि शक्तिशाली प्रशासन ऐसी बड़ी शक्तियों को धारण किए हुए है कि राष्ट्रजीवन का संपूर्ण प्रसार उससे परिवेष्टित है। वे कल्पना करने लगते हैं कि यदि उन्हें प्रशासनिक अधिकारीगण, राजस्व एवं अधिकार के इस प्रकार के साधन उपलब्ध हो जाएँ तो अति अल्पकाल में

ही वे देश का स्वरूप बदल सकते हैं। शिक्षा आदि के द्वारा आनेवाली पीढ़ी को अपने इच्छित प्रतिमान में ढाल सकते हैं। वे उस सरल छोटे मार्ग पर आसक्त हो जाते हैं, जिसमें कष्ट और त्याग कम तथा फलप्राप्ति शीघ्र होती है। ऊपरी तौर से सोचने पर यह तर्क निस्संदेह बहुत ही आकर्षक प्रतीत होता है। हमारी वर्तमान सरकार द्वारा हमारे जीवन के राजनीतिक तथा आर्थिक पक्षों पर जो पूरा-पूरा बल दिया जाता है, वैसे ही पंचवर्षीय योजनाओं के लिए सतत प्रचार तथा देश के युवकों को आकृष्ट करने के लिए नए-नए सरकारी नियंत्रण के क्षेत्र खोले जा रहे हैं। इस सबने भी हमारे लोगों की इस वर्तमान मनोदशा बनाने में अपना योगदान किया है, जिसके प्रभाव से लोग राजसत्ता को ही सब रोगों की औषधि मानने लगे हैं।

किंतु हमें ऐसे ऊपरी विचार से प्रभावित होकर नहीं बह जाना चाहिए। यद्यपि आजकल किसी भी विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की प्रथा नहीं है, फिर भी हमें लोगों को इस प्रकार शिक्षित करना चाहिए कि वे विषयों की अधिक गहराई में जाकर समझने की योग्यता प्राप्त करें। एक बार नागपुर में अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन हुआ। उसमें भाग लेने के लिए आनेवाले कुछ प्रमुख लब्धप्रतिष्ठ पुरुष मेरे परिचित थे। उन्होंने अपने द्वारा निर्णीत कार्यवाहियों, नियमों तथा पाठ्यक्रम आदि के विषय में विस्तार से मुझे बताया। अंत में मैंने उनसे एक साधारण-सा प्रश्न किया, 'क्या आप उनकी वास्तविक प्रकृति एवं वास्तविक आवश्यकताएँ बता सकते हैं, जिन्हें शिक्षित करने की योजना आप बना रहे हैं?' उनमें से एक ने मेरे सामने सीधे शब्दों में यह स्वीकार कर लिया कि यह प्रश्न तो उनके सामने कभी उपस्थित ही नहीं हुआ। किसी अंधे द्वारा अन्य अंधे व्यक्तियों का मार्गदर्शन करने की कहानी है, वैसे ही हमारे देश में सब कार्य चला करते हैं। समस्या की मूल तक पहुँचने का न तो कोई प्रयास करता है और न इच्छा है।

हम जरा विश्व-इतिहास के पृष्ठ पलटें। हम देखने का प्रयत्न करें कि किसी भी देश के अजर-अमर राष्ट्रजीवन का निर्माण करने में क्या वहाँ की राजसत्ता के प्रयोग के थोथे विचार और तत्क्षण फलेच्छा ने सचमुच सहायता की है? भूतकाल में ऐसे अनेक साम्राज्य रहे हैं, जो पूर्णरूपेण राजसत्ता पर निर्भर थे। उदाहरण के लिए— फारस अपनी सभी प्रकार की सुरक्षा एवं प्रगति के लिए पूर्णतया सम्राट पर ही निर्भर था। सम्राट की सत्ता सर्वोच्च थी। वह जनजीवन के सभी पहलुओं का नियमन करता था। धर्म

का निर्णायक भी वही था। कुछ समय के लिए वहाँ के लोग निश्चित और सुखी थे, किंतु उनके राष्ट्रजीवन का सपूण प्रासाद अरब आक्रमण के एक ही धक्के में धराशायी हो गया। रोम और यूनान की भी यही गति हुई। यह इस कारण नहीं हुआ कि इन साम्राज्यों के पास सपत्ति अथवा उत्तम प्रबध या सेना का अभाव था, वरन् वे सभी चीजें राजा की राजनीतिक सत्ता की वालू की नींव पर खडी थीं। जैसे ही अल्प काल के लिए भी उस राजसत्ता का ध्वस हुआ, उनकी सपूर्ण सभ्यता, उनका धर्म और उनकी राष्ट्रीयता धमाके के साथ ऐसे धराशायी हो गई कि विश्व-मच पर पुन कभी उसका प्रकट होना भी असभव हो गया। एक के बाद एक कई देशों का आत्मपतन हुआ। वे सब इस्लाम के सामने झुक गए और सदैव के लिए मुस्लिम-राष्ट्र बन गए।

हमारे अमरत्व का रहस्य

किंतु हमारे देश की कहानी एक अन्य प्रकार का चित्र प्रस्तुत करती है। हमारे समाज को अत्यत बर्बर जातियों के अगणित आक्रमणों का सामना करना पडा था। हमारे समाज पर इन शत्रु-शक्तियों का कुछ काल के लिए राजनीतिक आधिपत्य भी बना रहा। कभी-कभी तो यह आधिपत्य कतिपय शताब्दियों तक चला। रावण के काल से लेकर अब तक समय-समय पर अधर्म ने अपनी सपूर्ण विनाशकारी नग्न शक्तियों से यहाँ शासन किया है। उस अधकारपूर्ण समय में जब औरगजेब शासन करता था, समर्थ रामदास के समान एक महान वीर सत तक के सकरुण उद्गार थे कि हिंदू-समाज को पूर्ण विनाश से बचाने का सामर्थ्य केवल परमात्मा के अवतार को ही है। तत्पश्चात् चालाक अग्रेज ने भी हमारे राष्ट्रजीवन को उच्छिन्न करने के प्रयास किए। आज भी अधार्मिक तत्त्वों का ही उत्कर्ष है। किंतु इन भयकर सकट वेलाओं का सामना कर हमारा समाज आज भी जीवित है। बारबार यह अपनी भस्म में से उदित हुआ तथा दुष्ट शक्तियों के फाँसी के फंदे को नष्टकर इसने धर्म-राज्य की स्थापना की। वही गौरवशाली परपरा आज भी सदैव की भाँति आदर्शवाद और राष्ट्रीय नवयौवन के सामर्थ्य से युक्त अखड, अजस्र गति से चली आ रही है। यह चमत्कार किस प्रकार घटित हुआ? इस अमरता का गूढ रहस्य किस बात में है? भीषण से भीषण विषप्रहार के बाद भी समाज की मृत्यु को चुनौती देने की चिरजीवन क्षमता का रहस्य क्या है?

यह बात अति स्पष्ट है कि हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व का आधार राजकीय सत्ता कभी नहीं रहा, अन्यथा हमारा भी भाग्य उन राष्ट्रों से अच्छा नहीं होता, जो आज केवल अजायबघर की दर्शनीय वस्तु मात्र रह गए हैं। राजकीय सत्ताधारी हमारे समाज के आदर्श कभी नहीं थे। वे हमारे राष्ट्रजीवन के आधार के रूप में कभी स्वीकृत नहीं हुए। सपत्ति एव सत्ता के ऐहिक प्रलोभनों से ऊपर उठे हुए और सुखी, श्रेष्ट गुणों से सपत्र एव एकात्मता से युक्त समाज की स्थापना के लिए अपने को समग्रभावेन समर्पित करनेवाले सत-महात्मा ही इसके पथ-प्रदर्शक रहे हैं। वे धर्मसत्ता का प्रतिनिधित्व करते थे। राजा तो उस उच्चतर नैतिक सत्ता का एक उत्कृष्ट अनुगामी मात्र था। अनेक बार विपरीत परिस्थितियों में एव आक्रामक शक्तियों के कारण अनेक राजसत्ताओं ने धूल चाटी, किंतु धर्मसत्ता समाज को छिन्न-विच्छिन्न होने से सदैव बचाती रही।

रावण एक धूर्त आक्राता था। वह हमारी सामाजिक एकता के इस रहस्य को जानता था। उसे पता था कि हमारे समाज के जीवन-केंद्र का स्पदन ऋषि-मुनियों के वन्य आश्रमों में है। अतएव उसने उन्हीं वन्य कुटियों तथा वहाँ होनेवाले यज्ञों को अपने आक्रमणों का लक्ष्य बनाया, किंतु उन आध्यात्मिक शूरों ने उन आघातों का साहस के साथ सामना किया और जनता को जगाने तथा उसमें एकात्मता स्थापित करने के अपने पवित्र लक्ष्य में सलग्न रहे। यह कहा गया है कि सपूर्ण समाज, यहाँ तक कि देवता भी रावण के पैरों के नीचे कराह रहे थे। ऐसे समय में राष्ट्र ने अपने को राम के व्यक्तित्व में उठाया। उस महान परित्राता को विश्वामित्र, वशिष्ठ तथा अगस्त्य ने ढाला था ओर उसका मार्गदर्शन किया था। इन ऋषियों ने केवल राम को ही खडा नहीं किया, अपितु नियमित प्रवचनों वाद-विवादों एव विविध धार्मिक क्रियाओं के द्वारा सपूर्ण समाज की उत्कट राष्ट्रीय चेतना को भी उद्दीप्त रखा। समाजहित की अपनी साधना में वे अर्धनग्न फकीर कितने जागरूक एव उद्यमी थे। राम को वह भीषण शक्ति भी महर्षि अगस्त्य से ही प्राप्त हुई थी, जिससे उन्होंने रावण का वध किया था। यह उनकी प्रेरणा एव अथक प्रयत्नों का ही परिणाम था कि वे अधर्म की आक्रामक लहरें, जो तीनों लोकों को डुबो चुकी थीं, अत में पीछे हटीं। उन अधार्मिक शक्तियों के दुर्ग लका की भस्म में से समाज और भी अधिक तेजस्वी होकर एक बार पुन उठ खडा हुआ।

बौद्ध युग का भी हमारे लिए वही संदेश है। बुद्ध के पश्चात् यहाँ उनके अनुयायी पतित हो गए। उन्होंने इस देश की युगों पुरानी परपराओं का उन्मूलन आरभ कर दिया। हमारे समाज में पोषित महान सास्कृतिक सद्गुणों का विनाश किया जाने लगा। अतीत के साथ के सबध-सूत्रों को भग कर दिया गया। धर्म की दुर्गति हो गई। सपूर्ण समाज-व्यवस्था छिन्न-विच्छिन्न की जाने लगी। राष्ट्र एव उसके दाय के प्रति श्रद्धा इतने निम्न तल तक पहुँच गई कि धर्मांध बौद्धों ने बुद्ध धर्म का चेहरा लगाए हुए विदेशी आक्राताओं को आमत्रित किया तथा उनकी सहायता की। बौद्ध पथ अपने मातृ-समाज तथा मातृ-धर्म के प्रति द्रोही बन गया। इस प्रकार के भीषण क्षणों में ऋषि-मनीषियों की परपरा ने अपने सामर्थ्य एव ओज को शकराचार्य के रूप में प्रकट किया। वह थे एक सन्यासी, एक अद्वितीय दार्शनिक एव अनुपमेय सगठनकर्ता। उनकी महत्ता किसी भौतिक सपत्ति अथवा शक्ति के कारण नहीं थी। वे देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक विचरण करते रहे। अगणित सकटों का उन्हें सामना करना पडा, जिनमें उन्हें विष देने का प्रयत्न भी सम्मिलित है, किंतु वह निर्भीक एव विजयिष्णु बने एक स्थान से दूसरे स्थान का भ्रमण ही करते रहे। उन्होंने विश्राम और सुख तो जाना ही नहीं था। उन्होंने हमारी प्राचीन सस्कृति की क्षीण होती हुई लौ को एक बार पुन उद्दीप्त कर दिया। उनके निष्ठाशील सन्यासी अनुयायियों ने अपने रक्त एव स्वेद से वैभवशाली भविष्य के निर्माण के लिए अतीत को वर्तमान के साथ अति दृढता से जोडा। उनके द्वारा जगाई गई राष्ट्रीय चेतना तथा नि स्वार्थ सेवा-भाव ने एक बार पुन समाज को पैर जमाने में तथा राष्ट्रद्रोही तत्त्वों के उच्छेद में सहायता की। बौद्ध धर्म को एक अलग पथ के रूप में मातृभूमि से मिटा दिया गया, यद्यपि बुद्ध नि सशय पूरे अवतार बने रहे। निस्सदेह हम भगवान शिव की पूजा करते हैं, किंतु इस कारण उनके चारों ओर एकत्र रहनेवाले भूतगणों का स्वागत नहीं करते।

मुसलमानों के राजसत्ता के काल में भी महान सत और सन्यासी उत्पन्न हुए, जिन्होंने उस परपरा को चालू रखा। चैतन्य, तुलसीदास, सूरदास ज्ञानेश्वर, रामानद, तुकाराम, रामानुज मध्व, नानक तथा इसी प्रकार के अन्य अनेक श्रेष्ठ महात्मा हुए, जिन्होंने देश को एक सिरे से दूसरे सिरे तक धार्मिक श्रद्धा से आपूर्ण कर दिया। समर्थ रामदास ने उस धार्मिक

उत्साह को राष्ट्रशक्ति के 'जङ्गनेमो' का रूप दे दिया। उन्होंने राम और कृष्ण की कथाओं का बारबार बखान किया। उनके पराक्रम के दिव्य गीत गाए। लोगों में अपने देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा को जागृत किया तथा सब प्रकार के राजकीय दमन के होते हुए भी उनके नैतिक बल को अक्षुण्ण बनाए रखा। छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में सपन्न महान राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन का कार्य उन वर्षो में हुए तीव्र आध्यात्मिक एव सास्कृतिक जागरण का ही सीधा परिणाम था। इससे भी पूर्व स्वामी विद्यारण्य द्वारा प्रारभ किए गए आध्यात्मिक तथा राष्ट्रीय जागरण द्वारा विजयनगर की वैभवशालिनी हिंदू शक्ति का उदय हुआ था। महान धार्मिक शिक्षक गुरु नानक तथा उनके उत्तराधिकारियों ने हिंदू विप्लव की नींव रखी, जिसका प्रकटीकरण गुरु गोविदसिह और बदा बैरागी के नेतृत्व में योद्धा सिखों के रूप में हुआ। इस प्रकार एक बार पुन धर्म को केंद्र मानकर राष्ट्रीय एकीकरण का महान कार्य हुआ तथा राष्ट्रविरोधी दुष्ट शक्तियों का विनाश होकर राष्ट्र का विजयध्वज अटक से कटक तक और कश्मीर से कन्याकुमारी तक गर्व के साथ फहराया।

अग्रेजों की दासता के विरुद्ध भी हमें राष्ट्रीय पुनरुत्थान का वही आध्यात्मिक आधार दिखाई दिया और फिर सपूर्ण प्रतिभा के साथ आध्यात्मिक सूर्य प्रकट हुआ-- बगाल में रामकृष्ण व विवेकानद, पजाब में स्वामी दयानद और रामतीर्थ, दक्षिण में महर्षि रमण और योगी अरविंद के रूप में जिसने जनता के मस्तिष्क में राष्ट्रीयता की आध्यात्मिक भूमिका को स्थापित किया।

हमारे समक्ष इतिहास की यही निर्भ्रांत साक्षी है। हमें उससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और अपने समाज का सगठित जीवन निर्माण करने का निर्णय कर लेना चाहिए, जिसमें शुद्ध चारित्र्य एव सास्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्यों के लिए ऐसी अडिग श्रद्धा हो, जो सहस्रों वर्षो तक अटल खडी रहे। हमारी प्राचीन परपराओं की आध्यात्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित समाज के सगठित जीवन की शक्ति युग-युगातर से हमारे अमरत्व का रहस्य रही है। निस्सशय रूप से हमारा राष्ट्रधर्म यही है और इसकी सपूर्ण शक्ति को जागृत कर इसे नव-तारुण्य प्राप्त करा देने के लिए हम प्रतिज्ञाबद्ध हैं।

यहाँ हम उस भ्रात धारणा को स्पष्ट कर देना चाहते हैं, जिसने आज हमारे विचारों को आच्छादित कर रखा है। जब धर्म तथा आध्यात्मिकता

जैसे शब्दों का उच्चारण किया जाता है, तो तुरत कहा जाता है कि धर्म को राजनीति में क्यों लाते हैं? धर्म-सबधी हमारी गलत धारणा और उसे पाश्चात्य लोगों की 'रिलीजन' की कल्पना के साथ एकरूप करने की भूल में से इस प्रश्न का उदय हुआ है। धर्म (रिलीजन) की मताध कल्पना तथा राज्यसत्ता पादरियों के हाथ में होने के कारण पाश्चात्य देशों ने बहुत सदियों तक कष्ट भोगे हैं। उक्त कल्पना से धर्म की हमारी कल्पना प्रकाश और अधकार के समान भिन्न है। धर्म अथवा आध्यात्मिकता कोई अधमत नहीं है, अपितु वह सपूर्ण जीवन का एक दृष्टिकोण है। राजनीतिक अथवा आर्थिक क्षेत्रों के समान धर्म राष्ट्रजीवन का कोई अलग क्षेत्र नहीं है। हमारी दृष्टि में आध्यात्मिकता जीवन की एक व्यापक दृष्टि है, जिसे सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों को अनुप्राणित और उन्नत कर उनके बीच समन्वय की स्थापना करनी चाहिए, जिससे मानव-जीवन अपने सभी पहलुओं में पूर्णत्व को प्राप्त करे। यह हमारे राष्ट्र-तरु का जीवनरस है, हमारी राष्ट्रीय सत्ता का प्राण है।

सत्ता भ्रष्ट करती है

इस सबको समझते हुए भी कुछ लोग ऐसे हैं, जो हमारी धार्मिक विचार-प्रणाली के प्रसार के लिए राजनीतिक सत्ता को अत्यावश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि भूतकाल में ईसाई धर्म तथा इस्लाम का प्रसार उनकी राजकीय सत्ता के कारण ही हुआ। किंतु उनके गभीर अध्ययन से हमें ज्ञात हो जाएगा कि अत में राजकीय सत्ता समस्या का समाधान कभी नहीं करेगी। उदाहरण के लिए– सपूर्ण राजसत्ता तथा अधिकतर लोग एकाकी व्यक्ति ईसा मसीह के विरुद्ध खडे हो गए थे। जब उसे सूली पर चढा दिया गया तो उसके शिष्यों के मार्गदर्शन के लिए कोई नहीं बचा था, किंतु उनके हृदय आदर्शवाद से प्रेरित थे। ईसा की भावना से उद्दीप्त अपनी नवीन अनुभूति के विश्वास और उत्साह को लेकर वे ससार में दूर-दूर तक फैल गए तथा विश्व उनके चरणों पर विनत हुआ। उस समय उनके पास राजकीय सत्ता नहीं थी। किंतु जब कालातर में उनके उत्तराधिकारी राजकीय सत्ता के प्रलोभन के शिकार हो गए, तब उनके अनुयायियों में भ्रष्टता एव अवनति का प्रवेश हो गया। ईसाई धर्म की वर्तमान दुर्दशा यह है कि अपने ही ईसाई देशों के जीवन को भी ढालने की शक्ति उसमें नहीं रही है। यहाँ तक कि वह आज साम्राज्यवादी राजनीतिक शक्तियों के हाथ का एक साधन मात्र रह गया है। राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाओं से उसके

अनुयाइयों के कलुषित होने का यह सीधा परिणाम है। सत्ता के मद से मतवाले अनुयाइयों के हाथों इस्लाम का विपयास, जिसे भूल से आज इस्लाम का प्रसार कहा जाता है, सर्वविदित है। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के जागरण से उसका कोइ सबध नहीं था।

अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। एक समय में काग्रेस के आज के नेता बडे ही त्यागी एव देशभक्त थे। उनके ज्वलत उदाहरणों से जनता भी सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त करती थी। किंतु आज उनकी दशा क्या है? उनमें भ्रष्टाचार, भाइ-भतीजावाद तथा सत्तालोलुपता अनियंत्रित रूप से बढ रही है। इसीलिए स्वराज्य के आगमन पर गाँधी जी ने काग्रेस को सलाह दी थी कि या तो काग्रेस अपने को समाप्त करे या राजसत्ता से बिल्कुल बहुत दूर रखे। किंतु उनके उन अनुयाइयों के लिए, जो सत्ता की लूट का स्वाद ले चुके थे, यह हितावह शिक्षा बहुत कडवी घूँट थी। आज उसके भयकर परिणाम हम देख रहे हैं। उन परिणामों की भयकरता केवल काग्रेस तक ही सीमित नहीं अपितु सपूण देश को भुगतनी पड रही है।

केवल राजसत्ता के माध्यम से समाजहित की उपलब्धि का नवीनतम प्रयोग हम रूस में देखते हैं। यह वचन कि 'सत्ता भ्रष्ट करती है तथा सपूर्ण सत्ता सपूर्णरूपेण भ्रष्ट करती है वहाँ अक्षरश सत्य सिद्ध हो चुका है। एक बार सत्ता मिलने पर उसे किसी भी मूल्य पर बनाए रखने की आकाक्षा सत्ताधारियों में उत्पन्न हो जाती है। ऐसी दशा में जनता के प्रति देखने का यह भाव हो ही जाएगा कि मैं स्वामी हूँ और तुम मेरे दास हो।' सस्कृत का एक वचन है (हितोपदेश, कथामुख-११)—

यौवन धनसम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥

(यौवन, धनसपत्ति, सत्ता और अविवेक— इनमें से एक भी अनर्थ करने के लिए पर्याप्त है, फिर जहाँ चारों हों, वहाँ के लिए क्या कहा जाए?)

रूस में उसके क्रातिकारी उत्साह, सपत्ति, सत्ता और उसके परिणामस्वरूप मद के कारण यही घटित हुआ। सब एक साथ होने से निर्दय एकाधिपत्य शासन बना जिसने संपूर्ण राष्ट्र को मनुष्यत्व से पतित किया एव दास बना डाला।

इस द्वितीय पक्ष से विचार करने पर भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजकीय सत्ता के प्रलोभन एव पाशों से अपने को [illegible] हुए,

किंतु साथ ही साथ अपकार करनेवाली शक्तियों को रोकने के लिए पर्याप्त सामर्थ्य से युक्त और जागरूक ऐसे सगठन का निर्माण (जो हम कर रहे हैं) ही समाज को ऐसी स्वस्थ और स्थायी व्यवस्था दे सकेगा, जिसमें हमारा समाज समृद्धि का जीवनयापन कर सकेगा। आखिर राजकीय सत्ता तो एक बाह्य उपकरण मात्र है, जो स्वत मनुष्य के अतरग को किसी आदर्श के अनुसार नहीं ढाल सकता। केवल प्रशासकीय विधि-विधान मानव-मन को सद्‌गुणों की ओर नहीं ढाल सकते। यदि कोई अधिकारप्राप्त व्यक्ति मद्यपान के विरुद्ध कानून बनाता है और उसे स्वय को पीने की लत है, तो वह उसी कानून की प्रवचना करने में और भी अधिक चातुर्य का उपयोग करेगा।

जहाँ तक सास्कृतिक मूल्यों एव सामाजिक सुदृढता को पुनरुज्जीवित करने की भूमिका के निर्वाह करने का प्रश्न है, यह अत्यत स्पष्ट है कि राजकीय सत्ता अपने-आप में पगु सिद्ध होती है और यदि उसे अनियत्रित छोड दिया जाता है तो वह अत्यत निकृष्ट रूप लेकर उन उच्च आदर्शों को भ्रष्ट कर देती है। इसलिए किसी राष्ट्र की अमरता का रहस्य, जिसमें उसके समस्त उदात्ततम परपरागत गुणों की सुरक्षा हो, राजकीय सत्ता से अन्यत्र कहीं खोजना होगा।

सत्ता पर अकुश

सामाजिक जीवन के विविध तत्त्वों का इस प्रकार गभीर विचार कर हमारे प्राचीन विधि-निर्माताओं ने राज्यसत्ता के कार्यो को इतना सीमित कर दिया था कि वह केवल बाहरी आक्रमणों से तथा ईर्ष्या, घृणा एव उन्नति की प्रतिद्वद्विता आदि के कारण उत्पन्न आतरिक कलह से जनता की रक्षा करे। उन्होंने कहा कि जो राज्य इन सीमाओं को लाँघता है, वह लोगों का मित्र नहीं हो सकता।

सच तो यह है कि इस स्थिति में वह लोगों का शत्रु बन जाता है, क्योंकि तब वह लोगों की चिरतन नैसर्गिक क्षमताओं के स्वतत्र विकास में बाधक बनेगा। साथ ही राज्यकर्ताओं की जी-हुजूरी करने की स्थिति में उनको खींचकर श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों से हटाते हुए लोगों को वह पतित कर देगा।

आज हमारी सरकार स्वय को 'कल्याणकारी राज्य' कहलाती हुई सपूर्ण शक्ति एव अधिकार को केंद्रित करने का प्रयत्न कर रही है तथा शिक्षा, चिकित्सा, सामाजिक सुधार, उत्पादन, वितरण और जीवन के अन्य

अनेक क्षेत्रों पर एकछत्र अधिकार प्राप्त करना चाहती है। यदि राज्य इस प्रकार से मानव के सपूर्ण क्रियाकलापों पर आधिपत्य कर लेगा, तो मनुष्य कर्म करने की स्वप्रेरणा से रहित होकर एक दास मात्र रह जाएगा। यह भली-भाँति जाना हुआ है कि सत्ता राज्यकर्ता को पीडक और अत्याचारी बना देती है। अत अधिकारप्राप्त मनुष्य अपने सभाव्य विरोधियों का हिंसा द्वारा दमन करना चाहते हैं और इस प्रकार वे अपने को समाज की शातिपूर्ण उन्नति तथा कल्याण के लिए अयोग्य बना लेते हैं। इसलिए हमारे विधि-निर्माताओं ने यह आवश्यक समझा कि सत्ताधारियों पर कठोर प्रतिबध लगाए जाएँ। उन्होंने आदेश दिया कि प्रशासनिक शक्ति, जो केवल साधन है, को साध्य नहीं बनना चाहिए। राज्य तभी तक समाज की भलाई कर सकता है, जब तक वह धर्म का, उत्तम जीवन के उच्चतर नियमों का प्रतिष्ठापक रहता है और स्वय साध्य का रूप नहीं ले लेता। इसलिए उन्होंने वनवासी, आश्रमों में रहनेवाले, त्यागी, विरागी, ऋषियों और तत्त्वदर्शियों के रूप में प्रकट हुई धार्मिक सत्ता के मार्गदर्शन एव नियत्रण के अधीन अपने इन राज्यकर्ताओं को रखा।

हमारी प्राचीन राष्ट्र-व्यवस्था का एक और अनोखा पक्ष यह था कि उसमें सपत्ति के उत्पादन को राजनीतिक सत्ता से अलग रखने की सावधानी बरती गई थी। धन शक्ति का एक रूप है। इतनी कल्पना कर सकने के लिए अधिक बुद्धिमत्ता की आवश्यकता नहीं है कि राजसत्ता यदि राजनीतिक और आर्थिक– दोनों शक्तियों के योग से मदमत्त हो जाएगी, तब वह कितना विध्वस कर सकती है। इन दो शक्तियों का एक ही व्यक्ति अथवा एक ही वर्ग के हाथों में केंद्रित होना समाज का निश्चित पतन करके उसे दास बनाता है अथवा कष्टों के असह्य हो जाने पर लोगों को विद्रोह करने के लिए उद्दीप्त करता है। कुछ भी हो, ऐसी दशा में सामाजिक स्थिरता प्रगति एव सपन्नता का अभाव हो जाना अपरिहार्य होता है।

यूरोप से शिक्षा

यूरोप के देशों का उदाहरण अत्यत बोधप्रद है। फ्रास की राज्यक्राति के पूर्व उन देशों में राजनीतिक और आर्थिक शक्तियाँ राजा में समाहित हुआ करती थीं। अनियत्रित शासन के अतगत जनता कराहती रहती थी उसकी सपूर्ण स्वतन्त्रता कार्य करने की स्व-प्रेरणा तथा आनद निचोड लिए गए थे। उस जुल्म के विरुद्ध हिसात्मक विद्रोह के रूप में स्वाधीनता,

समानता एव बधुता' का नारा लगाते हुए फ्रास की राज्यक्राति का विस्फोट हुआ। लगभग उसी समय औद्योगिक क्राति का भी सूत्रपात हुआ। 'अवसर की समानता' का घोष करते हुए बुद्धि, योग्यता और धन में बढे-चढे लोगों ने उद्योगों पर एकाधिपत्य कर लिया, अपरिमित सपत्ति को एकत्र किया तथा उसकी शक्ति से राजकीय सत्ता के भी नियत्रक बन गए। वे पुरानों के स्थान पर नवीन अत्याचारी हुए। राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के योग से एक बार पुन अनियत्रित शासन उत्पन्न हो गया और सामान्य जन एक अनिर्वचनीय दैन्य एव दास्य की दशा तक पहुँच गया। यद्यपि उस नई व्यवस्था को जनतत्र का नया और मोहक नामाभिधान प्राप्त था। जैसा बर्नाड शा ने कहा है कि उदारवृत्तिसपन्न सम्राट के अभाव के परिणामस्वरूप ही जनतत्र का जन्म हुआ था।

इस असतुलित सामाजिक व्यवस्था तथा उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न जन-अशाति से कम्युनिस्ट क्राति के रूप में एक दूसरा विस्फोट हुआ। रूस और चीन में जो खूनी क्रातियॉं हुई तथा वहॉं जिस भयकर परिणाम में सहार, शोषण, निर्वासन, दास शिविर एव इसी प्रकार के अन्य अमानवीय कृत्य हुए, वे शायद ससार के इतिहास में बेजोड हैं। पुन कम्युनिस्ट देश भी राजनीतिक और आर्थिक शक्तियों के सयोग के इसी दु खद प्रसग से आक्रात हो गए, जिससे सामान्य जनसमुदाय अमानवीय दास्य को भोग रहा है। वे देश, जिन्होंने कम्युनिस्ट क्राति के परिणामों का पूर्व आकलन कर लिया था और जनतात्रिक बने रहे थे, चाहे एक सीमा तक ही क्यों न हो, राजनीतिक शक्ति को आर्थिक शक्ति के पजों से दूर रखकर ही ऐसा कर सके थे। इतने पर भी इन जनतात्रिक देशों में इन दोनों के मध्य अब तक लाभकारी सतुलन उपलब्ध नहीं हुआ है।

इसीलिए दास्य और खूनी क्राति से बचाने के लिए तथा समाज की स्थायी शाति एव स्वतत्रता के लिए हमारे प्राचीन हिदू विचार, व्यवहार ने आर्थिक शक्ति को राज्य की अधीनता से दूर रखा था। इसने सपत्ति के उत्पादन करनेवाले लोगों को सभी प्रकार की राजकीय सत्ता से वचित रखा। इस प्रकार दोनों शक्तियॉं एक-दूसरे पर निर्भर तथा एक-दूसरे की पूरक के रूप में रखी गई थीं। सबसे महत्त्व की बात यह थी कि इन दोनों शक्तियों की देखरेख इस प्रकार के नि स्वार्थी मनुष्य करते थे, जिनका तनिक भी निजी स्वार्थ नहीं होता था। ऐसे लोगों की एक सतत परपरा, जो सत्ता एव धन के सभी प्रलोभनों से ऊपर रहकर आध्यात्मिक अधिकारों का राजदड

लिए हुए सदैव सतर्क रहते थे और इन दोनों शक्तियों में से किसी के भी द्वारा किए गए अन्याय को व्यर्थ कर देते थे, हमारे प्राचीन राष्ट्र के वैभव और अमरता का वास्तविक प्राण रही है।

सामाजिक सर्वशक्तिमत्ता का निर्माण

अपने राष्ट्रजीवन की परपरा के इस मुख्य आधार को भली-भाँति समझकर ही हमने व्यक्ति-निर्माण के इस कार्य को, जो सरल नहीं है, अपने कधों पर लिया है। ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करना है, जो राष्ट्र के प्रति तथा उसके आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति अविचल निष्ठा से ओतप्रोत हों और जो अपने अतिशुद्ध चारित्र्य तथा सबके प्रति समान प्रेम की भावना के आधार पर समाज की सगठित शक्ति का सचालन इस तेजस्वी कोटि तक करें कि जो भी राज्यसत्ता हो, वह अपनी मर्यादाओं को न लाँघ सके और समाजहित के अतिरिक्त अन्य किसी भी बात के लिए सत्ता का लाभ-प्रयोग न कर सके।

इस प्रकार के व्यक्तियों का सगठन ही समाज की शाश्वत शक्ति का आधार बन सकता है। वह ऐसा सगठन होगा, जो परिस्थितियों के प्रवाह के ऊपर उठ सके, जो क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति की भावना से अथवा राजनीतिक सत्ता को अधिकृत कर लेने की लालसा से स्फूर्त न हो, जिसका सपूर्ण समाज के साथ तादात्म्य हो तथा जो अपने अस्तित्व मात्र से सपूर्ण समाज के प्रासाद को सुस्थिति में बनाए रखकर उसके पूर्ण विकास के लिए स्वयस्फूर्त आवेग एव शक्ति प्रदान करे।

इस उदात्त दृष्टि को अपने हृदय में सहेजे हुए हम राजनीतिक सत्ता की मृग-मरीचिका के पीछे क्यों दौड़ें? एक बार दक्षिणेश्वर मदिर में राधाकात की मूर्ति के कुछ आभूषण चोरी हो गए। किसी ने कहा यह देवता भी क्या है, जो अपने आभूषणों की भी रक्षा नहीं कर सका। श्री रामकृष्ण ने उसे डाँटकर कहा कि इस प्रकार के मूर्खतापूर्ण विचार रखना लज्जास्पद है। लक्ष्मी जिसकी दासी हो, वह भला इस प्रकार के व्यर्थ पत्थर और धातु के टुकड़ों को क्या महत्त्व देगा? इसी प्रकार हमें भी, जिनके सामने राष्ट्रजीवन की एकात्मदृष्टि है, राजनीतिक सत्ता के समान अस्थिर वस्तुओं के पीछे क्यों दौड़ना चाहिए?

राजनीतिक सत्ता उस सगठित समाज, जिसका हम निर्माण करना चाहते हैं की सस्कृति, एकात्मता और सामर्थ्य की आभा को केवल

परावर्तित करेगी, ठीक वैसे जैसे चद्रमा सूर्य की आभा को परावर्तित करता है। हम अपने समाज के चिरकालीन पालित समस्त आदर्शों के उसी प्रकार विकीर्ण केंद्र बनने के अभिलाषी हैं, जैसे कि वह अनिर्वचनीय शक्ति सूर्य से विकीर्ण होती है। तब राजकीय सत्ता, जो अपने जीवन को समाज से ग्रहण करती है, के लिए उसी आभा को परावर्तित करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न होगा।

उपनिषदों में एक कथा है, जो इस विचार को सुदरता से व्यक्त करती है। एक बार दैत्यों पर विजय प्राप्त कर लेने से देवताओं को अहकार हो गया। उस सर्वशक्तिमान ने सोचा कि उनका यह बढा हुआ अहकार दूर करना चाहिए। एक वृहद रूप धारण कर वह देवताओं के सम्मुख अचानक प्रकट हो गया। उस विचित्र अलौकिक आकृति को देखकर देवता चकित रह गए। वायु देवता को उस आकृति का परिचय प्राप्त करने को भेजा गया। उस आकृति ने अपने को यक्ष बताया और वायु के सामने एक घास का तिनका रखकर उसे हटाने की चुनौती दी। ससार को हिला देनेवाली अपनी शक्ति के साथ वायु उस तिनके को एक बाल बराबर भी नहीं खिसका सका। वह क्षुब्ध होकर वापस आया। तब अग्नि देवता को भेजा गया। वह भी उस छोटे से घास के तिनके को भस्म न कर सकने के कारण अपमानित होकर लौट आया। अत में देवताओं के राजा इद्र स्वय उसे देखने गए। किंतु वह विचित्र आकृति अचानक लुप्त हो गई। उस रहस्य को न सुलझा सकने के कारण इद्र भी लज्जा का अनुभव करता हुआ लौट आया। तब उसके मस्तिष्क में आया कि यक्ष के रूप में साक्षात् सर्वशक्तिमान ही था, जिसकी दया से उनमें से प्रत्येक को उसकी शक्ति की एक-एक चिगारी प्राप्त हुई है।

राष्ट्रीय प्रतिभा से सलग्न रहो

समाज की उस सर्वशक्तिमान सत्ता का निर्माण करना, जो सदा-सर्वदा के लिए बाह्य कारणों से उत्पन्न सकटों के बीच समाज को सुरक्षित रखे और राष्ट्रीय जीवन के समस्त क्षेत्रों को अनुप्राणित एव उद्भासित करे, यही महान लक्ष्य हमारे सामने है।

याद रखो कि प्राचीन भावना मरी नहीं है। वह राष्ट्रीय भावना, जो शताब्दियों तक होनेवाले आक्रमणों के धक्कों में जीवित रही और समय-समय पर जिसने आध्यात्मिक एव राष्ट्रीय वीरों को बार-बार उत्पन्न किया,

निश्चय ही पुन सक्रिय होगी। उन्हीं प्राचीन आदर्श पुरुषों के, उन्हीं सास्कृतिक दिव्यात्माओं के अनुरूप हम अपने जीवन का निर्माण करें। हम उसी गौरवशालिनी परपरा को पुनरुज्जीवित करें, जिसने वशिष्ठ, विश्वामित्र, चाणक्य, विद्यारण्य और समर्थ को उत्पन्न किया और जो श्रीराम, चद्रगुप्त, कृष्णदेव राय तथा शिवाजी के रूप में प्रस्फुटित हुई।

सरल एव लघु मार्ग तथा राजनीतिक प्रलोभनों के सम्मोहनों के बाह्य प्रचार के सपूर्ण प्रवेग में हम इसी दृढ विश्वास पर अडिग चट्टान के समान खडे रहें। अपने समाज को एक बार पुन उसकी राष्ट्रीय प्रतिभा के पथ पर ले जाकर भारत माता को विश्व की सास्कृतिक मार्गदर्शिका के रूप में पुन प्रतिष्ठित करने के अपने स्वप्न के प्रति हम सच्चे बने रहें। जब हम इस दृढ विश्वास पर हिमालय के समान अविचल भाव से खडे रहेंगे, तभी गगा और यमुना के समान राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन एव सास्कृतिक मूल्यों की पावन धाराएँ प्रवाहित होंगी। यह उदात्त कल्पना हमारे हृदयों को सदैव प्रेरित करती रहे तथा हम अपने को उस ऐतिहासिक जीवन-लक्ष्य के लिए तैयार करें, फिर चाहे कितना ही समय और शक्ति उसके लिए क्यों न समर्पित करनी पडे।

ट्र ट्र ट्र

हमे यह नही भूलना चाहिए कि ग्रामो मे रहनेवाला सामान्य जन ही है, जो हमारे राष्ट्र का वास्तविक आधार है। भूतकाल मे भी जब कभी हमारे समाज पर विदेशी आक्रमणो की विभीषिका आई तो यह असभ्य ग्रामीण' यह निरक्षर जनसमुदाय ही था जो अनेक कष्टो और बलिदानो को सहन करते हुए स्वदेश एव स्वधर्म के उद्धार हेतु उठ खडा हुआ।

— श्री गुरुजी

द्वितीय भाग राष्ट्र और उसकी समस्याएँ

१ हमारी मातृभूमि
(पूर्वार्ध)

एक महान कल्पना

यह है हमारी पवित्र भूमि भारत माता, जिसकी महत्ता के गीत देवताओं ने इन शब्दों में गाए हैं–

गायन्ति देवा किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते भवन्ति भूय पुरुषा सुरत्वात्।।
(विष्णु पुराण २-३-२४, ब्रह्म पुराण १६-२५)

(देवगण इस प्रकार गीत गाते हैं कि हम देवताओं से भी वे लोग धन्य हैं, जो स्वर्ग और अपवर्ग के लिए साधनभूत भारतभूमि में उत्पन्न हुए हैं।)

– यह भूमि, जिसे महायोगी अरविंद ने विश्व की दिव्य जननी के रूप में जीवंत आविष्कीकरण कर प्रत्यक्ष किया जगन्माता! आदिशक्ति! महामाया! महादुर्गा! और जिसने मूर्तरूप साकार होकर उसके दर्शन-पूजन का हमें अवसर प्रदान किया है।

– यह भूमि, जिसकी स्तुति हमारे दार्शनिक कवि रवींद्रनाथ ठाकुर ने 'देवि भुवन मनमोहिनी', 'नीलसिंधु जल धौत चरण तल' कहकर की है।

– यह भूमि, जिसका वंदन स्वतंत्रता के उद्‌घोषक कवि बंकिमचंद्र ने अपने अमर गीत 'वंदेमातरम्' में किया है। जिसने सहस्रों युवा हृदयों को स्फूर्त कर स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु आनंदपूर्वक फॉसी के तख्ते पर चढने की प्रेरणा दी– त्वं हि दुर्गा दश प्रहरण धारिणी।

– यह भूमि, जिसकी पूजा हमारे सभी संत-महात्माओं ने मातृभूमि,

धर्मभूमि, कर्मभूमि एव पुण्यभूमि के रूप में की। यह वास्तव में देव-भूमि और मोक्षभूमि है।

— यह भूमि, जो अनत काल से हमारी प्यारी पावन भारत माता है, जिसका नाम मात्र हमारे हृदयों को शुद्ध, सात्विक भक्ति की लहरों से आपूर्ण कर देता है।

अहो! यही तो हमारी सबकी माँ है, हमारी तेजस्विनी मातृभूमि!

मातृभूमि-पुरातन भावना

वास्तव में 'भारत' नाम ही निर्देश करता है कि यह हमारी माँ है। हमारी सास्कृतिक परपराओं के अनुसार किसी महिला को पुकारने की सम्मानपूर्ण रीति यह है कि उसे उसके पुत्र के नाम से पुकारा जाए। किसी महिला को अमुक की पत्नी अथवा अमुक की 'मिसेज' कहकर पुकारना पाश्चात्य रीति है। हम कहा करते हैं 'वह रामू की माँ है।' यही बात हमारी मातृ-भूमि भारत के नाम के विषय में भी लागू होती है। 'भरत' हमारे ज्येष्ठ भ्राता हैं, जिनका जन्म बहुत काल पूर्व हुआ था। वह उदार, श्रेष्ठगुण सपन्न और विजयिष्णु राजा थे एव हिदू पुरुषार्थ के भासमान आदर्श थे। जब किसी स्त्री के एक से अधिक पुत्र होते हैं, तब हम उसे उसकी ज्येष्ठ सतान के नाम से अथवा सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त सतान के नाम से पुकारते हैं। भरत ख्यातिप्राप्त थे, इसलिए यह भूमि उनकी माता कही गई। भारत, अर्थात् सभी हिदुओं की माता।

किंतु कुछ लोग कहते हैं कि हिदुओं को मातृभूमि की कल्पना का ज्ञान नहीं था। वे परस्पर युद्धरत विभिन्न कुलों में विभाजित थे। देशप्रेम, जो कि एक मातृभूमि के लिए भक्ति की भावना होती है, से वे अपरिचित थे। उनमें कुछ सीमा तक यह भावना थी भी तो एक विशिष्ट भू-खड मात्र के लिए थी। वह हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक, सपूर्ण देश के लिए जैसा वह आज हमें प्राप्त है, नहीं थी। आज के प्रमुख व्यक्ति भी समय-समय पर घोषणा करते रहे हैं कि यह हमारा एक महाद्वीप अथवा उपमहाद्वीप है, जिसमें विभिन्न प्रकार की जलवायु और विभिन्न प्रकार की भूमि है। यह राष्ट्रों का झुड है और एक देश कहलाने योग्य नहीं है। ये विचित्र विश्वास हमारे राष्ट्र के मस्तिष्क में किस प्रकार फैले?

कुटिल विदेशी अग्रेज ने अपने अतस्थ साम्राज्यवादी प्रयोजनों की सिद्धि के लिए हमारी जनता में इस प्रकार के सभी दुष्ट विश्वास प्रचारित

किए, जिससे देशभक्ति की भावना एव अपनी मातृ-भू के समग्र व्यक्तित्व के प्रति कर्त्तव्य की भावना का ह्रास हुआ। उसने यह प्रच्छन्न रूप से कुटिलतापूर्वक प्रचार किया कि हम कभी एक राष्ट्र नहीं थे या हम कभी इस भूमि की सतान नहीं थे, अपितु हम नवोदित हैं, जिनका इस देश पर आक्राताओं के झुडों में आनेवाले मुसलमान और अग्रेजों से अधिक अधिकार नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि इस देश का तथाकथित शिक्षित जन इस चाल में फँस गया।

किंतु वास्तविकता तो यह है कि पश्चिम ने जब कच्चे मास के स्थान पर भुना मास खाना सीखा था, उससे बहुत पूर्व हम एक राष्ट्र थे और थी हमारी एक मातृभूमि तथा समुद्रपर्यतभूमि में परिव्याप्त था एक राष्ट्र। 'पृथिव्यायै समुद्रपर्यताया एकराट्' - हमारे वेदों का यह एक प्रिय *उद्घोष है, युगों से हमारे सामने इसका स्पष्ट स्वरूप रहा है 'आसेतुहिमालय'।* हमारे पूर्वजों ने बहुत काल पूर्व कहा है-

उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारत नाम भारती यत्र सन्तति ।।
(विष्णु पुराण २-३-१, ब्रह्म पुराण १६-१)

(पृथ्वी का यह भू-भाग, जो समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में है, महान भारत कहलाता है तथा उसकी सतानों को भारतीय कहते हैं।)

हिमालय उत्तर, दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम में फैली अपनी शाखा-प्रशाखाओं के साथ तथा इन महती शाखाओं के अतर्गत प्रदेशों के साथ हमारा रहा है। धार्मिक एव अन्य भावुकताओं को छोडकर यह एक शुद्ध व्यावहारिक व सामान्य बुद्धि की बात है कि कोई भी शक्तिशाली और बुद्धिमान राष्ट्र पर्वतों की चोटियों को अपनी सीमा नहीं बनाएगा। यह तो उसके लिए आत्मघाती होगा। हमारे पूर्वजों ने हिमालय के उत्तराचल में हमारी तीथयात्राओं के लिए अनेक स्थानों की स्थापना कर उन भू-भागों को जागृत सीमा का स्वरूप प्रदान किया था। तिब्बत या त्रिविष्टप, जिसे आज हमारे नेता चीन का तिब्बतीय प्रदेश कहते हैं, देवताओं का स्थान था। कैलास पर तो परमेश्वर का निवास है। मानसरोवर तीर्थयात्रा के लिए एक अन्य पवित्र स्थान था, जो हमारी गगा, सिधु और ब्रह्मपुत्र जैसी पवित्र नदियों का उद्गम माना जाता है।

हमारे महान राष्ट्रकवि कालिदास ने हिमालय का वर्णन इस प्रकार किया है—

> अस्त्युत्तरस्या दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज ।
> पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थित पृथिव्या इव मानदण्ड ।।
>
> (कुमारसभव, प्रथम सर्ग-१)

उत्तर दिशा में देवतात्मा हिमालय नाम का पर्वतराज है, जिसकी भुजाएँ पूर्व और पश्चिम में समुद्रपर्यंत फैली हुई हैं और जो पृथ्वी के मानदड की तरह स्थित है।

हमारे राजनीति शास्त्र में जिनका वचन आप्त प्रमाण है, उन चाणक्य का वक्तव्य है—

> हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीन योजनसहस्रपरिमाणाम्

(उत्तर में समुद्र से हिमालयपर्यंत इस देश की लबाई एक सहस्र योजन है)।

इसका अर्थ यही है कि कवि कालिदास का वर्णन राजनीति-विशारद चाणक्य के वक्तव्य के अनुरूप है और हमारे लिए हमारी मातृभूमि की विशालता का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है।

महान चित्र

हमारे महाकाव्य तथा पुराण भी हमारी मातृ-भू की वैसी ही विशाल मूर्ति उपस्थित करते हैं। अफगानिस्तान हमारा प्राचीन उपगणस्थान था। महाभारत का शल्य वहीं का था। वर्तमान काबुल और कन्दहार, गधार थे। कौरवों की माता गाधारी वहीं की थी। ईरान तक मूलत आर्यभूमि ही है। इसका अतिम राजा रजा शाह पहलवी इस्लाम से अधिक आर्य सिद्धातों का अनुसरण करनेवाला था। पारसियों का पवित्र ग्रथ 'जेंदा वेस्ता' बहुत कुछ ऋग्वेद है। पूर्व दिशा में बर्मा हमारा ब्रह्मदेश है। महाभारत में इरावत का उल्लेख आया है, वर्तमान इरावदी घाटी का उस महायुद्ध से सबध था। महाभारत में असम का उल्लेख 'प्राग्ज्योतिप के नाम से हुआ है, क्योंकि सूर्य का प्रथमोदय वहीं होता है। दक्षिण में लका भी निकटतम सूत्र में आवद्ध है और उसे कभी भी मुख्य भूमि से भिन्न नहीं माना गया।

यह था हमारी मातृभूमि का चित्र, जिसमें हिमालय के पश्चिम में आर्यान (ईरान) तथा पूर्व में शृगपुर (सिंगापुर) की ओर दो समुद्रों में अपनी

दोनों भुजाओं को अवगाहित कर रहा है। साथ ही दक्षिण महासागर में उसके पवित्र चरणों पर चढाई गई कमल की पखुडी के समान विद्यमान है लका (सीलोन)। मातृभूमि का यह चित्र सहस्रों वर्ष से सतत हमारे जनमानस में देदीप्यमान है। आज भी हिंदू प्रतिदिन स्नान करते हुए गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिधु और कावेरी जैसी पवित्र नदियों का आह्वान करता है–

गंगे च यमुने चैव, गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु।।

(हे गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिधु तथा कावेरी! तुम्हारा जल हमारे इस स्नान के जल में सम्मिलित हो।)

यह भी भक्ति का एक पाठ है, क्योंकि इसके द्वारा हमें यह अनुभूति कराई जाती है कि इन पवित्र नदियों के एक बूँद जल में भी हमारे समस्त पापों को धो डालने की शक्ति है।

हमारी जाति के एक महानतम व्यक्ति रामचद्र जी थे, जिन्होंने इस जाति के चरित्र एव सस्कृति पर एक अमिट छाप छोडी है। उनके महान गुण, यथा– निराकुलता, उदारचितता, ज्ञानगाभीर्य एव अनुभूतियों की तुलना समुद्र की अप्रमेय गहराई तथा शातता से की गई है और उनकी अदम्य शक्ति एव धैर्य की तुलना महान और अजेय हिमालय से की गई है– 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवान इव' (वाल्मीकि रामायण, बालकाड, प्रथम सर्ग, श्लोक १७)।

क्या हमें ज्ञात नहीं कि हमारी मातृभूमि एक ओर हिमालय से और शेष तीन ओर समुद्र से परिवेष्टित है? इस प्रकार राम के आदर्श व्यक्तित्व में हमारी मातृभूमि को उसकी सपूर्णता में दृष्टिगत कराया गया है। अनेक प्रकार से हमारी इस समग्र अखड मातृभूमि को पूजनीय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके खंडित होने का कोई भी विचार हमारे लिए असह्य है।

इष्ट भूमि

हमारे लिए यह सपूर्ण भूमि तपोभूमि है। प्राचीन साहित्य में एक उद्बोधक प्रसग आया है। एक बार एक प्रश्न किया गया कि योग्य फल की प्राप्ति हेतु तप और यज्ञ करने के लिए कौन-सा देश शुद्ध एव पवित्र है। चरम सत्य की अनुभूति के लिए आदर्श स्थान कौन-सा है? उत्तर दिया गया कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वही स्थान उपयुक्त है, जहाँ

कृष्णसार हिरन मिलते हैं। पशु-विज्ञान का कोई भी विद्यार्थी आपको बता सकता है कि इस विशिष्ट प्रकार का हिरन केवल हमारे ही देश में मिलता है, ससार में और कहीं भी नहीं। इससे क्या प्रगट होता है? हमारे पूर्वजों का विश्वास था कि सपूर्ण ससार में यही एक ऐसा पवित्रतम देश है, जहाँ छोटा-सा सत्कर्म भी सैंकडों, हजारों गुना अधिक लाभदायी होता है। स्वामी विवेकानद ने कहा है कि 'यदि पृथ्वी पर कोई ऐसी भूमि है, जिसे मगलदायिनी पुण्यभूमि कहा जा सकता है, जहाँ ईश्वर की ओर अग्रसर होनेवाली प्रत्येक आत्मा को अपना अतिम आश्रयस्थल प्राप्त करने के लिए आना ही पडता है, तो वह भारत है।'

निस्सशय रूप से ईश्वरानुभूति हेतु निर्धारित यही देश है। यह भावनाओं का उद्रेक मात्र नहीं, वरन् हमारा अटल विश्वास है। कुछ वर्षों पूर्व हमारे वृत्त-पत्रों ने एक जर्मन की गाथा प्रकाशित की थी, जो आध्यात्मिक अभिलाषी के रूप में हमारे देश में आया था। उसने सन्यास ग्रहण किया और एक परिव्राजक की भाँति उग्र तपस्या की, किंतु दीर्घ काल की तपस्या के पश्चात् भी वह ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सका। आत्मनिरीक्षण के द्वारा उसे विश्वास हुआ कि उसका शरीर, जो पश्चिम की तमोगुणी जलवायु में उत्पन्न और पोषित हुआ है, ईश्वरानुभूति के लिए अनुपयुक्त है। अत वह हरिद्वार गया और अपना शरीर पवित्र गगा को अर्पण कर दिया। वह एक छोटा-सा पत्र छोड गया, जिसमें लिखा था- 'मैं स्वय अपने शरीर को त्याग रहा हूँ। उस मगलमय की कृपा से गगा के पावन जल में अपने शरीर को अर्पित करने से मुझे भारत में पुनर्जन्म का सौभाग्य प्राप्त हो और उस नवीन निर्मल शरीर से मैं ईश्वर का साक्षात्कार करने योग्य हो जाऊँ।

यदि हम ससार के अन्य विविध पथों और सप्रदायों के सस्थापकों के जीवन-चरित्रों का अध्ययन करते हैं, तो हम अपनी मातृभूमि के इस विशिष्ट स्वरूप के विषय में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। महान सत ईसा के सबध में भी ऐसा कहीं कोई उल्लेख नहीं है कि उन्होंने वास्तविक रूप से ईश्वर के दर्शन किए। उन्हें केवल देवदूत ही मिले तथा एक बार शैतान मिला। जब उन्हें क्रॉस पर टाँगा गया, तब तो उन्हें कुछ काल के लिए ईश्वर की दया के सबध में भी सदेह उत्पन्न हो गया था जिसके कारण उन्हें अतीव वेदना हुई। उनका यह उद्गार निकल पडा 'हे मेरे ईश्वर, तूने मुझे क्यों छोड दिया?'

इस्लाम का सस्थापक भी शक्तिसपन्न व्यक्ति था। वह उन लोगों को सगठित कर सका, जो भेद, विरोध एव पक्ष-प्रतिपक्ष की कलह के कारण छिन्न-विच्छिन्न थे। उसने उनमें प्रगति की आकाक्षा को जागृत किया तथा साम्राज्य निर्माण करने की शक्ति का उनमें सगठन किया। किंतु वह भी केवल जेब्राइल से मिला और उसने अनुभव किया तथा कुछ दिव्य ध्वनियों का श्रवण किया। उन्होंने ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किए।

यह वरदान तो केवल इसी भूमि के पुत्रों के लिए है कि वे ईश्वर को उसकी सपूर्ण आभा के साथ साक्षात् करें तथा अनुभव करें। एक समय था जब अन्य जातियाँ पर्वत, कदराओं और वनों के बाहर नहीं निकल पाई थीं तब वैदिक ऋषियों ने मानव को 'अमृत-पुत्र' के नाम से सबोधित किया– 'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थु। (ऋग्वेद १०-१३-१) और धीर-गभीर वाणी से उद्घोष किया–

वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्यवर्ण तमस परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पन्था विद्यतेऽयनाय।।
(यजुर्वेद, वाजसनेयी सहिता ३१-१८)

(मैं उस महिमावान पुरुष को जानता हूँ जो सूर्य के वर्ण का है और अधकार से परे है। उसको जानने के बाद जन्म-मृत्यु का बधन नहीं रह जाता। मोक्ष की प्राप्ति का अन्य रास्ता नहीं है।) कितना स्पष्ट और सशय से रहित भाव है इन शब्दों में।

परम आत्मविश्वास एव आत्मानुभूति की उपर्युक्त अभिव्यक्तियों के समकक्ष विश्व-वाङ्मय में अन्य कोई अभिव्यक्ति ऐसी नहीं है। फिर आपको उस श्रीकृष्ण के समकक्ष दूसरा विश्व में कहाँ मिलेगा, जो मानवता के लिए आत्म-जागरण के अमर सदेश– श्रीमद्भगवद्गीता में स्वय को उत्तम पुरुष 'मैं' में ही परमेश्वर घोषित करते हैं।

अविच्छिन्न परपरा

हमारे देश का यह अनोखा स्वरूप प्राचीन परपरा तक ही सीमित नहीं है। अधुनातन काल में भी नरेंद्र (स्वामी विवेकानद) का श्रीरामकृष्ण से ऐतिहासिक मिलन का उदाहरण है। उन्होंने युवावस्था में ही, जब वे कालेज के विद्यार्थी थे, पौर्वात्य एव पाश्चात्य दर्शनों में अवगाहन किया था, किंतु उनकी जिज्ञासु आत्मा सतुष्ट नहीं हुई। वे अपने समय के अनेकों विद्वानों और पुण्य पुरुषों से मिले। वे भी उनकी आत्मा की पिपासा को

शात नहीं कर सके। उन्हें ज्ञात हुआ कि दक्षिणेश्वर मदिर में एक परमहस रहते हैं। वे उनके पास गए और जो प्रश्न वर्षो से उनके मस्तिष्क में मॅडरा रहा था, उसे सीधे शब्दों में उनके समक्ष रख दिया—

'महाशय, आपने ईश्वर को देखा है?' एक क्षण के भी सकोच के विना श्री रामकृष्ण परमहस ने उत्तर दिया, 'हॉ, में उसे ऐसे ही देखता हूँ, जैसे यहाँ तुम्हें देख रहा हूँ। मैं उसे तुम्हें भी दिखा सकता हूँ।' श्रीरामकृष्ण ने नरेंद्र के प्रति अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण भी की।

जैसा कि हमें ज्ञात है, नरेंद्र एक अति उच्च मेधा एव प्रचड इच्छाशक्तिसपन्न युवक थे। वे ऐसे नहीं थे, जिन्हें सम्मोहन द्वारा किन्हीं बातों पर अधविश्वास करा लिया जाए, किंतु उन्हें जब साक्षात् परमात्मा के सम्मुख खडा कर दिया गया, तब ईश्वर की सत्यता में विश्वास किए बिना वह नहीं रह सके। इस प्रकार की है ईश्वरभक्तों की हमारी जीवत परपरा, जिसने हमारे देश का नाम ईश्वरानुभूति की भूमि, धर्मभूमि एव मोक्षभूमि के रूप में सतत उन्नत रखा है।

कोइ आश्चय नहीं कि ऐसा देश, जिसकी धूलि का एक-एक कण दिव्यता से ओतप्रोत है, हमारे लिए पावनतम है, हमारी पूर्ण श्रद्धा का केंद्र है ओर यह श्रद्धा की अनुभूति सपूर्ण देश के लिए है। उसके किसी एक भाग मात्र के लिए नहीं। शिव का भक्त काशी से रामेश्वरम् जाता है और विष्णु के विभिन्न आकारों एव अवतारों का भक्त इस सपूर्ण देश की चतुर्दिक यात्रा करता है। यदि वह अद्वैतवादी है तो जगद्गुरु शकराचार्य के चारों आश्रम, जो प्रहरी के समान देश की चारों सीमाओं पर खडे हैं, उसे चारों दिशाओं में ले जाते हैं। यदि वह शाक्त है— उस शक्ति का पुजारी जो विश्व की दिव्य मॉ है, तो उसकी तीर्थयात्रा के लिए बावन स्थान हैं, जो बलूचिस्तान में हिंगुलाज से असम में कामाक्षीपर्यत और हिमाचल प्रदेश में ज्वालामुखी से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैले हुए हैं। इसका यही अर्थ है कि यह देश विश्व की जननी का दिव्य एव व्यक्त स्वरूप है।

दिव्य माता

हमारे लिए इस भूमि से पवित्रतर और कुछ नहीं हो सकता। इस भूमि की धूलि का एक-एक कण जड और चेतन प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक काष्ठ और प्रस्तर, प्रत्येक वृक्ष एव नदी हमारे लिए पवित्र है। इस भूमि के बच्चे के हृदय में यह प्रगाढ भक्ति सदैव जीवित रखने हेतु ही पूर्व काल में

यहाँ इतने विधि-विधानों एव लोकाचारों की स्थापना हुई थी। नित्य होनेवाली विविध धार्मिक क्रियाओं में विशिष्ट स्थान के उल्लेख के साथ भारतवर्ष की समग्र विशालता का सबध स्थापित किया जाता है।

'भारतवर्षे भरतखडे जम्बू द्वीपे '

हमारे सभी महत्त्व के धार्मिक सस्कार भूमि-पूजन से आरभ होते हैं। यह एक प्रथा है कि प्रात काल में जैसे ही हिंदू निद्रा को त्यागता है, सर्वप्रथम यह पृथ्वी माता से इस बात के लिए क्षमायाचना करता है कि दिन-भर वह उसे अपने पैरों से स्पर्श करने के लिए विवश है।

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमडले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्य पादस्पर्श क्षमस्व मे।।

(देवि! समुद्र तुम्हारा परिधान है, पर्वत स्तनमडल हैं, जिनका वात्सल्य-रस नदियों में प्रवाहित हो रहा है। हे विष्णु-पत्नी! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। मेरे पैरों के स्पश होने की धृष्टता क्षमा करना।)

यह एक साधारण कार्य है, किंतु इसके द्वारा प्रत्येक प्रात काल हमारे मस्तिष्क में इस माता की भक्ति का विचार आता है, जो दिव्य माँ आदिशक्ति की अति उदात्त भक्ति का ही भाव है। यह प्रशिक्षण इतनी गहराइ तक पहुँचा हुआ है कि सामान्य दैनिक कार्यों में भी हमें उस अनुभूति की झलक मिल जाती है। जब कोई बच्चा खेल-खेल में भूमि को रौंदता है तो माता कहती है– 'पुत्र, धरती माता को ठोकर मत मारो।' अथवा यदि स्वभावानुसार वह पृथ्वी को नाखून से कुरेदता है तो वह कहती है– 'प्यारे बच्चे, यह मत करो। पृथ्वी माँ को कष्ट होगा।' एक साधारण किसान भी जब खेत में हल जोतता हे, तो पहले क्षमा याचना करता है। ऐसी है हमारी जीवत-परपरा।

यह देश हमारे लिए कभी निर्जीव अचेतन पदार्थ नहीं रहा। सदैव समान भाव से अपने बच्चों के लिए सजीव दिव्य माँ के रूप में रहा है, चाहे वे बच्चे निम्नतम वर्ग के हों अथवा उच्चतम वर्ग के।

स्वामी विवेकानद जी जब इग्लैंड से भारत के लिए चलने लगे तो उनसे पूछा गया कि इग्लैंड और अमरीका के समान समृद्ध देशों की यात्रा करने के पश्चात् अब अपनी मातृभूमि के सबध में उनके क्या विचार हैं? उन्होंने कहा 'भारत से में पहले प्यार करता था, किंतु अब तो उसकी धलि

का एक-एक कण मेरे लिए अत्यंत पवित्र है, मेरे लिए वह तीर्थस्थान हो गया है।'

उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस ने तो एक व्यक्ति की एक बार इसलिए कठोरतापूर्वक भर्त्सना की थी कि वह शौच के पश्चात् गंगा जी में प्रक्षालनार्थ जा रहा था। उन्होंने उससे कहा– 'दिव्य जल को अपने मल से अपवित्र करना तुम्हारे लिए कितना अनुचित है। गंगा-वारि ब्रह्म-वारि है।'

इस प्रकार की रही है हमारी भूमि के दिव्य मातृत्व की सजीव अनुभूति, जो उसके महान पुत्रों के स्वभाव का एक अंग बन गई है, जो हमारे समाज के प्रत्येक वर्ग में परिव्याप्त है।

वास्तव में वह सदैव हमारे राष्ट्रजीवन की मध्यवर्ती कल्पना रही है। उसने अपनी मिट्टी, हवा, जल तथा अन्यान्य विविध पदार्थों, जो सुख और पोषण के लिए हैं, से माँ जैसा हमारा पोषण किया है। उत्तर में अलंघ्य हिमालय के रूप में उसने पिता के समान हमें संरक्षित किया है और देश के विभिन्न हिस्सों में फैली अरावली, विंध्य, सह्याद्रि आदि गिरिशृंखलाओं ने भूतकाल में स्वतंत्रता के शूर-सेनानियों को रहने के लिए जगह और बचने के लिए व्यवस्था दी है तथा धर्म-भूमि के रूप में उसने हमारे आध्यात्मिक गुरु का स्थान लिया है।

अस्तु, हमारी मातृभूमि ने, एक रूप में ही माता, पिता एवं गुरु तीनों का कर्त्तव्य हमारे प्रति पूर्ण किया है।

ॐ ॐ ॐ

२ हमारी मातृभूमि
(उत्तरार्ध)

हमारे देश में कुछ अति श्रेष्ठ ख्यातिप्राप्त महानुभाव हैं, जो बनावटी सर्वज्ञता के साथ कहा करते हैं कि यह तथाकथित मातृभूमि पत्थर और मिट्टी के अतिरिक्त और है ही क्या? ऐसे व्यक्ति अनुभव करते हैं कि बुद्धि ही सब कुछ है। उनके बौद्धिक तर्क के अनुसार अंततः यह देश एक अचेतन फैला हुआ जड़ भूखंड मात्र है। किंतु बौद्धिक तर्क की भी अपनी

सीमाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए- मनुष्य-शरीर भी भौतिक ही तो है। अपनी माता का शरीर भी उतना ही भौतिक है, जितना अन्य किसी स्त्री का। तब क्यों किसी व्यक्ति को अपनी माँ को अन्य स्त्रियों से भिन्न समझना चाहिए? उसके लिए भक्ति क्यों होनी चाहिए? बुद्धिवादी के पास इसका कोई उत्तर नहीं।

एक अन्य उदाहरण लीजिए। मनुष्य-शरीर को अपने पोषण के लिए माड (स्टार्च), प्रत्यामिन (प्रोटीन), चिकनाई और जल की आवश्यकता होती है और यह खाद्य तत्त्व मनुष्य के मास में आवश्यक मात्रा में प्राप्त होते हैं। अतत जीवशास्त्र के अनुसार मनुष्य भी मास, रक्त और अस्थियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अत अपने पडोसी को क्यों न खाया जाए? यदि कोई व्यक्ति यह कहता है तो उसको कोई तर्कशास्त्री भले कह ले, परतु उसे सभ्य तो निश्चय ही नहीं कहा जाएगा, चाहे वह कितना ही विद्वान क्यों न हो। इस प्रकार की बुद्धिमत्ता नर-मासभक्षण की ओर ही ले जाएगी। रावण एक विद्वान था, किंतु था तो बर्बर ही। अत केवल बुद्धि ही पर्याप्त नहीं होती। मनुष्य में यह भी योग्यता होनी चाहिए कि वह हृदय की उदात्ततर भावनाओं की भी अनुभूति कर सके।

मातृ-भावना का विकास

पत्थर और मिट्टी में मातृ-भावना का विकास किस प्रकार हुआ? हम जानते हैं कि विभिन्न प्रकार की सजीव सृष्टि में जैसे-जैसे विकास और उन्नतावस्था आती जाती है, वैसे-वैसे उन वस्तुओं में, जो उनका पोषण करती हैं वे मातृत्व की भावना का आह्वान करना आरभ कर देते हैं, चाहे वे वस्तुएँ चेतन हों अथवा जड। उदाहरण के लिए मेंढक या सर्प को लीजिए उन्हें माँ का कोई विचार नहीं होता। वे यह भी नहीं जानते कि उनकी सतति के साथ क्या घटित होता है। उनमें सतान और माता एक-दूसरे को इस सबध के आधार पर नहीं देखते। क्रमानुसार ज्यों-ज्यों जीवन विकसित होता है, हम स्तनपायी प्राणियों तक आते हैं, जहाँ माता अपने बच्चों को बचपन में दूध पिलाकर पालती है। चिडिया अपने अडों को सेती है तथा जब तक उसके बच्चे उडने नहीं लगते, तब तक उनकी देख-रेख करती है। जब माँ की उपयोगिता का अधिक अनुभव नहीं होता, तब वे बच्चे अपनी माँ को भूल जाते हैं और एक-दूसरे से नितात अनजाने से हो जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि इस विकासक्रम में मनुष्य चरम

अवस्था पर है। यदि वह सुसंस्कृत है तो माता के प्रति उसका प्रेम एवं सम्मान सतत बना रहता है, चाहे वह उसके लिए अनुपयोगी ही क्यों न हो जाएँ वास्तव में तो उसके अति वृद्ध, अंधी तथा शारीरिक दृष्टि से नितांत अनुपयोगी हो जाने पर वह उसका और अधिक सेवा-सम्मान करेगा।

ज्यों-ज्यों मनुष्य-जीवन विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों यह मातृ-भावना भी अधिकाधिक व्यापक एवं उदात्त स्वरूप धारण करती जाती है। जब मनुष्य विवेचक बुद्धि से अपने चारों ओर देखता है, तो उसे कितनी ही अन्य चीजें दिखाई देती हैं, जिनका ऋण उसपर है। वह उन्हें भी माँ के रूप में देखना आरंभ कर देता है। वह नदियों को देखता है, जो उसे जल तथा भोजन देती हैं। वह उन्हें 'माँ' कहकर पुकारने लगता है। जब वह अपनी माता के दुग्ध पर निर्भरता की अवस्था से बाहर हो जाता है, तब गौ की ओर देखता है, जो जीवन-भर अपने दूध से उसका पोषण करती है। वह उसे 'गौ-माता' कहने लगता है। बाद में वह ज्ञान की उस अवस्था तक पहुँच जाता है, जब वह देखता है कि यह पृथ्वी माता है, जो उसका पोषण और संरक्षण करती है और अंत समय भी मृत्यु के पश्चात् उसे अपने हृदय में स्थान देती है। उसे यह ज्ञान होता है कि यह उसकी सबसे श्रेष्ठ माता है। इस प्रकार अपनी जन्मभूमि को माता के रूप में देखना विकास की एक अति उच्च अवस्था का लक्षण है। वेदों ने घोषणा की है– 'माता भूमि पुत्रोऽहम् पृथिव्या।' (अथर्ववेद, १२-१-१२)

सक्रिय भक्ति चाहिए

अतएव यह हमारा कर्तव्य हो जाता है कि अपने देश के प्रति अति उच्च विकसित दिव्य मातृभावना को जागृत बनाए रखें। अब हम विचार करें कि हमें उसके प्रति अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति किस प्रकार करनी है? इसके दो मार्ग हैं। एक तो औपचारिक है, जिसमें पुष्प, आरती, स्तुति, प्रार्थना आदि से पूजन होता है। लोग धार्मिक भक्तिभावना से आज भी ऐसा करते हैं। वे संपूर्ण देश में तीर्थयात्रा करने जाते हैं, धार्मिक विधि-विधानों का अनुसरण करते हैं, स्तुति, अर्चना करते हैं, फूल चढाते हैं तथा विभिन्न पवित्र नदियों में स्नान करते हैं किंतु वे यह सब कुछ व्यक्तिगत धार्मिक-पुण्य प्राप्त करने के उद्देश्य से ही करते हैं। यह एक प्रकार से भक्ति का निष्क्रिय स्वरूप है।

भक्ति का सक्रिय स्वरूप है– व्यावहारिक राष्ट्रजीवन में इस

मातृभूमि के प्रत्येक कण के स्वातत्र्य और सम्मान की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व अर्पण करने की भावना की अभिव्यक्ति। इस ठोस वास्तविक ससार में इस सक्रिय अभिव्यक्ति का महत्त्व है। इस प्रकार की भक्ति से देदीप्यमान हृदय अपने भक्तिभाजन मातृदेश के प्रति छोटी से छोटी अवज्ञा भी सहन नहीं कर सकता। वह भीम रूप धारणकर तब तक चैन नहीं लेता, जब तक उस अपमान के लिए उत्तरदायी आक्रामक तत्त्वों का ऐसा उच्छेद नहीं कर देता कि वे पुन दूसरी बार इस प्रकार का पाप न कर सकें। भूतकाल में किए हुए सभी अपमानों एव अवमाननाओं को मिटाने के लिए एक दैवी असतोष की अग्नि उसके हृदय में सतत जलती रहती है।

इस सक्रिय विजयिष्णु भावना के अभाव में किसी श्रेष्ठ कार्य के लिए किया जानेवाला समर्पण भी कोई विशेष उपयोग का नहीं होगा। इस कठोर समरागण में, जहाँ नित्य प्रति दुष्ट शक्तियों से सामना होता रहता है, भोली सज्जनता और निरीह सच्चरित्रता को, जिसे सत्वभाव का निष्क्रिय रूप कहना चाहिए, एक क्षण भी सघर्ष में टिक पाना कठिन है। इसलिए हम देखते हैं कि सपूर्ण धार्मिक निष्ठा, भलाई और ईश्वरभक्ति होते हुए भी पिछले सहस्र वर्षों से हम उन विदेशी आक्राताओं के पैरों तले कुचले जा रहे हैं, जो भलाई तथा उत्तम गुणों से नितात अपरिचित हैं, परतु जिनमें पराक्रमी कार्यो के लिए जोश तथा सगठित प्रयत्न हैं, अर्थात् जो रजोगुण से पूर्ण हैं। हमारा इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जब भी हमारे समाज में विजयिष्णु भावना का समावेश हुआ और वह सत्वगुण के सक्रिय स्वरूप से निविष्ट हुआ तो राक्षसी शत्रुओं के सभी साम्राज्य चकनाचूर होते दिखाई दिए।

हमारे पुराणों की भी यही शिक्षा है, जिनमें देव और असुरों के युद्धों की कहानियाँ वर्णित हैं। वहाँ प्राय देखने के लिए मिलता है कि देवता लोग अपनी दैवी शक्तियों के होते हुए भी सगठित तथा आक्रामक राक्षसों द्वारा परास्त होते हैं। वे तभी राक्षसों पर विजय प्राप्त कर पाते हैं, जब वे वीरतापूर्ण सक्रियता से अपने जीवन को परिपूर्ण बनाते हैं। निश्चय ही स्फूर्ति, क्रियाशीलता एव पराक्रम ही ससार पर शासन करता है। 'वीर भोग्या वसुन्धरा'— इस कथन में ससार के सफल जीवन का सपूर्ण तत्वज्ञान निहित है।

क्या हम जीवित हैं?

क्या आज हमारे हृदयों में अपनी मातृभूमि की भक्ति का यह पराक्रमी एव ओजस्वी भाव जीवित है? यदि यह भाव हमारे नेताओं और

सामान्य जनता में होता तो क्या देश का विभाजन घटित हो सकता था? क्या वे अंग्रेज तथा मुसलमानों के सभी षड्यंत्रों के विरोध में पराक्रम के साथ सभी समझौतों को ठुकराते हुए एक पुरुष के समान खड़े नहीं हो जाते? और क्या अपनी मातृभूमि की पवित्र अखडता की सुरक्षा हेतु अपने रक्त की एक-एक बूँद देने के लिए उद्यत न हो जाते? खेद है कि यह घटित नहीं हुआ। उल्टे नेताओं की प्रेरणा से जनता तथाकथित स्वतत्रता के आगमन पर उत्सव मनाने में व्यस्त हो गई।

कुछ ऐसे भी महानुभाव हैं, जो कहते हैं कि 'बीती ताहि बिसारि दे'। अब पुराने निर्जीव विवादास्पद प्रश्नों को उठाने से क्या लाभ? अततोगत्वा विभाजन तो अब एक निर्णीत सत्य है।' यह कैसे सभव हो सकता है? क्या कोई पुत्र, जब उसकी विकलागी माता उसकी ओर प्रतिदिन दैन्यपूर्ण दृष्टि से ताक रही हो, इसे भूलकर शात होकर बैठ सकता है? भूल सकता है? भला भूलना कैसे सभव है? सच्चा पुत्र तो कभी भी नहीं भूल सकता और तब तक शात भी नहीं बैठ सकता जब तक उसकी माँ की अखड प्रतिमा पुन स्थापित न हो जाए। यदि विभाजन निर्णीत सत्य है, तो हम उसे अनिर्णीत करने के लिए उपस्थित हैं। वास्तव में इस ससार में कोई भी वस्तु निर्णीत सत्य नहीं होती। वस्तुएँ मनुष्य की इच्छानुसार निर्णीत या अनिर्णीत हुआ करती हैं और मनुष्य की इच्छा अपने उस कार्य के प्रति समर्पण के साथ, जिसे उसने पवित्र और श्रेष्ठ माना है, फौलाद जैसी दृढ बन जाती है।

कुछ अन्य लोग भी हैं, जो विभाजन को यह कहकर न्याय्य सिद्ध करते हैं कि आखिर हिंदू और मुसलमान 'भाई ही तो हैं। विभाजन उनकी सपत्ति का आपसी बँटवारा मात्र है। किंतु क्या हमने ऐसे बच्चे कहीं सुने हैं, जिन्होंने अपनी माता को 'सयुक्त सपत्ति कहकर काट डाला हो? यह कितना घोर पतन है कि मातृभूमि एक सौदे की वस्तु मात्र बन गई है, आनद-भोग के लिए एक स्थान मात्र किंवा केवल एक होटल के समान भोग-भूमि। उसमें धर्मभूमि, कर्मभूमि और पुण्यभूमि का कोई भाव नहीं रहा है। इस जघन्य वृत्ति के कारण ही हमने माता के अग काटकर फेंक दिए और अपने लाखों भाइयों के रक्तप्रवाह के रूप में उसका मूल्य चुकाया। आज भी विभाजन की दु खद बात का अत नहीं हो रहा है। कश्मीर का विभाजन हो गया और अब यह प्रतीत होता है कि नागालैंड भी उसी रास्ते पर है।

भाव के अभाव का परिणाम

हमारे देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो हमारी मातृभूमि पर आक्रमण होने या आक्रमण का संकट उपस्थित होने पर उपेक्षापूर्वक कह देते हैं– 'अच्छा, इसे दे डालो।' यदि चीनी लद्दाख के कुछ भाग पर अधिकार कर लेते हैं तो वे कहते हैं– 'इसे जाने दो, यहाँ तो घास का तिनका भी नहीं उगता।' कुछ दिनों पूर्व नेफा के संबंध में एक प्रच्छन्न स्वरूप का प्रचार हुआ था, जिसमें यह ध्वनित किया गया था कि वह तो एक परित्यक्त स्थान है, जो मनुष्य के निवास के अयोग्य है तथा जिसमें विषधर सर्प व जोंक भरी हुई हैं, जो हमारी सेना के अधिकारियों के कंठ में घुसकर उनका रक्त चूस लेंगी। हमारे वृत्त-पत्रों, जिनका यह उत्तरदायित्व होता है कि समाज को शिक्षित कर प्रखर देशभक्ति की भावना लोगों के मस्तिष्क में जागृत करें, द्वारा इस असत्य का प्रचार किया गया, जिसका परिणाम जनता के मस्तिष्क में अपने ही एक भूभाग के लिए घृणा उत्पन्न होने में ही हो सकता है। यही कहानी कच्छ के रन के विषय में भी दुहराई गई। उस क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर पाकिस्तान के आक्रमण एवं अधिकार के क्षुब्ध करनेवाले वृत्त के साथ ही हमारे समाचार-पत्रों में उस क्षेत्र के तुच्छतासूचक वर्णन प्रकाशित होने आरंभ हो गए। केंद्रीय सरकार की ओर से भी कुछ छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुईं, जिनमें इसे मरुस्थल लिखा गया और कहा गया कि वहाँ घास का तिनका भी नहीं उगता, वर्ष में अधिक समय यह समुद्र से डूबा रहता है तथा मक्खियों से इतना अधिक आक्रांत है कि एक प्याला जल भी बिना मक्खी को निगले कोई पी नहीं सकता।

शत्रुओं के आक्रमण के समय नेफा तथा कच्छ के रन के इन वर्णनों में निकट साम्य किसी के भी मन में संदेह निर्माण कर सकता है कि यह संभवतः इस प्रकार का वातावरण निर्माण करने का प्रयास है, जिससे जनता में रोष पैदा न होते हुए शत्रु को इन स्थानों को हजम करने दिया जा सके। यह भी संभव है कि जनता में इस प्रकार के समाचारों का प्रसार अदूरदृष्टि के कारण हो गया हो, यह तो उससे भी बुरा है, क्योंकि जब कोई व्यक्ति विचारपूर्वक ऐसा करता है तो हम इतना ही कह सकते हैं कि वह सही नहीं है, किंतु यदि कोई स्वभावतः ऐसा कहता है तो उसका अर्थ यही है कि उसके हृदय में मातृभूमि के प्रति स्नेह का सर्वथा अभाव है। यह अवस्था बहुत संकटापन्न होती है।

हमारे अपने नेता चीन के खुले आक्रमण और उसके द्वारा हमारी हजारों वर्गमील भूमि पर अनधिकार कब्जा कर लेने के कृत्य को मात्र 'सीमा-विवाद' या 'सीमा-सघर्ष' के नाम से पुकारना पसद करते हैं। हमारे नेताओं का कहना है कि इन हिमाच्छादित भू-प्रदेशों में सीमा-रेखा का कुछ मील अपनी ओर अथवा कुछ मील उनकी ओर खिच जाना कोई चिता की बात नहीं है। उनके ऐसे कथन का सदैव ही अर्थ निकला है– 'हजारों माल हमारी ओर, किंतु एक मील भी उनकी ओर नहीं'। हमने प्राय उन्हें यह कहते हुए सुना है कि ये सीमाएँ अनिश्चित और विवादास्पद हैं। एक समय, जब चीन द्वारा अधिकृत भू-भाग का उल्लेख पडित नेहरू कर रहे थे, उन्होंने इसे 'हमारी मानी जानेवाली भूमि' तक कहा था।

दृष्टिकोण ज्वलत बनाए रखो

खेद का विषय है कि हमें अपनी मातृभूमि की ओर देखने का वह चैतन्यमय और परिपूर्ण दृष्टिकोण कहीं नहीं मिलता, जो हमारे समाज के अध्यवसाय के लिए प्रेरक बनकर उसकी अखडता की रक्षा हेतु बलिदान की प्रेरणा दे सके। हमारे समाज पर आज समझौते की भावना ने अधिकार कर रखा है। जो भी हमारी मातृभूमि पर कुठाराघात करे, उसे कुछ भू-खड देकर शाति मोल ले ली जाए– ऐसी वृत्ति बन गई है। हमारे जो भू-भाग शत्रु के अधिकार में हैं, उनकी स्मृति भी समाप्त होती जा रही है। हममें से कितने लोग इस बात से स्वय को एव देश को अपमानित अनुभव करते हैं कि हमारे लिए पवित्र कैलाश और मानसरोवर प्रवेश वर्जित है? हमें उस पवित्र सिधु में स्नान का कोई अवसर नहीं जिसने हमें 'हिंदू' और हमारे देश को हिंदुस्थान' नाम दिया है? हिंदू विचारधारा को विकीर्ण करनेवाला विश्वकेंद्र तक्षशिला अब हमारा नहीं है। मूलस्थान (मुल्तान) जिसने दैत्य हिरण्यकशिपु से प्रह्लाद की रक्षा करनेवाले भीषण नरसिंह अवतार के दर्शन किए थे, पुन एक बार दानवी प्रभाव से कुचला जा रहा है। क्या ये सब स्मृतियाँ हमारी धमनियों में ज्वलत हैं?

इस सबध में विशेष रूप से हमें स्वय को तथा आनेवाली पीढियों को बचाना है, अन्यथा बाह्य परिस्थितियों का भारी दबाव हमारी कल्पना को मलिन कर देगा और हमारी आत्मा को कुचल देगा। बार-बार यह कहकर कि हमारी वर्तमान राजनीतिक सीमाएँ हमारी मातृभूमि का पूर्ण स्वरूप उपस्थित करती हैं, हम अपनी अतरात्मा को जड बना लेंगे। यह

स्थिति हमारे पौरुष और बुद्धि के लिए कितनी अपमानास्पद है। कभी-कभी राजनीतिक समाघातों एव युद्ध की दैवाधीन विचित्र गति से राजनीतिक सीमाओं में परिवर्तन हो जाते है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि जो खड राजनीतिक दृष्टि से हमने खो दिए हैं, वे हमारी मातृभूमि के भाग ही नहीं हैं।

अभी हाल ही तक क्या हमारा सपूर्ण देश अग्रेजों के विदेशी शासन में नहीं था? और उसके पूर्व क्या अपने देश का एक भाग मुसलमानों के अधिकार में नहीं था? तब क्या हमें यह कहना चाहिए कि उन कालखडों में यह सपूर्ण देश हमारा नहीं था? इसके विपरीत क्या हमने अपनी मातृभूमि के उन भागों को विदेशियों से मुक्त कराने के लिए सघर्ष और बलिदान नहीं किए? और क्या हमारी भूमि का प्रत्येक कण हमारे अगणित वीरों एव हुतात्माओं के पवित्र रक्त से सुरक्षित और पावन नहीं हैं? यदि हम आज कहते हैं कि चीनी और मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा जो भू-भाग ले लिया गया है, वह हमारा नहीं और उसके अधिकृत स्वामी वही हैं, तो इसका यही अर्थ है कि हमारे नेताओं में लडने की इच्छा समाप्त हो गई है और हमने अपने पौरुष को इस सीमा तक तिलाजलि दे दी है कि अपनी पराजयों एव अवमाननाओं में भी हम गौरव का अनुभव करने लगे हैं।

हमें अन्य सब बातों से अधिक अपनी इस राष्ट्रीय आकाक्षा के मृतप्राय होने से सावधान रहना है। यदि हममें अपने देश की स्वतन्त्रता एव अखडता हेतु युद्ध करने, कष्ट सहने तथा बलिदान करने की इच्छा शून्य हो गई तो वह हमारे राष्ट्र की स्वतन्त्रता तथा सम्मान के लिए मृत्यु का कारण बनेगी।

ससार में स्वतन्त्र, सपन्न एव गौरवशाली राष्ट्र की सत्ता का जीवनप्राण तो मातृभूमि की ऐसी भक्ति है, जो तीव्र, क्रियाशील, दृढनिष्ठ तथा ज्वलत हो। हम हिंदुओं को तो मातृभूमि की अति दिव्य भक्ति उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। भक्ति के वे अगारे, जो प्रत्येक हिंदू के हृदय में सुप्त पडे हुए हैं, उन्हें प्रज्ज्वलित करो ताकि वे मिलकर और पवित्र ज्वालाओं में परिणत होकर हमारी मातृभूमि पर भूतकाल के समस्त अतिक्रमणों को भस्म करें एव भारत माता के अतीत की अखडित प्रतिमा की पुनर्स्थापना का स्वप्न साकार करें।

ऽऽऽ

३ मातृभूमि के पुत्र

हिंदू क्यों?

अनादि काल से एक महान एवं सुसंस्कृत समाज, जिसे 'हिंदू' कहते हैं, यहाँ इस भूमि के पुत्र के रूप में निवास कर रहा है। किंतु कुछ लोग हैं, जो 'हिंदू' नाम पर आपत्ति करते हैं और कहते हैं कि तुलनात्मक दृष्टि से इसका मूल तो साम्प्रदायिक है तथा यह नाम हमें विदेशियों द्वारा दिया गया है। ये हिंदू के स्थान पर 'आर्य' अथवा 'भारतीय' नाम का सुझाव देते हैं।

निस्संदेह आर्य एक स्वाभिमानपूर्ण प्राचीन नाम है, किंतु इसका प्रयोग विशेषतया गत सहस्र वर्षों से अप्रचलित हो गया है। गत शताब्दी में ऐतिहासिक शोध के नाम पर अंग्रेजों द्वारा किए हुए अप-प्रचार ने हमारे मस्तिष्क में धूर्ततापूर्वक बनाए गए आर्य-द्रविड विवाद की विषैली जड़ें गहराई तक पैठा दी हैं। अत: 'आर्य' नाम का प्रयोग हमारे उद्देश्य की सिद्धि में स्वत: निष्फलता का कारण बनेगा, क्योंकि हमारा उद्देश्य तो अपने उस संपूर्ण समाज का साक्षात् करना है, जो अतीत और वर्तमान की समस्त संज्ञाओं से निरपेक्ष हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला हुआ है।

'भारतीय' भी प्राचीन नाम है, जो अति प्राचीनकाल से हमसे संबंधित है। भारत नाम वेदों तक में मिलता है। हमारे पुराणों ने भी हमारी मातृभूमि को 'भारत' कहा है और यहाँ के निवासियों को 'भारती'। वास्तव में 'भारती' संबोधन 'हिंदू' का पर्यायवाची है, किंतु आज 'भारतीय' शब्द के संबंध में भी भ्रांत धारणा उत्पन्न हो गई है। सामान्यतया यह 'इंडियन' शब्द के अनुवाद के रूप में प्रयुक्त होने लगा है, जिसमें इस देश में रहनेवाली मुसलमान, ईसाई तथा पारसी आदि सभी जातियों का समावेश होता है। इस प्रकार 'भारतीय' शब्द-प्रयोग, जब हम उस विशिष्ट समाज को लक्ष्य कर करना चाहते हैं हमें भ्रमित कर सकता है। केवल 'हिंदू' शब्द ही उस भाव को पूर्ण एवं शुद्ध रीति से व्यक्त करता है, जिसे हम व्यक्त करना चाहते हैं।

यह कहना भी ऐतिहासिक दृष्टि से शुद्ध नहीं है कि 'हिंदू' नाम नूतन है अथवा विदेशियों द्वारा हमें दिया गया है। विश्व के प्राचीनतम अभिलेख 'ऋग्वेद' में हमें 'सप्त सिंधु' नाम मिलता है जो हमारे देश एवं

हमारे जन के लिए उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह भी भली प्रकार से ज्ञात है कि सस्कृत का 'स' वण कभी-कभी हमारी कुछ प्राकृत भाषाओं में तथा कुछ यूरोपीय भाषाओं में 'ह' में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार प्रथम 'हप्त हिंदू' तत्पश्चात् 'हिंदू' नाम प्रचलित हो गया। इसलिए 'हिंदू' हमारा अपना गौरवशाली नाम है, जिसके द्वारा बाद में अन्य लोग भी हमें पुकारने लगे।

हिंदू और हिंदुस्थान

बृहस्पति आगम के अनुसार 'हिंदू' शब्द का 'हि' 'हिमालय' से तथा 'न्दु', 'इन्दु' 'इन्दु सरोवर' (दक्षिणी सागर) से लिया गया है। इस प्रकार यह (शब्द) हमारी मातृभूमि के सपूर्ण विस्तार को सप्रेषित करता है। बृहस्पति आगम का कथन है-

हिमालय समारभ्य यावदिन्दु सरोवरम्।
त देव निर्मित देश हिंदुस्थान प्रचक्ष्यते।।

(देवताओं द्वारा निर्मित वह देश जो हिमालय से प्रारभ होकर इदु सरोवर (अर्थात् दक्षिणी सागर) तक फैला हुआ है, हिंदुस्थान कहलाता है।)

'हिंदू शब्द का इतिहास

'हिंदू' शब्द हमारे इतिहास के गत एक सहस्र वर्षों के सकटपूर्ण काल मे जुडा रहा है। पृथ्वीराज के दिनों से लेकर हमारे समस्त राष्ट्र-निर्माताओं राज्यवेत्ताओं, कवियों और इतिहासकारों ने 'हिंदू' शब्द का प्रयोग हमारे जन-समाज ओर धर्म को अभिहित करने के लिए किया है। गुरु गोविंदसिंह, *विद्यारण्य और शिवाजी जैसे समस्त पराक्रमी स्वतत्रता-सेनानियों का स्वप्न* 'हिंदू-स्वराज्य' की स्थापना करना ही था। 'हिंदू' शब्द अपने साथ इन समस्त महान जीवनों, उनके कार्यों और आकाक्षाओं की मधुर गध समेटे हुए है। इस प्रकार यह एक ऐसा शब्द बन जाता है, जो सघ-रूप से हमारी एकात्मता, औदात्य और विशेष रूप से हमारे जन-समाज को *व्यजित करता है।*

प नेहरू के साथ वार्त्ता

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो हमारे द्वारा निरतर 'हिंदू' शब्द पर बल देने के कारण हमारे दृष्टिकोण पर सकीर्ण और साप्रदायिक होने का आरोप लगाते हैं। जब मैं एक बार पडित नेहरू से मिला तो उन्होंने भी

यही आरोप लगाया। उन्होंने कहा– 'आप लोग बार-बार हिंदू-हिंदू का राग क्यों अलापते रहते हो? ऐसा करके आप स्वयं को केवल अपनी ही चारदीवारी में बंद कर लेते हो और बाह्य विश्व की ताजा हवा के झकोरों को अंदर आने से रोक देते हो। बाह्य विश्व से हमें अलग कर देनेवाली कोई भी दीवार अभीष्ट नहीं है। हमें इस प्रकार के सभी समयबाह्य व्यवधानों को ध्वस्त कर देना चाहिए।'

पंडित नेहरू एक महान पुरुष थे और महान भावनाओं से आविष्ट होकर बोला करते थे। मैंने शांति के साथ उत्तर दिया– 'मैं आपकी इस बात से पूर्ण सहमति व्यक्त करता हूँ कि हमें सभी दिशाओं से आनेवाली ताजा वायु का स्वागत करना चाहिए। हमें अनेक देशों में चल रही विभिन्न विचारधाराओं के संपर्क में आना चाहिए और उनको समझना चाहिए, उनका सूक्ष्म परीक्षण करके उसमें से जो कुछ हमारे लिए लाभदायक है, उसे आत्मसात करना चाहिए। परंतु ऐसा करने के लिए क्या यह आवश्यक है कि हम अपने घर की दीवारों को ध्वस्त कर दें और अपनी छत को अपने सिर पर गिरा लें? इसके विपरीत क्या ऐसा करना बुद्धिमत्ता न होगी कि हम अपने भवन को अक्षुण्ण रखें और बाहर की वायु आने के लिए अपने द्वार और खिड़कियाँ खोल दें? मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि उदार-हृदयता को यदि व्यावहारिक सीमा से अधिक तूल दिया जाएगा, तो वह हमारी राष्ट्रीय अस्मिता को समाप्त कर देगी। मेरा निवेदन यह है कि हमारा यह तथाकथित संकीर्ण दृष्टिकोण हमारे राष्ट्र को वह सामर्थ्य प्रदान करेगा, जिससे हम बाह्य विश्व के दृष्टिकोण में, जो कुछ हमारे लिए अभीष्ट है, उसे पचा सकें।

इसपर पंडित नेहरू ने कहा– 'ठीक है, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि किसी भी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संकल्पित प्रयत्नों को करने के लिए इसी प्रकार का दृढ़ निश्चय आवश्यक है।' मैंने उनका इस बात के लिए धन्यवाद किया कि उन्होंने कम से कम इतना तो स्वीकार किया।

विकास के लक्षण

अब हम अपने हिंदू-जीवन पर एक दृष्टिपात करें। जब लोग, विशेष रूप से बाहरी लोग, हमारे विश्वासों, संप्रदायों, जातियों, भाषाओं, रीति-रिवाजों एवं स्वभावगत विविधताओं के बाहुल्य को देखते हैं तो वे भ्रम में पड़ जाते हैं और कह उठते हैं कि 'इन सब भाँति-भाँति के तत्त्वों तथा

असगत स्वरों से युक्त समूह को किस प्रकार एक समाज कहा जा सकता है? कहाँ है एक जीवनपद्धति जिसे तुम 'हिंदू' कहते हो।'

यह प्रश्न हिंदू-जीवन के बाह्य दृश्य स्वरूप से उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ– एक वृक्ष को लीजिए, जिसमें शाखाएँ पत्तियाँ, फूल और फल के समान भिन्न-भिन्न प्रकार के उसके कई भाग होते हैं। तने में शाखाओं से अतर होता है और शाखाओं में पत्तियों से– सभी कुछ एक-दूसरे से नितात विभिन्न। कितु हम जानते हैं कि ये सब दिखनेवाली विविधताएँ केवल मात्र उस वृक्ष की भाँति-भाँति की अभिव्यक्तियाँ हैं, जबकि उसके सभी अगों को पोषित करता हुआ एक ही रस प्रवाहित हो रहा है। यही बात हमारे सामाजिक जीवन की विविधताओं के सबध में भी है, जो इन सहस्रों वर्षों में विकसित हुई हैं। जिस प्रकार वृक्ष में फूल और पत्तियों का विकसन उसका विभेद नहीं, उसी प्रकार हिंदू-समाज की विविधताएँ भी आपसी विघटन नहीं हैं। इस प्रकार का नैसर्गिक विकास हमारे समाज-जीवन का अद्वितीय स्वरूप है।

वास्तव में प्रकृति की योजना में जीवन के विकास के इसी प्रतिमान का अनुसरण किया गया है। प्राणी अपनी आदिम अवस्था में आकारहीन दशा में रहता है, जिसे 'अमीबा' कहा जाता है। यह 'सेल' का एक-कोशीय सावयव शरीर होता है, जो अपने में पूर्ण होता है। यह दो समान रूपों में विभक्त किया जा सकता है। जीव पदार्थ की यह प्राथमिक अवस्था होती है, जो विकास के निम्नतम सोपान पर स्थित होता है। जैसे-जैसे विकास में प्रगति होती है, भाँति-भाँति के जीवों की जातियाँ बनने लगती हैं। बढती हुई क्रियाओं को पूर्ण करने के लिए उनके विविध अग होते हैं। अत में मनुष्य शरीर बनता है, जो अनेक अगों से सगठित एक अत्यत सश्लिष्ट यत्र है, जिसका प्रत्येक अग अपनी विशिष्ट क्रिया से युक्त है। फिर भी वे सभी एक सामान्य जीवनधारा के द्वारा एक-दूसरे से सबद्ध होते हैं। पृथ्वी पर जीव का उच्चतम विकसित आकार यही है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभिन्न अग अथवा विविधताएँ अपरिपक्वता अथवा विभेद के लक्षण नहीं हैं, वरन् अति विकसित अवस्था के कारण हैं। सभी अग यद्यपि प्रत्यक्षरूपेण विविध आकारों के होते हैं, कितु सभी शरीर के कल्याण हेतु कार्य करते हैं और इस प्रकार उसकी वृद्धि तथा शक्ति में योगदान करते हैं।

समाज के सबध में भी इसी प्रकार की बात होती है। एक विकसित समाज विविध कर्तव्यों के समुचित व्यापार के लिए अनेक विभिन्न कार्यकारी वर्गों में बॅट जाता है। हमारी प्राचीन समाज-व्यवस्था ने प्रत्येक वर्ग के लिए विशिष्ट कर्तव्य निर्दिष्ट किया तथा प्रत्येक व्यक्ति एव वर्ग का उसके नैसर्गिक विकास की दिशा में उसी प्रकार मार्गदर्शन किया, जैसे बुद्धि शरीर के प्रत्येक अग की क्रियाओं का निर्देश करती है। समष्टि, अर्थात् विराट पुरुष के प्रति श्रेष्ठतम सेवा अर्पण करने की पद्धति में व्यक्ति के विकास के लिए पूर्ण अवसर सुरक्षित था। इस प्रकार की यह अत्यत सश्लिष्ट एव सगठित समाज-रचना है, जिसे हमने व्यावहारिक आदर्श के रूप में अपने समक्ष रखा था और जीवन में ही उसे उपलब्ध करने का उद्योग किया था। दूर से देखने पर यह अवस्था सभ्रमकारी असाम्य की अवस्था प्रतीत होती है, किंतु वास्तव में यह है समाज की अत्युच्च विकसित अवस्था, जिसका अस्तित्व सपूर्ण ससार में शायद ही अन्यत्र कहीं रहा हो।

किंतु आज का मस्तिष्क विदेशी वादों और उसकी समानता की बडी-बडी घोषणाओं के आडबर के माध्यम से ही देखने का अभ्यस्त बनकर, इस अनुपम तथ्य को पहचानने में असमर्थ हो चुका है। इसलिए चिल्लाहट मची है कि हमारे जीवन की विविधताएँ ही हमारी फूट के कारण हैं, इन्हें नष्ट करना चाहिए और एक वर्गहीन समाज की रचना करनी चाहिए। किंतु क्या शरीर के अग समान दिखते हैं? ये अग अपना अलग-अलग विशिष्ट कार्य करते हैं इसी कारण हम उन्हें अलग वर्ग के नाम से पुकारें तथा उन्हें दूर करके शरीर को वर्गविहीन वस्तु बना डालें? यदि यह किया जाए तो इसे विकास कहेंगे अथवा हत्या?

'अनेकता में एकता' का हमारा वैशिष्ट्य हमारे सामाजिक जीवन के भौतिक एव आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में व्यक्त हुआ है। यह उस एक दिव्य दीपक के समान है जो चारों ओर विविध रगों के शीशों से ढका हुआ हो। उसके भीतर का प्रकाश दर्शक के दृष्टिकोण के अनुसार भाँति-भाँति के वर्णों एव छायाओं में प्रकट होता है। यही उस अभिव्यक्ति की विचित्र विविधता है, जिससे कुछ लोग कहते हैं कि हमारा एक समाज नहीं है, एक राष्ट्र नहीं है, वरन् यह बहुराष्ट्रीय देश है।

यदि हम अपने समाज-जीवन के इस सही मूल्याकन को ग्रहण करें

तो उसकी वर्तमान व्याधियों का भी विश्लेषण कर सकेंगे तथा उनके उपचार के लिए उपायों की भी योजना करने में समर्थ होंगे।

एकम् सत् विप्रा बहुधा वदन्ति

हमारे लचीले धर्म के स्वरूप की जो प्रथम नैसर्गिक विशेषता बाहरी व्यक्ति की दृष्टि में आती है, वह है पथ एव उपपथों की आश्चर्यजनक विविधता। यथा– शैव, वैष्णव, शाक्त, वैदिक बौद्ध, जैन, सिख, लिंगायत, आर्यसमाज आदि। इन सभी उपासनाओं के महान आचार्यों एव प्रवर्तकों ने उपासना के विविध रूपों की स्थापना हमारे लोक-मस्तिष्क की विविध योग्यताओं की अनुकूलता का ध्यान रखकर ही की है। किंतु अतिम निष्कर्ष के रूप में सभी ने उस एक चरम सत्य को लक्ष्य के रूप में प्राप्त करने के लिए कहा है, जिसे ब्रह्म, आत्मा, शिव, विष्णु, ईश्वर अथवा शून्य या महाशून्य तक के विविध नामों से पुकारा जाता है।

देखिए, यह श्लोक किस सुदरता से हिंदू-दर्शन के विविध पथों में स्वैक्य एव एकत्व का समावेश करता है–

य शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव कर्तेति नैयायिका ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमासका
सोऽय वो विदधातु वाञ्छितफल त्रैलोक्यनाथो हरि ।

(रामभक्त हनुमान, हनुमन्नाटकम् अक १ ३)

(वह, जिसकी उपासना शैव 'शिव' मानकर करते हैं, वेदाती, जिसे 'ब्रह्म' मानकर उपासते हैं, बौद्ध, जिसे 'बुद्ध', और तर्क-पटु नैयायिक 'कर्ता' मानकर आराधना करते हैं, एव जैन लोग, जिसे 'अर्हत्' मानकर, तथा मीमासक, जिसे 'कर्म' बताकर उपासना करते हैं– वही 'त्रिलोकीनाथ हरि' हमारी इच्छाओं को पूरा करें।)

व्यक्ति को उपासना स्वातत्र्य का यह अधिकार इसलिए प्राप्त था कि प्रत्येक के लिए अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक प्रकृति के अनुकूल आध्यात्मिक भोजन चुनने का स्वातत्र्य हो, किंतु उपासना-मार्ग की विविधताओं का अर्थ समाज का विभाजन नहीं था। एक ही धर्म के ये सभी अविभाज्य अग समाज की धारणा करते थे। हमारे समाज के इन सभी अगों में वही जीवन-दर्शन, वही लक्ष्य, वही बाह्य स्थूल पर आतरिक आत्मा का प्रभुत्व, वही पुनर्जन्म में विश्वास, वही ब्रह्मचर्य, सत्य आदि कतिपय गुणों की पूजा,

वही पवित्र सस्कार। सक्षेप में वही जीवन-रक्त हमारे समाज के इन अगों में प्रवाहित होता रहा। वे शुद्ध अद्वैत के सस्थापक श्री शकराचार्य ही थे, जिन्होंने पचायतन पूजा का निर्देश किया। ईश्वर के साक्षात्कार हेतु विभिन्न पथों के स्वरैक्य का यह कितना भव्य उदाहरण है। पथ-विभेद के कारण हमारे देश में भूतकाल में कभी रक्तपात अथवा अपवित्र प्रतिस्पर्धा नहीं हुई। यहाँ तक कि जब किसी ने अपने मत का मडन अथवा दूसरों के मतों के खडन का प्रयास किया, तब भी सिर-फुटव्वल नहीं हुई। इस आतरिक एकत्व की गभीर धारा का शिवमहिम्न स्तोत्र में अत्यत सुदर चित्रण हुआ है-

त्रयी साख्य योग पशुपतिमत वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमद पथ्यमिति च।
रुचीना वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषा
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।।

(शिवमहिम्न स्तोत्रम्, ७)

(जिस प्रकार सभी जलों का गन्तव्य समुद्र होता है, वैसे ही हे ब्रह्म! सभी मनुष्यों के तुम एकमात्र लक्ष्य हो। मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार तुम्हारी पूजा के लिए भिन्न-भिन्न मार्गो का अनुसरण करते हैं। चाहे वह रास्ता सीधा हो या टेढा। यह विचार करते हुए कि जिन विभिन्न मार्गो, जैसे- वेद, साख्य, योग, शेव ओर वैष्णव के विश्वासों में वही मार्ग श्रेष्ठ या पूर्ण है।)

प्राचीन वेदिक काल से लेकर आज तक हमारी यही परपरा रही हे। हमारे सभी आध्यात्मिक आचार्यो ने धर्म के इसी सर्वव्यापी अद्वितीय स्वरूप को ग्रहण किया है। रामकृष्ण परमहस ने कहा है- 'जितने दृष्टिकोण, उतने मार्ग' व्यक्तियों की विविध वृत्तियों एव रुचि के अनुसार अनेक पथ और मत हो सकते हैं।

इनमें से अनेक पथों एव दर्शनों के निर्माण से एक अन्य लाभदायक उद्देश्य की भी सिद्धि हुई है। वे हमारे समाज की अखडता को बनाए रखने के लिए तथा उसकी रक्षा के लिए भी सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए- सिख पथ का उदय पजाब में इस्लाम के प्रसार को रोकने के लिए हुआ। आगे चलकर समय की आवश्यकता को समझते हुए दशमगुरु गोविदसिह ने अपने शिष्यों को सशस्त्र किया तथा उन्हें राष्ट्रीय योद्धाओं के एक सैन्यदल में परिवर्तित कर दिया। जब ईसाई धर्म-प्रचारक हमारे पश्चिमी समुद्रतट पर लोगों को अपने सप्रदाय में सम्मिलित करने के लिए

निज के दयामय ईश्वर के नाम पर लोगों की अनुनय कर रहे थे, उस समय इस विदेशी विष को विफल करने के लिए हमारे धर्म की भक्ति के एक स्वरूप को लेकर श्री मध्वाचार्य का उदय हुआ। रामानुजाचार्य एव वसवेश्वर के प्रयत्न भी समाज में प्रवेश कर रहे ऊँच-नीच के भेद को मिटाकर ईश्वर-भक्ति के सामान्य वध में सभी लोगों को वाँधने के लक्ष्य से प्रेरित थे।

सेमेटिक (सामी) जातियो के प्रभाव

यह हमारा दुर्भाग्य है कि अपने धर्म का यह सर्वव्यापी स्वरूप हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। इस दु खपूर्ण अवस्था के कई कारण हैं। प्रतीत होता है कि पश्चिम द्वारा व्यवहार में लाए जानेवाले धर्म के सकुचित दृष्टिकोण ने हमारे ऊपर अपना प्रभाव दिखाया है। इन सभी सेमेटिक-- यहूदी, मुसलमान और ईसाई धर्मों में पूजा की एक ही पद्धति के लिए निर्दिष्ट है। उन पथों में एक पैगवर, एक धर्म-पुस्तक तथा एक ईश्वर होता है। उनकी दृष्टि में मनुष्यात्मा के मोक्ष के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं होता। इस प्रकार की मान्यता कितनी मूर्खतापूर्ण है-- यह जानने के लिए वहुत वुद्धि की आवश्यकता नहीं है। स्वाभाविक रूप से धर्म के इस सेमेटिक रूप ने असहिष्णुता को जन्म दिया तथा धर्म के नाम पर लोगों को विभक्त किया। अतएव कुछ पाश्चात्य देशों, जिन्हें इस प्रकार की धार्मिक कट्टरता से उत्पन्न हुए विद्वेप से घृणा हो गई थी, ने धर्म को ही निकाल वाहर करने का अतिम कदम उठाया। रूस के द्वारा ग्रहण किए गए साम्यवादी और समाजवादी दर्शन इसी विद्रोह के चरम उदाहरण हैं।

इसका प्रभाव हमारे देश पर भी हुआ। लोग भूल गए कि पथगत विरोध की सकुचित भावनाएँ यहाँ कभी नहीं रहीं। सभी पाश्चात्य विकास की उपलब्धियों का अधानुकरण करते हुए वे भी धर्म का उपहास करने लगे और ऐसा मानने लगे कि अपने जीवन में उसका कोई स्थान नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐसे श्रेष्ठ एव कल्याणकर बध भग होने लगे, जो लोगों को एक सूत्र में बाँधे रहते थे तथा उन्हें उच्चतर जीवन के लिए प्रेरणा देते थे।

वर्तमान विपर्यय

उसके विनाशकारी परिणाम आज हमारे सामने हैं। पारस्परिक उपहास की कहानियाँ सपूर्ण देश में चारों ओर यहाँ तक प्रचलित हो गई

हैं कि उन्होंने घरेलू विनोद का रूप धारण कर लिया है। एक सम्प्रदाय द्वारा दूसरे सम्प्रदाय पर प्रभुत्व और साम्राज्यवाद लादने की चर्चा होती है। यदि हम प्रभुत्व की भाषा में बोले तो हमें कहना चाहिए कि दक्षिण के दार्शनिक सिद्धांतों के साम्राज्यवाद से उत्तर कुचला जा रहा है, क्योंकि सभी दार्शनिक सिद्धात जो हमारे सपूर्ण देश में तथा जो उत्तर के कोने-कोने में परिव्याप्त हैं, उन्हीं महान आचार्यो द्वारा प्रतिष्ठापित हुए हैं, जिनका जन्म दक्षिण में हुआ। अनुपम अद्वैत दर्शन के प्रवर्तक शकर, विशिष्टाद्वैत की भक्ति के आलोक के साथ रामानुज, ईश्वर और जीव की अति उच्च द्वैत भावना के साथ मध्व तथा वल्लभाचार्य, जिन्होंने विश्व को ईश्वर के ही परमानदमय स्वरूप में देखा, वे सभी प्रभृति आचार्यगण दक्षिण के थे। तो क्या हमें कहना चाहिए कि दक्षिण दार्शनिक रूप से समस्त देश पर अधिकार किए हुए है? यह कथन कितना असगत है? अरे, क्या मेरा शीश मेरी टाँगों पर अधिकार किए हुए है? क्या दोनों ही एक शरीर के समान भाव से अग नहीं हे?

भौगोलिक दृष्टि से 'उत्तर' कहा जानेवाला भाग हमें उतना ही प्रिय है, जितना कि 'दक्षिण' कहा जानेवाला भाग। गगा हमारे लिए उतनी ही पावन है, जितनी कावेरी। हिमालय की अमरनाथ गुफा में हिम-निर्मित भव्य शिवलिग हम सभी की भक्ति का उतना ही अधिकारी हे, जितना रामेश्वरम् का शिवलिग। दूरी एव मत-मतातरों के समस्त बाह्य अवरोधों को अतिक्रात कर हम निसर्गत एक हैं। आज एकता का यह जीवन-रस शुष्क हो गया है। इसीलिए हमारे धर्म के महान वृक्ष के पत्ते व शाखाएँ सूख रहे हैं, पृथक हो रहे हैं।

दूसरे, 'हिदू' नाम, जो हमारे सर्वव्यापक धर्म का बोध कराता था, आज अप्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। लोग अपने को हिदू कहने में लज्जा का अनुभव करने लगे हैं। इस प्रकार वह स्वर्णिम सूत्र, जिसमें ये सभी विविध आभायुक्त आध्यात्मिक मोती पिरोए हुए थे, छिन्न हो गया है तथा विविध पथ एव मत केवल अपने ही नाम पर गर्व करने लगे हैं और अपने को हिंदू कहलाने से इनकार करने लगे हैं।

कुछ सिख, जैन, लिगायत तथा आर्यसमाजी अपने को हिदुओं से पृथक घोषित करते हैं। कुछ प्रमुख सिख नेता भाषायी प्रात (पजाबी सूबे) के बहाने सिखों के एक अलग साप्रदायिक राज्य की माँग के लिए आदोलन कर रहे हैं। अपनी माँग को पुष्ट करने के लिए उनमें से कुछ तो इतने

निम्न स्तर पर आ गए हैं कि अलग मुस्लिम राज्य, अर्थात् पाकिस्तान का औचित्य सिद्ध करने लगे हैं। वे इस सीमा तक जा चुके हैं कि पाकिस्तान की सहानुभूति एव सहायता भी चाहने लगे हैं और विभाजन के दिनों में पाकिस्तानियो द्वारा हुए वर्वर अत्याचारों तथा अपमानों को विस्मृत कर वैठे हैं।

इससे अधिक दुर्भाग्य की वात भला और क्या होगी कि वर्तमान सिख-नेता अपने पवित्र पथ को देश और धर्म के कट्टर विनाशकों के समकक्ष ला खडा करने में कमर कसते हैं? इतना ही नहीं तो उन्हीं शत्रुओं से मदद पाने के इच्छुक हैं, जिनके आक्रमणों से मुकावला कर हमारी रक्षा करने के लिए उसका जन्म हुआ था।

सिखों के नामधारी पथ के प्रधान ने कहा था– 'जो व्यक्ति निष्ठावान हिदू नहीं है, सिख भी नहीं हो सकता। वह उन महान पुरुषों का शिष्य नहीं हो सकता, जिन्होंने इस मातृ समाज एव मातृ-धर्म, अर्थात् हिदू के लिए अपना रक्त वहाया था।' श्री गुरु गोविदसिह ने कहा था– 'सच्चा सिख वही है, जो वेदों और भगवद्गीता में विश्वास रखता है तथा राम और कृष्ण को पूजता है।' गुरु के इन शब्दों के प्रति विशुद्ध निष्ठावान ही सच्चा सिख है। इन गुरुओं ने हिदू-समाज की रक्षा के लिए वीरों का यह दल गठित किया और उन्हें 'सिख' की सज्ञा दी, क्योंकि वे निष्ठावान शिष्य थे, शीलवान एव पराक्रमी थे। इसीलिए उन्हें 'खालसा' कहा अथवा अकाल-काल से परे जो सत्य है, उसका पुजारी होने के नाते उन्हें 'अकाली' कहा।

वास्तव में आज भी उनका सपूर्ण जीवन उन्हीं विचारों एव अनुभूतियों से परिव्याप्त है, जिनसे कि शेप हिदुओं का। अभी वर्तमान काल में दो शताव्दी पूर्व प्रत्येक हिदू परिवार से एक पुत्र 'सिख' नाम धारण करनेवाला हुआ करता था। हमारे परस्पर रक्त-सवध आज तक चले आ रहे हैं। यह तो केवल राजनैतिक आकाक्षाओं का विप है, जिसने इस विघटन के दैत्य को खडा किया है, अन्यथा वह तो हिदुत्व की निष्ठासपन्न एव पराक्रमी, सशस्त्र भुजा थी।

हिदू-विरोधी प्रशासन

यहाँ तक कि हमारे कर्णधार और प्रमुख व्यक्ति भी सिखों की इस पृथकता की घातक भावना के अनजाने शिकार हो गए। उन्हें हम प्राय यह

कहते हुए सुनते हैं कि हिंदुओं और सिखों को मित्रता एव एकता से रहना चाहिए। वे यह विचार नहीं करते कि इतने उच्च पदों पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों के शब्दों का प्रयोग शेष हिंदुओं से सिखों के पृथकत्व पर स्वीकृति की मुद्रा अकित कर देता है, जिससे उनके सबधों में और भी कटुता आ जाती है। स्पष्ट रूप से हमारे विधान में अकित है कि हिंदू के अतर्गत ही सिख, जैन और बौद्ध सप्रदाय हैं। इसका अर्थ है कि 'हिंदू और सिख' शब्द का उच्चारण करना विधान के विरुद्ध है। कितना दुर्भाग्य है कि बडे लोग भी अनजाने में ही इस प्रकार से विधान का अपमान करें।

इसी प्रकार हरिजन सेवक सघ के एक पाक्षिक पत्र में 'हिंदू और हरिजन' शब्दों का प्रयोग स्वतत्रतापूर्वक किया गया था।

वर्तमान सरकार की नीति ने आग में घी डालने का काम किया है। हमारे वर्तमान शासकों के लिए तो 'हिंदू' शब्द ही अभिशप्त हो गया है। जो भी हिंदू-समाज को छोडकर अहिंदू अल्पसख्यक के रूप में अपने को प्रदर्शित करता है, वह हमारी सरकार का विशेष अनुग्रह-पात्र बन जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे अनेकों सप्रदाय स्वय को अहिंदू कहलाने का अधिकार प्रतिपादित करने की एक-दूसरे से होड लगाए हुए हैं तथा धन, सत्ता एव विशेष अधिकार प्राप्त करने के लिए अपने हाथ फैलाए हैं। विशेष रूप से जब ये देखते हैं कि हमारे नेता अहिंदुओं तथा हिंदू-विरोधी जातियों को विशेष राजनीतिक प्रतिष्ठा देने के लिए उद्यत हैं, तो उनकी विघटनकारी वृत्ति तथा हिंदू-विरोधी भावना और अधिक जागृत हो जाती है। वे देखते हैं कि अहिंदू होने के कारण ही मुसलमानों ने अपना एक स्वतत्र राज्य प्राप्त कर लिया है। ईसाई भी अपना स्वतत्र 'नागालैंड' प्राप्त करनेवाले हैं। उन ईसाई सस्थाओं को, जो आज भी १५ अगस्त के दिन यूनियन जेक फहराती हैं तथा धर्मोन्मादी प्रचार करती हैं, सरकारी सहायता बद हो जाने का भय नहीं है। इसके विपरीत, यदि कोई हिंदू शिक्षा सस्था हिंदू-प्रार्थनाएँ तथा गीता के श्लोकों का पाठ आरभ करती है, तो सरकार तुरत हस्तक्षेप कर वित्तीय सहायता बद करने की धमकी देती है।

यह कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमारे ही नेता, हमारे ही लोग, हमारे समाज की एकता की जडें खोदते हैं और उस अभेद की भावना को नष्ट करते हैं जिसने भूतकाल में सभी विविध सप्रदायों को भेदरहित, पूर्ण इकाई के रूप में सगठित रखा था।

हमारे समाज की एक अन्य विशेषता थी उसकी वर्ण-व्यवस्था। उसे 'जातिवाद' कहकर उसकी भर्त्सना की जाती है। हमारे लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि वर्ण-व्यवस्था की चर्चा मात्र अप्रतिष्ठाकारक है। इसमें निहित समाज-व्यवस्था को वे सामाजिक विभेद के रूप में ग्रहण करने की भूल करते हैं। वर्ण-व्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना का प्रवेश तुलनात्मक दृष्टि से साप्रदायिक ही है। अग्रेजों ने अपनी 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति के द्वारा इस विरोध को और भी प्रोत्साहन दिया। किंतु अपने मूल रूप में उस समाज-व्यवस्था में घटकों के मध्य बडे-छोटे अथवा ऊँच-नीच की भावना को कोई स्थान नहीं है। इतना ही नहीं, गीता हमें बताती है कि जो व्यक्ति अपने नियत कर्तव्यों का पालन नि स्वार्थ भाव से करता है, वह अपने कर्मों द्वारा ईश्वर की पूजा करता है।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ।

(गीता १८/४६)

(अपने कर्मो के द्वारा उसकी अर्चना करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त करते हैं।)

समाज के सबध में यह भावना रखी गई है कि वह उस सर्वशक्तिमान का चतुर्दिक अभिव्यक्त स्वरूप है, जो सभी के लिए अपनी-अपनी क्षमता एव पद्धतियों से पूजनीय है। यदि ब्राह्मण विद्यादान के द्वारा वडा हो जाता है, तो शत्रुओं का नाश करने से क्षत्रिय भी समान प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। वैश्य भी कम महत्व का नहीं, जो कृषि और व्यापार के द्वारा समाज को सुस्थिर रखता है अथवा शूद्र भी कम नहीं है, जो अपने कला कौशल से समाज की सेवा करता है। इन सबके परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर रहने तथा साथ-साथ परस्पर के तादात्म्य भाव से उस समाज-व्यवस्था का निर्माण हुआ था।

गलत दिशा

वर्तमान काल में उसका अधोमुखी विपर्यस्त स्वरूप देखकर तथा गलती से उसे ही हमारे समाज का मूल स्वरूप समझते हुए कुछ लोग यह प्रचार करते कभी थकते नहीं कि इतनी शताब्दियों से हमारे पतन के मूल में हमारी यह वर्ण-व्यवस्था ही है। किंतु क्या यह व्याख्या इतिहास शुद्ध हो

सकती है? जातियाँ तो उस प्राचीन काल में भी थीं और हमारे वैभवशाली राष्ट्रजीवन के सहस्र वर्ष में बराबर रही हैं। कहीं एक भी उदाहरण नहीं है कि उन्होंने हमारे समाज की एकता और प्रगति में बाधा डाली हो। प्रत्युत उन्होंने हमारे सामाजिक ऐक्य के सपादन में महान योगदान ही किया है।

गत एक सहस्र वर्षों में जब हमारा राष्ट्र विदेशियों के आक्रमण का शिकार बना, एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता, जिससे यह सिद्ध हो सके कि हमारे राष्ट्र की जिस फूट ने विदेशी आक्रांताओं को सहायता दी, उसके मूल में ये जाति-भेद थे। मुहम्मद गोरी के द्वारा दिल्ली के हिंदू राजा पृथ्वीराज की पराजय का कारण जयचद था, जो कि उसका जातिबधु था। जिस व्यक्ति ने जगलों में राणाप्रताप का पीछा किया, वह मानसिंह भी उनकी जाति का ही व्यक्ति था। शिवाजी का विरोध उनकी जाति के ही लोगों द्वारा हुआ। सन् १८१८ में पुणे में हिंदू और अग्रेजों के अतिम मोर्चे पर पेशवा का सजातीय 'नातु' नाम का ही एक व्यक्ति था, जिसने हिंदू ध्वजा को गिराकर अग्रेजी झडे को फहराया था। यथार्थ में इस प्रकार के देशद्रोहियों की एक जमात रही है, जो विभिन्न कारणों से प्रलोभनों की शिकार हो जाती थी। जाति-भेद कभी भी इसका कारण नहीं रहा।

यदि जाति-व्यवस्था ही हमारे दौर्बल्य का मूल कारण होती तो हमारा समाज उन समाजों, जिनमें जातियाँ नहीं थीं, की तुलना में अति सरलता से विदेशी आक्रमणों के समक्ष पराभूत हो गया होता। किंतु इतिहास कहता है कि पेगबर मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् अरब से उनके अनुयायी एक के पश्चात् दूसरी लहर के समान निकल पडे और अपनी रक्तस्नात तलवारों के साथ भू-मडल के एक बहुत बडे भाग को पादाक्रात कर डाला। अनेकों साम्राज्य– ईरान, मिस्र, रोम, यूरोप तथा चीन तक सभी, जो भी उनके मार्ग में आए, उनके पैरों के नीचे कुचले गए। उन देशों के लोगों में जातियों और उपजातियों के भेद नहीं थे। मुसलमानों के विनाशकारी आक्रमण की आँधी ने उन सभी शक्तिशाली साम्राज्यों का वैभव सपत्ति एव यशस्विता धूल में मिला दी और उन्हें ऐसा नष्ट कर दिया कि उनमें से अनेक तो पुन विश्व मच पर कभी प्रकट ही नहीं हो सके।

इसी उन्माद और आवेश की लहरें हिंदुस्थान के तटों पर भी टकराईं, किंतु यहाँ का दृश्य कुछ दूसरा ही रहा। हमारे लोगों ने उन भीषण आक्रमणों का दृढता एव वीरता से सतत एक हजार वर्ष तक सामना किया और उसके द्वारा विनष्ट होने के स्थान पर अत में हम शत्रु की समस्त

शक्तियों को कुचलकर उसे पूर्ण रूप से नष्ट करने में सफल हुए। हमारे समाज की विजयिष्णु भावना के प्रतीकस्वरूप मुसलमानों की शक्ति का सिंहासन दिल्ली में टुकड़े-टुकड़े कर ध्वस्त कर दिया गया। अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु अंतिम विजय तक सतत भीषण संघर्ष चालू रखने के इन शताब्दियों के लंबे काल में यह स्मरण रहे कि जातियों का अस्तित्व बना हुआ था।

इतिहास हमें बताता है कि हमारे देश के पश्चिमोत्तर एवं पूर्वोत्तर भाग, जहाँ बौद्ध प्रभाव के कारण जाति-व्यवस्था भंग हो गई थी, मुसलमानों के भीषण आक्रमण के सरलता से शिकार हो गए। गांधार, जिसे अब 'कंदहार' कहते हैं, पूर्ण रूप से मुसलमान हो गया। पूर्वी बंगाल में भी बहुत अधिक धर्म-परिवर्तन हुआ। किंतु दिल्ली तथा उत्तरप्रदेश के भू-भाग, जो जाति-पाँति की मर्यादाओं के पालन में अत्यंत कठोर एवं पुरातनवादी माने जाते थे, मुस्लिम शक्ति एवं धर्मांधता के कई शताब्दियों तक गढ़ रहते हुए भी हिंदू-बहुल बने रहे। हम जानते हैं कि शिवाजी के समय तक तथाकथित निम्नजाति के लोगों ने भी स्वराज्य को पुनर्जीवन प्रदान करने के कार्य में एक महान चिरस्मरणीय पराक्रम का अध्याय प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार इतिहास में हमें चित्र के दोनों पक्ष स्पष्ट देखने को मिलते हैं। एक ओर तो अनेकानेक जातियों से संकुचित हिंदू-समाज दो सहस्र वर्षों से भी अधिक काल से यूनानियों, शकों, हूणों, मुसलमानों तथा यूरोपवासियों के विध्वंस का सामना करता हुआ अमर और अजेय बना हुआ है एवं आज भी रामकृष्ण, विवेकानंद, तिलक और गाँधी उत्पन्न करने की शक्ति से संपन्न है। जबकि दूसरी ओर तथाकथित बिना जातियोंवाले समाज इनके एक ही झटके से चूर-चूर होकर पुनः कभी न उठने के लिए धूल में मिल गए।

आग में घृत

निस्संदेह आज जाति-व्यवस्था सभी प्रकार से भ्रष्ट हो गई है। शताब्दियों की इस विकृति के साथ-साथ हमारी राजनीति में एक नई वस्तु और प्रवेश कर गई है, जिसने जातियों की इस विकृति एवं कठोरता को और भी अधिक गंभीर बना दिया है। यह वस्तु हमारी राजनीति में उन्हीं व्यक्तियों द्वारा लाई गई है, जो इस जाति-व्यवस्था की सदैव आक्रोशपूर्ण भर्त्सना करते रहे हैं। चुनाव के अवसर पर प्रत्याशियों के चुनाव में उनका

मुख्य ध्यान जाति पर रहता है और उसी के आधार पर मतदाताओं से मतदान की प्रार्थना की जाती है। जाति-वैमनस्य और विरोध के बढ़ते हुए इस आवेग के मूल में है— जाति के नाम पर किया जानेवाला यह नग्न स्वार्थ और सत्ता-पिपासा का आह्वान। इन भेदभावों को और भी अधिक चौड़ा करने के लिए राज्य-यन्त्र का पापपूर्ण प्रयोग किया जाता है। हमारे लोगों के कुछ वर्गों को हरिजन, परिगणित जाति, परिगणित वर्ग आदि नाम देकर उनके लिए कुछ विशेष सुविधाओं का प्रदर्शन कर धन के लोभ द्वारा उन्हें अपना दास बनाने के लिए उनमें विघटनकारी चेतना, ईर्ष्या एवं विरोध उत्पन्न किए जाते हैं।

इन जाति-व्यवस्था विरोधी उत्साही वीरों में ऐसे नगण्य ही होंगे, जो अंतरतम में उस एकता के भाव की अनुभूति करते हों, जो आज की इन सभी विकृतियों को अतिक्रांत कर सकती है। जाति विरोधी निदोक्तियाँ उनके लिए एक आवरण बन गई हैं, जिनकी आड़ में वे अपने जाति-जनों के बीच अपनी स्थिति को सशक्त बनाते हैं। यह विष हमारी राजनीति में कहाँ तक फैल गया है इसका पता कुछ वर्षों पूर्व घटित हुई एक घटना से लग सकता है। पुणे के निकट एक विजय-स्तंभ है, जिसे सन् १८१८ में अंग्रेजों ने पेशवाओं पर अपनी विजय की स्मृतिस्वरूप बनवाया था। एक प्रमुख हरिजन नेता ने एक बार इसी स्तंभ के नीचे अपने जाति-बंधुओं को संबोधित किया। उसने घोषणा की कि यह स्तंभ ब्राह्मणों पर उनकी विजय का प्रतीक है, क्योंकि उन्होंने ही अंग्रेज की अधीनता में लड़कर ब्राह्मण पेशवाओं को परास्त किया था। एक प्रमुख नेता के मुख से गुलामी के इस चिह्न को विजय का प्रतीक कहा जाना एवं अपने ही बंधुओं से विदेशियों के दास के रूप में युद्ध को एक महान कर्तृत्व के रूप में वर्णन करना कितना हृदयद्रावी है। घृणा के वशीभूत होकर वह कितना अंधा हो गया होगा? वह एक सामान्य सत्य भी नहीं देख पाया कि कौन विजयी हुए और कौन पराजित। यह कैसी विकृति है?

अनेक तार, एक स्वर

हमारे राष्ट्रीय उत्तराधिकार की विविधता भाषाओं के क्षेत्र में भी व्यक्त होती है। अपने देश तथा समाज की विशालता को देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि हमारे देश में कोई व्यक्ति अपने स्थान से पैदल यात्रा आरंभ करे और एक प्रांत से दूसरे प्रांत के लिए चले तो

भाषा में प्रत्येक दस-पद्रह मील पर क्रमिक परिवर्तन, एक भाषा से दूसरी भाषा में एक स्वाभाविक रूपातर वह अनुभव करेगा तथा सीमा पर उन भाषाओं को एकीभूत होते देखेगा। एक ही भाषा में स्थान-स्थान पर अन्य भाषाओं की निकटता के कारण शब्दों के प्रयोग एव अभिव्यक्ति में असामान्य अतर हो जाता है। इससे यही प्रकट होता है कि ये सभी भाषाएँ आतरिक रूप से एक ही हैं। यह इद्रधनुष में क्रमश प्रकट होनेवाले रग के समान हैं। यद्यपि वह अति देदीप्यमान विविध रगों में उदित होता है, किंतु वह होती तो सूर्य की किरण ही है, जो उन मोहक परिधानों को धारण करती है। हमारी भाषाओं की यही विशिष्ट महत्ता है।

देश की कोई भाषा लें, उसमें हमें वही उदात्त भावनाएँ मिलेंगी। समान प्रेरणादायी विचार एव आदर्श हमारे सभी भाषाओं के वाङ्मय में प्रतिफलित होते हैं। श्री रामचद्र का जो श्लाघ्य व्यक्तित्व हमें वाल्मीकि के द्वारा सस्कृत में मिलता है, वही हिदी में तुलसी तथा तमिल में कब के द्वारा प्राप्त होता है। यदि सबमें से एक ही प्रकाश निकलता है तो माध्यम के परिवर्तन से क्या होता है? यह तो ठीक इसी प्रकार है, जैसे कोई व्यक्ति भाँति-भाँति के सुदर परिधान, जो उसके चरित्र एव सस्कृति के अनुकूल हों, धारण करें। उपर्युक्त कारण से मनुष्य नहीं बदलता।

आजकल हम तमिल भाषा के विषय में बहुत अधिक सुन रहे हैं। तमिल का पक्ष ग्रहण करनेवाले कुछ लोग कहते हैं कि यह तो नितात भिन्न भाषा है, जिसकी अपनी पृथक सस्कृति है। वे वेदों में विश्वास नहीं करते और कहते हैं कि तिरुक्कुल हमारा पृथक दिव्य ग्रथ है। तिरुक्कुरल निस्संदेह एक महान श्रोत ग्रथ है, जो हजार वर्ष प्राचीन है। इसके महान रचयिता सत तिरुवल्लुवर थे। हम इनका स्मरण अपने प्रात स्मरण में करते हैं। इस पुस्तक का विश्वसनीय अनुवाद प्रसिद्ध क्रातिकारी श्री वी पी एस अय्यर द्वारा किया गया है। लेकिन उसमें कौन सा विषय प्रतिपादित हुआ है? वही प्राचीन चतुर्विध पुरुषार्थ उसमें आदर्श के रूप में वर्णित हैं। केवल मोक्ष का अध्याय आरभ में आता है। वह पूजा के किसी विशेष प्रकार का प्रतिपादन नहीं करता ओर न ईश्वर के किसी विशिष्ट नाम का, वरन् मोक्ष के शुद्ध आदर्श का निरूपण करता हे। इस प्रकार यह कोई साप्रदायिक पुस्तक नहीं है। महाभारत भी सामाजिक जीवन के उसी चित्र को श्लाघनीय कहता है, जिसे तिरुक्कुरल उपस्थित करता है। हिदू के अतिरिक्त यह सामाजिक जीवन की अनुपम दृष्टि और कहीं प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार

यह विशुद्ध हिंदू ग्रंथ है, जिसमें महान हिंदू विचारों का एक विशुद्ध हिंदू भाषा में प्रतिपादन हुआ है।

वस्तुत हमारी सभी भाषाएँ, चाहे वह तमिल हो या बँगला, मराठी हो या पजाबी, हमारी राष्ट्रभाषाएँ है। वे सभी भाषाएँ और उपभाषाएँ खिले हुए पुष्पों के समान हैं, जिनसे हमारी राष्ट्रीय सस्कृति की वही सुरभि प्रसारित होती है। इन सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत भाषाओं की रानी देववाणी सस्कृत रही है। अपने वैभव एव पावन साहचर्य के कारण केवल वही हमारे राष्ट्रीय पारस्परिक व्यवहार के लिए एक सर्वमान्य माध्यम के रूप में कार्य कर सकती है। सस्कृत का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त करना कुछ कठिन भी नहीं है। अभी भी सस्कृत हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए एक महान सयोजक सूत्र है। किंतु दुर्भाग्य से आज उसका व्यवहार सामान्य रूप से नहीं होता और न हमारे वर्तमान शासकों में वह नैतिक गर्व एव चरित्र-बल ही है, जो उसे प्रचलित भाषा बना दे।

अंग्रेजी अथवा हिंदी?

कुछ लोग हैं, जो चाहते हैं कि अंग्रेजी सदैव के लिए हमारी देश-भाषा बनी रहे। मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार के लिए भाषा एक सजीव माध्यम होती है। विदेशी भाषा अंग्रेजी अपने साथ-साथ अंग्रेजी सस्कृति एव जीवन के अंग्रेजी प्रतिमान भी अवश्य लाएगी। विदेशी जीवन-प्रतिमानों की जड यहाँ जमने देना अपने निज की सस्कृति एव धर्म की जड़ें खोदना होगा। शताब्दियों का विदेशी शासन हमारे महान राष्ट्र को नष्ट करने में इसी कारण असफल रहा क्योंकि हमने अपने सास्कृतिक उत्तराधिकार को अपनी भाषाओं के माध्यम से सुरक्षित रखा। अंग्रेजी को स्वीकार करने का अर्थ अपनी जीवनी शक्ति के मुख्य स्रोतों को क्षीण करना होगा। अंग्रेजों के राज्य के साथ आई अंग्रेजी हमारे ऊपर कृत्रिम रूप से लादी गई है। अब हम स्वतंत्र हो चुके हैं, हमें उसे उतार फेंकना चाहिए। अंग्रेजी को वही स्थान देते रहना, जो उसे विदेशी शासनकाल में प्राप्त था, मानसिक दासता का लक्षण है और ससार की दृष्टि में हमारे राष्ट्रीय सम्मान के लिए कलंक है।

इसमें रचमात्र भी संदेह नहीं कि दो ठोस कारणों से अंग्रेजी यहाँ से जाएगी ही। प्रथम कारण यह है कि अंग्रेजी शासन-काल में हमारे लोगों में अंग्रेजी पढने की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति इसलिए हो गई थी कि वह

शासकों की भाषा है। उसमें निपुण हो जाओ और अंग्रेज का भी सामना उसकी अपनी ही भाषा में करो। अब अंग्रेजों के चले जाने के साथ-साथ वह प्रेरक कारण भी चला गया। द्वितीय कारण यह कि अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजी का ज्ञान न होना सरकारी नौकरी में किसी आर्थिक लाभप्रद पद पर प्रवेश के लिए निषेध ही था। बिना अंग्रेजी के ज्ञान के सर्वोत्तम मेधासपन्न व्यक्ति का जीवन भी वीरान ही बना रहता था। आर्थिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु सामाजिक जीवन में भी उसकी यही दशा रहती थी। अब यह भय भी धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है। अंग्रेजी भाषा अंग्रेजी शासन का एक अग थी। अब कितनी ही कृत्रिम प्राणवायु उसे दी जाए, अधिक दिनों तक वह जीवित नहीं रह सकती, क्योंकि उसका मुख्य आधार टूट चुका है।

सपूर्ण देश की एक भाषा की समस्या के निराकरण के लिए जब तक सस्कृत स्थान नहीं ले लेती, सुविधा हेतु हमें हिंदी को प्रधानता देनी पडेगी। स्वाभाविक रूप से हम हिंदी के उस स्वरूप को प्राधान्य देंगे, जिसका उद्‌गम सस्कृत से है एव जो विज्ञान तथा शिल्प-विषयक परिभाषाओं के ज्ञान के क्षेत्रों में अपने भावी विकास के लिए सस्कृत से ही पोषण प्राप्त करता है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल हिंदी ही राष्ट्रभाषा अथवा प्राचीनतम भाषा है अथवा अन्य सभी भाषाओं से अधिक समृद्ध है। वास्तव में तमिल अत्यत समृद्ध एव प्राचीनतम भाषा है। किंतु हिंदी हमारे बहुत बडे जनसमुदाय की बोलने की भाषा बन चुकी है तथा सीखने एव बोलने में हमारी अन्य सभी भाषाओं की अपेक्षा सरल है। यदि हम काशी अथवा प्रयाग कुभ या अन्य किसी मेले के अवसर पर जाते हैं, जहाँ लोग सुदूर उत्तर, दक्षिण, पूर्व एव पश्चिम से पवित्र गगा जी में स्नान के लिए एकत्र होते हैं, वहाँ यह विशाल जनसमुदाय केवल हिंदी में ही अपने भाव प्रकट कर लेता है, चाहे उनकी वह हिंदी कितनी ही अपरिष्कृत क्यों न हो।

सभी भाषाएँ चिरजीवी हो

अतएव राष्ट्रीय एकता एव आत्मसम्मान के लिए हमें हिंदी को स्वीकार करना चाहिए तथा 'हिंदी साम्राज्यवाद' या उत्तर का शासन आदि उद्‌घोषों में नहीं बहना चाहिए। वास्तव में बंग्ला, मराठी तथा गुजराती ने अंग्रेजी शासन के होते हुए भी महान प्रगति की है। उनमें ऐसी उत्तम रचनाएँ हुई हैं कि ससार के महानतम विद्वानों ने उनकी मुक्तकठ से प्रशसा

की। कोई भी इस विचार को सहन नहीं करेगा कि केवल एक भाषा रखने के लिए हमारे राष्ट्र की अनेकों सुदर भाषाएँ नष्ट कर दी जाएँ, जो विगत अनेक शताब्दियों से हमारे राष्ट्र की आत्मा की इतनी योग्यतापूर्वक अभिव्यक्ति करती आ रही हैं। अतएव अन्य भाषाओं के क्षेत्र में हिंदी द्वारा अतिक्रमण तथा आधिपत्य जमाने की आशका स्वार्थी राजनीतिज्ञों के द्वारा रचित एक कल्पना मात्र ही है।

वस्तुत हिंदी की उन्नति के साथ हमारी सभी भारतीय भाषाएँ फलें-फूलेंगी। हमारी भाषाओं की शत्रु तो अंग्रेजी है। एक बार तमिलनाडु के एक प्रमुख नगर में एक वकील ने कहा– 'हिंदी हमारी तमिल को नष्ट कर देगी।' किंतु जब उनसे पूछा गया कि 'वे न्यायालय में अंग्रेजी क्यों बोला करते हैं? तमिल क्यों नहीं बोलते जब कि उसका बोलना अनुमत है?' इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं था। यह बात केवल तमिल के ही सबध में नहीं, वरन् हमारी अन्य सभी भाषाओं के सबध में भी है।

इस प्रकार स्वराज के आगमन के पश्चात् भाषा भी विघटन का एक विषय हो गई है। भाषावार राज्यों के निर्माण ने राजनीतिज्ञ लोगों के मस्तिष्कों को भाषा-भक्ति के नाम पर सघर्षरत रखने का एक और साधन दे दिया है। यह अत्यत विचित्र है कि अग्रगण्य लोग भी अन्य भाषाओं पर कीचड उछालते रहते हैं। दक्षिण के एक अत्यत श्रेष्ठ व्यक्ति ने एक बार सार्वजनिक सभा में कहा था कि हिंदी में केवल दो ही महान रचनाएँ हैं। एक तो तुलसी की रामायण और दूसरा रेलवे टाइम टेबल। इसी प्रकार एक प्रसिद्ध मराठी नाटककार ने अपने एक पात्र से कहलवाया कि 'दक्षिणी भाषाएँ? कुछ ककड एक मिट्टी के पात्र में रखो, जोर से हिलाओ और वे भाषाएँ सुनो'। निस्सदेह यह विनोद में ही कहा गया, किंतु इस प्रकार का विघटनकारी भोलाभाला विनोद स्थिति को अधिक बिगाडेगा ही।

एक बडी काल्पनिक कहानी

आज विरोध एव विघटन की अनेक नवीन बातें उत्पन्न हो रही हैं। उदाहरण के लिए– आर्य-द्रविड विवाद अत्यत नया और कृत्रिम है। यह उन मूढ विश्वासों में से एक है, जिसे अज्ञानी सत्तालोलुप व्यक्तियों ने बडे प्रयास से निर्माण किया है। आरभ में इस देश में कोई भी जातिगत विभेद क्यों न रहे हों, किंतु वह समय एव इतिहास में घटित घटनाक्रम के प्रभाव से बहुत समय पूर्व लुप्त हो चुके हैं। दो सहस्र वर्ष पूर्व देश दो हिस्सों में

विभाजित माना गया था— 'पचगौड' और 'पचद्रविड'। इस बात की सज्ञा में दक्षिण का समावेश होता है। यह जातीय अभिधान नहीं, वरन् प्रादेशिक है। दक्षिण के भी लोग उतने ही आर्य माने जाते थे, जितने कि उत्तर के। हमारे देश में 'आर्य' शब्द सदैव सस्कृति का बोधक रहा है, जाति का नहीं। सपूर्ण पौराणिक साहित्य में पत्नी अपने पति को 'आर्य' शब्द द्वारा सबोधित करती है। निश्चय ही वे पत्नियाँ अनार्य नहीं होती थीं। 'आय' शब्द केवल अभिजात व्यक्तित्व का भाव व्यक्त करता था। हम श्रीकृष्ण को भी भगवद्गीता में इसी अर्थ में 'आर्य' शब्द का प्रयोग करते पाते हैं। जब कुरुक्षेत्र के युद्ध के प्रथम दिन अर्जुन का हृदय दुर्बल हो गया था, तब श्रीकृष्ण ने 'अनार्यजुष्टम' कहकर उसकी भर्त्सना की है, अर्थात् उसे इस भाव को अधम बताया है।

आज तो यह भी कल्पित किया जाता है कि राम और रावण का युद्ध आर्य और द्रविडों में युद्ध था। यह कथन हास्यास्पद है। रावण तो स्वय सस्कृत का महान पडित और शैव था। उसके विषय में तो यह भी कहा जाता है कि उसने सामवेद को सगीत के स्वरों में बॉधा था। उसके पिता वेश्रवा एव पितामह पुलस्त्य ब्राह्मण थे। यदि इसमें कुछ सत्य है, तो यही कि रावण दक्षिण को सता रहा था और राम ने दक्षिण के लागों को उसके दमन से मुक्ति दिलाई।

फिर हर्ष तथा पुलकेशी के सघर्ष को भी 'उत्तर द्वारा दक्षिण पर आधिपत्य-स्थापन करने का प्रयास तथा दक्षिण द्वारा उसका सफल प्रतिकार' कहा गया। किंतु पुलकेशी कोई द्रविड नहीं था और तमिल तो था ही नहीं। उसका राज्य गोदावरी के तट पर महाराष्ट्र में प्रतिष्ठानपुर में स्थापित हुआ था— जिसे आज 'पैठण' कहते हैं। कुछ भी हो, उन दोनों राजाओं में समझौता हो गया और वे मित्र बनकर रहे। उत्तर और दक्षिण का विवाद शुद्ध सत्ताप्राप्ति की राजनीति मात्र है, जिसे वर्तमान राजनीतिज्ञों ने उठा रखा है और जिन्हें सब प्रकार के विघटन के बीज बोने के लिए वर्तमान वातावरण अत्यत अनुकूल मिल गया है।

नवीन आविष्कार

हम यह भी देखते हैं कि ऐसे नितात नवीन अभिधान सामान्य प्रयोग में आने लगे हैं, जो समाज के एक भाग से दूसरे भाग की असमानता को व्यजित करते हैं। हमारे राष्ट्रजीवन के स्वाभाविक क्रम के

अनुसार कुछ लोग नगरों में निवास करते हैं जो मुख्य रूप से शिक्षित, नौकरी पेशा, उद्योगों में लगे हुए श्रमिक और व्यापारी हैं। कुछ अन्य जो मुख्य रूप से कृषक हैं, ग्रामों में रहते हैं। जो कुछ शेष बच जाते हैं व जगलों और पहाड़ों में रहते हैं। किंतु वे वनों में रहनेवाले वनवासी अब 'आदिवासी' कहे जाने लगे हैं। इसका अर्थ यह है कि अन्य लोग अनभिजात एव कहीं बाहर से आकर यहाँ बस जानेवाले हैं।

नगर निवासियों एव ग्रामवासियों के बीच भी एक कृत्रिम बाधा पैदा कर दी गई है। तथाकथित शिक्षित मनुष्य अपने को विशिष्ट वर्ग का अनुभव करता है और गाँव के लोगों को असस्कृत के रूप में नीची दृष्टि से देखता है। अग्रेजी शासनकाल में अग्रेजी पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने अग्रेज स्वामी के समान वेष-भूषा धारणकर उसी के समान व्यवहार करता था और साधारण लोगों को घृणा की भावना से देखता था। अग्रेजी शासनकाल की यह कुत्सित परपरा आज भी चालू है। आज भी अग्रेजी पढ़ा-लिखा व्यक्ति अपने को कुछ भिन्न तथा दूसरे लोगों से कुछ उच्च अनुभव करता है। आज तो शिक्षितों के लिए आह्वान है कि वे ग्रामों को लौटें तथा ग्रामवासियों के जीवन-स्तर को उन्नत करें। किंतु वास्तव में वहाँ कितने जाते हैं? ग्राम्यजीवन का विचार ही उनके हृदय को भयाकुल कर देता है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ग्रामों में रहनेवाला सामान्य जन ही है, जो हमारे राष्ट्र का वास्तविक आधार है। भूतकाल में भी जब कभी हमारे समाज पर विदेशी आक्रमणों की विभीषिका आई तब 'असभ्य ग्रामीण' और 'निरक्षर जनसमुदाय' कहे जानेवाले ही अनेक कष्टों और बलिदानों को सहन करते हुए स्वदेश एव स्वधर्म के उद्धार हेतु उठ खड़े हुए।

इस समय स्त्रियों के समानाधिकारों और उन्हें पुरुष की दासता से मुक्ति दिलाने के लिए भी एक कोलाहल है। भिन्न लिग होने के आधार पर विभिन्न सत्ता-केंद्रों में उनके लिए पृथक स्थानों के सरक्षण की माँग कर एक नए वाद, अर्थात् 'लिगवाद' को जन्म दिया जा रहा है। वह जातिवाद, सप्रदायवाद, भाषावाद, समाजवाद आदि के समान ही है।

महान एकता की अनुभूति चाहिए

यह हमारे भूत और वर्तमान काल का चित्र है। यह दृश्य देखकर स्वाभाविक ही इस भूमि के प्रत्येक पुत्र को उमग आना चाहिए कि अति प्राचीन सामाजिक एकात्मकता को अतीव क्षुद्रावस्था में पुनरुज्जीवित किया

जाए। हमारा सपूर्ण समाज साक्षात् ईश्वर के रूप में हमारे हृदयों में पुन प्रतिष्ठित होना चाहिए। वास्तव में यही एकत्व की भावना हमारी प्राचीन सस्कृति का अमर संदेश रही है। ससार के अन्य लोग ईश्वर के पितृत्व एव मनुष्य के भ्रातृत्व तक पहुँचकर रुक गए, किंतु हम बहुत आगे तक बढ चुके हैं। हमने तो ब्रह्म से लेकर जड पदार्थपर्यंत एकत्व का अनुभव किया है।

अत हम वह शुद्ध एकत्व की भावना पुनरुज्जीवित करें, जिसका प्रादुर्भाव इस अनुभूति के द्वारा होता है कि हम सभी इस महान पवित्र जन्मभूमि भारतमाता के पुत्र हैं। हम उन विविध असगत स्वरों को रोक दें, जो जाने या अनजाने में उठ रहे हैं और जिनके द्वारा हममें विच्छेद एव भ्राति उत्पन्न होती है। हमें कहानी के उन अंधों के समान नहीं होना चाहिए जिन्होंने हाथी के विभिन्न अगों को छूकर अपना-अपना निजी वर्णन उस पशु के स्वरूप के सबध में प्रस्तुत किया था। एक ने उसकी टॉगों को पकडा और खम्भे से उसकी तुलना की, दूसरे ने सूँड को स्पर्श करके सर्प के समान बतलाया तथा एक अन्य ने उसके पेट का आलिगन कर उसे बडे ढोल के समान बताया। इसी प्रकार औरों ने भी उस हाथी के स्वरूप का वर्णन किया। उनमें से प्रत्येक आशिक रूप से सही था, किंतु सपूर्ण रूप से उस पशु के आकार के विषय में सभी गलत थे।

हमारे समाज-पुरुष की सभी धमनियों में एक बार यह एकता का जीवन-स्रोत प्रवाहित होना आरभ हो जाए, तो हमारे राष्ट्रजीवन के सभी अग स्वत क्रियाशील हो जाएँगे तथा सपूर्ण राष्ट्र के कल्याण के हेतु मिलकर कार्य करने लगेंगे। इस प्रकार का जीवित और वर्धमान समाज अपनी प्राचीन पद्धतियों एव प्रतिमानों में से जो कुछ आवश्यक है और जो हमें प्रगति के पथ पर अग्रसर करनेवाला है, उसे सुरक्षित रखेगा तथा शेष को, जिनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है, फेंक देगा एव उनके स्थान पर नवीन पद्धतियों का विकास करेगा। किसी को भी प्राचीन व्यवस्था के समाप्त होने पर आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं है और न नवीन वस्तुओं की व्यवस्था के स्वागत में पीछे हटने की ही आवश्यकता है। यही सजीव एव वर्धमान शरीरधारियों की प्रकृति होती है। ज्यों-ज्यों वृक्ष बढता है, पकी पत्तियाँ और सूखी टहनियाँ झड जाती हैं और उस वृक्ष की नूतन वृद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त करती हैं। ध्यान में रखने की मुख्य बात यही है कि एकता का जीवन-रस हमारे समाज के ढाँचे के प्रत्येक भाग में परिव्याप्त रहे। प्रत्येक पद्धति अथवा प्रतिमान उस जीवन-रस के पोषण में जितना

उपयोगी है, उसी के अनुसार वह जीवित रहेगा, परिवर्तित होगा और यदि अनुपयोगी हो गया है, तो लुप्त भी हो जाएगा। अतएव वर्तमान सामाजिक सदर्भ में सब पद्धतियों के भविष्य के विषय में वाद-विवाद करना बेकार है। इस समय की सबसे महत्त्वपूर्ण पुकार यही है कि अतर्निहित एकता की भावना को पुनर्जीवित किया जाए और हमारे समाज में जीवन हेतु उसकी उपयोगिता की चेतना जागृत हो। अन्य सब बातें स्वत ठीक हो जाएँगी।

जन्म से कर्तव्य

हम सब ध्यान में रखें कि यह एकता हमारे रक्त में जन्मजात एव दृढनिविष्ट है, क्योंकि हम सभी ने हिंदू के रूप में जन्म लिया है। आज के कुछ बुद्धिमान हमसे कहते हैं कि कोई व्यक्ति हिंदू, मुसलमान अथवा ईसाई के रूप में पैदा नहीं होता, वरन् केवल मानव के रूप में पैदा होता है। यह दूसरों के लिए चाहे सत्य हो, पर हिंदू के लिए नहीं है, क्योंकि उसका प्रथम सस्कार तभी हो जाता है, जब वह अपनी माता के गर्भ में होता है और अतिम सस्कार तब होता है, जब उसका शरीर अग्नि को समर्पित कर दिया जाता है। हिंदू के लिए जो कुछ हिंदुत्व है, उसका निर्माण करने के लिए सोलह सस्कार होते हैं। वास्तव में अपनी माता के गर्भ से उत्पन्न होने के भी पूर्व हम हिंदू हैं। अत हम हिंदू के रूप में ही जन्म लेते हैं। दूसरों के विषय में यह है कि वे इस ससार में बिना नाम के मानव के रूप में जन्म लेते हैं, तत्पश्चात् सुन्नत अथवा बपतिस्मा द्वारा मुसलमान अथवा ईसाई हो जाते हैं।

अतएव अपने समाज में ऐक्य एव एकात्मकता को पुष्ट करना जन्म से ही हमारा कर्तव्य है। वह तो हमारा सहज कर्म है। जो हमारा सहज कर्म है वह यदि दोषपूर्ण प्रतीत हो तो भी त्यागना नहीं चाहिए। गीता कहती है-

सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् (१८/४८)

अत यह देखना हमारा सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है कि वर्तमान भेदभाव एव विरोध जो हमारे समाज की जीवनीशक्ति को क्षीण कर रहे हैं, दूर हों और हमारा सपूर्ण समाज एक बार पुन सगठित एव सामजस्य से पूर्ण हो।

हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि अन्य सभी प्रलोभन, जैसे-राजनीति आदि हमारे जीवन में ज्यों-ज्यों हम बडे होते हैं, आते-जाते हैं। राजनीति एव अन्य तत्त्व अस्थायी तथा ऊपरी मात्र हैं। राजनीतिक दल निर्माण होते हैं और विलीन हो जाते हैं। आज भी कतिपय दल एक-दूसरे

के विरुद्ध व्यूह-रचना किए खडे हैं और कौन जानता है कि जो दल आज जनप्रियता के चरम बिंदु को प्राप्त किए हुए है, वे कल गिर जाएँ और दूसरा दल उसका स्थान ग्रहण कर ले। राजनीतिक दल निसर्गत अस्थायी होते हैं, किंतु समाज तो शाश्वत एवं अमर है। कितने ही राजा और राजवंश, कितनी ही शासन-पद्धतियाँ एवं कितने ही राजनीतिक तथा आर्थिक रचनाक्रम गत सहस्रों वर्षों में आए और चले गए, किंतु रक्त और इतिहास के बंधनों में आबद्ध समाज के रूप में हम एक एवं पूर्ण बने रहे। अतएव हमें विवेचन करना चाहिए कि क्या स्थायी है और क्या अस्थायी। जो स्थायी है, उसे ग्रहण करना चाहिए। यदि अस्थायी स्थायी के मार्ग में आता है, तो उसे त्यागना चाहिए–

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि।।

(पंचतंत्र, मित्रसम्प्राप्ति १४२)

(जो मनुष्य स्थायी को छोडकर अस्थायी के पीछे दौडता है, उसके पास जो भी स्थायी वस्तु है, वह भी नष्ट हो जाती है और अस्थायी का तो नाश हो जाना निश्चित ही है।)

समाज स्थायी है और राजनीति अध्रुवम् (अस्थायी) है। यदि राजनीति की दौड में हम समाज को त्याग देंगे और उसकी आंतरिक एकता नष्ट कर देंगे, तो हम अपने मौलिक कर्तव्य के विरुद्ध कार्य करेंगे।

शुद्ध भक्ति के लिए आह्वान

अतएव एकात्म एवं संपूर्ण हिंदू-समाज हम सबके लिए भक्ति का एक केंद्र-बिंदु होना चाहिए। इस समाज की भक्ति के मार्ग में अन्य कोई भी विचार चाहे वह जाति, पंथ, भाषा अथवा दल का हो, नहीं आने देना चाहिए। यही सच्ची भक्ति की कसौटी है। मीरा के जीवन की एक अति प्रसिद्ध आख्यायिका है। जब उसके अपने ही संबंधियों द्वारा उसकी कृष्णभक्ति में बाधा उपस्थित की गई, तब उसने गोस्वामी तुलसीदास को एक पत्र लिखा और इस विषय में उनका उपदेश माँगा। उन्होंने इसका उत्तर एक सुंदर कविता में दिया, जो विनयपत्रिका में है–

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही।

इसका अर्थ यही है कि जो राम को अर्थात् जो भक्त का है

उसे प्यार नहीं करते और बाधा के रूप में आ जाते हैं, उन्हें कोटि शत्रु के समान त्याग देना चाहिए, चाहे वे अत्यत निकट सबधी एव प्रिय ही क्यों न रहे हों। पश्चात् उन्होंने उदाहरण दिए हैं जिनमें अपने इष्ट की भक्ति के लिए माता, पिता तथा अन्य सबधियों को त्याग दिया गया है। अतएव आज अपने इस प्रत्यक्ष देवता हिंदू-समाज की भक्ति में विघ्न उपस्थित करनेवाले अपने मन के सभी अतर्वेगों को त्यागना होगा, क्योंकि वे अपने समाज की आतरिक एकता को खडी करने और सशक्त बनाने के अत्यावश्यक एव प्रमुख कर्तव्य के मार्ग में बाधा-रूप में आते हैं।

अस्तु, हम समस्त विघ्नों एव बाधाओं को डुबाते, हटाते हुए अपनी अतर्जात एकात्मता को प्रत्येक हिंदू के घर-द्वार तक पहुँचाने के लिए उठें और प्रत्येक हिंदू के हृदय में एक सजीव समाज-देवता की दीप्तिमान ज्योति की अनुभूति उसकी विविध अभिव्यक्तियों के साथ प्रज्ज्वलित करें।

४ पौरुषयुक्त राष्ट्रजीवन के हेतु

राष्ट्र एक भावात्मक बोध

राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के सस्थापक डाक्टर केशव बलिराम हेडगेवार अपने बाल्यकाल से ही राष्ट्रभक्त थे और उस समय मातृभूमि की भक्ति हेतु चलनेवाले विविध आदोलनों में उन्होंने भाग लिया था। बहुत वर्षों तक वे क्रातिकारी आदोलनों में भी रहे। बाद में वे भारतीय महासभा (काग्रेस) के आदोलनों तथा सगठनात्मक कार्य में जुट गए।

किंतु शीघ्र ही उन्होंने यह स्पष्ट ज्ञात कर लिया कि उन सभी आदोलनों के अतर्गत केवल अग्रेजों को निकाल बाहर करने की ही भावना है और यही भावना राष्ट्रीयता के समानार्थी समझी जाती है। उस समय के अधिकतर प्रमुख व्यक्तियों के लिए 'अग्रेज-विरोध' तथा 'राष्ट्रीयता' पर्यायवाची शब्द थे। हमारे सघ के सस्थापक ऐसे छिछले विचारों से सतुष्ट नहीं हुए। वे अपने राष्ट्र तथा अन्य राष्ट्रों के इतिहास के गभीर अध्ययन के द्वारा यह जानते थे कि राष्ट्र की कल्पना तो भावात्मक है। वह किसी अन्य के विरोध पर निर्भर नहीं होती। वे यह भी जानते थे कि राष्ट्र के लक्ष्य की प्रारभिक

कल्पना की स्वल्प-सी विकृति हमारे उद्देश्य के श्रेष्ठतम होते हुए भी ऐसे दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों की दिशा में ले जाएगी, जहाँ से हम लौट नहीं सकेंगे। हमारा भाग्य उस व्यक्ति के समान होगा, जिसने विनायक की प्रतिमा बनाना आरम्भ किया, किंतु समाप्ति पर बंदर की प्रतिमा बनी— 'विनायक प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्।

इन विषयों पर गंभीर मनन के पश्चात् डाक्टर हेडगेवार ने अपने राष्ट्रत्व की वास्तविक, भावात्मक एवं चिरकालिक कल्पना के आधार पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को आरंभ करने का निर्णय किया।

हमारी राष्ट्रीयता की वह वास्तविक कल्पना क्या है? पहले हम, जिस प्रकार इसकी कल्पना आधुनिक संसार में समझी और व्यवहार में लाई जाती है, इसे निर्देशित करें और उसका विश्लेषण करें। यह वर्तमान संदर्भ में विषय के विवेचन में सहायक होगी।

आधुनिक विद्वानो के कथन

पश्चिम में 'राष्ट्र' की कल्पना का प्रारंभ में आविर्भाव इस प्रकार हुआ। सर्वप्रथम विविध जनसमुदायों ने अपने-आपको किसी प्रकार की प्रादेशिक सीमाओं के अंतर्गत मर्यादित कर लिया। किसी विशिष्ट प्रदेश में रहनेवाले जनों में यह भावना उदय हुई कि वे उस भूमि के पुत्र हैं, उनकी अपनी एक जीवन-पद्धति है, जिसको उन्हें सुरक्षित रखना है तथा उनके स्वार्थ इसी प्रकार के अन्य जनसमुदायों से भिन्न हैं। संक्षेप में, उनका एक अलग एवं विशिष्ट अस्तित्व है। इस प्रकार वे एक सुगठित एवं अविभाज्य समुदाय बन गए। समय-समय पर और विभिन्न देशों में विचारवान अग्रणी पुरुषों ने इन समुदायों का परिचय देने के लिए 'राष्ट्र' की भावना को अभिव्यक्त किया है। यदि हम उनके द्वारा की गई अनेकों अभिव्यक्तियाँ एवं परिभाषाएँ संकलित करके उनका सार निकालें तो हमें कुछ निश्चित एवं सरल निष्कर्ष प्राप्त होते हैं।

किसी राष्ट्र के लिए प्रथम अपरिहार्य वस्तु एक भूखंड है, जो यथासंभव किन्हीं प्राकृतिक सीमाओं से आबद्ध हो तथा एक राष्ट्र के रहने और वृद्धि एवं समृद्धि के लिए आधार रूप में काम दे। द्वितीय आवश्यकता है उस विशिष्ट भू-प्रदेश में रहनेवाला समाज, जो उसके प्रति मातृभूमि के रूप में पूज्य भाव विकसित करता है तथा अपने पोषण, सुरक्षा और समृद्धि के स्थान के रूप में उसे ग्रहण करता है। संक्षेप में, वह समाज उस भूमि

के पुत्र-रूप में स्वय को अनुभव करे।

यह समाज केवल मनुष्यों का एक समुच्चय ही नहीं होना चाहिए, विजातीय व्यक्तियों का किसी स्थान पर एकत्रीकरण मात्र नहीं चाहिए, उनके जीवन की एक विशिष्ट पद्धति बनी होनी चाहिए, जिसको जीवन के आदर्श, सस्कृति, अनुभूतियों, भावनाओं, विश्वास एव परपराओं के सम्मिलन के द्वारा एक स्वरूप दिया गया हो। इस प्रकार जब समाज समान परपराओं एव महत्त्वाकाक्षाओं से युक्त, अतीत के जीवन की सुख-दुख की समान स्मृतियों और शत्रु-मित्र की समान अनुभूतियोंवाला तथा जिनके सभी हित सग्रथित होकर एकरूप हो गए हैं, इस सुव्यवस्थित रूप में सगठित हो जाता है, तब इस प्रकार के लोग उस विशिष्ट प्रदेश में पुत्र के रूप में निवास करते हुए एक राष्ट्र कहे जाते हैं।

हिंदू – भारत का पुत्र

यदि हम अपने देश पर ससार के सभी विद्वानों द्वारा मानी हुई यह परिभाषा लागू करें तो हम देखेंगे कि हमारा महान देश उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण महासागर तक तथा उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में फैली हुई हिमालय की शाखाओं एव उनके अतर्गत भू-प्रदेशों से युक्त तथा अपने दक्षिण महासागर स्थित द्वीपसमूह के साथ एक महान नैसर्गिक इकाई है। हमारा सुविकसित समाज यहाँ इस भूमि की सतान के रूप में सहस्रों वर्षों से निवास कर रहा है। यह समाज विशेषतया आधुनिक काल में हिंदू-समाज के नाम से जाना गया है, क्योंकि वे हिंदू-समाज के ही पूर्वज थे, जिन्होंने मातृ-भू के लिए प्रेम तथा भक्ति के आदर्श एव परपराएँ निश्चित कीं। उन्होंने अपनी मातृ-भू की सजीव एव अखड प्रतिमा को समाज के मस्तिष्क में सदैव उज्ज्वल बनाए रखने हेतु तथा उसकी दिव्य सत्ता के प्रति भक्ति जागृत रखने हेतु विविध कर्तव्यों और कृत्यों को भी निर्दिष्ट किया। वे ही थे, जिन्होंने इस मातृ-भू की अखडता एव पावित्र्य की रक्षा के लिए अपने रक्त को बहाया। यह सब कुछ केवल हिंदू-समाज द्वारा ही किया गया। इस तथ्य का साक्षी हमारा सहस्रों वर्षों का इतिहास है। इसका अर्थ है कि केवल हिंदू ही इस भूमि की सतान के रूप में यहाँ रहता आया है। अति प्राचीनकाल से आज तक के हमारे सभी महान पुरुषों ने अपने-अपने जीवन एव उदाहरणों द्वारा इस पावन सबध-सूत्र के सातत्य को पुष्ट किया है।

मातृ-भू की इस सयुक्त उपासना ने हमारे सपूर्ण समाज में कश्मीर से कन्याकुमारी तक एव वनवासी से नगरवासी तक एक-दूसरे के प्रति एक रक्त-सवध स्थापित किया। ये सभी जातियाँ, ईश्वर की उपासना के विविध मार्ग तथा विविध भाषाएँ एक महान सजातीय ठोस हिदू-समाज की अभिव्यक्तियाँ हैं, जो इस मातृभूमि की सतान हैं।

सास्कृतिक सहचारिता

हमारे हिदू-समाज का एक आदर्श रहा है और वह है चरम सत्य की अनुभूति। इसी आदर्श के अनुरूप हमारा एक धर्म है, जो अपने दृष्टिकोण की व्यापकता में अतुलनीय है तथा मानव-जीवन के सभी स्तरों एव पहलुओं को आवेष्टित करता है। हमारी एक जीवनधारा है, जिसे हम 'सस्कृति' कहते हैं। जो अति उदात्त गुण– पवित्रता, चारित्र्य, धैर्य एव आत्मबलिदान की भावना को व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में निविष्ट कराती हुई उसे मानव सत्ता के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त करने की योग्यता प्रदान करती है। ऐहिक को एक अलौकिकता प्रदान करती हुई इस सस्कृति की छाप हमारे दैनिक जीवन में व्यक्त होती है। उदाहरण के लिए– हमारा यह सामान्य नियम है कि प्रत्येक स्त्री को चाहे वह छोटी बालिका ही क्यों न हो, हम 'माँ' कहकर पुकारते हैं। हम अपनी अनेक बोलियों में भी जो शब्द प्रयोग करते हैं, वह भी इस अर्थ को व्यक्त करते हैं। इसका यह आशय है कि पत्नी को छोडकर अन्य प्रत्येक स्त्री, वह चाहे जिस अवस्था एव प्रतिष्ठा की हो, पुरुष के लिए माता का व्यक्त रूप है। यह हमारी सस्कृति का विशिष्ट स्वरूप है।

शिवाजी का प्रसिद्ध उदाहरण है कि उन्होंने कल्याण के मुसलमान सूबेदार की सुदरी पुत्र-वधू को नाना प्रकार के उपहारों के साथ अत्यत सम्मानपूर्वक लौटा दिया था। यद्यपि यह बात विदेशी, विशेषतया मुसलमान इतिहासकारों को अपवादस्वरूप प्रतीत होती है, परतु इस देश की उदात्त सस्कृति के प्रतीकस्वरूप एक अति साधारण उदाहरण है। यहाँ का सामान्य जन तक इसका भागीदार है।

इसी तथ्य को प्रकट करनेवाला उस समय का एक और उदाहरण है। जब गाँधी जी की हत्या के पश्चात् उपद्रव हो रहे थे, अराष्ट्रीय एव विध्वसक तत्त्वों द्वारा जब निर्दोष जनता की हत्या, लूट तथा अग्निकाडों का प्रचड ताडव हो रहा था। उस समय एक इसी प्रकार की घातक भीड ने

एक मकान पर आक्रमण किया। उस घर में केवल एक महिला थी। भय के कारण उसने द्वार खोल दिए। उसे अकेला देखकर वह भीड कुछ देर के लिए रुक गई। कुख्यात आततायी लोग उस भीड का नेतृत्व कर रहे थे। फिर भी हमारी सस्कृति के 'मातृवत् परदारेषु' आह्वान, जो उन लोगों के रक्त में था, ने उस महिला के साथ अत्यत सम्मान का व्यवहार करवाया। उन्होंने उससे कहा कि वे आग लगाने तथा लूटने आए हैं, किंतु उसे सुरक्षित स्थान पर पहुँचाने का प्रबध कर देंगे। अस्तु, उन्हीं में से दो को रक्षक के रूप में उस महिला को साथ ले जाने के लिए नियुक्त कर दिया गया। सहस्रों वर्षो का विदेशियों का विनाशकारी प्रभाव तथा हमारे वर्तमान तथाकथित उच्च वर्ग में सवतोमुखी भयकर अनैतिकता के होते हुए भी हमारे सामान्य जन में आज भी इस प्रकार के चरित्र के श्रेष्ठ उदाहरण मिलते हैं। हमारे हृदय में पोषित हुई इस प्रकार की घटनाएँ अन्य लोगों से भिन्न विशुद्ध एव उदात्त सस्कृति की कल्पना देती हैं। इसने हमें एक ऐसा स्वरूप प्रदान किया है, जो पूर्ण रूप से हमारा है।

इन सहस्रों वर्षो में हमने असख्य सत-महात्माओं, शूरवीरों एव ऐसे उद्धारकों की एक दीप्तिमयी परपरा को उत्पन्न किया है, जिन्होंने परमात्मा की खोज के मार्ग पर हमारा नेतृत्व किया है और भौतिक सपत्ति तथा सम्मान के अर्जन में हमारा मार्गदर्शन किया है। विविध प्रकार के व्यक्तियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्होंने एक समाज-व्यवस्था को जन्म दिया, सपत्ति के योग्य उत्पादन एव वितरण के लिए आर्थिक पद्धतियों का विकास किया तथा व्यवस्थित सामाजिक विकास की धारणा एव रक्षा हेतु राजनीतिक सस्थाओं का निर्माण किया। यहाँ इन अनेक शताब्दियों के हमारे अस्तित्व के परिणामस्वरूप हमें वैभव एव विपत्ति तथा मित्र एव शत्रु की अनुभूतियाँ समान भाव से हुई हैं, जिनके कारण हमारे सभी हित अपृथक रूप से एक साथ मिल गए हैं।

जब कभी गलती से हम परस्पर लड़े और यह विचार किया कि एक विशेष वर्ग के हित, दूसरे वर्ग के हितों के विरुद्ध हैं तथा परस्पर विरोधी राज्यों का विकास किया, तब-तब हम विदेशियों के विरुद्ध युद्ध में पराजित हुए और हीन दासता एव दैन्य को प्राप्त हुए। यही परिणाम उस समय भी रहा, जब हमारे समाज का एक भाग किसी विदेशी शक्ति के विरोध में रहा तथा दूसरे भाग ने उसी विदेशी शक्ति को भूल से मित्र समझा। पृथ्वीराज चौहान का उदाहरण इसी प्रकार का है। उसका शत्रु

मुहम्मद गोरी था। जयचद ने मुहम्मद गोरी से मित्रता स्थापित की। यहाँ पर हमारे देश के दो प्रमुख व्यक्तियों में से एक उसी आक्राता का शत्रु तथा दूसरा मित्र बना। परिणाम यह हुआ कि पृथ्वीराज पराजित हुआ और मारा गया। पर जयचद भी नष्ट हुआ और मुहम्मद गोरी राजा हुआ। फलत एक के पश्चात् दूसरी विपत्तियाँ, जिन्हें हम आठ सौ वर्षो से भोग रहे हैं एव वर्तमान काल में हमारे देश के विभाजन के रूप में पराकाष्ठा पर पहुँच गई हैं, हमारे ऊपर छाने लगीं। इसके विपरीत चाहे अल्पकाल के लिए ही क्यों न हो, जब कभी हमने यह अनुभव किया कि हमारे हित अविभक्त हैं, हमारे मित्र एव शत्रु सभी के लिए समान हैं, तब-तब हमारे राष्ट्रजीवन में ऐसी महत् शक्ति का उद्भव हुआ कि विदेशी शक्ति चूर-चूर होकर हमारे पैरों पर लोटने लगी। अस्तु, एक पूर्ण राष्ट्र के निर्माण के लिए सभी आवश्यक तत्त्वों की पूर्ति इस प्रकार इस महान हिदू-समाज के जीवन में हो जाती है। इसलिए हम कहते हैं कि हमारे इस भारत देश में हिदू-समाज का जीवन ही राष्ट्रजीवन है। सक्षेप में यह कि यह 'हिदू-राष्ट्र' है।

दो विरोधो का सगम

किंतु जब हम राष्ट्र की कल्पना की व्याख्या करते हुए धर्म एव सस्कृति का उल्लेख करते हैं, तब हमारे देश के कुछ तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी बेचैन हो जाते हैं। वे इन शब्दों को सुनकर पूछने लगते हैं कि राजनीति में धर्म को क्यों लाते हो? हम उस स्टालिन का उदाहरण लें, जिसने ईश्वर एव धर्म पर सब प्रकार से आक्षेप किए और कहा कि यह तो अज्ञ जनों को ठगने के लिए अफीम मात्र है। राष्ट्र-कल्पना की व्याख्या करते हुए एक बार उसने कहा है कि एक भू-प्रदेश में रहनेवाले जनों का केवल आर्थिक अथवा राजनीतिक सामान्य हितों के आधार पर ही राष्ट्र नहीं बन जाता, वरन् वह तो एक अभौतिक भावनाओं की सजातीयता है।

आधुनिक काल में हमारे राष्ट्रीय पुनरुज्जीवन के महान अग्रदूत स्वामी विवेकानद ने भी बार-बार असदिग्ध शब्दों में यह घोषित किया कि यह हिदू-राष्ट्र है और हमारे सामने महान हिदू आदर्शो के रूप में गुरु गोविदसिह एव छत्रपति शिवाजी को रखा। वास्तव में उन्होंने हमारे राष्ट्र के घटक उन लोगों को बताया, जिनके हृदयों का स्पदन एक आध्यात्मिक लय के अनुसार होता हो।

अस्तु, हम कहते हैं कि हमारा हिदू-राष्ट्र एक सत्य है, जो

तर्कशुद्ध, अनुभवशुद्ध एवं इतिहासशुद्ध है। यह हमारे राष्ट्रजीवन का सबसे महान और ठोस तथ्य है। यह कोई चातु सामयिक 'वाद' नहीं है, जो किन्हीं राजनीतिक और आर्थिक सिद्धांतों अथवा सामयिक आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ हो।

राष्ट्रीयता की कसौटी

जब हम कहते हैं कि यह 'हिंदू-राष्ट्र' है, तब कुछ लोग तुरत प्रश्न करते हैं कि जो मुसलमान और ईसाई यहाँ रहते हैं, उनके विषय में आप क्या कहते हैं? क्या वे भी यहाँ उत्पन्न नहीं हुए तथा यहीं उनका पालन-पोषण नहीं हुआ? वे धर्म के परिवर्तन से ही परकीय कैसे हो गए? किंतु निर्णायक बात तो यह है कि क्या उन्हें यह स्मरण है कि वे इस भूमि की संतान हैं? केवल हमारे ही स्मरण रखने से क्या लाभ? यह अनुभूति एवं स्मृति उन्हें पोषित करनी चाहिए। हम इतने क्षुद्र नहीं कि यह कहने लगें कि केवल पूजा का प्रकार बदल जाने से कोई व्यक्ति उस भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं है। हम संघ के लोग पूर्णरूपेण हिंदू हैं, इसीलिए हममें प्रत्येक पंथ और सभी धार्मिक विश्वासों के प्रति सम्मान का भाव है। जो अन्य पंथों के प्रति असहिष्णु है, वह कभी भी हिंदू नहीं हो सकता। किंतु अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि जो मुसलमान और ईसाई हो गए हैं, उनका भाव क्या है? निस्संदेह वे इसी देश में पैदा हुए हैं, किंतु क्या वे इसके प्रति प्रामाणिक हैं? इस मिट्टी के ऋणी हैं? क्या वे इस देश, जहाँ उनका पालन-पोषण हुआ है, के प्रति कृतज्ञ हैं? क्या वे अनुभव करते हैं कि वे इस देश और इसकी परंपराओं की संतति हैं और इसकी सेवा करना उनके भाग्य की धन्यता है? क्या उसकी सेवा वे अपना कर्तव्य मानते हैं? परंतु हम देखते हैं कि धर्म-परिवर्तन के साथ ही उनकी राष्ट्र के प्रति प्रेम एवं भक्ति की भावना समाप्त हो गई है।

यहीं तक नहीं, वरन् उनमें तो इस देश के शत्रुओं के साथ अभिन्नता की अनुभूति भी विकसित हो गई है। वे अपनी पवित्र भूमि के रूप में किन्हीं अन्य देशों की ओर देखते हैं। वे अपने को शेख और सैयद कहते हैं। शेख और सैयद तो अरब की जातियाँ हैं। ये लोग कैसे इस प्रकार का अनुभव करने लगे कि ये उनके वंशज हैं? इसका कारण है कि उन्होंने अपने इस देश से आबद्ध करनेवाले सभी पूर्व पारंपरिक राष्ट्रीय

सबध-सूत्र काटकर अलग कर दिए हैं और मानसिक रूप से अपने को आक्राताओं से एक कर लिया है। वे आज भी यही सोचते हैं कि वे केवल इस देश को विजय करके यहाँ राज्य स्थापित करने आए हैं। हम कहते हैं कि यह बात धर्म-परिवर्तन की ही नहीं है, उनके राष्ट्रीय तादात्म्य में भी परिवर्तन आ गया है। अपने मातृ-राष्ट्र को सकट में छोडकर शत्रु से मिल जाना राजद्रोह नहीं तो और क्या है?

एक बार एक वरिष्ठ अमरीकी प्रोफेसर ने मुझसे प्रश्न किया— 'मुसलमान और ईसाई भी इसी देश में हैं। आप उन्हें अपने ही में से क्यों नहीं समझते?' उत्तर में मैंने उन्हीं से एक प्रश्न किया— 'मान लीजिए कि हमारे देश का ही कोई व्यक्ति अमरीका जाता है और वहाँ का नागरिक बनना चाहता है, किंतु आपके लिंकन, वाशिंगटन, जेफरसन तथा अन्य राष्ट्रीय महापुरुषों को स्वीकार करने से इनकार करता है। स्पष्ट उत्तर दीजिए कि क्या आप उसे अमरीका का राष्ट्रीय कहेंगे?' उन्होंने कहा— 'नहीं।'

तब मैंने उनसे कहा कि हमारे देश के लिए भी उसी कसौटी का प्रयोग क्यों नहीं किया जाना चाहिए? आप कैसे कह सकते हैं कि जो यहाँ रहते हुए हमारे देश के सम्मान एव परम्पराओं के विरोध में कार्य करते हैं तथा हमारे राष्ट्रीय महापुरुषों एव राष्ट्रीय श्रद्धा की वस्तुओं का अपमान करते हैं, उन्हें 'राष्ट्रीय' कहना चाहिए?

पोषण नहीं, वरन् सस्कृति का महत्त्व है

किसी व्यक्ति को किसी देश में जन्म तथा पालन-पोषण होने मात्र से ही उस भू-भाग के राष्ट्रीय होने का अधिकार नहीं मिल जाता। इसके लिए उसमें तदनुरूप मानसिक प्रतिमान की आवश्यकता होती है। राष्ट्रीयता के लिए मानसिक निष्ठा एक ऐसा तत्त्व है, जिसे सपूर्ण ससार स्वीकार करता है।

हमारे लिए यह प्राचीन कथा उपदेशप्रद हो सकती है। एक बार एक सिंहनी को वन में घूमते हुए एक नवजात सियार का बच्चा मिला। वह उसे अपनी गुफा में ले आई। सिंहनी के अपने बच्चे भी थे। उसने अपने बच्चों के साथ उस सियार शिशु को भी अपने दूध से पालना आरभ कर दिया। वे सब बडे होने लगे और भाई-भाई की भाँति खेलने लगे। एक बार जब वे एक घने वन में थे कि उसी मार्ग से एक हाथी आया। सियार का

वच्चा उस विशालकाय पशु को देखकर भय से चिल्लाने लगा और अपने भाइयों को भाग चलने के लिए कहने लगा। सिह के शावक ने कहा कि तुम कैसे मूर्ख हो? कितने दिनों वाद तो हमें इतना अच्छा शिकार मिला है। यदि तुम्हें भय है तो तुम घर जाओ, हम तो लडेंगे। वह सियार का वच्चा दौडता हुआ गुफा में आया और सिहनी से कहा कि मुझ ज्येष्ठ के उपदेश पर ध्यान न देने से वे छोटे भाई कैसे महान सकट में फँस गए हैं? सिहनी ने मुस्कराकर उस बच्चे से कहा-- 'निस्संदेह तुम मेरा दूध पीकर बडे हुए हो, किंतु तव भी तुम अपनी प्रकृति से भिन्न कैसे हो सकते हो?'

शूरोऽसि कृतविद्योऽसि दर्शनीयोऽसि पुत्रक।
यस्मिन् कुले त्वमुत्पन्न गजस्तत्र न हन्यते।।

(पचतत्र, लब्धप्रणाशम्, ३६)

(हे पुत्र! इसमें कोई सदेह नहीं कि तुम वीर हो, चतुर, विद्वान और दर्शनीय हो, परतु जिस कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है, उस कुल के लोग हाथी नहीं मार सकते।)

यही बात राष्ट्रों के सबध में भी लागू होती है। किसी विशिष्ट प्रदेश में साधारण रूप से निवास-मात्र समान चारित्र्य एव गुणों से सपन्न एकात्म राष्ट्रीय समाज का निर्माण नहीं कर सकता। नवागतों को अपने जीवन के दृष्टिकोण में ऐसा आमूल परिवर्तन लाना चाहिए कि मानो प्राचीन राष्ट्रीय कुल-परपरा में ही उनका पुनर्जन्म हुआ हो।

आदर्श जनतत्रात्मक देश इग्लैंड का एक उदाहरण अत्यत शिक्षाप्रद है। सौ वर्ष से अधिक समय पूर्व कुछ जर्मन लोग वहाँ वस गए थे और उन्हें वहाँ की नागरिकता के अधिकार भी दे दिए गए थे। वे परकीय नहीं समझे जाते थे। उनमें से एक आई सी एस होकर हमारे देश में इग्लैंड के सेवक के रूप में आया और मध्यप्रदेश में किसी पद पर नियुक्त किया गया, किंतु जब सन् १९१४ में युद्ध आरभ हुआ, तब उसे तुरत बदी बनाकर जेल भेज दिया गया। जर्मन देश के प्रति उसकी आसक्ति कहीं उभड न जाए-- इस संदेह मात्र से ही वह प्रतिवधित रहा। यह उनकी राष्ट्रीयता की परिपक्व और सही धारणा है।

यही वात हमारे देश के लिए भी है। हमारे देश में समान रूप से निवास, जन्म और वृद्धि मात्र यह सूचित नहीं करता कि इसके सभी निवासियों में एक समान निष्ठाओं, गुणों एव प्रतिमानों का अस्तित्व है।

हम यही कहते हैं कि मुसलमान और ईसाइयों को चाहिए कि वे अपने वर्तमान विदेशी मानसिक भाव को त्यागें और हमारे राष्ट्रजीवन की सामान्य धारा में अपने को मिला दें।

प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि केवल मुट्ठी भर मुसलमान यहाँ शत्रु एव आक्राता के रूप में आए थे। अब मुसलमान और ईसाइयों की सख्या बढ गई है। वे मछलियों के समान प्रजनन की रीति से नहीं बढे हैं। उन्होंने स्थानीय जनों का धर्म-परिवर्तन किया है। हम अपनी वश-परपरा के समान उद्गम तक पहुँच सकते हैं, जहाँ से एक भाग हिदुओं से लिया जाकर मुसलमान हो गया और दूसरा ईसाई हो गया। शेष धर्मातरित नहीं किए जा सके और वे हिंदू बने रहे। अब यह भी विचार करें कि उन्होंने अपना परपरागत गृह किस प्रकार छोडा? क्या स्वेच्छा से और उन सप्रदायों की श्रेष्ठता के कारण छोडा? नहीं! इतिहास में इस प्रकार के उदाहरण का एक भी उल्लेखनीय अभिलेख नहीं है।

इसके विपरीत इतिहास हमें बताता है कि धर्मातरण का कारण जीवन का भय अथवा बलात्कार या सत्ता और प्रतिष्ठा आदि के भाँति-भाँति के प्रलोभन थे। इसलिए उन शक्तियों की रीति-नीतियाँ तथा अत में धर्म भी ग्रहण करके उन्हें प्रसन्न करने की लोगों की इच्छा होती थी। उसमें बहुत कुछ कपट भी था। गो-मास अथवा रोटी का टुकडा जलाशय में फेंक दिया जाता था। इस बात को न जानते हुए ग्रामवासी यथावत वहाँ से जल लेते रहते थे। दूसरे दिन प्रात काल ईसाई धर्म-प्रचारक या मौलवी आता और घोषणा कर देता कि उन्होंने अपवित्र जल का प्रयोग किया है, अत वे धर्मभ्रष्ट हो गए हैं। अब उनके लिए एक ही मार्ग है कि हमारे सप्रदाय में मिल जाएँ। इस प्रकार उत्तर में गाँव के गाँव मुसलमान बना लिए गए तथा अपने सागर के पश्चिमी तट पर ईसाई बना लिए गए। यह तो शुद्ध प्रवचना ही है। इस प्रकार राजनीतिक आधिपत्य के लिए सख्या-वृद्धि का यह उन्मत्त उत्साह था। यह धर्म-प्रचार नहीं था, वरन् धर्म की आड में एक राजनीतिक चाल थी। विदेशी आक्राता ने उन्हें राजनीतिक एव सास्कृतिक रूप से ही वशीभूत नहीं किया, वरन् अततोगत्वा उन्हें धर्मातरित करके अपने धर्म में भी मिला लिया। यह भी विदेशी आधिपत्य ही है। जिस तरह राजनीतिक, आर्थिक एव सास्कृतिक आधिपत्य होते हैं, यह उसी तरह

का धार्मिक आधिपत्य है।

हमारा कर्तव्य है कि अपने इन परित्यक्त भाइयों, जो शताब्दियों से धार्मिक दास्य के क्लेश को भोग रहे हैं, को पुन अपने पूर्वजों के घर बुलाएँ। ईमानदार, स्वतन्त्रताप्रिय मनुष्यों की भाँति वे भी दास्य तथा आधिपत्य के सभी चिह्नों को उतार फेंकें और वंश-परपरानुगत भक्ति एव राष्ट्रीय जीवन की रीतियों का अनुकरण करें। सभी प्रकार की दासता हमारी प्रकृति के प्रतिकूल है, अत उसे त्याग देना चाहिए। यह उन सभी भाइयों के लिए आह्वान है कि वे हमारे राष्ट्रजीवन में अपना मूल स्थान ग्रहण करें। हमारे समाज के इन लौटे हुए, भटके हुए पुत्रों के पुन आगमन पर हम दीपावली का पर्व मनाएँ। यहाँ किसी बात की भी अनिवार्यता नहीं है। यह तो उनके लिए एक आह्वान और प्रार्थना है कि वे परिस्थितियों को उचित प्रकार से समझें तथा लौट आएँ एव परिधान, रीतियाँ, भवन-निर्माण, विवाहोत्सव एव मृत्यु सस्कारादि सभी बातों में हिंदू जीवन-पद्धति के साथ अपना तादात्म्य अनुभव करें।

कुछ लोग घोषणा करते हैं कि उन्होंने हिंदू, मुसलमान, ईसाई तथा अन्य सभी में राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर एकता स्थापित कर ली है। किंतु इस एकता को केवल वहीं तक सीमित क्यों करें? उसे क्यों न अधिक विस्तृत एव व्यापक बनाएँ, जिससे उन सभी को हिंदू-जीवन पद्धति में, अपने धर्म में मिला लें तथा खोए हुए भाइयों के समान उन्हें पुन स्वीकार करें? जो राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर एकता की बात करते हैं, हम उनसे कहते हैं कि हमारा लक्ष्य केवल राजनीतिक एव आर्थिक एकता प्राप्त करना ही नहीं है, हम तो सास्कृतिक तथा धार्मिक एकता भी चाहते हैं। हमने अपने घरों के पवित्र स्थानों और देवालयों के, अपनी युगों प्राचीन सस्कृति एव पैतृक-निधियों के द्वार खोल दिए हैं। निस्सशय यही अधिक व्यापक दृष्टिकोण है।

पराक्रमवाद को पुनर्जीवित करो

अनेकों लोग ऐसे हैं जो अपने अतरतम में यही अनुभव करते हैं। पडित जवाहरलाल नेहरू ने सस्कृति के चार अध्याय नामक पुस्तक की भूमिका लिखी है जिसमें उन्होंने हिंदू-सस्कृति के प्रति, जिसे वे 'भारतीय सस्कृति' के नाम से पुकारते हैं, अपने अतरतम की गभीर भावनाओं और आत्यतिक प्रेम को व्यक्त किया है। अपनी इस तीव्र आकाक्षा को व्यक्त

किया है कि उसे एक बार पुन उसकी आत्मसात करने की प्राचीन शक्तियों से युक्त देखने का प्रसग प्राप्त हो। उन्होंने कहा है कि हमारे सास्कृतिक इतिहास की दो अवस्थाएँ रही थीं। प्रथम अवस्था में हूण तथा शकों जैसी जातियों, जो आक्राताओं के रूप में यहाँ आई, ने अपनी मूल रीतियों तथा धर्मों को छोड दिया और अपने को राजपूत कहना आरभ कर दिया। वे सभी प्रसन्नतापूर्वक स्वेच्छया हममें विलीन हो गए। उस समय हममें आत्मसात करने का साहस और शक्ति थी और हमने उन्हें अपने राष्ट्रजीवन की सास्कृतिक धारा में पूर्ण रूप से विलीन कर लिया। हमने उनकी अच्छी बातें ग्रहण कीं। फिर वे कहते हैं कि द्वितीय अवस्था तब आई, जब हमारे देश पर अत्यत उग्र चरित्रवाले आक्राताओं ने आक्रमण किया तथा हमारे लोगों ने अपनी सामाजिक रचना में सुरक्षा प्राप्त करने के लिए विधि-निषेध के नियमों में अपने को बद कर लिया। इस प्रकार अपने आपको सबसे पृथक रखते हुए हम सकुचित हो गए।

दुर्भाग्यवश उन्होंने केवल दो ही अवस्थाओं का उल्लेख किया है। एक और भी दु खद अवस्था है। उनमें से कुछ लोगों, जो हिंदू-सस्कृति के प्रेम की दुहाई देते थे, ने विदेशियों के आक्रमण का सामना करना कठिन समझकर यह सोचा कि आक्राताओं के चरणों पर आत्मसमर्पण करके और उनके रीति-रिवाजों को अपनाकर अपनी रक्षा कर सकेंगे। यह भूतकाल में घटित हुआ। पचास-साठ वर्ष पूर्व हैदराबाद का एक वजीर, जो हिंदू था, अत्यत निष्ठावान मुसलमानों की भाँति पाँच समय की नमाज पढा करता था– यह शरणागति है। यदि प्रथम अवस्था को 'पराक्रमवाद' कहें और दूसरी को 'सकुचिततावाद' तो इस तीसरी अवस्था को 'शरणागतिवाद' कह सकते हैं। आज भी यह अवस्था चली आ रही है। हमारी सेना की आज्ञाओं में तेतीस प्रतिशत अग्रेजी तथा तेतीस प्रतिशत फारसी के शब्द हैं। क्या इस प्रकार का मिश्रण, गणना और गणित एकीकरण ला सकेगा और हमारे समाज की एकात्मता को निश्चित रूप से दृढ करेगा? यह तो उन आक्राताओं को प्रसन्न करने के प्रयत्न, आत्मसमर्पण और उनके सामने झुक जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, क्योंकि वे अविनेय रहे। अत हमारे लोगों की कल्पना में सकट से बचने का उपाय यह शरणागतिवाद ही आया।

हमें एक बार पुन पराक्रमवाद को पुनरुज्जीवित करना चाहिए। इसके लिए हमें यह स्पष्ट करना होगा कि यहाँ निवास करनेवाले अहिंदू का

एक राष्ट्र-धर्म, अर्थात् राष्ट्रीय उत्तरदायित्व है, एक समाज-धर्म, अर्थात् समाज के प्रति कर्तव्यभाव है, एक कुल-धर्म, अर्थात् अपने पूर्वजों के प्रति कर्तव्यभाव है। वह केवल व्यक्तिगत धर्म, व्यक्तिगत निष्ठा का पथ अपनी आध्यात्मिक प्रेरणा के अनुरूप चुनने में स्वतत्र है। वह किसी भी पथ को, जो उसकी आध्यात्मिक भूख को शात करे, स्वीकार कर सकता है। सामाजिक जीवन में उन सभी विविध कर्तव्यों का पालन करने के पश्चात् भी यदि कोई कहता है कि उसने कुरान शरीफ या बाइबिल का अध्ययन किया है और पूजा का अमुक प्रकार उसके हृदय को अधिक स्पर्श करता है तथा वह भक्ति के उस मार्ग द्वारा ईश्वर की आराधना अधिक भली-भाँति कर सकता है, तो हमें उसमें बिल्कुल आपत्ति नहीं होगी। शेष के लिए उसे राष्ट्रीय धारा के साथ एक होकर रहना ही चाहिए। यही वास्तविक एकीकरण है।

हमने इसी प्रकार भूतकाल में व्यवहार किया है। हम सदा आतिथ्यशील रहे हैं। किंतु उन सभी को हमारे राष्ट्रीय नियमों एव लोकाचारों के अनुसार व्यवहार करना पडा। कई शताब्दियों पूर्व जब बर्बर अरब और तुर्कों ने फारस पर आक्रमण किया, उस समय कुछ पारसी अपनी मातृभूमि को छोडकर तथा अपनी पवित्र अग्नि एव धर्म-पुस्तक को लेकर जल-पथ से चल पडे और सूरत में आकर उतरे। राजा यादव राणा ने उनका खुले हृदय से स्वागत किया और द्वारिकापीठ के शकराचार्य से पूछा कि उन्हें किस भाँति ग्रहण किया जाए। उनसे कह दिया गया कि वे हमारी राष्ट्रीय निष्ठा की वस्तु गोमाता का सम्मान करते हुए गोमास भक्षण त्याग दें और यहाँ शातिपूर्वक रहें। इन जरथुस्त्र के अनुयायियों ने आज तक अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया है। वे अपने धर्म की पूर्ण सुरक्षा के साथ यहाँ निवास कर रहे हैं। उन्होंने अपने को यहाँ के राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा में पूर्ण रूप से विलीन कर दिया है।

एक बार प नेहरू ने जबलपुर में कहा था कि कोई कारण नहीं कि हम मुसलमानों को अपने में न मिला सकें, जबकि पूर्वकाल में हम हूण और शकों को आत्मसात कर चुके हैं। निर्विवाद रूप से हमारे राष्ट्रीय जीवन की एकात्मता के लिए यही और केवल यही शुद्ध मार्ग है।

हिंदू-राष्ट्र की हमारी यही कल्पना है और यही है हमारा भाव उन अहिंदुओं के प्रति, जो यहाँ निवास करते हैं। इससे अधिक तर्कसगत, व्यावहारिक एव उचित समाधान अन्य कुछ नहीं हो सकता।

इस तर्कशुद्ध एव भावात्मक दृष्टिकोण के होते हुए भी कुछ लोगों का अनुमान है कि हिंदू-राष्ट्र की कल्पना मुसलमान तथा ईसाई नागरिकों के अस्तित्व के लिए चुनौती है, वे निकाल बाहर किए जाएँगे तथा उनका उन्मूलन हो जाएगा। हमारी राष्ट्रीय भावना के लिए इससे अधिक मूर्खतापूर्ण अथवा घातक और कुछ नहीं हो सकता। यह तो हमारे महान एव सर्वग्राही सास्कृतिक दाय का अपमान है। उदाहरण के लिए, क्या हम शिवाजी के नेतृत्व में हुए सबसे अतिम शक्तिशाली हिंदू पुनरुत्थान के विषय में नहीं जानते कि उनकी सेना के अधिकारियों में एक रणादुल्ला खाँ था? उसके भी बाद के समय में सन् १७६१ के पानीपत युद्ध में, जो हिंदू-स्वराज्य के उत्थान के लिए एक जीवन-मरण का सघर्ष था, तोपखाने का प्रमुख इब्राहिम गार्दी था। हमारे सामने इस प्रकार की अति स्पष्ट ऐतिहासिक साक्ष्य तथा सहस्रों वर्षों की राष्ट्रीय परपराएँ होते हुए भी यह कहना कितना विचित्र है कि यदि हिंदू-राष्ट्र अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो गया तो अहिंदुओं के लिए सकट उत्पन्न हो जाएगा।

राष्ट्रीय एकता की आधार-शिला

आज हम अपने राजनीतिक नेताओं के मुख से प्राय 'राष्ट्रीय एकता', 'भावात्मक एकता' आदि शब्द सुनते हैं, किंतु वह कौन-सी समान भावना है, वह कौन-सा समान आधार है, जिसपर सब एक साथ आ सकते हैं? हमारे राष्ट्रजीवन के वे कौन-से शाश्वत स्रोत हैं जो उसके एकीकरण, उत्थान एव गौरव सपादन में समर्थ हैं?

सबसे पहला है, जिस देश को अनतकाल से हमने अपनी पवित्र मातृभूमि माना है, उसके लिए ज्वलत भक्ति-भावना का आविर्भाव।

द्वितीय है, साहचर्य एव भ्रातृत्व भावना, जिनका जन्म इस अनुभूति के साथ होता है कि हम एक ही महान माता के पुत्र हैं।

तृतीय है, राष्ट्रजीवन की समान धारा की उत्कट चेतना, जो समान सस्कृति एव समान पैतृक दाय, समान इतिहास, समान परपराओं, समान आदर्शों एव आकाक्षाओं से उत्पन्न होती है।

जीवन के मूल्यों की यह त्रिगुणात्मक मूर्ति एक शब्द में हिंदू राष्ट्रीयता है, जो राष्ट्र-मदिर के निर्माण के लिए आधार बनती है।

५ प्रादेशिक राष्ट्रवाद के मूल

राष्ट्रीय क्यों?

अपने इस संगठन का नाम राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ रखने के पूर्व इस विषय पर बहुत विचार-विनिमय हुआ था। संघ से संपर्क रखनेवाले अनेक व्यक्तियों की भी सम्मति ली गई थी। स्वाभाविक रूप से ही बहुत से नाम सामने आए और प्रत्येक नाम के लिए कुछ न कुछ आपत्ति उठाई गई। इस वर्तमान नाम पर भी यह आपत्ति हुई कि यदि 'राष्ट्रीय' शब्द रखा गया तो इसके द्वार देश में रहनेवाले सभी लोगों के लिए, अर्थात् मुसलमान, ईसाई आदि के लिए भी खुले रखने पड़ेंगे। अतः केवल हिंदुओं के लिए ही सीमित होने के कारण इसका नाम 'हिंदू स्वयंसेवक संघ' रखा जाए।

फिर 'हिंदू' के स्थान पर 'राष्ट्रीय' शब्द को वरीयता क्यों प्रदान की गई? एक उदाहरण है, जो इसमें निहित दृष्टिकोण को शुद्ध रूप में व्यक्त करता है। मुंबई में 'हिंदू-कॉलोनी' के नाम से एक स्थान है। उस स्थान के कुछ व्यक्तियों ने विचार किया कि इसका विदेशी शब्द 'कॉलोनी' बदल देना चाहिए। वे नाम बदलने के लिए एकत्र हुए। हमारे संघ के पूज्य संस्थापक उस समय मुंबई में ही थे। वे भी बुलाए गए थे। जब उनकी राय पूछी गई, तब उन्होंने कहा कि 'कॉलोनी' शब्द की अपेक्षा 'हिंदू' शब्द में पहले परिवर्तन करना चाहिए। वहाँ उपस्थित सभी लोगों को कट्टर हिंदू होने के कारण, इस बात से आघात पहुँचा। उन्होंने कहा कि एक दृढनिष्ठ हिंदू होते हुए आप 'हिंदू' शब्द का विरोध क्यों करते हैं? डाक्टर जी ने उत्तर दिया कि वे इस अर्थ में 'हिंदू' शब्द के विरोधी नहीं हैं। उनका विरोध तो इस प्रसंग में 'हिंदू' शब्द के प्रयोग करने पर है, जो यह लक्षित करता है कि हिंदुओं ने अपने ही देश में अपने लिए एक कॉलोनी बना रखी है। हिंदुस्थान में हिंदुओं के लिए 'कॉलोनी' का क्या अर्थ होता है? यदि कुछ अंग्रेज हिंदुस्थान में आएँ, किसी विशिष्ट स्थान पर रहें और उसे 'ब्रिटिश कॉलोनी' नाम से पुकारें तो यह समझ में आनेवाली बात हो सकती है। इसी प्रकार यदि आप भी इंग्लैंड जाकर किसी विशिष्ट स्थान पर बसें तो उसे 'हिंदू कॉलोनी' कह सकते हैं। किंतु इंग्लैंड में ब्रिटिश-कॉलोनी, अमरीका में अमरीकी-कॉलोनी और हमारे देश हिंदुस्थान में 'हिंदू-कॉलोनी' सरीखे नाम बेतुकापन दर्शाते हैं। या तो आप यह स्वीकार करें कि यह आपकी मातृभूमि नहीं है और आप कहीं बाहर से आए हैं तथा यहाँ अपनी

कॉलोनी बनाई है अथवा इसमें प्रयुक्त हिंदू नाम बदल दें। किंतु वे लोग अपने देश में हिंदू-कॉलोनी के अनौचित्य एवं असंगति को अनुभव नहीं कर सके। अतः अब भी वह नाम चला आ रहा है।

इस बात से हम अनुभव कर सकते हैं कि अपने इस संगठन के नाम में 'हिंदू' शब्द न रखकर 'राष्ट्रीय' शब्द क्यों रखा गया। डाक्टर जी कहा करते थे कि हमारे देश में 'राष्ट्रीय' शब्द का अर्थ स्वाभाविक रूप से हिंदू ही है। अतः 'राष्ट्रीय' के स्थान पर 'हिंदू' शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम भी अपने को इस देश की अनेक जातियों में से एक मान लेते हैं तथा इस देश के राष्ट्रीय के रूप में हमारी जो पद-प्रतिष्ठा है, उसे अनुभव नहीं करते। किंतु यह एक वास्तविकता है कि हमारे देश में राष्ट्र के संबंध में पर्याप्त भ्रांति है। मुंबई की यह घटना उस भ्रांति का एक उदाहरण है।

अंग्रेज की चाल

विगत सहस्र वर्ष में हमारे देश पर अनेक विदेशी आक्रमण हुए। पूर्व काल में हमारे देश पर आक्रमण करनेवाले यूनानी, हूण और शक आक्रांता या तो परास्त करके निकाल दिए गए या उनमें से जो शेष रह गए, उन्हें हिंदू-समाज में आत्मसात कर लिया गया, किंतु जो आक्रांता पिछली दस-बारह शताब्दियों में आए वे न तो निकाले जा सके और न आत्मसात ही किए जा सके। उनका अलग अस्तित्व बना रहा और विदेशी के रूप में वे इस देश पर शासन करते रहे। अंतिम शासक अंग्रेज कई हजार मील दूर से शासन करता रहा। चतुर होने के कारण वे जानते थे कि इस दूरस्थ साम्राज्य को सदा के लिए बनाए रखना तभी संभव है, जबकि हमारे समाज के मस्तिष्क से उस आस्था को निकाल बाहर किया जाए, जो स्वतंत्रता के लिए युद्ध करने की प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करती है।

अंग्रेज ने यह ज्ञात किया कि यहाँ का सामान्य मनुष्य मातृभूमि पर श्रद्धा रखता है। यहाँ समाज सावयव पूर्णता के रूप में संगठित था, यद्यपि कुछ काल के लिए उनकी एकता विच्छिन्न हो गई थी। आत्मसम्मान, स्वातंत्र्य-प्रेम एवं अपनी संस्कृति और परंपराओं के लिए भक्ति उनके रक्त में दृढ-निविष्ट थी। यह जानकर कि इस प्रकार अदम्य राष्ट्रीयता की भावना उनके साम्राज्य के लिए विनाशकारी होगी, उन्होंने मातृभूमि, धर्म तथा परंपरागत स्वत्व के प्रति समाज की आस्था की जड़ें खोदने की योजना बनाई।

हमारे एक वडे क्रातिकारी लाला हरदयाल द्वारा वताई हुई एक घटना है। दक्षिण में एक अग्रेज अधिकारी था। उसका सहायक अधिकारी एक स्थानीय व्यक्ति कोई नायडू था। उस अग्रेज का अर्दली एक ब्राह्मण था। एक दिन जब वह अग्रेज सडक पर अपने अर्दली के साथ जा रहा था, तभी सामने से उसका वह सहायक अधिकारी आ गया। दोनों ही अधिकारियों ने एक-दूसरे को अभिवादन करते हुए हाथ मिलाया, किंतु जब उस सहायक अधिकारी ने अर्दली को देखा तो अपनी पगडी उतारकर उसके चरण स्पर्श किए। अग्रेज यह देखकर चकित रह गया। उसने पूछा 'यह क्या वात है कि मैं तुम्हारा उच्च अधिकारी हूँ, पर तुम मुझसे सीधे खडे रहकर हाथ मिलाकर अभिवादन करते हो और यह मेरा चपरासी है, इसे इतनी व्यस्त सडक पर भी तुम साष्टाग प्रणाम करते हो।' सहायक अधिकारी ने उत्तर दिया- 'आप मेरे उच्चाधिकारी हुआ करें, किंतु आप म्लेच्छ हैं। यह चपरासी है, किंतु वह हमारे समाज के उस वर्ग का है, जिसका शताब्दियों से अत्यत सम्मान होता चला आ रहा है। उसे झुककर प्रणाम करना मेरा कर्तव्य है।' इसका उल्लेख करते हुए उस अग्रेज ने इग्लैंड के इडिया आफिस को जो पत्र लिखे थे, वे मोजूद हैं। उसने लिखा था- 'जब तक ब्राह्मण को उसके प्रतिष्ठित पद से बहिष्कृत कर अग्रेज स्वय उसे अधिकृत नहीं कर लेता, अर्थात् उतना ही या उससे भी अधिक सम्मानित नहीं हो जाता उसका साम्राज्य अधिक दिनों तक नहीं टिक सकता।'

इसी को दृष्टि में रखते हुए अग्रेजों ने तदनुरूप शिक्षा देना आरभ किया। पहली बात जो उसने हमें सिखलाई, वह यह थी कि भारत एक देश नहीं, वरन् एक बडा महाद्वीप है। हम एक समाज या एक राष्ट्र नहीं हैं। यहाँ कुछ आदिवासी थे जो बहुत काल से यहाँ बस रहे थे, जिन्हें वनों और पहाडों में खदेड दिया गया। एक-दूसरे प्रकार के आदिवासी थे जो 'द्रविड' कहे जाते हैं। उत्तर दिशा से आर्य आए और अपनी उत्कृष्ट अस्त्र-शक्ति के द्वारा इस देश को जीता और शेष लोगों पर अपनी सत्ता स्थापित की, अर्थात् हमारे पास मातृभूमि है ही नहीं। हममें से अधिकतर कहीं बाहर से आए हैं, अत इस देश के लिए सभी समान रूप से अपरिचित और विदेशी हैं। यह भी कहा गया कि हमारा कोई धर्म नहीं है और न कोई उल्लेखनीय दर्शन व नैतिक आचार ही है। हमारा सपूर्ण अतीत जीवन अधकारमय था। यहाँ पर अग्रेज का आगमन दैवी-व्यवस्था थी, जिनके चरणों में बैठकर हम

सभ्यता, धर्म एव व्यवस्थित सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का प्रथम पाठ पढ़ सकते हैं।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति के पीछे जिसका मस्तिष्क था, उस मेकाले के साम्राज्यवादी उद्देश्यों का उच्च स्वर से उद्घोष किया गया कि 'हमें एक इस प्रकार का वर्ग निर्माण करने में पूर्ण शक्ति लगा देनी चाहिए, जो हमारे और उन शासितों के बीच, जिनपर हमें शासन करना है, दुभाषिये का काम करे। यह वर्ग ऐसे व्यक्तियों का हो, जो रक्त तथा रंग में तो भारतीय हों, किंतु रुचि, विचार, आचार एव बुद्धि में अंग्रेज हों। मेकाले ने सन् १८३६ में अपने पिता को लिखा था कि 'कोई भी हिंदू, जिसे अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हो जाती है, फिर कभी अपने धर्म के प्रति ईमानदारी से सबद्ध नहीं रहता। यदि शिक्षा-सबधी मेरी योजनाओं का पालन हुआ तो अब से ३० वर्ष बाद बगाल में सम्मानित वर्ग में से एक भी मूर्तिपूजक नहीं रह जाएगा।' यहाँ के ईसाई कॉन्वेंटों में आज भी वही धूर्तता और कपटपूर्ण शिक्षा चालू है कि ईसा के अतिरिक्त अन्य कोई सच्चा उद्धारक नहीं है और हिंदू धर्म मूढ विश्वासों का गट्ठर मात्र है। हिंदू को ईसाई बने बिना अनत नरक यातना का भागी बनना पड़ेगा आदि-आदि।

इतिहास विकृत किया गया

विद्यालयों में बालकों के लिए इतिहास की एक पुस्तक हुआ करती थी, जिसमें 'टैंगलवुड टेल्स' शीर्षक से हमारे सभी प्राचीन सम्राटों और राजाओं का इतिहास चित्रित किया गया था, जिसका आशय था कि वह काल हमारे इतिहास का भ्राति एव अधकार का युग था। वह 'इतिहासकार' कहता है कि उस भ्राति और अधकार की परिस्थितियों में यहाँ आर्यों का आगमन हुआ। ये आर्य प्रथम पजाब में बसे, जहाँ महाभारत का युद्ध हुआ था। फिर वे गगा और यमुना की ओर चलकर अयोध्या में बसे। इस प्रकार उस इतिहासकार ने यह निष्कर्ष निकाला कि रामायण की कथा महाभारत की कथा के कई शताब्दी पश्चात् की है। उस 'इतिहासकार' की विलक्षणता की प्रशसा ही करनी चाहिए। वास्तव में इस प्रकार का आविष्कार करने के लिए कि पिता का जन्म पुत्र के पश्चात् हुआ, क्या असामान्य प्रतिभा की आवश्यकता नहीं है? इस प्रकार हमारा सपूर्ण प्रारभिक इतिहास 'अधकार युग' में समाविष्ट हुआ तथा बाद का इतिहास मुस्लिम काल और अंग्रेजकाल में विभाजित किया गया। ये सभी चीजें बचपन से ही हमें पढाई

जाती रहीं। अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हमारे बहुत से लोग यह विश्वास करने लगे कि हमारा कोई राष्ट्रजीवन नहीं था और न हममें कोई महत्त्व की बात है।

अंग्रेजों के चले जाने पर भी हमारे विद्यालयों की पाठ्यपुस्तकों में वही इतिहास पढ़ाया जाता है, जो हिंदू-काल, मुस्लिम-काल और ब्रिटिश-काल तीन भागों में विभाजित है तथा जिसमें अंग्रेजों का वही विषाक्त सिद्धांत है, जिसके द्वारा इस देश में हिंदू को वही स्तर प्रदान किया गया है, जो मुसलमान और अंग्रेज का है। इस वास्तविकता को आज भी मान्यता नहीं दी जाती कि भारत का इतिहास एक लंबा हिंदू-काल ही है, जिसमें उसकी स्थिति स्वतंत्र, यशस्वी और अपने राष्ट्रीय स्वातंत्र्य एवं सम्मान की रक्षा हेतु विदेशी आक्रांताओं से युद्ध करने की रही है। इतिहास के काल तो राष्ट्रपुरुषों के नाम से ही जाने जाते हैं, राजाओं के वेश में बैठे हुए अपहरणकर्ताओं और तानाशाहों के नाम से नहीं।

राष्ट्र गढ़ने के मार्ग पर

कोई आश्चर्य नहीं कि तथाकथित शिक्षित हिंदू अंग्रेज की चालाकी का शिकार बन गया। वह उनके ही समान वेशभूषा धारण करने और बोलने लगा। वह अपने पूर्वजों और अतीत के दाय पर लज्जा का अनुभव करने लगा। कुछ समय पूर्व एक प्रमुख हिंदू साप्ताहिक 'धर्मयुग' में उस समय का एक अत्यंत अद्भुत समाचार प्रकाशित हुआ था। एक बार यूरोप में किसी होटल में तीन सज्जन ठहरे थे, जिनमें एक आयरलैंड निवासी, एक स्काटलैंड निवासी तथा एक बड़े हिंदू पं. मोतीलाल नेहरू थे। आगंतुक-पुस्तिका में अपनी-अपनी राष्ट्रीयता का उल्लेख करते हुए प्रथम ने लिखा कि मुझे गर्व है कि मेरा जन्म आयरलैंड में हुआ है। दूसरे ने भी इसी प्रकार स्काटलैंड में जन्म लेना अपना सौभाग्य बताया था। परंतु तीसरे यात्री, जो हिंदू था, ने लिखा– 'मैं इसे अपने पूर्व जन्म के पापों का परिणाम समझता हूँ कि हिंदू ब्राह्मण परिवार में मेरा जन्म हुआ है।'

ऐसे वातावरण में स्वाभाविक ही अंग्रेजी पढ़ा हुआ व्यक्ति यह विश्वास करने लगा कि हमारे अतीत जीवन की सभी शताब्दियाँ अज्ञान, परस्पर मार-काट और कलह की रही हैं तथा उन्हें एक राष्ट्र के रूप में नए सिरे से जीवन आरंभ करना होगा। अंग्रेजों के विरुद्ध चलाए गए अतीव प्रारंभिक दिनों के उस तथाकथित संघर्ष के काल में हम अपने कई बड़े-बड़े

नेताओं को इस प्रकार के उद्‌गार व्यक्त करते हुए पाते हैं कि 'हम राष्ट्र गढने जा रहे हैं।' उनके इस कथन का अर्थ यही है कि हम अभी तक एक राष्ट्र के नाते स्वरूपबद्ध नहीं हुए थे। आज भी कई नेता कहते हैं कि हम पिघली हुई धातु के समान निर्माण की सक्रमण अवस्था में हैं। हमें अभी नया आकार, राष्ट्रजीवन के लिए नए अर्थ देना है।

उनकी कल्पना पर हावी होनेवाला एक अन्य सिद्धात भी था कि इस देश के सभी निवासियों पर विदेशी शासन का सकट समान रूप से है और सामान्य सकट के परिणामस्वरूप वे एक नवीन राष्ट्रीयता में ढल जाएँगे। यह एक जानी हुई बात है कि सामान्य सकट तभी राष्ट्रीयता का निर्माण करता है, जब बीज रूप में उसका अस्तित्व पहले से वर्तमान हो। किंतु जहाँ बीज-रूप में भी राष्ट्रीयता न हो, वहाँ नव आविर्भाव सभव नहीं। वह सकट किसी राष्ट्र को उद्‌बुद्ध एव शक्तिसपन्न बना सकता है, किंतु नितात नवीन राष्ट्र को निर्मित करने की शक्ति उसमें नहीं होती। वह किसी राष्ट्र में विदेशी आक्राताओं का प्रतिरोध एव चुनौती देने की आकाक्षा से उत्पन्न एकत्व एव बलिदान की भावना का निवेश कर सकता है। सामान्य सकट के सिद्धात के अतर्गत केवल इतना ही आता है। परतु यहाँ अपने देश में एक नितात नवीन जीवन का प्रयोग राष्ट्रीयता की प्राप्ति के दृष्टिकोण से सोचा गया।

प्रादेशिक कल्पना का बेतुकापन

वे यह भूल गए कि यहाँ पर पहले से ही हिंदुओं का एक विकसित राष्ट्र था तथा इस देश में रहनेवाली अन्य विविध जातियाँ या तो अभ्यागत के रूप में हैं (यथा– यहूदी और पारसी) अथवा आक्राताओं के रूप में (मुसलमान और ईसाई)। उन्होंने इस प्रश्न पर कभी विचार ही नहीं किया कि किस प्रकार विभिन्न विसगत वर्ग, जो केवल सयोगवश एक भू-प्रदेश में समान शत्रु के शासन में रहने लगे हैं, उस भूमि के पुत्र कहे जा सकेंगे?

एक बार अपनी एक बैठक में एक सज्जन ने अत्यत बल देकर कहा कि 'जो भी इस देश में रहता है, उसे इस देश का राष्ट्रीय समझना चाहिए।' मैंने उनसे प्रश्न किया– 'कितने समय तक रहने से?' उन्होंने कहा– 'इसके लिए समय की कोई सीमा नहीं। मैंने प्रश्न किया– 'एक दिन भी?' उन्होंने कहा– 'हाँ'। इसपर मैंने कहा कि 'तब तो आनद मनाओ। समझ लो कि स्वराज्य जीत लिया। हमने एक साम्राज्य भी जीत लिया। अब

स्वतंत्रता-संग्राम की अग्नि-परीक्षाओं और क्लेशों की आवश्यकता नहीं, क्योंकि आपकी परिभाषा के अनुसार इंग्लैंड का वर्तमान प्रधानमंत्री रेमसे मेकडानल्ड हमारे देश का राष्ट्रीय है। क्योंकि उसने पर्याप्त समय तक यहाँ निवास किया है। इसका यह अर्थ है कि हम इंग्लैंड पर शासन कर रहे है, इंग्लैंड हम पर नहीं। प्रादेशिक राष्ट्रीयता का यह 'सराय सिद्धांत' हमें इस सीमा तक बेतुके और विकृत निष्कर्षों पर पहुँचा देता है।

प्रादेशिक स्वतंत्रता और समान संकट के सिद्धांतों, जो हमारी राष्ट्रकल्पना के आधार बने थे, ने हमें अपने भावात्मक एवं प्रेरणादायी सच्चे हिंदू-राष्ट्र के भाव से वंचित कर दिया और अनेकों स्वातंत्र्य आंदोलनों को वस्तुतः अंग्रेज-विरोधी आंदोलन बना दिया। अंग्रेजों का विरोध ही देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता का समानार्थी माना गया। हमारे स्वतंत्रता-आंदोलन की संपूर्ण गतिविधि पर उसके नेताओं एवं सामान्य समाज पर इस प्रतिगामी दृष्टिकोण के विनाशकारी प्रभाव हुए।

ॐ ॐ ॐ

६ प्रादेशिक राष्ट्रवाद के फल

दिशाभ्रष्ट देशभक्ति

हमारे देश में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध मुख्य रूप से दो प्रकार के आंदोलन उठे। एक था क्रांतिकारियों द्वारा संचालित सशस्त्र क्रांति के रूप में तथा द्वितीय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा संचालित निष्क्रिय प्रतिरोध। इन दोनों पर अंग्रेज-विरोध के जो प्रभाव हुए उनपर हम अलग-अलग विचार करें।

क्रांतिकारी नेताओं ने गुप्त केंद्रों, शस्त्र-शालाओं और अपने जीवन को बलिदान करने के लिए उद्यत रहनेवाले तेजस्वी देशभक्त वीरों की टोली का एक जाल फैला दिया था। किंतु यहाँ-वहाँ के कुछ देशद्रोही विश्वासघात करके उनके गुप्त कार्यों का भेद शत्रु पर प्रकट कर देते थे। फलतः उनकी अत्यंत सावधानी से बनाई गई सुचिंतित योजनाओं का अंत खेदजनक होता था। जब कोई व्यक्ति बार-बार उद्यम करने पर भी सफल नहीं होता, तब वह अपने चारों ओर किसी ऐसे व्यक्ति को खोजता है, जो उसी पद्धति का

अनुसरण करते हुए सफल हुआ हो। यह मानव प्रकृति होने के कारण क्रातिकारियों ने भी किसी सफल क्राति का अनुकरण करना चाहा।

उनमें से उन लोगों ने जिनकी राष्ट्रजीवन की पकड भावात्मक थी, इस प्रकार की क्रातिकारी प्रेरणा के लिए अपने देश और अपने इतिहास की ओर देखा। जैसे सावरकर और सुभाषचद्र बोस, शिवाजी के आदर्श से स्फूर्त थे। अपने देश से अदृश्य होने के पूर्व सुभाषचद्र बोस ने अपनी अंतिम भेंट में शिवाजी की महत्ता के विषय में अति उच्च भावना प्रकट की थी और यहाँ तक घोषणा की थी कि केवल शिवाजी के आदर्श तथा पद्धतियों का अनुसरण करके ही हम स्वराज-लाभ कर सकेंगे।

किंतु जिन्हें अपने राष्ट्र की भावात्मक चिरतन निष्ठा की पकड नहीं थी और जिन्हें केवल अग्रेजी शासन का तीव्र विरोध ही कुछ कर डालने को कोचता रहता था, उन्होंने अपने अतीत के अतिरिक्त और सभी जगह देखा। उन्होंने देखा कि सन् १९१७ में रूस में सफल क्राति हुई, जिसने जारशाही तथा सामतशाही का तख्ता उलट दिया और जैसा कहा जाता था, 'जनता का शासन' स्थापित कर दिया। हमारे बहुत से क्रातिकारी उसपर इतने आसक्त हो गए कि उन्होंने पूर्णतया साम्यवादी विचारधारा तथा साम्यवादी पद्धति पर क्राति करना अपना उद्देश्य बना लिया। परिणाम यह हुआ कि जो आरभ में अपने देश की स्वतत्रता के भक्त थे, अब साम्यवाद, अर्थात् रूसी व चीनी नेतृत्व के भक्त बन गए। वे अब अपने देश को अपने ही से मुक्त कराने तथा रूसी और चीनी का दास बनाने के लिए सघर्ष कर रहे हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि जो अपनी मातृभूमि की स्वतत्रता हेतु अपना जीवन अर्पण करने की इच्छा करते थे, वे आज अपनी उसी मातृभूमि को रूस और चीन का अनुषगी बनाने के लिए उसी प्रकार जीवन अर्पण करने की इच्छा करने लगे हैं। यह जो किसी समय ज्वलत देशभक्ति से पूर्ण देशभक्त थे, वे आज उसी प्रकार उत्कट परदेश-भक्त हो गए हैं। यह कितना घोर पतन है।

काग्रेसी विध्वस

दूसरा आदोलन, जिसका नेतृत्व काग्रेस ने किया, देश के लिए ओर भी अधिक विघातक एव पतनकारी सिद्ध हुआ। विगत कुछ दशाब्दियों में जिन दु:खद प्रसगों एव अनिष्टों ने हमारे राष्ट्रजीवन को ग्रसित कर रखा है और अब भी जो उसकी जडें खोद रहे हैं, स्पष्टरूपेण उसी के परिणाम हैं।

जब कांग्रेस के नेताओं का सामना ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति से हुआ, तो उन्हें अपनी शक्ति बहुत कम प्रतीत हुई। अपनी दुर्बलता के कारण उसकी पूर्ति के लिए अपने चारों ओर वे अन्य देशों की ओर सहायतार्थ देखने लगे। क्रांतिकारी भी इस प्रकार का प्रयास कर चुके थे। किंतु विदेशी शक्तियाँ दुर्बल समाजों की सहायता के लिए तब तक नहीं आतीं, जब तक वे अपने निजी स्वार्थ-पूर्ति के कुछ अवसर नहीं देखतीं। कुछ चोटी के कांग्रेसी नेता अफगानिस्तान के अमीर अमानुल्ला से सहायता के लिए मिले। योजना यह थी कि हमारे आंतरिक विद्रोह के साथ-साथ अमीर हमारे देश पर आक्रमण करे और अंग्रेजों को निकाल बाहर करने में हमारी सहायता करे। हमारी ओर से यह प्रतिज्ञा की गई थी कि इस सहायता के प्रतिदानस्वरूप हम उसे अंग्रेज के स्थान पर बादशाह स्वीकार कर लेंगे, किंतु अंग्रेज विचक्षण होने के कारण इस कूट योजना से अवगत हो गया। उसने इन नेताओं को प्रतिबंधित कर दिया और अपनी विदग्ध कूटनीति के द्वारा अफगानिस्तान में अमानुल्ला के आधिपत्य को ही योजनापूर्वक उलट दिया।

जब यह उपाय असफल हो गया, तब कांग्रेस के नेताओं ने सोचा कि कम से कम यहाँ के सभी रहनेवालों का एक सम्मिलित मोर्चा अंग्रेजों के विरुद्ध बनाया जाए और वह उनकी राष्ट्रीयता की कल्पना के अनुकूल भी था। हिंदुओं के अतिरिक्त यहाँ चार संप्रदाय और निवास कर रहे थे– यहूदी, पारसी, ईसाई और मुसलमान।

हिंदुओं के संबंध में कोई कठिनाई न थी, क्योंकि वे स्वभाव से ही अपनी पवित्र मातृभूमि के रूप में इस देश को प्यार करते हैं। अति प्राचीनकाल से उन्होंने यहाँ एक महान संस्कृति एवं परंपरागत स्वत्व निर्माण किया है। उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र और देश के सभी भागों में महान मनीषियों एवं कर्मयोगियों को जन्म दिया था। अतएव हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक संपूर्ण देश उनके लिए पवित्र है। वे देश को विदेशी सत्ता से स्वाधीन करना चाहते थे। उनके शास्त्र उन्हें स्वतंत्रता की स्पृहा करने का आदेश देते हैं– 'नत्वेवार्यस्य दास्य भाव'। स्वातंत्र्य भावना तो उनके रक्त में ही समाविष्ट है। उन्होंने भूतकाल में भी कभी विदेशी सत्ता को स्वीकार नहीं किया तथा सफलता की विविध अवस्थाओं के साथ उस सत्ता की शृंखलाओं पर आघात करते रहे।

यहूदी, पारसी व ईसाई

अब रहे यहूदी और पारसी समाज, जो यहाँ शरणार्थी के रूप में आए थे। यहूदियों की सख्या अत्यल्प होने के कारण उनकी उपेक्षा की गई। पारसी सख्या में अल्प होते हुए भी एक मेधावी, उद्यमी एव उन्नतिशील जाति थी। बहुत परिमाण में वे यहाँ के हिंदू-जीवन की मुख्य धारा में विलीन हो चुके थे। उन्होंने हमारी मातृभूमि के लिए उत्कट प्रेम विकसित कर लिया था और हमारे स्वातत्र्य सग्राम की अग्रिम पक्ति में थे। दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता और मैडम कामा स्वातत्र्य सैनिकों के लिए प्रेरणा के प्रतीक थे।

अब ईसाई सज्जनों का प्रश्न उठता है। सन् १८५७ के स्वतत्रता सग्राम में यहाँ पर कुछ पादरियों ने उस विप्लव को दबाने में अग्रेज सरकार की सहायता के लिए पलटनें बनाई थीं। तब से वे सदैव अग्रेजों के पक्ष में रहे थे। वे थे तो उनके सप्रदाय के ही। अग्रेज भी ईसाई धर्मप्रचारकों के कार्यों में भली-भाँति सहायता करते थे। छोटा नागपुर और नागा प्रदेश जैसे विस्तृत वन्य एव पर्वतीय क्षेत्र केवल ईसाई धर्मप्रचारकों के प्रवेश के लिए चुन लिए गए और उनके सीमाचल अन्य धर्मों के उपदेशकों के लिए पूर्ण रूप से बद कर दिए गए। स्थानीय ईसाइयों, ईसाई धर्मप्रचार सस्थाओं और अग्रेज सरकार के बीच एक स्वाभाविक समन्वय का भाव था। इसलिए सामान्यत ईसाइयों ने अपने को स्वतत्रता-सग्राम से पृथक रखा था।

नेतृत्व की परीक्षा

फिर आया मुसलमानों का प्रश्न। वे यहाँ आक्रांताओं के रूप में आए थे। वे अपने को गत बारह सौ वर्षों से इस देश का विजेता और शासक समझ रहे थे। वह भाव उनके मन में अब भी था। इतिहास साक्षी है कि उनका विरोध केवल राजनीतिक ही नहीं था। यदि ऐसा रहा होता तो उन्हें अत्यल्प काल में ही अपना लिया जा सकता था, किंतु वह विरोध इतना दुराग्रही और गहरा था कि हम जिस वस्तु में भी विश्वास रखते थे, मुसलमान पूर्ण रूप से उसके प्रति प्रतिकूल होता था। यदि हम मदिर में पूजा करते हैं, तो वह उसे अपवित्र करेगा। यदि हम भजन करते हैं और भगवान की रथयात्रा निकालते हैं, तो इससे वह रुष्ट होगा। यदि हम गौ को पूजते हैं, तो वह उसे खाना पसद करेगा। यदि हम स्त्री को पवित्र मातृत्व के प्रतीक रूप में सम्मानित करते हैं, तो वह उस पर बलात्कार

करेगा। यह हमारी जीवन-पद्धति के धार्मिक, सास्कृतिक, सामाजिक आदि सभी पक्षों का अपनी पूर्ण शक्ति के साथ विरोधी था। उसने इस प्रतिकूलता को चरम सीमा तक ग्रहण किया था। उनकी सख्या भी अल्प न थी। हिंदू के पश्चात् उन्हीं की सख्या सर्वाधिक थी।

हमारे नेताओं के सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि किस प्रकार उन लोगों की इस प्रतिकूल मनोवृत्ति को दूर कर उन्हें देशभक्तों की श्रेणी में लाया जाए? इसके लिए एक अत्यत युक्तियुक्त और देशभक्तिपूर्ण उपाय था। वह यह था कि उनसे स्पष्ट कह दिया जाता— 'दोस्तो, पुरानी मुगल बादशाहत के दिन बीत चुके हैं। अत में हम दोनों को ही यहाँ भाई-भाई की भाँति इस राष्ट्रजीवन में भागीदार के रूप में रहना है। आखिर आप भी उसी जाति के हैं, जिसके हम हैं। हमारा आपका रक्त एक ही है, किंतु मुगल, तुर्क तथा अन्य विदेशी जातियों ने आपको तलवार की नोक से इस्लाम में धर्मातरित कर लिया है। अब मन से उन विदेशी आक्राताओं से अपने को सबधित रखने और उनके चरणचिह्नों का अनुसरण करने के प्रयत्न का कोई अर्थ नहीं है। इस प्रकार की सभी अलगाव की स्मृतियों को भूल जाओ। इस भूमि के जीवन में अपने को विलीन करो। अब से इस देश के महान पुत्रों का सम्मान करने और उनके उदाहरणों का अनुसरण करने का प्रयत्न करो, जो हमारी मातृभूमि एव सस्कृति की स्वतत्रता और सम्मान के लिए लडे हैं'— तो कार्य बहुत सरल हो गया होता। उदाहरणार्थ— नार्मन लोग इग्लैंड में आक्राता बनकर आए थे, किंतु बाद में दोनों एक-दूसरे में विलीन हो गए और भावी आक्रमणों का एक सगठित समाज की भाँति सामना किया तथा आज भी वे एकात्म जीवनयापन कर रहे हैं।

आत्मघात के बीज बोना

किंतु युद्धप्रिय, उपद्रवी मुसलमान से यह कहने के लिए कि उनके पूर्वज हिंदू थे, उसे एक स्वाभिमानी पुरुष के समान हिंदू-समाज में लौट आना चाहिए, उसे मुगलों के समय की अपनी आक्रामक वृत्ति त्याग देना चाहिए तथा वर्तमान की वास्तविकताओं के प्रति सचेत होकर जीवन की राष्ट्रीय धारा में अपने को विलीन कर लेना चाहिए— सत्य की परम महत्ता में अविचल निष्ठा एव परिस्थिति के कठोर सत्य का सामना करने का अदम्य साहस चाहिए था, किंतु दुर्भाग्यवश उस समय के अनेक अग्रणी व्यक्तियों में सत्य के प्रति दृढ आग्रह, प्रेम तथा निर्भीकता का अभाव था।

हमारे सामने मौलाना मुहम्मद अली का उदाहरण है। वे महात्मा जी के दाहिने हाथ माने जाते थे और एक निष्ठावान मुसलमान थे। वे सन् १९२३ में कांग्रेस के काकिनाडा अधिवेशन के सभापति चुने गए थे। उस अधिवेशन में राष्ट्रीय गीत 'वंदेमातरम्' के गान के लिए प्रख्यात देशभक्त संगीतज्ञ पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर आए थे। जैसे ही अधिवेशन प्रारंभ होने को हुआ और वंदेमातरम् का गान करने के लिए वे आगे बढ़े, मौलाना साहब ने उन्हें यह कहते हुए रोक दिया– 'नहीं, आप यह राष्ट्रीय गीत नहीं गा सकते। यह हमारी धार्मिक भावना पर आघात करता है।' किंतु दृढ़निश्चयी पलुस्कर ने यह कहकर दब जाने से इनकार कर दिया कि वह विशेष रूप से इसीलिए आए हैं और अपने कर्तव्य को पूरा करेंगे। क्रोध में आकर मौलाना साहब उस स्थान से चले गए और जब तक राष्ट्रीय गीत चलता रहा, दूर खड़े रहे। वहाँ एकत्रित नेताओं की संपूर्ण भीड़ में एक भी ऐसी साहसी आत्मा नहीं थी, जिसमें उनसे यह कहने का साहस होता कि 'जनाब, यह हमारा राष्ट्रीय गीत है। राष्ट्रीय महासभा के सभापति के नाते आपको इसके गायन पर ऐतराज नहीं होना चाहिए। देशभक्ति के मार्ग में अन्य विचारों को नहीं आने देना चाहिए।' किंतु इसके विपरीत इस सांप्रदायिक धर्मांधता को तुष्ट करने के लिए वंदेमातरम् के कुछ अंश ही निकाल दिए गए।

इस प्रकार हमारे नेताओं में विशुद्ध राष्ट्रीयता के स्पष्ट आधार पर मुस्लिम दुराग्रह का सामना करने की इच्छा एवं निष्ठा के नितांत अभाव के कारण ही मुस्लिम तुष्टिकरण के बीज बोए गए। नई एकता और नई राष्ट्रीयता को प्राप्त करने के पीछे दौड़ते हुए हमारे नेताओं ने 'हिंदू-मुस्लिम' एकता का नारा लगाया और घोषणा की कि इसके मार्ग में जो भी वस्तु बाधा के रूप में आए, उसे भूल जाना चाहिए। वे मुसलमान से यह कहने का साहस नहीं कर सके कि वह अपनी विघटनकारी वृत्ति को भूल जाए। वे अपने सभी उपदेशों की बौछार विनम्र हिंदू पर ही करने लगे। उनका प्रथम उपदेश था कि हमारी राष्ट्रीयता हिंदू नहीं कही जा सकती और न हमारा देश ही अपने परंपरागत 'हिंदुस्थान' नाम से पुकारा जा सकता है, क्योंकि यह मुसलमान को बुरा लगेगा। अंग्रेजों द्वारा दिया हुआ 'इंडिया' नाम स्वीकृत हुआ। इस नाम को लेते हुए भारत को नवीन राष्ट्र 'इंडियन राष्ट्र' कहा गया और हिंदू से कहा गया कि वह अपना नाम 'इंडियन' रख ले।

हिंदू — बलि का बकरा

नेताओं के उपदेश यहीं तक समाप्त नहीं हुए। हिंदू से कहा गया कि वह मुसलमानों द्वारा हुए ध्वंस और अत्याचारों की उपेक्षा करे। उनके समक्ष नम्रता से झुक जाए। उससे कहा गया— 'मुसलमानों ने तुम्हारे प्रति भूतकाल में जो कुछ किया है और अब जो कुछ कर रहे हैं, उसे भूल जाओ। यदि मंदिर में तुम्हारा पूजा करना और सडकों पर देवताओं की शोभा-यात्राएँ मुसलमानों को कुपित करती हैं, तो यह काम मत करो। यदि वे तुम्हारी पत्नियों और पुत्रियों को ले जाते हैं, तो ले जाने दो। उन्हें बाधा मत दो। यह हिंसा होगी।' उन दिनों उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत में एक मुसलमान ने एक हिंदू लडकी का अपहरण किया। केंद्रीय धारा-सभा (सेंट्रल असेंबली) में यह प्रश्न रखा गया, जहाँ हमारे प्रमुख नेतागण भी उपस्थित थे। एक मुसलमान कांग्रेसी नेता ने बडे सरल भाव से यह कहकर उसे उडा दिया कि 'अंतत लडके, लडके हैं और लडकियाँ, लडकियाँ हैं।' इस अपमानकारक वाक्य पर वहाँ उपस्थित एक भी हिंदू नेता का विरोध-स्वर नहीं उठा। किसी ने भी यह पूछने का साहस नहीं किया कि यदि यह केवल लडके और लडकियों का ही मामला है तो मुसलमान लडके सदैव हिंदू लडकियों का ही अपहरण क्यों करते हैं, मुसलमान लडकियों का क्यों नहीं करते? उन्होंने तो उसमें एक विनोद का आनंद लिया।

जब हिंदू भावनाओं का अपमान करने के लिए मुसलमानों ने गाय काटी, तब हिंदुओं से कहा गया कि वह मुसलमानों का धार्मिक अधिकार है। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु होने के कारण तुम्हें इस पर आपत्ति नहीं करनी चाहिए। पं. जवाहरलाल ने मुसलमानों को लिखित आश्वासन दिया कि उनकी धार्मिक भावनाओं का ध्यान रखते हुए स्वराज मिलने पर गोवध पर प्रतिबंध नहीं लगाया जाएगा, यद्यपि कुरान में गोवध के लिए स्वीकृतिसूचक एक भी शब्द नहीं है।

उन दिनों एक विशिष्ट हिंदू व्यक्ति द्वारा बडी सार्वजानिक सभा में यह घोषणा की गई कि— 'बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वराज्य नहीं हो सकता और इस एकता को प्राप्त करने का सरलतम मार्ग है कि सभी हिंदू मुसलमान हो जाएँ।' उन्होंने इतना भी नहीं समझा कि तब वह 'हिंदू-मुस्लिम एकता' न होकर केवल 'मुस्लिम एकता' होगी, क्योंकि हिंदू तो रहेंगे ही नहीं।

इस सीमा तक हिंदुओं को आत्मविस्मरण सिखाया गया। अपना

वैभवशाली इतिहास भूल जाने की शिक्षा उन्हें दी गई। उन्हें सिखाया गया कि राणाप्रताप, शिवाजी, गुरु गोविंदसिंह तथा इस प्रकार के सभी प्रेरणादायी नामों को भूल जाओ और जिन लोगों को उनका स्मरण फिर भी होता रहे तो उन्हें 'पथभ्रष्ट देशभक्त' कहो। वास्तव में उनके द्वारा 'हिंदू-मुस्लिम एकता' के घोष के अनुरूप इतिहास की 'नई खोज' की गई। इस प्रकार के आविष्कार के उदाहरणस्वरूप हमारे देश के एक प्रख्यात विद्वान का लेख है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि हिंदुओं को बलात् मुसलमान बनाए जाने की बात को सिद्ध करनेवाला कोई भी लिखित प्रमाण नहीं है। क्या यह आविष्कार मौलिकता में आइन्स्टीन के आविष्कारों से भी ऊँचा नहीं है? यह सब हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए, अर्थात् स्वराज्यप्राप्ति के लिए है– ऐसा समझा जाता था। श्रद्धालु एव स्वतत्रता-प्रिय हिंदू ने इस सब पर विश्वास किया और अपने हिंदुत्व, अपने युगों प्राचीन सभी आदर्शो, परपरागत स्वत्व तथा आकाक्षाओं को बलिदान करने के लिए उद्यत हो गया, क्योंकि उसके नेताओं ने कहा कि बिना यह किए हिंदू-मुस्लिम एकता सभव नहीं है और हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। एक प्रख्यात नेता ने तो यहाँ तक कहा कि हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना वह स्वराज्य स्वीकार नहीं करेगा।

दूसरे शब्दों में, हिंदू से कहा गया कि वह अशक्त है, वह निर्जीव है। उसमें अपने पैरों पर खडे होने तथा मातृभूमि की स्वतत्रता के लिए लडने का दम नहीं है। यह सब उसमें मुस्लिम रक्त के रूप में प्रविष्ट करवाना होगा। कितनी निर्लज्जता और दुर्भाग्य की बात है कि हमारे अपने ही नेता हममें से प्राचीन अदम्य विश्वास का उच्छेद करें तथा हमारे आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना, जो किसी भी समाज का जीवनप्राण होती है, को नष्ट करें। 'हिंदू-मुस्लिम एकता' के बिना स्वराज नहीं– की घोषणा करनेवालों ने इस प्रकार हमारे समाज के प्रति सबसे बडे द्रोह का अपराध किया है। उन्होंने एक महान प्राचीन समाज के जीवन को हतोत्साहित करने का जघन्य पाप किया है। महान इतिहासकार यदुनाथ सरकार जिन्होंने, समस्त विश्व के समक्ष यह सिद्ध किया कि हिंदू अमृत रसपान किए हुए है, जिस समाज में शिवाजी का जन्म हुआ, उस समाज को नपुसकता का उपदेश देने तथा ऐसे महावीर्य-सपन्न समाज के आत्मविश्वास एव चैतन्य को भग करने के समान बडा विश्वासघात ससार के इतिहास में नहीं है।

कडवे फल

इसका सीधा परिणाम यह हुआ कि सन् १६४६ में हिंदू मुसलमानों के हाथ परास्त हो गए। उन मुसलमानों के सामने, जिनमें अधिकाश वे थे, जो प्राणों के भय से अथवा धन एव शक्ति के प्रलोभनों द्वारा इस्लाम में धर्मांतरित किए गए थे, अर्थात् वे हमारे समाज के उस वर्ग की सतान थे, जिसमें अपने स्वदेश और स्वधर्म की रक्षा के लिए अविचलित भाव से खडे रहने का मानसिक सत्व और स्वाभिमान नहीं था। जिन्हें अपनी रक्षा के लिए शत्रु-पक्ष में मिल जाना अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ था। और हम, जो ऐसे अद्वितीय शौर्यसपन्न पराक्रमी पूर्वजों की सतान हैं, जो शताब्दियों तक आक्राता मुसलमानों के झझावात की एक के बाद दूसरी लहरों को चुनौती देते हुए ठोकर मारते रहने से इस प्रकार के लोगों के हाथों पराजय स्वीकार की।

यह पराजय कितनी अपमानास्पद थी। उन आक्राताओं के साथ गत एक हजार वर्षो के अपने सघर्ष में हमने कभी उनका सार्वभौम अधिकार अपने इस देश के किसी भी भाग पर स्वीकार नहीं किया था। उस समय भी, जब अकबर तथा औरगजेब के काल में हमारे देश का एक बहुत बडा भाग उनके शासन में था, तब एक दिन भी ऐसा नहीं गया, जब कोई राणाप्रताप, गुरु गोविदसिह, छत्रसाल अथवा शिवाजी उन्हें चुनौती देने एव अपने राष्ट्रीय स्वातत्र्य के अधिकार को जताने के लिए खडे न रहे हों। अग्रेजों के राज्यकाल में भी स्वतत्रता के लिए सघर्ष की प्रेरणादायी परपरा निरतर चलती रही। तथापि प्रथम बार सन् १६४७ में हमने लडना छोड दिया और राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए एक हजार वर्ष के यशस्वी सघर्ष का निदनीय अत कर दिया। अपने देश के बहुत बडे भाग पर आक्राता के निर्द्वद्व आधिपत्य को मानकर हमने अपने सभी अधिकारों को उन्हें समर्पित कर दिया।

यह था कटु परिणाम हिदुओं में निर्माण किए गए आत्मविश्वास की भावना के निरतर ह्रास का, जिसका कारण था हमारे नेताओं द्वारा आग्रहपूर्वक किया गया वह आत्मघाती घोष कि 'बिना हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वराज नहीं हो सकता।'

बुरे कर्मों का फल

ससार में अन्य कोई भी समाज इस विषय में अब तक हम हिंदुओं के समान असामान्य रूप से अभागा नहीं रहा। भिन्न-भिन्न समाजों के

नेताओं ने सदैव अपने समाजों में आत्मविश्वास निर्विष्ट करने, उनकी शिथिल होती हुई चेतना को जागृत करने तथा शत्रुओं के सामने उन्हें वीर्यवान एव विजयी बनाने के लिए अपनी सपूर्ण शक्ति से प्रयत्न किया। किंतु यहाँ हमारे ही नेता थे, जो मानो अपने समाज से समस्त पौरुष को क्षय करने की प्रतिज्ञा लिए हुए थे। यह कोई इतिहास की सयोगवश घटित हुई घटना मात्र नहीं है। यह नेतृत्व हमें उस धिक्कारने योग्य हमारे पूर्वजों की लबी जमात की तीव्रतम कडवाहट के रूप में प्राप्त हुआ, जिन्होंने गत बारह सौ वर्षों में सम्मान तथा स्वतन्त्रता को विदेशियों के हाथों बेचा और अपना व्यक्तिगत बडप्पन चमकाने हेतु अपने ही जाति-बधुओं के गले काटने के लिए अपने देश तथा धर्म के चिरकालिक शत्रुओं से हाथ मिलाया। आश्चर्य की बात नहीं कि ऐसे लोगों को अपने बुरे कर्मों के फल के रूप में आज इस प्रकार का आत्मघाती नेतृत्व प्राप्त हुआ।

तुष्टिकरण से क्षुधा तीव्र होती है

ये नेता इतना भयकर मूल्य चुकाने पर भी हिंदू-मुस्लिम एकता के अपने स्वप्न को साकार नहीं कर सके। हमारे नेताओं ने उन्हें सतुष्ट करने का जितना अधिक प्रयत्न किया, उनकी विघटनात्मक एव आक्रामक भूख उतनी ही तीव्र हुई। अग्रेज राष्ट्रीयतावादी शक्तियों के विरुद्ध उन्हें खडा करने के लिए उनके विघटन के दॉत-पजे पैने करता रहा। इस प्रकार मुसलमानों की स्थिति यह हुई कि अग्रेज और राष्ट्रवादी– दोनों ही उन्हें अपने-अपने पक्ष में चाहने लगे और उनका मूल्य ऊँचा, और ऊँचा चढता गया।

सन् १८८७ में सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने अपनी डायरी में लिखा है कि मुसलमानों को काग्रेस अधिवेशनों में ले जाने के लिए वे लोग भरसक प्रयत्न करते थे। उन्हें रेल-किराया तथा अन्य सुविधाएँ दिया करते थे, जिससे काग्रेस केवल हिंदुओं की सस्था न दिखे। इन सब प्रयत्नों के होते हुए भी अत्यल्प मुसलमान आते थे।

स्वतत्रता-सग्राम में एक बार पडित नेहरू ने अपने निज के प्रात में मुस्लिम जनसपर्क इसलिए आरभ किया था, ताकि मुसलमानों को अपने पक्ष में लाया जा सके, किंतु परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम लीग बडे जोरों से बढने लगी और वही प्रात, याने उत्तरप्रदेश विघटनकारी मुस्लिम आदोलन का प्रमुख अड्डा हो गया।

इससे पूर्व सन् १६१६ में ही लखनऊ-समझौते के अनुसार काग्रेस ने मुसलमानों की पृथक निर्वाचन की माँग को स्वीकार कर लिया था। उसके पश्चात् सन् १६३१ के साम्प्रदायिक निर्णय में उन्हें केंद्रीय धारा-सभा में सवा तेंतीस प्रतिशत स्थान दे दिए गए, यद्यपि उनकी कुल जनसख्या २४ प्रतिशत ही थी। इसके सिवाय वगाल और पजाव में, जहाँ जनगणना के समय हिदुओं की अपेक्षा अधिक जनसख्या दिखाने के लिए मुस्लिम जनसख्या के ऑकडे वढवाए गए थे, उन्हें वैध रूप से वहुसख्यक मान लिया गया। इस प्रकार मुसलमानों के लिए सुरक्षित स्थानों की सख्या उस वढाई हुई जनसख्या से भी अनुपातत वहुत अधिक थी। अन्य प्रातों में, जहाँ मुसलमान अल्पसख्या में थे, उन्हें अधिप्रतिनिधित्व (वेटेज) दिया गया। इससे जनसख्या के अनुपात की अपेक्षा उन्हें अत्यधिक प्रतिनिधित्व मिला। फिर भी उनकी माँगें वढती ही गई। सन् १६४६ में जब केंद्रीय अतरिम सरकार बनी, तव मुसलमानों को सवर्ण हिदुओं से समानता दी गई और इस प्रकार हिदुओं में विभेद निर्माण किया गया। अत में उनका मूल्य इतना वढ गया कि उन्होंने इस देश के दो वडे भाग ही नहीं ले लिए, जहाँ कि आज वे उनके पूर्ण स्वामी के रूप में निवास करते हुए हमारे देश के अवशिष्ट को विजय करने की योजनाएँ वनाते हैं, वरन् यहाँ भी पर्याप्त सख्या में, सभाव्य पचमागी के रूप में रह रहे हैं।

ध्वस्त घोष

अग्रेजों के भारत छोडने तथा हमारे नेताओं के साधिकार कथन के अनुसार स्वराज के आगमन के साथ ही घटित हुए विभाजन ने इस घोष- 'कि बिना हिदू-मुस्लिम एकता के स्वराज नहीं हो सकता' की असत्यता का भडाफोड किया। वास्तव में हिदू ओर मुसलमानों के सवध इतने कटु तथा विलग और कभी नहीं हुए थे, जितने सन् १६४६ और १६४७ के वर्षों में हुए। लाखों परिवार अपने पैतृक गृहों से उन्मूलित हो गए। प्रात के प्रात रक्त की नदियों के वहने से लाल हो गए तथा मृत्यु-विनाश एव अपकीर्ति ने कोटि-कोटि निरपराध मानवों के मुख क्षतागित कर दिए। उन दोनों के वीच युगों का सामान्य सामाजिक ससर्ग उस काल में विच्छिन्न हो गया। यह टीक वही समय था, जव अग्रेज ने यह देश छोडा। किन शब्दों में हम नेताओं की दूरदर्शिता एव राजनीतिज्ञता का वर्णन करें, जिन्होंने यह उद्घोष किया था कि विना हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वराज नहीं हो सकता।'

अंग्रेज के इस देश से चले जाने के पश्चात् आज भी हम राष्ट्रीयता की उस प्रतिगामी एवं विकृत कल्पना के विघातक परिणाम देख रहे हैं। यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि किसी विशेष मार्ग को ग्रहण करने में आरंभ का अल्प पथ-भ्रंश भी कुछ समय पश्चात् मनुष्य को नितांत भिन्न लक्ष्य पर पहुँचा देता है। यदि एक बार मनुष्य कोई भूल कर बैठता है, तो वह उसे आग्रहपूर्वक पकड़े रहता है। उस भ्रांत-पथ को छोड़ देने का दूसरों का उपदेश उसे केवल कुपित करता है तथा और भी दुराग्रह से उसी से संलग्न रखता है। भूल करना मानवीयता है, किंतु प्रमाणित और निर्णीत भूल को हठपूर्वक पकड़े रहना अमानवीयता है। यह तो एक पशु की विशेषता है, मानव-प्राणी की नहीं। बुद्धिमान मानव-प्राणी का तो यह गुण होता है कि अपनी भूल को स्वीकार करे और अत्यंत नम्रतापूर्वक उस भूल को पुनः कभी न दुहराने के निश्चय के साथ उसका शोधन करे। किंतु दुर्भाग्य से हमारे नेता अपनी राष्ट्रीयता की प्रादेशिक कल्पना, जिससे अपनी मातृभूमि के विभाजन का अभूतपूर्व दुःखद प्रसंग उसके नित्य एवं बढ़ते हुए संकटों के साथ उपस्थित हुआ और अपने दो करोड़ से अधिक बंधुओं का उन्मूलन घटित हुआ तथा जिसके परिणामस्वरूप उन्हें अकथनीय क्लेश, उच्छेदन, दुर्गति एवं अपमान सहना पड़ा, का पुनर्निरीक्षण एवं शोधन करने के लिए उद्यत नहीं हैं।

यह है राष्ट्र की गलत और अस्वाभाविक कल्पना का मूल्य, जिसे हमने ग्रहण किया था। उसे हमने चुकाया और चुकाते आ रहे हैं। उसमें से इससे अच्छा कहलाने योग्य कुछ भी निकलने की आशा नहीं की जा सकती। निश्चय ही प्रादेशिक राष्ट्रीयता की कल्पना ने हमारे राष्ट्र को वीर्यहीन कर दिया है। जीवन-शक्ति से रहित उस शरीर से हम और अधिक क्या आशा कर सकते हैं?

एक बार किसी विद्यालय के प्राणिशास्त्र विभाग के छात्रों ने अपने वृद्ध आचार्य से विनोद करने की योजना बनाई। उन्होंने एक जल-कीट (वॉटरबग) की टाँगें अलग करके एक अन्य जाति के कीट में उसे जोड़ दिया। वे उसे अपने आचार्य के पास लाए और संभ्रम के स्वर में पूछा– 'महाशय हम लोग नहीं जान सके कि यह क्या है? यह नए प्रकार का कैसा कीट (बग) है?' वृद्ध आचार्य ने सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा उसका

परीक्षण किया और गभीरता से बोले– 'बच्चों, यह क्या बात है कि तुम इसके समान सरल साधारण वग भी नहीं जानते? इस वग का नाम हमवग (वचना) है।'

यह थी 'हमवग' की तरह की राष्ट्रीयता, जिसमें प्राण डालने का प्रयास किया गया। यह एक ऐसा अनोखा प्राणी निर्माण करने के प्रयास के समान था, जैसे हाथी के धड में वदर का सिर तथा बैल की टाँगें जोडकर बनाया जाए, इसका परिणाम तो बस एक वीभत्स शव ही होगा। यह सजीव शरीर नहीं हो सकता। यदि उस शरीर में कुछ सचलन दिखेगा भी तो वह उस शव के सडने से उत्पन्न हुए कीटाणुओं एव रोग-जतुओं के कारण ही होगा। वही आज हम देख रहे हैं कि अस्वाभाविक, अवैज्ञानिक तथा निर्जीव प्रादेशिक राष्ट्रीयता को त्यागने से भ्रष्टाचार, विच्छिन्नता एव विघटन हमारे राष्ट्र की जीवनी शक्तियों को खा रहे हैं।

अत यदि हमें पुन एक राष्ट्र के रूप में खडे होना है, तो अपनी इस प्रारभिक महती भूल का शोधन करना चाहिए, जिसे हमने इस नई फैशन के राष्ट्रीयता की कल्पना का स्वीकार करके किया है तथा जो अनुभव द्वारा नितात मिथ्या एव घातक सिद्ध हो चुकी है। स्वार्थी लोगों के धूर्ततापूर्ण प्रचार से हमें गलत मार्ग पर भ्रमित नहीं होना चाहिए। हम अब तक उनके उत्साही उपदेशों– 'हम हिदुओं को, जिनका मानव-भ्रातृत्व का इतना महान दर्शन, भाव की विशालता आदि है, उन्हें अपने को हिदू राष्ट्रीयता तथा इस प्रकार के सभी साप्रदायिक, मध्ययुगीन एव प्रतिगामी विचारों के कथन द्वारा सकुचित नहीं कर लेना चाहिए' से पर्याप्त मूर्ख बन चुके हैं। हमें इस कपट को समझ लेना चाहिए तथा अपनी उस राष्ट्रीयता, जो एक सनातन सत्य है की ओर पुन लौटना चाहिए।

हिदू ही भारत के राष्ट्रीय होने के कारण हमारे सगठन के लिए 'राष्ट्रीय' शब्द जब निर्णीत किया गया था, तब स्पष्ट रूप से हमारे पूज्य सस्थापक ने इसी तथ्य का पुन निरूपण किया था। हमें एक बार पुन अपने वास्तविक एव पूर्ण आकार तक उठ कर खडा होना चाहिए और साहस के साथ दृढतापूर्वक कहना चाहिए कि हम भारत में हिंदू राष्ट्रीय जीवन का उत्कर्ष करते हुए उसे वैभव और सम्मान के उस उच्चतम शिखर पर पहुँचाएँगे जो अति प्राचीनकाल से उसका जन्मसिद्ध अधिकार है।

७ दृढ धारणा के लिए साहस का आह्वान

हृदय से सब स्वीकार करते हैं, किंतु

आज हम अपने देश में विचित्र घटनाएँ घटित होते देख रहे हैं। हिदू राष्ट्रीयता की वास्तविक एव भावात्मक कल्पना को तो साप्रदायिक, प्रतिगामी, सकुचित आदि उपाधियाँ दी जा रही हैं, पर प्रादेशिक राष्ट्रीयता के अवैज्ञानिक प्रतिगामी एव विघातक सिद्धात को हमारे आज के नेतागण धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील तथा व्यापक दृष्टिकोणवाला प्रदर्शित कर रहे हैं। किंतु इस उठाए हुए राजनैतिक धूल के बादल के होते हुए भी क्या तथाकथित धर्मनिरपेक्षतावादी अपने हृदय के अतरतम में मूलत हमसे भिन्न हैं?

आज अपने देश के अत्यत प्रमुख व्यक्ति उस दर्शन एव कला की महानता की अति उत्साहपूर्वक प्रशसा करते हैं, जिसे वे 'इडियन फिलासफी' और 'इडियन आर्ट' कहते हैं। वे कहते हैं–भारतीय दर्शन की उच्चतम उडानें उपनिषदों में प्राप्त होती हैं, कालिदास भारतीय साहित्य के सर्वोत्तम रत्न हैं, आदि। वे घोषणा करते हैं कि इडियन थाट मानवता के लिए अनोखी देन है, जिसमें विविधता में एकता को देखना तथा पृथ्वी के सभी सप्रदायों तथा पथों के प्रति सम्मान का भाव है। पर क्या इन सबमें जो कुछ हिदू है, उससे भिन्न कोई वस्तु 'इडियन' है?

एक बार एक प्रमुख नेता ने मुझसे कहा– 'निस्सदेह हिदू-राष्ट्र के सबध में आप जो कुछ प्रतिपादित करते हैं, उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है। किंतु कूटनीतिज्ञता से उसी को 'हिंदू' के स्थान पर 'भारतीय' कहकर क्यों न रखा जाए? क्योंकि आजकल 'हिंदू' शब्द आक्रामक प्रतीत होता है।' उन्होंने सस्कृत का प्रसिद्ध वचन उद्धृत किया– 'न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्'। सत्य को छलने का कितना सुदर ढग है। यथार्थ में उस उक्ति का सही अर्थ दूसरा ही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अप्रिय सत्य को दबाना चाहिए। उसका अर्थ तो असत्य को प्रश्रय देना होगा। सत्य अवश्य कहना चाहिए, किंतु मीठे ढग से। सत्य तो यह है कि जिस विचार का हम प्रतिनिधित्व करते हैं, उसका शुद्ध एव स्पष्ट वर्णन 'हिदू' शब्द द्वारा ही हो सकता है। यद्यपि 'भारतीय' शब्द से भी वही अर्थ व्यक्त होना चाहिए, किंतु आज जिस ढग से उसका प्रयोग हमारे नेताओं ने किया है, वह भ्रमोत्पादक तथा [illegible] से परे ले जानेवाला है। अत हमने निश्चय किया है कि, '[illegible]

करने अथवा किसी की तुष्टि के लिए सत्य को मिश्रण द्वारा क्षीण नहीं करेंगे। हम इस सत्य को प्रचलित करते हुए इतने निम्नस्तर पर भी नहीं आएँगे कि कटु भाषा का प्रयोग करने लगें। हमारा आधार हमारे राष्ट्रीय जीवन का शुद्ध एव भावात्मक विषय है। हम राष्ट्र की सभी समस्याओं को उसी के स्पष्ट प्रकाश में देखते हैं।

हिंदू राष्ट्रीयता के इस सत्य की छाप सभी मस्तिष्कों पर है, भले ही कुछ लोग उसे शब्दों में व्यक्त न करें। सोमनाथ का ही उदाहरण लें। जब सोमनाथ के मदिर का नवनिमाण होकर स्थापना-सस्कार हुआ, तब हमारे देश के अनेक महान नेता तथा विद्वान वहाँ गए, जिनमें हमारे राष्ट्रपति स्मरणीय डा राजेंद्रप्रसाद भी थे। उस अवसर पर उनके भाषण का प्रमुख भाव क्या था? उन्होंने कहा कि 'सोमनाथ के पुनर्निर्माण द्वारा हम बारह सौ वर्षों की दासता का कलक धो रहे हैं।' यह सत्य प्रकट करनेवाला वाक्य है। जब उन्होंने बारह सौ वर्षो की दासता की बात कही तो हमें दास बनानेवाले कौन लोग उनके मस्तिष्क में थे? सोमनाथ का मदिर किसने तोडा? स्पष्ट है कि वे मुसलमान थे। किन लोगों के लिए यह सम्मान तथा भक्ति का विषय था? इसका भी उत्तर बहुत स्पष्ट है। यह सब हिंदुओं के लिए सम्मान का विषय है। उन्हीं का यह एक ज्योतिर्लिंग है। उस मदिर का ध्वस हिंदु-समाज के गौरव के लिए अपमानकारक था, उसके पुनर्निर्माण द्वारा उस गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा की गई। विदेशी आक्रमण, अर्थात् मुसलमानों के आक्रमण के कलक को धो डाला गया। इस एक ही वाक्य में उन्होंने असदिग्ध रूप से यह कह दिया है कि हिंदू इस देश का अज्ञात काल से निवासी है, यहाँ उसी की राष्ट्रीय सत्ता है और उसके उपासना के स्थानों की पुनर्स्थापना के द्वारा ही देश पर हुए विदेशी आक्रमण का कलक मिटाया जा सकता है।

इसलिए हम देखते हैं कि वे लोग भी, जो अपने व्यापक दृष्टिकोण की तुलना में हमें साम्प्रदायिक कहते हैं, हमारे समान ही विश्वास रखते हैं। यद्यपि वे उसे सीधे रूप में कहते नहीं हैं। वे एक घुमावदार मार्ग ग्रहण करते हैं और अत में हिंदू-राष्ट्र के ठोस सत्य के विषय में उसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। इतना ही नहीं, वे इस देश में निवास करनेवाली अहिंदू जातियों, विशेष रूप से मुसलमानों, जिनका विचार उनके मस्तिष्क में सर्वोच्च है की वास्तविक प्रकृति के सबध में भी उसी परिणाम पर पहुँचते हैं।

एक बार एक प्रमुख काग्रेसी कार्यकर्ता ने मुझसे कहा– 'देखो मैं

साफ-साफ नहीं कह सकता कि यह हिंदू-राष्ट्र है, क्योंकि इस देश में चार करोड मुसलमान रहते हैं। यदि पाकिस्तान ने हमारे विरुद्ध कुछ किया तो ये चार करोड मुसलमान उसके पक्ष में जा सकते हैं।' उत्तर में मैंने पूछा– 'तो फिर हिंदू-मुस्लिम भाई-भाई आदि के नारे का क्या हुआ? क्या आपके इस कथन से यह अति स्पष्ट नहीं है कि वे सब वचन किसी श्रेष्ठ विचार के कारण नहीं, वरन् मुसलमानों के भय से उत्पन्न हुए थे?' उनके पास कोई उत्तर न था, क्योंकि यह सत्य है। अपने आपको धर्मनिरपेक्ष, विशालहृदयी आदि नामों से सबोधित करनेवाले लोगों के मन में समाया हुआ यह भयपूरित न्यूनगड ही है, जो उनसे कहलाता है कि 'हम स्वय को हिंदू न कहें, अन्यथा मुसलमान नाराज होकर हमसे लडने के लिए खडे हो जाएँगे।' मुसलमानों का विरोधी स्वभाव तो उन्हें भी स्वीकार है ही। वे उन्हें केवल इसीलिए सतुष्ट करना चाहते हैं कि कहीं वे विरोधी के समान व्यवहार न करें।

एक शिक्षाप्रद कथा

महाभारत में एक रोचक कथा है। जिन दिनों पाडव अपनी माता कुती के साथ प्रच्छन्न रूप से भ्रमण कर रहे थे, वे एक स्थान पर पहुँचे। उस स्थान को एकचक्रापुरी कहा जाता था। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि वह नगर उस समय एक भयानक दैत्य के अधीन था, जिसका नाम 'वक' था। जब वह उस नगर को नष्ट करना चाहता था, तब लोगों ने उससे प्रार्थना की कि– 'हमारा सबका अभी वध न करो। आपकी इस दया के बदले में हम प्रतिदिन आपके भोजन के लिए एक गाडी भर भात तथा अन्य खाद्य सामग्री, गाडी में जुते हुए दो भैंसे और गाडीवान भेज दिया करेंगे।' यह समझौते की शर्तें थीं।

कथा का आगे का भाग बहुत ही रोचक तथा उद्‌बोधक है। कुती ने लोगों से कहा कि वे चिता न करें, वह अपने पाँच पुत्रों में से एक को भेजेगी जिसमें उस राक्षस को नष्ट करने की क्षमता है। तदनुसार भीम को भेजा गया। वह गाडी-भर भोजन के साथ वक के स्थान पर गए और उच्चस्वर से पुकारा– 'अरे वक, तुम कहाँ हो। आओ, मैं तुम्हारा भोजन लाया हूँ। उन्होंने भैंसों को खोल दिया और स्वय बडे स्वाद के साथ भोजन करने लगे। वकासुर इस दृश्य को देखकर चकित रह गया। अभी तक किसी ने उसे नाम लेकर पुकारने का साहस नहीं किया था। उसने जब

शिकार को ही अपना भोजन करते देखा, तो उसके आश्चर्य ने क्रोध का रूप धारण कर लिया। क्रोधावेश से अति क्षुब्ध होकर वह भीम की ओर झपटा और उनपर घूँसों की वर्षा करने लगा। किंतु भीम यह कहते हुए खाते रहे– 'थोडा रुकिए, मुझे भोजन कर लेने दीजिए।' वह समाप्त कर वे बोले– 'अब आ जाओ, इन गरीब लोगों को तुम इतने दिनों से सता रहे हो, अब समय आ गया है कि उसका हिसाब कर लिया जाए।' हमें ज्ञात है कि भीम ने वह हिसाब किस प्रकार चुकता किया। दूसरे दिन प्रात काल लोगों ने उस भयकर बकासुर के शव को नगर-द्वार पर पडा देखा और परम शाति की साँस ली।

आक्राता से व्यवहार करने के दो प्रकार होते हैं। दोनों ही प्रकारों में यह चेतना रहती है कि वह आक्राता तथा विरोधी है। इसलिए हमारे लोग चाहे यह कहते फिरें कि हम पॉच प्रतिशत स्थान देंगे अथवा खडे होकर कहें कि 'आओ, हम लोग निपट लें।' इन दोनों ही अवस्थाओं में उसकी विरोध की वास्तविक प्रकृति के विषय में वही चेतना वर्तमान है।

यद्यपि लोग हमें साप्रदायिक आदि कहते हैं तो भी उनके और हमारे विश्वास एक ही हैं। अतर इतना ही है कि हममें सत्य के कथन का साहस है और वे भय के कारण तुष्टिकरण एव शमन करने का प्रयत्न करते रहते हैं। हॉ, यह अवश्य है कि वे अपनी इस भीति पर विशालहृदयता, धर्मनिरपेक्षता आदि का आवरण डालते हैं। और कोई अतर नहीं है। इसलिए हम जिस परिणाम पर पहुँचते हैं, वह यह है कि ऐसी सब जातियाँ, जो इस देश में रह रही हैं, अब भी इसके लिए नमकहलाल नहीं हैं। इसकी सस्कृति को उन्होंने मनसा ग्रहण नहीं किया है, उस जीवन-सचार को स्वीकार नहीं किया है, जिसे इस देश ने अनेक शताब्दियों से विकसित किया है इसके दर्शन, इसके राष्ट्रीय महापुरुषों तथा इस देश के सभी आधारभूत तत्त्वों पर उनका विश्वास नहीं है। सक्षेप में कह सकते हैं कि वे हमारे राष्ट्रजीवन के लिए विदेशी हैं। केवल हिंदू-समाज का ही जीवन भारत की इस पवित्र भूमि का वास्तविक चिरतन एव वैभवशाली राष्ट्रजीवन रहा है।

वह मूल दृढ धारणा वर्तमान है

वास्तव में हमारे सच्चे राष्ट्रत्व का यह बद्धमूल विश्वास अति प्राचीनकाल से हमारे रक्त में समाविष्ट है। आज के दिन भी यही विश्वास

इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के हृदय में विद्यमान है, यद्यपि कभी-कभी सुप्त पड़ा रहता है।

सन् १६२० के लगभग डा मुंजे, जो उन दिनों कांग्रेस के एक बड़े नेता थे, पांडिचेरी में श्री अरविंद से भेंट करने के लिए चेन्नै जा रहे थे। डा हेडगेवार उनके साथ थे। डा मुंजे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे और अपने डाक्टर जी लगभग उनके परिचर के रूप में तृतीय श्रेणी में यात्रा कर रहे थे। जब ट्रेन पूर्ववर्ती स्टेशन पर रुकी, तब डाक्टर जी उनका सामान बाँधने के लिए प्रथम श्रेणी के डिब्बे में आए, किंतु उनका कार्य पूर्ण होने के पूर्व ही ट्रेन चल दी। जब ट्रेन चेन्नै स्टेशन पर पहुँची तब एक टिकट चैकर ने कहा कि वह डा हेडगेवार से इस बात का दंड लेगा कि उन्होंने तृतीय श्रेणी के टिकट से प्रथम श्रेणी की यात्रा की है। डा मुंजे ने उसे समझाने का प्रयत्न किया। किंतु जब देखा कि वह अपने हठ पर अड़ा हुआ है, तो क्रोधावेश में उनके मुँह से निकला कि— 'अच्छा तुम मुझपर विश्वास नहीं करते? मैं इस रेल का स्वामी हूँ, क्योंकि मैं किराया देता हूँ और तुम तो एक नौकर हो। निकल जाओ।' यह टिकट चैकर भी अत्यंत क्रोधित हो गया और बोला— 'तुम मुझसे यह कहनेवाले कौन होते हो? यह कोई मुसलमान देश नहीं है, तुम निकल जाओ।' यह सुनकर वे दोनों डाक्टर खूब हँसे। उसने ऐसा इसलिए कहा, क्योंकि डा मुंजे की लंबी दाढ़ी थी। इस कारण टिकट चैकर ने उन्हें भूल से मुसलमान समझ लिया था। कहने का अर्थ यही है कि ऐसे अति साधारण प्रसंगों में मन के भीतर बैठा सत्य प्रकट हो जाता है कि यह देश, मुस्लिम देश नहीं है।

बहुत वर्ष हुए, जब गोविन्दराव काले, जो निजाम के दरबार में [illegible] पेशवा के राजदूत थे, ने यह समाचार सुना कि पेशवा अपनी विजयिनी सेना [illegible] के साथ सिंधु पार कर काबुल तक पहुँच गया है। तब उनको बधाई देते हुए [illegible] उन्होंने पत्र में लिखा— 'मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ कि भगवाध्वज पुनः [illegible] लहरा रहा है। मुस्लिम [illegible] हो गई है तथा एक [illegible] गा।' [illegible] हो गया कि यह देश हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक [illegible] सित [illegible] तुर्किस्तान नहीं।' जिस [illegible] हिंदुस्थान को ११० वर्ष पूर्व [illegible] व ने साम्राज्य के विरुद्ध [illegible] किया था, [illegible] टिकट चैकर ने भी [illegible] में [illegible] कि यह [illegible]
यह है वास्तविकता।

सत्य को भी प्रमाण चाहिए

दुर्भाग्य से कुछ प्रख्यात व्यक्तियों ने इस सत्य पर अनेक भ्रांतियों एव असत्यों का आवरण डालने का प्रयत्न किया। हिंदुओं को इस बात का विस्मरण कराने का प्रयत्न किया जा रहा है कि वे एक राष्ट्र हैं। असत्य भी यदि सतत दुहराया जाए तो दुर्बल मस्तिष्क पर अपना प्रभाव करता ही है। जैसा एक कथा में आता है कि एक बार एक ब्राह्मण एक बकरी के बच्चे को अपनी गोद में लिए जा रहा था। तीन चोरों ने उसे हडपने की योजना बनाई। एक के बाद दूसरा उस ब्राह्मण से मिला और आक्षेपपूर्ण उपहासात्मक उद्गारों से सबोधन कर कहा कि कैसी विचित्र बात है कि उसके समान पवित्र ब्राह्मण अपनी गोद में कुत्ता उठाए लिए जा रहा है। उस भोले-भाले ब्राह्मण पर प्रथम चोर के कहने का प्रभाव नहीं हुआ, किंतु जब दूसरे चोर ने भी वही बात दुहराई तो उसे सदेह उत्पन्न हो गया। फिर तीसरे के कहने पर तो उसे विश्वास ही हो गया। उसने उस बकरी के बच्चे को फेंक दिया। फलस्वरूप उन चोरों ने उसे अपने अधिकार में ले लिया।

हम इस ऐतिहासिक सत्य की ओर से अपनी ऑखें बद न करें कि चतुर अग्रेज ने हमारे देश पर अपने अधिकार को स्थायी रूप से बनाए रखने के लिए हिंदुओं की स्वाभिमानी एव विद्रोही भावना को भग करने के उद्देश्य से ही राष्ट्रत्व के विषय में इस प्रकार के विसगत भाव हमारे मस्तिष्कों में भरे हैं, क्योंकि यही भावना उनकी सत्ता के लिए सकट उपस्थित कर सकती थी। आज भी क्या हम अनुभव नहीं करते कि अपने देश के भीतर ओर देश के बाहर ऐसी ताकतें हैं, जो उस पवित्र और प्रखर राष्ट्रभाव की भावना के उच्छेदन से लाभ उठाना चाहती हैं, जो उनके कुटिल कार्यों का निराकरण करने में समर्थ हैं। जाने या अनजाने हमारे लोग भी उनके उस कपटी प्रचार में बह जाते हैं, जिसका उद्देश्य हमको आत्मघाती मार्ग पर ले जाना है। इसलिए हमारा पवित्र कर्तव्य है कि अपने हिंदू-राष्ट्रत्व के सत्य की पुनर्स्थापना करें, असत्यों का ध्वस करें तथा प्रत्येक हिंदू को यह अनुभव करा दें कि वह इस महान हिंदू-राष्ट्र का एक सजीव अग है।

किंतु यह किया कैसे जाए? कठोर अनुभवों के आधार पर हमें ज्ञात है कि सत्य को भी सिद्ध करने की आवश्यकता हुआ करती है, उसके प्रमाणीकरण की आवश्यकता होती है। इस प्रमाणीकरण का वर्णन अपने शास्त्रों ने निग्रहानुग्रहक्षम शक्ति के रूप में किया है। एक ऐसी शक्ति जो

शुभ की रक्षा एव अशुभ का नाश करने में समर्थ हो। हमें ज्ञात है कि भगवद्गीता के प्रथम अध्याय में ही अर्जुन अपनी शकाओं के साथ आगे आता है। द्वितीय अध्याय उन शकाओं का पूण उत्तर है। उसके पश्चात् श्रीकृष्ण उन बातों की व्याख्या करते हैं, जिनका प्रतिपादन उन्होंने द्वितीय अध्याय में किया है, किंतु अर्जुन सतुष्ट नहीं होता। अत में जब श्रीकृष्ण अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं, तब वह तुरत कहता है– 'हाँ, अब मैं समझ गया।' इसके पश्चात् जीवन के मूलभूत सिद्धातों के प्रति उसकी कोई इच्छा नहीं रह जाती। एकादश अध्याय के पश्चात् हम अर्जुन को अत्यत ग्रहणशील हुआ पाते हैं, क्योंकि उसने अब तक जिन दिव्य उपदेशों को श्रीकृष्ण से श्रवण किया था, उनकी पृष्ठभूमि में विश्वरूप की उस असीम शक्ति का आविर्भाव उपस्थित है।

हमने सन् १६४५ में अपने दिल्ली के वार्षिक उत्सव में अध्यक्षता करने के लिए एक प्रमुख काग्रेसी नेता श्री कैलाशनाथ काटजू को आमन्त्रित किया था, जो बाद में केंद्रीय मन्त्रिमडल के एक महत्त्वपूर्ण मन्त्री हो गए थे। उन्होंने निमत्रण स्वीकार किया। उनके कांग्रेसी मित्रों ने उन्हें यह कहकर निवृत्त करने की चेष्टा की कि उन्हें राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ जैसी साप्रदायिक सस्था के साथ अपने को सबधित नहीं करना चाहिए। उन्होंने उन सबको आश्वासन दिया कि वह अपने सिद्धातों का समझौता नहीं करेंगे। वह आए और उन्होंने कई हजार स्वयसेवकों को सुरचना तथा गणवेश में कार्यक्रम करते देखा। वहाँ तीन लाख की सख्या में बहुत बडा श्रोता समुदाय भी पूर्ण व्यवस्था एव शाति के साथ उपस्थित था। परिचयात्मक वक्तव्य के पश्चात् वे अपना अध्यक्षीय भाषण देने के लिए खडे हुए। उन्होंने कहा– 'यदि यह हिंदुस्थान हिंदुओं का देश नहीं तो किसका है? इस भूमि का राष्ट्रीय जीवन यदि हिंदू का नहीं तो और किसका है?' दूसरे दिन उनका भाषण समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ। स्वाभाविक रूप से उन्हें उनके काग्रेसी सहयोगियों की आपत्तियों ने परेशान किया। इस पर यह कहा जाता है कि उन्होंने उन लोगों को उत्तर दिया कि 'यदि तुममें से किसी ने भी वह दृश्य देखा होता, तो जो कुछ मैंने कहा है, उससे भिन्न और कुछ नहीं कहता। उनकी यह बात सत्य भी थी। उनके सामने खडे हुए सहस्रों सुअनुशासित एव निष्ठावान स्वयसेवकों के रूप में हिंदू-राष्ट्र की शक्ति के आविर्भाव ने उनकी वास्तविक राष्ट्रत्व की प्रसुप्त गूढ चेतना को पुन जागृत कर दिया था।

अतएव प्रत्येक हिंदू के लिए सर्वप्रथम कर्तव्य का यह भार आता

है कि वह अपने हिंदू-राष्ट्र के अति प्राचीन सत्य के प्रतिपादन के लिए हिंदू-समाज की तदनुकूल पवित्र, उदार एव अजेय शक्ति का निर्माण करे। हमारे शास्त्रों का वचन है कि आत्मविस्मृति अधर्म है और अपनी आत्मा के सच्चे ज्ञान की जागृति धर्म है। इस प्रकार हमारे सभी प्राचीन आचार्यों द्वारा दिखाए गए धर्म की पुनर्स्थापना का स्पष्ट मार्ग यही है कि हिंदू-समाज अपनी राष्ट्रीय आत्मा के सत्य, अर्थात, गौरवशाली दीप्तिमान हिंदू-राष्ट्रत्व का जागरण करे।

ि ि ि

८ हिंदू-राष्ट्र की अनुपमता
(पूर्वार्ध)

हिंदू-राष्ट्र की विवेकसम्मत, सकारात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से सटीक अवधारणा में ही तथाकथित 'धार्मिक अल्पसख्यक समस्या' का निदान ढूँढा जा सकता है, अन्यथा इन तथाकथित अल्पसख्यकों का अपनी मजहबी खाल में अधिकाधिक कट्टर होना एव हमारे राष्ट्र के विघटन का विकराल स्रोत के रूप में परिणत होना अवश्यभावी है।

इस सदर्भ में हमारे मुस्लिम व ईसाइ नागरिकों से यह अपेक्षा है कि वे धार्मिक अल्पसख्यक होने की धारणा के साथ विदेशी मनोग्रंथि को तिलाजलि देकर इस पुण्यभूमि की प्रमुख राष्ट्रीय धारा में समाहित हों। जहाँ तक इस भू-भाग की राष्ट्रीय परपरा का सबध है, वह यह कभी नहीं मानती कि मात्र पूजा-पद्धति बदलने से कोई व्यक्ति भूमि-पुत्र नहीं रहता और विदेशी हो जाता है। यहाँ भगवान को किसी भी नाम से पुकारने पर आपत्ति नहीं हो सकती। इस धरती के कण-कण में आस्थाओं एव धार्मिक मान्यताओं के प्रति स्नेह व आदर का भाव समाया हुआ है। दूसरी आस्थाओं के प्रति असहिष्णुता धारण करनेवाला व्यक्ति यहाँ का भूमि-पुत्र कभी नहीं हो सकता।

पड़ोसी राष्ट्रों से शिक्षा

इस सबध में हमारे मुस्लिम मित्रों को ईरान, तुर्की व इडोनेशिया के अपने सहधर्मियों से सबक लेना श्रेयस्कर होगा। यद्यपि पर्शिया इस्लामिक

हो गया, परंतु फारसी नागरिकों ने अपनी लिपि को छोड़कर अरबी लिपि को नहीं अपनाया। उन्होंने अरबी जीवन-पद्धति को ग्रहण नहीं किया, प्रत्युत् अपनी पद्धति को ही अपनाए रखा। वे आज तक अपने महान पूर्वजों की स्मृति को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। आज भी प्रत्येक पर्शियन अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण करते हुए रुस्तम को सम्मान व आदर से स्मरण करता है। रुस्तम मुस्लिम नहीं था। आधुनिक तुर्की के निर्माता कमालपाशा ने सदियों पुरानी राष्ट्रीय जीवन-पद्धति को पुनर्जीवित किया और इस्लाम की भूमिका को व्यक्तिगत ईश्वराधना तक ही सीमित रहने दिया।

इंडोनेशिया का उदाहरण सर्वाधिक नेत्रोन्मीलक है। अधिसंख्य इंडोनेशियाई इस्लाम में विश्वास रखते हैं, किंतु विद्यादायिनी माँ सरस्वती एवं ज्ञान के देवता गणेश आज भी उनके आराध्य हैं। शिशुओं का अक्षरज्ञान चित्रात्मक रामायण से प्रारंभ होता है। एक भारतीय को यह सब देखकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ। उसने वहाँ के एक प्रमुख व्यक्ति से पूछा– 'यह सब क्या है? आप मुस्लिम होकर अपने बच्चों को रामायण की शिक्षा देते हैं?' इंडोनेशियावासी ने सगर्व उत्तर दिया– 'क्योंकि रामचंद्र जी हमारे अद्वितीय महानायक हैं, इसलिए हमारी प्रबल इच्छा है कि हमारी संतानें उनके उच्च आदर्शों को अपने आचरण में लाएँ। निस्संदेह इस्लाम में हमें विश्वास है, परंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि हम अपनी पवित्र राष्ट्रीय विरासत एवं जीवन-मूल्यों को तिलांजलि दे दें।' हमारे मुस्लिम मित्रों के लिए यह कितनी उत्कृष्ट शिक्षा है। वहाँ के लोगों के नाम भी शत-प्रतिशत हिंदू हैं। वहाँ के पूर्व-राष्ट्रपति 'सुकर्ण' थे, उनके पुत्र का नाम कार्तिकेय था। उसके बाद 'सुहृद्' राष्ट्रपति बने जिसका शाब्दिक अर्थ 'अच्छा मित्र' है (इसका अंग्रेजी अपभ्रंश है सुहार्तो), महिलाएँ गर्व से सीता, सावित्री और दमयंती जैसे नाम रखती हैं। उनकी वायु सेना का नाम 'गरुड', अर्थात् विष्णुवाहन है। उनका संविधान 'धर्मो रक्षति रक्षित' के उद्‌घोष से प्रारंभ होता है।

राष्ट्रीय समरसता एवं एकात्मता का वास्तविक और स्थायी आधार यही है, जो व्यक्तिगत पांथिक (मजहबी) मतवादों से ऊपर उठकर समान राष्ट्रीय आदर्शों का अनुमोदन करता है। इसी अवधारणा के आधार पर हमारा देश 'हिंदू-राष्ट्र' है और यही विवेकसम्मत, व्यावहारिक एवं उचित दृष्टिकोण है।

सेमेटिक विरोधाभास

हिंदू-राष्ट्र की अवधारणा अति सहिष्णु व विवेकसम्मत होते हुए भी यह आश्चर्यजनक है कि कुछ लोग भयग्रस्त हैं कि यदि हिंदू-राष्ट्र स्थापित हो गया, तो अल्पसख्यकों का जीवन सकटापन्न हो जाएगा। यह भय यदि है, तो वह इस मिथ्या धारणा का कारण है कि हिंदू-राष्ट्र अन्य धर्म-समूहों (मतावलवियों) से वैसा ही व्यवहार करेगा, जैसा सामी मजहबों ने किया। यहूदीवाद ऐसा पहला मजहब है, जो असहिष्णु है और उसकी इसी असहिष्णुता के कारण ईसा मसीह को सूली पर चढा दिया गया। ईसाई मजहब का उदय यहूदी सतति के रूप में हुआ, किंतु वह भी उतना ही असहिष्णु सिद्ध हुआ। निस्सदेह यीशु महान सत थे, परतु बाद में उनके नाम पर जो कुछ हुआ, उसका उनसे कोई सबध नहीं रहा। यह ईसाईवाद नहीं, केवल चर्चवाद बन गया। यह कथन अक्षरश सत्य सिद्ध हुआ कि 'आज तक केवल एक सच्चा ईसाई हुआ, जो सूली पर मर गया।' ईसाइयों ने यहूदियों को ईसा के हत्यारे घोषित कर उनपर हर प्रकार के अत्याचार किए। हिटलर का व्यवहार अपवाद नहीं था, बल्कि ईसाइयों द्वारा २,००० वर्ष से यहूदियों पर ढाए जा रहे अत्याचारों की चरम परिणति था।

इसके बाद इस्लाम का उदय हुआ। यह तलवार और कुरान की दीर्घ कथा है, जिसे मानव-अश्रुओं तथा शोणित से लिखा गया है। इसका अद्यतन अध्याय है स्वयघोषित इस्लामी मजहबी राज्य पाकिस्तान। उसका भी कोई भिन्न व्यवहार नहीं है। इसने अपनी सपूर्ण हिंदू जनसख्या का कत्लेआम कर पश्चिमी भाग से बाहर धकेल दिया और दूसरे भाग, अर्थात् बॉग्लादेश में आज भी यही सब हो रहा है। इन सबके कारण उनके रक्त में अन्य मतावलवियों के प्रति असहिष्णुता ने घर कर लिया है। सामी जातियों के मापदड से हिंदू-राष्ट्र को मापने पर ही यह भय उपजता है कि हिंदू-राष्ट्र दूसरे धर्म-समूहों के जीवन को सकटग्रस्त करेगा। इसी से कल्पना जन्म लेती है जिस तरह सामी राज्य अपनी धार्मिक कट्टरता और उत्पीडन के लिए बदनाम थे, वही सब हिंदू-राष्ट्र में भी होगा।

हिंदू-राष्ट्र का जीवत स्वरूप

सदेहशील व्यक्तियों के मस्तिष्क से भ्रम हटाने हेतु हम हिंदू-राष्ट्र की ऐतिहासिक परपरा और विदेशी धर्म-समूहों को आमने-सामने रखकर देख सकते हैं। यह हमारे इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अकित और विदेशी

इतिहासकारों तथा यात्रियों द्वारा भी प्रमाणित जाज्वल्यमान तथ्य है कि हमने अपने राष्ट्रीय जीवन के किसी क्षेत्र में धर्म के आधार पर किसी के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार नहीं किया।

पंजाब के सिख नायकों के काल में तथा विजयनगर राजाओं के सशक्त हिंदू साम्राज्य में मुस्लिमों ने पूर्ण स्वतंत्रता एवं समानता के अधिकारों का उपयोग किया। छत्रपति शिवाजी के नेतृत्व में उभरी अद्यतन हिंदू पदपादशाही ने भी धर्म के आधार पर मुस्लिमों के साथ भेदभाव नहीं किया। छत्रपति शिवाजी की जलसेना का प्रधान दर्यासारंग एक मुस्लिम था और उनके दो प्रमुख सिपहसालार इब्राहिम खान व दौलत खान थे। अफजल खॉ से हुई भीषण मुठभेड़ के समय उपस्थित उनके दस विश्वस्त अंगरक्षकों में से तीन मुस्लिम थे। आगरा में शिवाजी के साथ गए १८ वर्षीय युवक का नाम मदारी मेहतर था, जिसने मुस्लिम होते हुए भी औरंगजेब के चंगुल से उनको रोमांचक ढंग से बचाने में मुख्य भूमिका निभाई। शिवाजी द्वारा मस्जिदों व दरगाहों के लिए भूमिदान के अगणित उदाहरण इतिहास में उल्लिखित हैं। यहाँ तक कि उन्होंने प्रतापगढ में अफजलखॉ की कब्र पर इस्लामी पद्धति से पूजा का प्रबंध भी कराया। उस समय के अतिकट्टर मुस्लिम इतिहासकारों ने भी शिवाजी द्वारा मस्जिदों, दरगाहों, कुरान, धर्मपुरुषों और नारियों के प्रति प्रदर्शित उत्कृष्ट सम्मान का प्रशंसापूर्वक उल्लेख किया है। यह सब उस समय किया जब दूसरी ओर मुस्लिम शासक ठीक इसके विपरीत हिंदुओं का चतुर्दिक उत्पीडन करने में संलग्न थे।

इसके बाद भी ईस्वी सन् १७६१ में पानीपत के रण-प्रांगण में स्वराज्य रक्षा के निर्णायक युद्ध में हिंदू तोपचियों का प्रमुख इब्राहिम गार्दी था, जिसने लडते-लडते अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया।

हिंदुस्थान ने हजारों वर्ष तक निष्कंटक तथा अपराजेय गौरव व शक्ति का जीवन व्यतीत किया और अपनी आध्यात्मिक व सांस्कृतिक आभा को मैक्सिको से जापान तक विश्व के वृहत् भू-भाग पर विकीर्ण किया। इसके ध्वज ने कभी अश्रुप्लरित व रक्तरंजित सैनिक-विजय की दिशा में प्रस्थान नहीं किया, जैसा नए देशों में विस्तार करते समय इस्लाम एवं ईसाइयत करते रहे हैं। इसकी विजय सदैव नैतिक व सांस्कृतिक रही है। वहाँ की जनता ने इसकी विजय का सदैव सोल्लास स्वागत किया, क्योंकि वह विजय निःस्वार्थ भाव, चरित्र एवं आध्यात्मिक सहिष्णुता की होती थी।

यह कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करती थी, न कि विद्रोह का। शताब्दियों के अंतराल के बाद इस भूमि के प्रति उनकी भावनाएँ अब भी धुँधली नहीं पडी हैं। आज भी उन राष्ट्रों के श्रद्धालु जनों की हार्दिक इच्छा यही रहती है कि वे हिंदुस्थान की इस पुण्यभूमि पर आकर गंगाजल में नहाने का सुअवसर अवश्य प्राप्त करें। उनके लिए यह इस देश की सामान्य यात्रा नहीं, बल्कि तीर्थयात्रा होती है। इस सबके आधार पर इस राष्ट्र के अनुपम एवं अद्वितीय जीवन-मूल्यों का साक्षात्कार सरलतापूर्वक किया जा सकता है। इन्हीं जीवन-मूल्यों द्वारा इस राष्ट्र के सार-सर्वस्व का गठन हुआ है।

अल्पसंख्यकों को सच्चा आश्वासन

इस प्रकार हिंदू-राष्ट्र की पुनर्प्रतिष्ठा से यहाँ बसे तथाकथित अल्पसंख्यकों को कोई हानि नहीं, बल्कि सब प्रकार का लाभ ही प्राप्त होगा। इस विशाल भू-मंडल पर केवल हिंदू-विचारधारा ने ही संपूर्ण मानव-सभ्यता में एक ही सर्वशक्तिमान की सर्वव्यापकता को स्वीकार किया और सभी पथों व उपासना-पद्धतियों को स्वाभाविक रूप से पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर प्रदान करने के साथ-साथ उनको ससम्मान प्रोत्साहन और संरक्षण भी दिया है। ये सभी तथ्य इंगित करते हैं कि केवल सुदृढ एवं पुनर्जागृत हिंदू-राष्ट्र में ही तथाकथित अल्पसंख्यक इस मातृभूमि की स्वाभिमानी संतान के रूप में समान अवसरों की सहभागिता के साथ स्वतंत्र एवं संपन्न जीवनयापन की आश्वस्ति प्राप्त कर सकते हैं।

६ हिंदू-राष्ट्र की अनुपमता (उत्तरार्ध)

यह संशयपूर्ण तर्क उबाऊ ढंग से बार-बार दुहराया जाता रहा है कि हिंदू-राष्ट्र की अवधारणा सेक्युलरवाद के विपरीत है। सर्वप्रथम तो पश्चिम में जन्मे धर्मनिरपेक्षता की धारणा ही हमारे देश के संदर्भ में अप्रासंगिक है। शताब्दियों-पूर्व यूरोप के राजाओं ने अपनी राजसत्ताओं पर से पोप के मजहबी आधिपत्य को उखाडकर अपनी सत्ता को स्थापित किया। इस प्रकार 'मजहबपरस्ती' के विपरीत 'धर्मनिरपेक्ष' राजसत्ता का

उदय हुआ। आज 'मजहबी' राज्य को अन्य विश्वासों, आस्थाओं के प्रति असहिष्णु 'धर्म-राज्य' का पर्याय माना जा रहा है। हमारे देश के अतीत या वर्तमान में ऐसे सघर्ष या असहिष्णुता को कदापि महत्त्व नहीं मिला।

भ्रांति का निराकरण

कभी-कभी धर्मनिरपेक्षता एव राष्ट्रवाद को बराबर मानने से भ्रम हो जाता है, जबकि दोनों कभी समान हो ही नहीं सकते। राष्ट्र का एक सपूर्ण जीवत अस्तित्व होता है, जिसकी सदैव अनेक भूमिकाएँ होती हैं, जिनमें शासन-कला एक है। इस शासन-कला का एक वैशिष्ट्य है धर्मनिरपेक्षता। इस प्रकार राष्ट्रवाद व धर्मनिरपेक्षता की तुलना शरीर की भूमिका से अग-विशेष के कार्यों की तुलना करने के प्रयत्न के समान है। ऐसी चेष्टा 'राष्ट्र' व 'राज्य' के मूलभूत अतर के विषय में दु खद अल्पज्ञता को ही प्रकट करती है।

यदि 'धर्मनिरपेक्षता' को आत्मा के उच्च व उत्तम गुणों से रहित भौतिक व इहलौकिक माना जाए, तो जैसा अर्थ कभी-कभी निकाला जाता है, हम उसे दूर से भी स्पर्श नहीं करेंगे और यदि यह धर्म-विरोध नहीं है, जैसा कि होना चाहिए और इसका आशय है पाथिक क्रिया-कलाप के प्रसार के समान अवसर, एक-दूसरे के पथ पर झपटने के प्रयास पर रोक, तो यह निश्चित रूप से हिंदू-राष्ट्र की भावना के अनुरूप है। उस स्थिति में ऐसे राज्य के लिए 'धर्मनिरपेक्ष' नहीं, वरन् 'बहु-पथीय' शब्द ही हमारे देश में उचित होगा। इस देश में 'राज्य' ने कभी अपने को पथ विशेष के साथ नहीं जोडा। अहिंदू विचारधारा के लोगों को द्वितीय श्रेणी का नागरिक मानने अथवा उनपर जजिया थोपकर अपमानित करने का कोई उदाहरण हिंदू-शासन में नहीं मिलता। विधि की दृष्टि से सभी पूर्ण रूप से समान थे और कभी किसी राजा ने अपनी व्यक्तिगत धार्मिक हठधर्मिता को थोपने के लिए शासन-तत्र को भ्रष्ट नहीं किया।

सकारात्मक दृष्टि

हिंदू विचार एक-दूसरे पर धार्मिक अतिक्रमण रोकने के नकारात्मक पक्ष तक ही सीमित नहीं है। हिंदू राजाओं के मन में जीवन के व्यापक व सर्वसमावेशी दृष्टिकोण ने प्रत्येक धार्मिक विचार को सम्मान तथा अपनी प्रतिभा के आधार पर बढने को प्रोत्साहन दिया, उसके अनुयायी चाहे

कितने भी हों। राजा प्रत्येक विश्वास एव मत के लिए समर्थन व सुरक्षा का प्रतीक बना, न कि धर्म का निषेध करनेवाला। यह है धर्मनिरपेक्षता का सकारात्मक भाव। वस्तुत राज्य की हमारी अवधारणा सदैव धर्मनिरपेक्ष रही है, परतु 'धर्मनिरपेक्ष' विशेषण लगाकर राज्य की धर्मनिरपेक्ष प्रवृत्ति को महत्त्वपूर्ण बनाना, हमारे देश में महत्त्वहीन है। आज भी हमारी परपरा के आधार पर ही एक मुसलमान, राष्ट्रपति जैसे उच्चतम पद को सुशोभित कर सकता है, सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश बन सकता है और केंद्रीय मत्रिपरिषद् अथवा प्रशासन की स्वराष्ट्रीय व विदेश सेवाओं में महत्त्वपूर्ण विभाग प्राप्त कर सकता है। पड़ोसी सप्रदायनिष्ठ पाकिस्तानी राज्य से इसका विपर्यय इतना स्पष्ट है कि व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

परतु दुर्भाग्यवश भारत में धर्मनिरपेक्षता का व्यावहारिक अर्थ शिखर पर बैठे नेताओं के लिए हिंदुत्व-विरोध है। जब स्वर्गीय डा जाकिर हुसैन एक मस्जिद का उद्घाटन करने विशेष रूप से केरल गए, उस समय किसी ने आपत्ति नहीं की, परतु राष्ट्रपति बनने पर डा वी वी गिरि तिरुपति गए, तो उसे साप्रदायिक कृत्य कहा गया। सारी दुनिया हम पर हँस रही होगी।

ि ि ि

१० मूलभूत सत्यों का उद्घोष

(सन् १९६२ में राष्ट्रीय एकता परिषद् को प्रेषित आलेख)

हमारा सच्चा राष्ट्रीय जीवन

भारत का राष्ट्रीय जीवन अति पुरातन है। यहाँ के समाज-जीवन का ताना-बाना सर्वसमावेशी, विशाल जीवन-दर्शन से उद्भूत और समान जीवन-आदर्शों से परिपूरित सास्कृतिक परपराओं के इर्द-गिर्द बुना हुआ है। यह जीवत परपरा इस भूमि पर इस्लामी एव ईसावादी आक्रांताओं के पदार्पण से बहुत पहले सदियों से विद्यमान है। जातियों, वर्गों, सप्रदायों, यहाँ तक कि राजनैतिक साम्राज्यों में मत-भिन्नता एव ऊपरी विविधताओं के होते हुए भी उनमें अतर्निहित एकता-सूत्र कभी विच्छिन्न नहीं हुआ। इस एकात्म प्रवाह से परिपूर्ण जीवन की अभिव्यक्ति करनेवाला मानव-समूह ही 'हिंदू' के

रूप में विख्यात हुआ। इसीलिए भारत में राष्ट्रीय जीवन वास्तव में 'हिंदू राष्ट्रीय जीवन' ही है।

एकात्मता का अर्थ

राष्ट्रीय एकात्मता के विषय में विचार-विमर्श का आधार यही सकारात्मक तथा सही समझ होनी चाहिए। वास्तविक एकात्मता राष्ट्र की मुख्य धारा, इसकी परपरा व आकाक्षा के साथ तादात्म्य भाव को सुदृढ करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

इस राष्ट्रीय प्रवृत्ति को पुष्ट एव सुदृढ करने में सहयोग देनेवाले सभी कृत्य 'राष्ट्रीय' हैं। स्वय को इस राष्ट्रीय प्रकृति से भिन्न माननेवाले राष्ट्रीय हितों के विपरीत आशाएँ-आकाक्षाएँ सँजोनेवाले और अपने लिए पृथक न्याय एव विशेषाधिकारों की माँग करनेवाले समूह 'साप्रदायिक' कहे जाने चाहिए। अपने अलग विशेषाधिकारों की प्राप्ति के प्रयास में यदि वे पथ-परिवर्तन, पूजास्थलों का विध्वस अथवा पावित्र्य-भग, महान भूमि-पुत्रों के स्मृति चिह्नों का अपमान अथवा अन्य किसी ढग से राष्ट्रीय समाज पर आक्रमण करते हैं, तो ऐसे तत्त्वों को 'राष्ट्र-विरोधी' सज्ञा दी जानी चाहिए।

भारतवर्ष में हिंदू को कभी साप्रदायिक नहीं कहा जा सकता। वह सदा भारतभक्त रहा है और भारत की गौरव-रक्षा एव प्रगति के लिए उत्कट प्रयास हेतु सन्नद्ध रहा है। भारत के राष्ट्रीय जीवन-मूल्य वास्तव में हिंदुओं के जीवन से उद्भूत हुए हैं। इस प्रकार वह यहाँ का 'राष्ट्रीय' है, जो कभी 'साप्रदायिक' नहीं हो सकता।

तर्क-विसगत अभिव्यजना

बहुसख्यकों की साप्रदायिकता एक नितात मिथ्या एव भ्रातिपूर्ण अभिव्यक्ति है। लोकतत्र के दैनदिन समाजजीवन में बहुसख्यकों की राय निर्णायक होती है। उचित ही होगा कि बहुसख्यक जीवन के व्यावहारिक आचरण को राष्ट्रीय अस्तित्व का वास्तविक जीवन स्वीकार किया जाए। इस दृष्टिकोण से भी हिंदुओं के जीवन के उत्थान का प्रयास 'राष्ट्रीय' है, 'साप्रदायिक' नहीं। अत 'बहुमत की साप्रदायिकता' जैसी शब्दावली लोकतत्र की भावना के विपरीत है। विदेशी दासता के समय यह स्वाभाविक था कि 'अल्पसख्यक अथवा बहुसख्यक साप्रदायिक' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाए, क्योंकि विदेशी शासक सपूर्ण समाज को विभिन्न जाति सप्रदायों में

विभाजित अपना दास मानते थे। परंतु स्वाधीन देश में बहुमत का शासन होने पर भी 'बहुसंख्यक-सांप्रदायिकता' की बात तर्क, सत्य तथा न्याय के विपरीत है।

सतर्क रहने का कर्तव्य

हिंदू ने अन्य सभी आस्था-विश्वासों के प्रति सदैव समुचित सम्मान प्रदर्शित किया है। वह पूजापद्धति की भिन्नता को राष्ट्रीय एकता के संदर्भ में कभी असंगत नहीं मानता। उसने राष्ट्रीय जीवन पर आघात पहुँचानेवाले विशेषाधिकारों की माँग और भौतिक जीवन में मजहब पर अधिकतम बल देने के बहाने पृथकतावादी नीति अपनाने की मनोवृत्ति का समय-समय पर विरोध किया है। वास्तव में यह उसका स्वाभाविक एवं सर्वोपरि कर्तव्य है कि वह सदैव सतर्क रहकर ऐसी सभी प्रवृत्तियों का दृढ निश्चय के साथ प्रतिकार करे।

तुष्टिकरण हानिकारक

उपर्युक्त तत्त्वों की राष्ट्रविरोधी माँगों को स्वीकार करना, तुष्टिकरण की नीति अंगीकार करना, तुच्छ उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उनसे सौदेबाजी करना और उन्हें तुष्ट करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय गौरव, सम्मान और राष्ट्रीय हितों तथा मान्यताओं को ठेस पहुँचाने जैसी प्रवृत्तियों का समर्थन राष्ट्रजीवन के लिए घातक है।

ऐसी राष्ट्र-विरोधी व विकृत धारणाओं का विरोध करने की सत्प्रवृत्ति को 'हिंदुओं की सांप्रदायिकता' कहना नितांत मूर्खतापूर्ण कहा जाएगा। यह विकृत बुद्धि का परिचायक है। वास्तव में राष्ट्र के प्रति जागरूक प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी प्रवृत्तियों का प्रबल प्रतिकार करे।

सांप्रदायिकता के सात रूप

सांप्रदायिकता कई रूपों में प्रकट होती है। भारतीय राष्ट्र की सत्य अभिव्यक्ति से ओत-प्रोत हिंदू-समाज की जीवनधारा के विरुद्ध व्यूह-रचना में लिप्त अहिंदू-समाज सांप्रदायिक है। हिंदू-समाज में भी सांप्रदायिक वह है, जो मूलत बहुआयामी हिंदू-प्रतिमा की अभिव्यंजना के बतौर अपने धार्मिक सम्प्रदायों के रूप में उत्पन्न हुए, परंतु बाद में अपने अस्तित्व व प्रेरणा के स्रोत को भूलकर अपने को हिंदू-समाज व धर्म से भिन्न मानने

लगे हैं और इसी आधार पर पृथक एव विशिष्ट राजनैतिक व आर्थिक विशेषाधिकारों की मॉग करते हैं। इन मॉगों की प्राप्ति हेतु वे स्वय को हिंदू-समाज से भिन्न होने के उद्घोष के साथ तरह-तरह के आदोलनों का सहारा लेते हैं। नवबौद्ध व सिख इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं।

साप्रदायिकता का तृतीय स्वरूप 'द्रविड कडगम' एव 'द्रविड मुणेत्र कडगम' है, जो नस्लीय विशिष्टता की तर्कविसगत धारणा के आधार पर पृथकतावादी बने हैं और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शेष समाज के विरुद्ध घृणा, शत्रुता और हिसा फैलाते हैं। इसी प्रकार चतुर्थ श्रेणी में वे लोग हैं जो 'स्पृश्यता', 'अस्पृश्यता' और 'ब्राह्मण' व 'अ-ब्राह्मण' के नाम पर विवाद उत्पन्न करते हैं तथा विशेषाधिकारों के लिए घृणा, शत्रुता व स्वार्थ को भडकाते हैं।

भाषायी आधारवाली साप्रदायिकता पॉचवें प्रकार की है, जिसमें पडोस में स्थित अन्य भाषा-भाषियों के विरुद्ध अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा, विरोध व घृणा की भावना फैलाई जाती है। 'भाषायी अल्पसख्यक' शब्द इसी मनोवृत्ति से उत्पन्न होता है। क्षेत्रीयता की सकुचित भावना और अन्य प्रातीय लोगों के प्रति अस्वस्थ दृष्टिकोण अपनाना छठे प्रकार की साप्रदायिकता है। उत्तर-दक्षिण, पजाबी-गैर पजाबी, मराठी-कन्नड, गुजराती और बगाली, बिहारी-उडिया आदि भेदभाव इसी प्रकार का है।

सातवें प्रकार की साप्रदायिकता चुनावी लाभ प्राप्त करने के लिए जाति, पथ व भाषा के आधार पर भडकाई जानेवाली आपसी घृणा है। यह सबसे खतरनाक साप्रदायिकता है, जो सपूर्ण देश में व्याप्त है और जिसके लिए शासक दल-सहित अनेक राजनैतिक पक्ष दोषी हैं। जब तक यह राजनैतिक साप्रदायिकता विद्यमान है, यह नितात असभव है कि किसी अन्य प्रकार की साप्रदायिकता का उन्मूलन किया जा सके। यदि केवल इस सातवें प्रकार की राजनैतिक साप्रदायिकता से परहेज किया जा सके, तो इसके अन्य स्वरूपों से जूझना कम कठिन हो जाएगा। (इन प्रमुख साप्रदायिकताओ के अतिरिक्त इसमे अन्य छोटे-मोटे प्रकार भी हो सकते है।)

सघर्ष का मूल

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि जहॉ साप्रदायिकता के कुछ रूप धार्मिक विश्वासों से पनपते हैं, वहीं कुछ केवल शुद्ध लौकिक स्वार्थो के

आधार पर विकसित होते हैं। अत यह कहना तर्क-विसगत है कि साप्रदायिकता पथनिरपेक्षता का प्रतिपक्ष है। वास्तव में विश्वासों में विविधता के कारण धार्मिक क्षेत्र में सामान्यत कोई विवाद नहीं हो सकता। इन सघर्षों की उत्पत्ति ऐहिक लाभ हडपने के कारण उत्पन्न आपसी शत्रुता से ही होती है।

धर्म की व्यापकता

तर्क एव इतिहास न तो यह सिद्ध करते हैं कि 'धर्म' की धारणा सकुचित होती है और न ही यह कि आर्थिक उद्देश्य अधिक व्यापक होते हैं। ईसाई पथ के प्रभाव-क्षेत्र के अतर्गत अमरीका और यूरोप में अनेक राष्ट्र-राज्य हैं, जो सकुचित आर्थिक स्वार्थो पर अधिष्ठित हैं। इस्लाम के मजहबी विस्तार के अधीन ऐसे अनेक राज्य हैं, जो धर्म एव प्रजाति (नस्ल) के सकुचित स्वार्थों पर अवस्थित हैं। अपने विशाल अक में वैदिक, अवैदिक एव भारतप्रसूत अन्य विश्वासों को समेटे महान 'सनातन धर्म' की छत्रछाया में आर्थिक चितन के आधार पर सरचित भारत एव नेपाल जैसे राज्य हैं। अत यह स्पष्ट है कि धर्माचार विशाल आधार प्रस्तुत करता है, जबकि आर्थिक स्वार्थ सबधों को सकीर्ण बना देते हैं।

अत्यासक्ति से दूर रहें

'धर्म' जीवन का सनातन विधान है, जो सभी कालों की व्याख्या करता है। वह सर्वसमावेशी है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि स्वार्थपूर्ण आर्थिक लाभ पर आधारित पूजा के विशिष्ट रूप भी 'धर्म' की परिधि में आ सकते हैं। सकुचित विचारों, आस्थाओं व मान्यताओं के प्रति आसक्ति सकीर्ण भावनाओं को जन्म देती है ओर समानता तथा आर्थिक व अन्य भौतिक स्वार्थो के मार्ग में विरोध शत्रुता भडकाने का साधन बन जाती है। अत अति-आसक्ति अवाछनीय है।

यदि धर्म समाज व राष्ट्र आदि की उपेक्षा कर कोई आर्थिक स्वार्थो के अधिष्ठान पर एकता की स्थापना करना चाहता है, तो ऐसी एकता सीमित भू-क्षेत्रों में सभव नहीं। यह केवल अखिल विश्व स्तर पर सभव है, जिसमें विभिन्न आर्थिक अभिरुचि रखनेवाली सपूर्ण मानवता का समावेश करना होगा। तब आर्थिक 'राष्ट्रीय एकात्मता निरर्थक व उद्देश्यहीन हो जाएगी।

लक्ष्य क्या है?

व्यावहारिक धरातल पर राष्ट्र में एकात्मता लाने के लिए विभिन्न पूजा-पद्धतियों की समाप्ति नहीं, बल्कि अनन्यता व असहिष्णुता का अवसान अपेक्षित है। हमारा लक्ष्य भाषाओं का विनाश नहीं, वरन् पृथकतावाद और भाषागत कट्टरता की प्रवृत्तियों का उच्छेद है।

साधन एवं उपाय

जाति और विश्वासों से परे प्रत्येक व्यक्ति को यह शिक्षा देनी होगी कि प्रत्येक भारतवासी का यह परम कर्तव्य है कि वह भारत के 'हिंदू राष्ट्रवाद' के सत्य का येझिझक उद्‌घोष करे और इसे सुदृढ़ संपन्न, तेजस्वी और सर्वोच्च प्रभुसत्तासंपन्न बनाए। इस राष्ट्र के प्रति उत्कट समर्पण का भाव सभी के मन में उद्दीप्त करना होगा।

मतपंथों की सुरक्षा व सम्मान करते हुए उन्हें इस राष्ट्र के मूल्यों, आदर्शों, जीवन-दृष्टि, इतिहास व परंपराओं के प्रति स्नेह व आदर प्रकट करने तथा अपनी आकांक्षाओं को राष्ट्र के साथ एकाकार करने का संस्कार देने की व्यवस्था करनी होगी।

विघटनकारी चर्चाएँ नहीं

ऐहिक जीवन में सभी नागरिक समान हैं— इस सिद्धांत का कठोरता से पालन करना चाहिए। हमें जाति और विश्वास के आधार पर वर्ग-निर्माण को तथा सेवाओं, वित्तीय अनुदानों, शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश तथा अन्य क्षेत्रों में अनन्य एवं विशेष अधिकारों को तुरंत समाप्त कर देना चाहिए। अल्पसंख्यक व वर्गीय शब्दावली में सोचना-विचारना व बोलना अविलंब बंद कर देना चाहिए।

गलत भाषा-नीति को ठीक करें

स्वतंत्र राष्ट्र में परस्पर व्यवहार के लिए उसकी अपनी भाषा का होना नितांत आवश्यक है। सरलता एवं सुविधा की दृष्टि से हिंदी को अपनी तमाम राष्ट्रीय भाषाओं में संपर्क भाषा स्वीकृत किया गया है। इसे सरल बनाने के नाम पर इसका उर्दूकरण कर दुर्बोध बनाना राष्ट्र की संप्रभु स्वतंत्रता में सांप्रदायिकता एवं सांप्रदायिक तुष्टिकरण का आयात करने के समान है। राष्ट्र की राजभाषा के प्रति ऐसा दृष्टिकोण अपनाना अथवा उस

अंग्रेजी से इसकी बराबरी करना जो हमें विदेशों का पिछलग्गू बनाती है, हमारी उत्कृष्ट राष्ट्रीय प्रकृति की जड़ें खोदने के समान है। राष्ट्र के प्रति उत्कट समर्पण ही एकात्मता का प्रमुख आधार होने के कारण इन दोषपूर्ण भाषा-नीतियों को अविलंब त्याग देना आवश्यक है।

एकात्मक शासनप्रणाली

हम समान जीवन-मूल्यों और पंथनिरपेक्ष आकांक्षाओं व हितों से जुड़े 'एक देश, एक समाज और एक राष्ट्र' वाले समुदाय हैं। अत यह स्वाभाविक है कि ऐसे राष्ट्र के सभी पहलुओं का नियन्त्रण भी एकात्मक शासन-व्यवस्था द्वारा ही होना चाहिए। वर्तमान संघीय ढाँचा पृथकतावाद को उत्पन्न व पोषित करनेवाला है। एक प्रकार से यह राष्ट्रवाद के सत्य को नकारता है, अत विभाजक प्रवृत्ति का है। इसका उपचार परमावश्यक है। एकात्मक सरकार की स्थापना के लिए संविधान को संशोधित किया जाना चाहिए और मार्ग के समस्त अवरोधों को समाप्त कर डालना चाहिए।

आक्रामक व्यवहार पर रोक

आक्रामक व अतिक्रमण की वर्तमान सरकारी नीति, अर्थात् पूजा-स्थलों का विध्वंस, मूर्ति-भंजन, गो-हत्या आदि तथा पूर्वस्थलों के समकक्ष कब्रगाह, दरगाह, मकबरे चर्च इत्यादि का निजी व सरकारी भूमि पर अवैध निर्माण और अनुचित कारणों से धार्मिक शोभायात्राओं का रोकना, लूटमार करना, डराना-धमकाना आदि एकात्मता के मार्ग की बड़ी-बड़ी बाधाएँ हैं। इन कृत्यों को रोकने के स्थान पर उन्हें समर्थन एवं प्रोत्साहन देने की प्रच्छन्न नीति से झगड़े बढ़ते ही हैं। अत यह सब तत्काल त्यागकर ऐसे बुरे कार्यों के अंत के लिए अधिक दृढ़ता व इच्छाशक्ति का अवलंबन करना चाहिए।

हिंदू की अविभाज्य निष्ठा

हिंदुओं के धार्मिक संस्कार व भावनाएँ भारतभूमि में ही केंद्रित हैं। पुण्य स्थलों का आह्वान उन्हें केवल भारत और संपूर्ण भारत के चतुर्दिक ले जाता है। उसके भौतिक हितसाधन भी केवल भारत के साथ गुँथे हुए हैं। इस प्रकार, उसका संपूर्ण व एकात्म समर्पण भारत के ही प्रति है। अत उसके मन में 'स्वधर्म' व स्वदेश का अंतर्द्वंद्व कभी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों में सदैव तादात्म्य रहता है। उसकी निष्ठा, है, अत उसकी

धर्मनिष्ठा में देशनिष्ठा के विपरीत या विरुद्ध होने की कोई सभावना नहीं है। यह देश के प्रति हिंदुओं की निष्ठा का सकारात्मक प्रमाण है कि वही यहाँ का शत-प्रतिशत राष्ट्रीय समाज है। उन्हें 'साप्रदायिक' कहना और उसकी निष्ठा की बराबरी उन लोगों से करना, जिनकी निष्ठाएँ विभाजित और कभी-कभी सदेहजनक हैं, नितात अनुचित एव अबुद्धिमत्तापूर्ण है।

पथ-परिवर्तन निष्ठा-उच्छेद

हिंदुओं का पथ-परिवर्तन करना राष्ट्र के प्रति उनकी अविभाज्य एव सपूर्ण निष्ठा के स्थान पर उन्हें विभाजित निष्ठा के सामने समर्पण कराने के समान है। यह राष्ट्र व देश की सुरक्षा के लिए गभीर खतरा है। अत इसपर तत्काल नियत्रण आवश्यक है। किसी व्यक्ति का पथ-परिवर्तन सबधित दर्शनों के गभीर व तुलनात्मक अध्ययन का परिणाम नहीं होता, बल्कि गरीबी, निरक्षरता और अज्ञानता से अनुचित लाभ उठाने, भय दिखाने और धोखाधडी करने की कूटनीति का परिणाम होता है। इस प्रक्रिया में किसी के वास्तविक हृदय-परिवर्तन का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इस अनुचित व अवाछनीय गतिविधि पर प्रतिबध लगना ही चाहिए। निर्धनता और अज्ञान में डूबे अपने बधुओं की सुरक्षा हेतु क्रियाशील होना हमारा कर्तव्य है।

वर्तमान विकृति और उचित दिशा

सर्वसमावेशी होने के कारण हिंदू दर्शन में अहिंदू समुदायों को आत्मसात करने की क्षमता है। पडित नेहरू के मन में यही तथ्य रहा होगा, जब उन्होंने कहा था कि मुस्लिम व ईसाई-समाज को हिंदू-समाज में उसी प्रकार एकरूप किया जाना चाहिए, जिस प्रकार कभी आक्राता शक व हूणों को हिंदू-समाज ने आत्मसात कर लिया था। राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने के लिए विभिन्न पूजा-पद्धतियों को एकीकृत करने तथा उनमें श्रद्धा की समान भावना का सचार करने की दृष्टि से प नेहरू ने अपने भाषण में सही दिशा-निर्देश किया, परतु वर्तमान प्रयास हिंदू-समाज को लाछितकर, तुष्टिकरण की नीति द्वारा अहिंदू-समाज के पूर्व-विद्यमान आक्रामक भाव को अधिक उग्र बनाने जैसा है। इस प्रकार आत्मरक्षण में अक्षम तथा दुर्बल बनाते हुए हिंदू-समाज की परपराओं व धरोहर का अपमान किया जा रहा है। यह विकृत नीति प नेहरू की सही दिशा का न केवल तिरस्कार, अपितु उसका निषेध भी करती है। यह परम आवश्यक है कि इस विकृति

को ठीक किया जाए और हिंदुओं को सम्मानजनक स्थान देने की नीति अपनाई जाए, ताकि वे राष्ट्रभक्ति के मार्ग पर अडिग, अविचलित होकर डटे रहें और उन्हीं प्रतिमानों के अनुरूप दूसरों को अपने साथ एकात्म करते रहें।

एकात्मता समिति भंग करो

राष्ट्रीय एकात्मता के नाम पर गठित इस समिति ने असंतुष्ट वर्गों को शिकायतें करने एवं माँगें उठाने का अवसर देकर उनमें इस आशा का संचार किया है कि उनकी विघटनकारी माँगें मान ली जाएँगी। उनमें अपनी संकीर्ण माँगों की पूर्ति को लेकर आशा जगी है, क्योंकि समिति ने साम्प्रदायिकता को समाप्त करने के लिए इसे परिभाषित करते हुए इससे बचाव का रास्ता ढूँढने का आश्वासन दिया है। इससे कुल मिलाकर इतना ही होगा कि अनेक वर्गों में अलग अस्तित्व रखने की भावना तीव्र होगी।

राष्ट्रीय एकात्मता के बारबार आह्वान ने यह अवांछनीय धारणा और मजबूत की है कि मानो इसी समय इसका दुर्भाग्यपूर्ण अभाव हो। अतः समिति का अस्तित्व ही इसके मूल उद्देश्यों के प्रतिकूल लगता है। इस प्रकार इसको तुरंत विसर्जित करना आवश्यक है। यह राष्ट्रीय एकात्मता को बढ़ावा देने की दिशा में महत्त्वपूर्ण पग होगा।

संघ-लक्ष्य

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ हिंदुओं के राष्ट्रीय चरित्र का साक्षात्कार कर उनमें भारत व उसकी राष्ट्रीय प्रकृति के प्रति प्रखर निष्ठा का संचार करने, उनमें सद्गुण, सच्चरित्र एवं पूर्ण समर्पण की भावना जगाने, सामाजिक जागरूकता उत्पन्न करने, परस्पर-सद्भाव, सहयोग एवं स्नेह का भाव उद्बुद्ध करने, राष्ट्रसेवा को सर्वोच्च मानने एवं जाति, भाषा तथा पंथ को गौण स्थान देने की मनोवृत्ति विकसित करने और उसे आचरण में उतारने, उनमें विनम्रता एवं अनुशासन के साथ समस्त सामाजिक दायित्वों के निर्वहन हेतु शारीरिक सौष्ठव एवं कठोरता के महत्त्व का अभ्यास कराते हुए जीवन के हर क्षेत्र में व्याप्त अनुशासन द्वारा हिमालय से कन्याकुमारीपर्यंत संगठित, समरस राष्ट्र के निर्माण हेतु योजनाबद्ध प्रयास कर रहा है।

दृढ विश्वास

संघ की कोई माँग नहीं है, यह विशे [illegible] के लिए संघर्षरत

नहीं है, यह चुनाव की राजनीति में प्रतिस्पर्द्धी नहीं है और न ही सत्ता में भागीदारी की उसकी कोई इच्छा है। इसकी ऐसी कोई नीति भी नहीं है। अपने राष्ट्र को संगठित, संपन्न और गौरवशाली बनाना तथा इसकी वेदी पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के अतिरिक्त इसकी कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है। अतः इसमें किसी जाति, दल या मत-पंथ के प्रति विरोध व घृणा के लिए कोई स्थान नहीं है। हिंदुत्व के सकारात्मक दृष्टिकोण के साथ यह सबके प्रति सम्मान, स्नेह तथा सहनशीलता का भाव रखता है। हिंदू-विचारों के अनुसार राजसत्ता का कार्यक्षेत्र ऐहिक विषयों तक सीमित है, क्योंकि किसी वर्ग या पंथ के आधार पर विशेषाधिकार और अनन्यता की शब्दावली में सोचना हिंदू-विश्वास और परंपरा के प्रतिकूल है।

अवरोध

यह स्पष्ट है कि अनंतकाल से आई राष्ट्रीय एकात्म भावना की पुनर्स्थापना ही संघ का लक्ष्य है। सरकार और सत्तापक्ष के कतिपय महत्त्वपूर्ण सदस्यों तथा अन्य राजनैतिक दलों के शिखर पुरुषों द्वारा विद्वेषपूर्वक संघ को 'विघटनकारी' कहे जाने के कारण इस संदर्भ में कुछ भ्रांतियाँ उत्पन्न हुई हैं, अन्यथा संघ अब तक चतुर्दिक व्याप्त प्रांतवाद, भाषागत शत्रुता तथा जातिवाद को दूर करने में पर्याप्त सीमा तक सफल हो गया होता और उक्त उद्देश्य के लिए किसी समिति के गठन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

पवित्र व्रत

संघ विगत अनेक वर्षों से व्यक्ति-निर्माण लक्ष्य में रखकर अविचल, सशक्त, सुसंगठित और एकीकृत राष्ट्रजीवन में विश्वास रखते हुए कार्यप्रवृत्त है। इस पुनीत महाकार्य के पथ को पावन कर्तव्य पथ के रूप में स्वीकार किया है। सर्वशक्तिमान परमेश्वर की कृपा से संघ इस कार्य को निरंतर करता रहेगा और निकट भविष्य में ही अपने लक्ष्य को प्राप्त करेगा।

कुछ मूलभूत अवधारणाएँ

(१) सामान्य रूप से राष्ट्र की परंपराओं, शताब्दियों से पूजित वीर-वीरांगनाओं, इसकी सुरक्षा व संपन्नता के प्रति अविभाज्य एवं अव्यभिचारी निष्ठा रखनेवाले लोग ही 'राष्ट्रीय' हैं।

(२) सांप्रदायिक वे हैं, जो उपर्युक्त निष्ठा के रहते हुए भी अपने लक्ष्य की

प्राप्ति हेतु वर्ग, जाति, भाषा के आधार पर सोचते हैं और राजनैतिक व अन्य सीमित लाभों के लिए पुरजोर प्रयास करते हुए जनसामान्य को अप्राप्य विशेषाधिकारों का भोग करने के इच्छुक हैं तथा शेष देश के विरोध में अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु ईर्ष्या, घृणा विरोध और यदा-कदा हिंसा का भी सहारा लेते हैं।

(३) (क) वे समूह *राष्ट्र-विरोधी* हैं जिनकी निष्ठा विभाजित है, जो क्रमांक १ में निर्दिष्ट निष्ठा से ऊपर कोई और निष्ठाएँ रखते हैं और जो निष्ठाओं में संघर्ष के क्षण आने पर राष्ट्रहित की बलि देकर या उनके प्रति उदासीन होकर अपनी मजहबी निष्ठा का अनुसरण करना पसंद करेंगे।

(ख) वे समूह स्पष्टतया *विदेशी* हैं, जो अपने-आपको विदेशी आक्रामक, विजेता या देश का इत पूर्व स्वामी और शास्ता मान रहे हैं। यदि उनके भीतर शासक के रूप में पुन स्थापित होने की आकांक्षा विद्यमान है, तो वे *शत्रु* हैं।

(४) वे समूह *अराष्ट्रीय* हैं, जो इस देश के निवासी होने पर भी विकृत चिंतन के फलस्वरूप राष्ट्र से पृथक होने के लिए जी-तोड प्रयास करते हैं तथा एक अलग और प्राय संघर्षरत राज्य बना लेते हैं।

(५) (क) क्रमांक ४ में उल्लिखित वे लोग *राष्ट्रद्रोही* हैं, जो अपने स्वार्थ-साधन के लिए क्रमांक ३ (क) और (ख) में निर्दिष्ट तत्त्वों से हाथ मिलाने में संकोच नहीं करेंगे और किसी भी विदेशी शक्ति से साँठ-गाँठ करने की कामना का सचमुच प्रयास करेंगे।

(ख) वे राजनैतिक दल भी पंचम (क) *राष्ट्रद्रोही* श्रेणी में सम्मिलित किए जा सकते हैं, जो सत्ता पाने या बनाए रखने के लिए तृतीय व चतुर्थ क्रमांक में निर्दिष्ट अराष्ट्रीय तत्त्वों को सहयोग देंगे या उन जैसा व्यवहार करेंगे।

(ग) विदेशी शक्तियों के आधारभूत सिद्धांतों में विश्वास व्यक्त करने, देश में उनकी सत्ता को प्राथमिकता देने, उन्हें सहन करने, उनका स्पष्टीकरण देने हमारे देश पर उनका आक्रमण होने पर उसे न्यायसंगत बताने और प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से हमारे देश के विरोधी अथवा हमलावर होने पर भी उनका सहयोग करनेवाले राजनैतिक समूह *राष्ट्रद्रोही* और *शत्रु* हैं।

दुर्भाग्यवश उक्त वर्णित सभी प्रकार हमारी पुण्य भूमि में विद्यमान हैं। सुदृढ व एकात्म राष्ट्रजीवन के निर्माण के लिए इन सबको सम्यक् और निर्भीकरूपेण समझना अत्यत आवश्यक है।

ऐसे सभी वर्गो में अपवाद होना अवश्यभावी है। राष्ट्रीय तत्त्वों में राष्ट्रद्रोही व्यक्ति तथा राष्ट्रद्रोही वर्गो में देशभक्त व्यक्ति मिल सकते हैं। हमें जनसामान्य के मनोविज्ञान और व्यक्तिगत गुणों में भेद करना भी सीखना होगा। यह सामान्य अनुभव की बात है कि जन-उन्माद फूटने पर अन्य वर्गों में विद्यमान देशभक्तों के पैर उखड जाते हैं। उपलब्धि के चरम लक्ष्य के रूप में राष्ट्रीय हितों को चक्षुओं के सम्मुख रखते हुए सामाजिक, सास्कृतिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक आधारों के साथ समूह के इसी मनोविज्ञान का समग्र रूप में विचार और व्यवहार परमावश्यक है।

राष्ट्रीय लोगों के हित सर्वोपरि हैं, उन्हें सर्वोपरिता देनी चाहिए। साप्रदायिक व राष्ट्रविरोधी तत्त्वों से विवेकपूर्वक दृढता, सहानुभूति एव स्नेहपूर्ण समझदारी से निपटना होगा, ताकि उन्हें विखडनात्मक गतिविधियों से विमुख किया जा सके, जो देश व राष्ट्र के लिए हानिकारक व घातक हो सकती हैं। अन्य सभी को सभी सभव साधनों द्वारा दृढता से कुचलना आवश्यक है।

कतिपय आशकाएँ

जबलपुर में 'उषा भार्गव प्रसग' के बाद प नेहरू सहित अनेक नेताओं ने खुलकर 'बहुसख्यक साप्रदायिकता शब्द का प्रयोग करना तथा हिंदुओं पर साप्रदायिकता का आरोप लगाकर धमकी देना आरभ कर दिया। इसी पृष्ठभूमि में 'राष्ट्रीय एकात्मता परिषद्' का गठन किया गया है। इससे संदेह होता है कि राष्ट्रीय एकात्मता के सात्विक आवरण के पीछे हिंदू-समाज के स्वाभिमान और आत्मविश्वास को खड-खड करने और निर्बल बनाने हेतु तथा हिदू-विरोधी समुदायों के तुष्टिकरण व मान-मनौवल द्वारा उनके आक्रामक भावों के प्रोत्साहन हेतु उन सभी सगठनों को साप्रदायिक घोषित करने की दुरभि-सधि चल रही है, जो हिंदू-हित और रक्षण के कार्य में सलग्न हैं।

आशकाओं का आधार

अलीगढ काड की पक्षपातरहित जॉच कराने में असफलता तथा

अलीगढ विश्वविद्यालय-प्रशासन को दोषमुक्त करार देना, सरलीकरण की आड में हिंदी के उर्दूकरण द्वारा उसे भ्रष्ट और अवोधगम्य बनाना, जबकि हिंदी का उपयोग हमारे सविधान की भावना के अनुरूप हो रहा है, उत्तरप्रदेश के तत्कालीन शिक्षा मत्री द्वारा पाठ्यपुस्तकों से हमारे राष्ट्रीय नायकों के सदर्भ हटाने का आश्वासन एव विद्यालयों में हिंदू उत्सवों के मनाने पर प्रतिवध, पूर्वी बगाल के अवैध मुस्लिम घुसपैठियों को निष्कासित कराने की नीति, पूरी तरह से वैधानिक होते हुए भी, का अनुसरण न करना। पश्चिमी बगाल सरकार को पूर्वी बगाल में हिंदुओं पर घटित उत्पीडनों के विरुद्ध विरोध-प्रदशन न करने की सलाह देना और यह विचित्र तर्क देना कि विरोध-प्रदर्शन से यहॉ अल्पसख्यकों, अर्थात् मुस्लिमों में असुरक्षा की भावना जगेगी,— ऐसी अनेक घटनाऍ उद्धृत की जा सकती हैं, जो सरकार के निकृष्टतम भ्रमों की पुष्टि करती हैं और मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति के प्रमाण उपलब्ध कराती है।

कुछ समय पहले समाचार-पत्रों में यह प्रकाशित हुआ कि 'राष्ट्रीय एकात्मता समिति' ने एक उपसमिति का गठन किया है, जो विभिन्न साप्रदायिक सगठनों के प्रवक्ताओं को उनके विचार जानने के लिए आमत्रित करेगी। जब उपसमिति का गठन ही 'साप्रदायिकता' को परिभाषित करने के लिए किया गया था, तब उपयुक्त परिभाषा निर्धारित करने से पूर्व ही कतिपय सगठनों को 'साप्रदायिक' घोषित करना उद्देश्य की प्रामाणिकता के प्रति सदेह उत्पन्न करता है।

उपसमिति के कतिपय सम्माननीय सदस्यों ने समय-समय पर अनेक हिंदू विभूतियों और सगठनों को 'साप्रदायिक' कहा है। 'साप्रदायिक' की परिभाषा का निर्धारण के पहले ही 'साप्रदायिक' का दोषारोपण करने की प्रवृत्तिवाले लोगों की सत्यनिष्ठा स्वत सदेहास्पद हो जाती है।

क्या ऐसी पृष्ठभूमि के साथ निर्मित तथा इसी प्रकार के लोगों से युक्त समिति से किसी सच्ची जॉच की आशा की जा सकती है?

उपसमिति द्वारा महाराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमत्री से प्रश्न किया गया था कि क्या उनके मन में भारतीय सघ से पृथक किसी राज्य के गठन की परिकल्पना है? इस प्रकार के प्रश्न करना अपमानजनक और अशोभनीय है। यह समिति के सदस्यों की पूर्वाग्रहग्रस्त[illegible] का प्रमाण है। क्या ऐसे पूर्वाग्रहग्रस्त लोगों से वास्तविक [illegible] जा सकती है?

 खठ

ऐसा कहा गया कि परिषद् की रुचि केवल राजनैतिक दलों का दृष्टिकोण जानने में है, तब राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ को आमत्रित करने का क्या औचित्य है, जिसका राजनीति से कोई सबध नहीं है?

परिषद् के अधिकार क्या हैं? यदि यह केवल अनुपयोगी और उद्देश्यहीन मच है, तो क्या ऐसा करना समय की बरबादी नहीं है?

यहाँ सरकार एव सत्ताधारी दल के विचारों का प्राधान्य और वर्चस्व दिखाई देता है। क्या ऐसी परिस्थितियों में मुद्दों पर निष्पक्ष विचार की आशा करना निरर्थक नहीं होगा?

卐 卐 卐

११ आतरिक सकट मुसलमान

राष्ट्र की सुरक्षा के लिए सकट

ससार में अनेक देशों के इतिहास का यह दु खद सबक रहा है कि राष्ट्र की सुरक्षा को बाहरी आक्राताओं की अपेक्षा आतरिक विरोधी तत्त्व अधिक बडा सकट उपस्थित करते हैं। जब से अग्रेजों ने इस देश को छोडा, तब से हमारे देश में राष्ट्र की सुरक्षा का यह प्रथम पाठ दुर्भाग्यवश सतत उपेक्षित रहा है। हमारे देश के कर्णधारों की ईप्सित कल्पनाओं ने अपने राष्ट्रीय स्वातत्र्य एव सुरक्षा के लिए आतरिक उच्छेदन की सभावना को अत्यत प्रखर और वास्तविक बना दिया है। इनका जन्म वास्तविकताओं का सामना करने के साहस के अभाव में से, राष्ट्रजीवन में एक के पश्चात् जो दूसरे दु खद प्रसग आए, उनपर उत्तरदायित्व वहन करनेवाले प्रमुखों द्वारा आवरण डालने के लिए किए गए ऊँचे लगनेवाले नारों के उद्घोष से तथा अपने सकुचित स्वार्थसिद्धि के लिए विरुद्ध-भावनावाले दलों एव वर्गों से समय-समय पर अवसर से लाभ उठाने के लिए किए गए समझौतों से हुआ है।

प्रथम हम मुसलमानों के विषय में विचार करें। आज तक यह कहनेवाले अनेक लोग मौजूद हैं कि 'अब मुसलमान समस्या बिलकुल नहीं रही। पाकिस्तान को प्रश्रय देनेवाले वे दगई तत्त्व सदा के लिए चले गए हैं। शेष मुसलमान हमारे देश के भक्त हैं। उनके लिए जाने को कहीं कोई स्थान नहीं है और वे निष्ठावान बने रहने के लिए बाध्य हैं।'

तथ्य क्या कहते हैं

किंतु तथ्य क्या हैं? क्या यह सत्य है कि सभी पाकिस्तान-समर्थक तत्त्व पाकिस्तान चले गए? प्रत्यक्ष में वह हिंदूबहुल प्रांत उत्तरप्रदेश के ही मुसलमान थे, जो आरंभ से ही पाकिस्तान के लिए किए गए आंदोलन के प्रमुख रहे और विभाजन के पश्चात् वे सभी यहीं बने रहे। वास्तव में पंजाब, बंगाल, सिंध तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांतों के मुसलमान, जो पाकिस्तान चले गए, सन् १९३७ के निर्वाचन में मुस्लिम लीग को बिलकुल अमान्य कर चुके थे। बाद के वर्षों में हमारे नेतृत्व की गलत नीति के कारण वे मुसलमान पुनः मुस्लिम लीग की गोद में ढकेल दिए गए।

विभाजन के पूर्व संविधान-सभा की स्थापना के लिए निर्वाचन हुए। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के निर्माण को अपने चुनाव का आधार बनाकर वे निर्वाचन लड़े। कांग्रेस ने भी संपूर्ण देश में अपने मुसलमान प्रत्याशी खड़े किए थे, किंतु ऐसे प्रत्येक स्थान पर मुसलमानों ने मुस्लिम लीग के प्रत्याशियों को ही वोट दिए और कांग्रेस के मुसलमान प्रत्याशी बुरी तरह परास्त हुए। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रांत एक अपवाद था। इसका अर्थ यही है कि जो करोड़ों मुसलमान यहाँ अब भी रह रहे हैं, उन सभी ने पाकिस्तान के लिए वोट दिया था।

क्या उसके बाद भी, जो यहाँ रह गए, उन्होंने अपने में परिवर्तन किया है? क्या अब भी उनका वही पुराना विरोध और खूनी भाव, जिसका परिणाम सन् १९४६-४७ में व्यापक दंगे, लूट, अग्निकांड, बलात्कार तथा इसी प्रकार के उन्मादपूर्ण कार्यों में हुआ था, समाप्त हो गया है? विभाजन के पश्चात् क्या एक रात में ही वे परिवर्तित होकर देशभक्त हो गए हैं? इस प्रकार के विश्वास के धोखे में रहना आत्मघाती होगा। इसके विपरीत पाकिस्तान के निर्माण से यह मुस्लिम विभीषिका सैकड़ों गुनी बढ़ी है, जिसका निर्माण हमारे देश पर भावी आक्रमण की योजनाओं के आधार रूप में हुआ है।

पाकिस्तान – एक सतत आक्रमण

उनकी आक्रामक नीति सदैव दोहरी रही है। एक तो है सीधा आक्रमण। स्वतंत्रता के पूर्व के दिनों में जिन्ना ने इसका नाम 'सीधी कार्यवाही' रखा था। पहले प्रहार में उन्हें पाकिस्तान मिल गया। हमारे

नेतागण, जिनका हाथ इस पाकिस्तान के निर्माण में रहा है, इस दु:खद घटना को 'भाइयों के बीच बँटवारा' कहकर लीपा-पोती करने का प्रयास करते हैं। किंतु यह नग्न सत्य बना ही रहेगा कि हमारी अपनी मातृभूमि में से ही काटकर एक आक्रांता मुस्लिम-राज्य का निर्माण किया गया है। जिस दिन से यह तथाकथित पाकिस्तान अस्तित्व में आया, हम घोषणा करते आ रहे हैं कि यह सतत चल रहे मुस्लिम आक्रमण को स्पष्ट करनेवाली एक घटना है। बारह सौ वर्ष पूर्व जब से मुसलमानों ने यहाँ पैर रखा, उनकी यही आकांक्षा रही कि इस संपूर्ण देश को धर्मांतरण करके गुलाम बनाया जाए, किंतु शताब्दियों तक राज्याधिकार उनके हाथ में रहते हुए भी उनकी यह आकांक्षा फलवती नहीं हुई, क्योंकि राष्ट्र की विजयिष्णु भावना समय-समय पर महान पराक्रमी पुरुषों के रूप में जागृत होती रही, जो यहाँ उनके साम्राज्य की मृत्यु का कारण बनी। यद्यपि उनका साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, किंतु इस देश पर अधिकार बनाए रखने की उनकी आकांक्षा भंग नहीं हुई। अंग्रेजों के यहाँ आने में उन्हें अपनी इस इच्छा की पूर्ति का अवसर मिल गया। उन्होंने अत्यंत धूर्ततापूर्वक अपना खेल खेला। कभी-कभी भीति और विप्लव का निर्माण किया और अंत में हमारे नेताओं को घुडककर विभाजन की पापपूर्ण माँग के सामने आत्मसमर्पण कराने में सफल हो गए।

हम संघ के लोग बार-बार इस ऐतिहासिक सत्य को गत इतने वर्षों से लोगों के मन में बैठाने का प्रयत्न करते आ रहे हैं। कुछ समय पूर्व विश्वविख्यात इतिहासज्ञ प्रो. अर्नाल्ड टायनबी ने भी इसे पुष्ट किया है। उन्होंने दो बार हमारे देश की यात्रा की, हमारी राष्ट्रीय गतिविधियों का निकट से अध्ययन किया तथा विभाजन के शुद्ध ऐतिहासिक यथार्थ चित्र को प्रस्तुत करनेवाला एक निबंध लिखा। जिसमें उन्होंने असंदिग्ध रूप से कहा है कि पाकिस्तान का निर्माण इस बीसवीं शताब्दी में मुसलमानों का इस देश को पूर्णतया अधीन करने के १२०० वर्ष पुराने स्वप्न को साकार करने की दिशा में प्रथम सफल पग है। फिर उनका सीधा आक्रमण, जो उनकी प्रथम सफलता से जोश में अधिक बढ़ा हुआ था, कश्मीर पर हुआ। वहाँ भी वे सफल हुए यद्यपि आंशिक रूप से आज केवल एक-तिहाई कश्मीर उनके अधिकार में है। अब पाकिस्तान शेष कश्मीर को भी वहाँ के पाकिस्तान-समर्थक शक्तिशाली तत्त्वों की सहायता से हड़पना चाहता है।

जिन्ना के स्वप्न को साकार करने के लिए

हमारे देश के सामरिक महत्त्व के भागों में अपनी जनसख्या वृद्धि करना उनके आक्रमण का दूसरा मोर्चा है। कश्मीर के पश्चात् उनका दूसरा लक्ष्य असम है। योजनाबद्ध रीति से असम, त्रिपुरा और शेष बगाल में बहुत दिनों से उनकी सख्या की बाढ आ रही है। कुछ लोग हमें यह विश्वास दिलाना चाहेंगे कि पूर्वी पाकिस्तान अकालग्रस्त होने के कारण वहाँ के लोग निकल-निकलकर असम तथा पश्चिमी बगाल में आ रहे हैं, किंतु बात ऐसी नहीं है। पाकिस्तानी मुसलमान असम में १५ वर्ष से शनै-शनै घुसपैठ कर रहे हैं। क्या इसका अर्थ है कि वहाँ इन १५ वर्षों में अकाल ही बना रहा? असम में मुसलमान गुप्त रूप से प्रवेश कर रहे हैं और स्थानीय मुसलमान उन्हें आश्रय देते हैं। परिणामस्वरूप जहाँ सन् १९५० में वहाँ की मुसलमान जनसख्या केवल ११ प्रतिशत थी, वहाँ आज दुगने से भी अधिक बढ गई है। असम को मुस्लिम बहुल प्रात बनाने के षड्यन्त्र के अतिरिक्त यह और क्या है, जिससे कि वह अपने आप थोडे समय बाद पाकिस्तान की गोद में चला जाए?

सन् १९६० के बगाली विरोधी दगों में भी जिन्होंने असम को आन्दोलित कर दिया था, सदा की भाँति वहाँ के मुसलमानों और मुसलमान मिनिस्टरों ने देश-द्रोह का कार्य किया था। उन्होंने असमिया हिंदुओं को बगाली हिंदुओं के विरुद्ध तथा बगाली हिंदुओं को असमिया हिंदुओं के विरुद्ध, जहाँ जैसा उन्हें अपने अभिप्रेत के अनुकूल प्रतीत हुआ, खडा कर दिया तथा बगाली हिंदुओं को निकाल बाहर करने के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के प्रयत्न में हिंदुओं की हत्या तथा घरों को अग्निकाडों का शिकार बनाया। इसके द्वारा उन्होंने उस प्रात में हिंदुओं की तुलना में अपने अनुपात को बढा लिया। कुछ चीजें, जो वहाँ घटित हुई, इस रहस्य की सूचक हैं। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हुई कि जहाँ किसी बगाली मुसलमान सज्जन का घर तो सुरक्षित रहा और उसके दोनों ओर के बगाली हिंदुओं के घर भस्म हो गए। समाचार-पत्रों में भी यह घटनाएँ छपीं कि कुछ व्यक्ति लूटी हुई सपत्ति को पूर्वी पाकिस्तान ले जाते हुए बदी बनाए गए। यह बात स्पष्ट है कि अपनी योजनाओं को पूर्ण करने के लिए पूर्वी पाकिस्तान से मुसलमानों से भरे हुए ट्रक पर ट्रक आए थे। जब हम स्मरण करते हैं कि जिन्ना के पाकिस्तान के स्वप्न में कश्मीर और असम के भाग सम्मिलित थे तो हमारे सामने उनके कार्यों की योजना दिन के प्रकाश के

समान स्पष्ट हो जाती है।

जिन्ना के स्वप्न को पूर्ण करने की उनकी योजना को मात्र 'ईप्सित कल्पना' कहकर छोड देना हमारे लिए घातक सिद्ध होगा। इसी प्रकार जिन्ना द्वारा की गई पाकिस्तान की माँग को भी हम एक 'बेहद अव्यवहार्य कल्पना' मात्र कहकर एक बार छोड चुके थे, परतु तो भी आज वह एक कठोर सत्य है। शस्त्रास्त्र एकत्र करने का उनका ज्वर अविरत बढता जा रहा है। उनकी मस्जिदों में सभाएँ तथा हिसा के लिए प्रोत्साहन भयकर रूप से बढ रहे हैं। कुछ वर्षों पूर्व कोलकाता के पुलिस कमिश्नर ने सावधान किया था कि केवल नाखोदा की मस्जिद में ही इतनी बारूद सग्रहीत है कि आधा कोलकाता उडाया जा सकता है तथा जब तक उसकी तलाश लेकर उसमें से वह भयकर सामान हटाया नहीं जाता, तब तक कोलकाता में जन-शाति बनाए रखना नितात असभव होगा। उसकी इस साहसपूर्ण चेतावनी के कारण कोलकाता से तुरत उसका स्थानातरण कर दिया गया। यदि उनके एक हजार वर्ष के नग्न आक्रमण के इतिहास के बाद भी प्रमाणों की आवश्यकता है, तो दिल्ली तथा देश के अन्य स्थानों पर बमों का फटना उनकी विध्वसक तैयारियों के स्पष्ट प्रमाण हैं।

हमारा वर्तमान नेतृत्व उनकी इन कार्यवाहियों पर कठोरतापूर्वक प्रतिबध लगाने के लिए अति दुर्बल है। इस तथ्य के आभास ने उन्हें अपने दुष्ट अभिप्रेतों को सिद्ध करने के लिए और भी साहसिक बना दिया है। उन्हें यह भली-भाँति स्मरण है कि कोलकाता, नोआखाली और त्रिपुरा में उनके द्वारा किए गए हिंसा एव रक्तपात के कार्यों ने हमारे नेताओं को साहसहीन कर दिया था, जिससे कि वे अपनी मातृभूमि की एकता का विनिमय करने तथा देश का एक भाग दे डालने को विवश हो गए थे। आज भी वे यह देख रहे हैं कि गुडागिरी के द्वारा हमारे वर्तमान नेताओं के हाथों से बहुत बडा लाभाश प्राप्त किया जा रहा है।

सन् १९५० में हिंदुओं के हत्याकाड और पूर्व बगाल से सामूहिक निष्कासन के परिणामस्वरूप एक घटना घटित हुई थी। ठीक उसी काल में बगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश तथा दिल्ली के अनेक भागों में लगातार दगे होने लगे थे। हमारी सरकार इस विचित्र मनोदशा से पीडित है कि जहाँ भी दगे होते हैं, उसमें राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ का हाथ चाहिए। उत्तरप्रदेश सरकार ने हमारे कुछ कार्यकर्ताओं दिया था। उसी समय किसी अन्य कारण से मेरी भेंट

थी। मैंने स्वाभाविक रूप से पूछ लिया कि हमारे लोगों को क्यों पकडा गया है? उन्होंने उत्तर दिया कि उत्तरप्रदेश सरकार को ऐसी सूचनाएँ मिली हैं कि उन विप्लवों के लिए सघ के कार्यकर्ता उत्तरदायी थे। मैंने उनसे कहा कि 'यदि आपने उन क्षेत्रों की स्थिति पर ध्यान दिया होता, जहाँ विप्लव हुए हैं, तो आपको यह तथ्य स्पष्ट हो जाता कि वे क्षेत्र वही हैं, जिन्हें जिन्ना ने पूर्वी तथा पश्चिमी पाकिस्तान को मिलाने के लिए मार्ग के रूप में माँगा था। और यह भी कि ये दगे पूर्वी पाकिस्तान से हिंदुओं के सामूहिक निष्कासन के समकालीन हैं। इसका अर्थ केवल यही है कि उस मार्ग की मॉग को मनवाने के लिए वे हमारी सरकार को झुकाना चाहते हैं। सरदार पटेल एक क्षण के लिए चुप रहे। फिर बोले– 'हॉ जो कुछ तुम कहते हो उसमें सत्यता है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि इसके बाद शीघ्र ही हमारे सभी कार्यकर्ता छोड दिए गए। हमारा यह सौभाग्य था कि उन दिनों वास्तविकता का सामना करने के लिए सरदार पटेल के रूप में फौलादी इच्छाशक्तिसपन्न एक व्यक्ति था।

नियतकालिक बम

सरदार पटेल इस तथ्य से अवगत थे कि पश्चिमी उत्तरप्रदेश पहले ही की भॉति एक शक्तिशाली मुस्लिम क्षेत्र बना हुआ है। वह नहीं चाहते थे कि एक मुस्लिम पट्टे द्वारा उसका सबध पश्चिमी पाकिस्तान से जुडे। अत उन्होंने पहले से ही इस बात के लिए सावधानी से काम लिया था कि विभाजन के पश्चात् पूर्वी पजाब से निकाले हुए मुसलमान, पश्चिमी पाकिस्तान से उत्तरप्रदेश तक लगातार एक मुस्लिम श्रृखला बनाने के लिए कहीं पश्चिमी पजाब के निकट ही न बस जाएँ, किंतु आचार्य विनोबा भावे के दबाव से मुसलमानों को पहले ही गुडगॉव जिले के निकट पुनर्वास के लिए आज्ञा दे दी गई। अब उन क्षेत्रों में चार लाख से अधिक मुसलमान बस चुके हैं।

इस बात के निश्चित लक्षण प्रकट हो रहे हैं कि सन् १९४६-४७ के समान ही एक विस्फोटक स्थिति शीघ्रता से उत्पन्न होती चली जा रही है और पता नहीं कि कब उसका स्फोट हो जाए। ठीक दिल्ली से रामपुर और लखनऊ तक मुसलमान एक भयकर योजना तैयार कर रहे हैं। शस्त्रास्त्रों का एकत्रीकरण तथा अपने लोगों को सज्ज करते हुए समवत इस बात की प्रतीक्षा में अपना समय बिता रहे हैं कि जब पाकिस्तान हमारे

देश से सशस्त्र सघर्ष का निर्णय करे, तब वे भीतर से चोट करें। यदि इस कुचेष्टा के अकुर को हम नहीं काटते, तो बहुत सभव है कि दिल्ली की नींव तक कपित हो जाए। ऐसा नहीं है कि हमारे नेता इस बात से अवगत नहीं हैं। गुप्तचर विभाग उन्हें ठीक सूचनाएँ देता है, किंतु यह प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में केवल चुनाव रहता है और चुनाव का अर्थ वोट प्राप्त करना, जिसका अर्थ होता है जनता के उन वर्गों का तुष्टिकरण करना, जिनके पास मतों की अच्छी और ठोस सख्या रहती है। मुसलमान इस प्रकार की ठोस सख्यावाला वर्ग है। इस सब तुष्टिकरण के मूल में यही तथ्य है, जिसका परिणाम घातक होता है।

न कुछ भूलना न कुछ सीखना

दक्षिण में मुस्लिम लीग ने अपने कुत्सित सिर को पुन उठाया है। पाकिस्तान के निर्माण ने उत्तर में हिंदुओं को कम से कम कुछ समय के लिए तो मुस्लिम लीग के सकट के प्रति जागरूक कर दिया है। इसीलिए लीग के नेताओं ने अपने मुख्यवास दक्षिण में स्थानातरित कर लिए हैं। अब वे इस वक्तव्य के साथ प्रकट हो गए हैं कि इस समय तक वे अपने कार्यों का सचालन गुप्त रूप से करते थे। केरल के उस सामूहिक आदोलन, जिससे साम्यवादी सरकार का वहाँ पर पतन हुआ, ने उन्हें बाहर आने के लिए एक स्वर्णिम अवसर प्रदान किया। उसके बाद जो चुनाव आए, वे उनके लिए अनपेक्षित लाभकारी सिद्ध हुए। काग्रेस ने अपने अतीत के अनुभव से कोई शिक्षा ग्रहण नहीं की। उसने यह भी विचार नहीं किया कि मुस्लिम लीग का ही अनुनय करने से हमारे देश पर पाकिस्तान की विपत्ति आई है। उसने सन् १९५७ में चुनावों के अतर्गत एक बार पुन उसी देशद्रोही दल को आलिगन करने के लिए अपनी बाहें फैला दीं और उनके इस स्पष्ट राष्ट्रविरोधी कृत्य के समर्थन के लिए पडित जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग को यह कहकर देशभक्ति का एक उज्ज्वल प्रमाण-पत्र भी दे दिया कि वह नवीन दल पुरानी मुस्लिम लीग नहीं है, वरन् एक नया देशभक्त दल है, जो अपनी जाति एव धर्म के प्रति भक्ति रखता है। देशभक्ति की कैसी अद्भुत परिभाषा है? किंतु हमारे पडित जी के दुर्भाग्य से दूसरे ही दिन अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के अध्यक्ष ने यह वक्तव्य प्रकाशित किया कि उनका दल वही पुराना दल है, जिसमें परिवर्तन की छाया भी नहीं है। अब वे केरल में स्वतत्र 'मोपला नाड' के लिए खुले रूप में प्रचार कर रहे हैं।

इन नवीन विकासमान परिस्थितियों में कोई भी देख सकता है कि एक वार पुन लगभग अर्ध-शताब्दी पूर्व की वही पुरानी घटनाएँ सजीव हो रही हैं। हमारे नेताओं ने विशाति काल में (सन् १९२१ से १९२६ तक) मुसलमानों की मैत्री प्राप्त करने के लिए हिदुओं से कहा था कि वे भी खिलाफत आदोलन, जो टर्की के बादशाह को सिहासनाच्युत करने के कारण अग्रेजों के विरुद्ध किया गया था, को अपना ही मानकर उसमें भाग लें। केरल में भी आदोलन की सहायता के लिए हिंदू धन तथा जन के साथ आगे आए। किंतु मुसलमानों का कोप, जो अग्रेजों पर था, शीघ्र ही 'हिंदू काफिरों के विरुद्ध जेहाद' के रूप में परिवर्तित हो गया, जिसमें मुस्लिम बर्वरता के सभी भीषण अत्याचार, जैसे हत्या, अग्निकाड, स्त्रियों का अपहरण, लूट तथा बलात् धर्म-परिवर्तन हुए। जब इन रोमाचक अत्याचारों के समाचार देश के अन्य भागों में पहुँचे और वहाँ के निवासियों के हृदयों पर आघात किया, तब एक प्रख्यात नेता ने उन जघन्य मुसलमान अपराधियों को 'बहादुर मोपला' कहते हुए उनकी खुलकर प्रशसा की। हम उन शब्दों की तुलना अपने वर्तमान नेताओं के उन शब्दों से करें, जो उन्हें 'देशभक्त' कहते हैं, तो हमें उस लबी आत्मघाती मूर्छा की कल्पना हो जाएगी, जिसने हमारी राष्ट्रीय जागरूकता एव सुरक्षा की सपूर्ण मानसिक शक्ति को निर्जीव बना दिया है।

हमारी अपनी सरकार द्वारा मुसलमानों को हर जगह उनकी विघटनात्मक और विध्वसक क्रियाओं में प्रोत्साहन मिलता है। इस कार्य में हमारे नेता तथा राजनीतिक दल भी उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। कोलकाता के उन दगों को ले लीजिए, जो सन् १९६३ में पूर्वी पाकिस्तान के खुलना, नारायणगज और ढाका के क्षेत्रों में हिदुओं के विध्वस के बाद घटित हुए थे। हमारे अपने ही सत्ताधारी लोगों ने उन्हें पूर्वी बगाल के दगों की प्रतिक्रिया के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया। किंतु तथ्य क्या है? वे मुसलमान ही थे, जिन्होंने पहले कोलकाता में विद्यार्थियों के शातिपूर्ण जुलूस पर आक्रमण किया और उन्होंने ही स्वामी विवेकानद की शताब्दी समारोह के उपलक्ष्य में निर्मित विशाल प्रदर्शिनी में आग लगाई तथा बहुमूल्य दर्शनीय वस्तुएँ नष्ट कर दीं। क्या कोई सही मस्तिष्कवाला व्यक्ति इस बात पर विश्वास करेगा कि कोलकाता के हिदुओं ने उस पडाल को जला डाला जिसमें स्वामी विवेकानद की दर्शनीय वस्तुएँ रखी गई थीं। मुसलमानों के इस प्रकार विध्वस आरभ करने के पश्चात् ही हिंदू अपनी

रक्षा के लिए खडे हुए। इसमें तनिक भी संदेह के लिए अवकाश नहीं है कि कोलकाता के दगे पूर्वी बगाल के दगों का प्रसार मात्र था, उनकी प्रतिक्रिया कदापि नहीं थी।

किंतु हमारी सरकार, जो अब तक सामान्यत अपने अग्रेज मालिकों के पदचिह्नों पर ही चल रही है, हिंदुओं पर प्रचड रूप से पिल पडी और उन्हें बिना सोचे-विचारे गोलियों से उडाने लगी। हमारे एक केंद्रीय मत्री ने तो घोषणा भी की कि 'हमारे लिए एक-एक मुसलमान का जीवन पवित्र है', जबकि सच्चे अर्थों में किसी भी सरकार कहलाने योग्य सत्ता के लिए प्रत्येक जीवन पवित्र धरोहर होनी चाहिए। उन्होंने यह कहकर आत्मप्रशसा भी की कि पुलिस की गोलियों से मुसलमानों की अपेक्षा हिंदू अधिक मारे गए। इस वक्तव्य से उन्होंने इस सबध में सरकार की वास्तविक मनोभूमिका को ही प्रकट किया। सक्षेप में हमारे अपने देश में जिस भाँति काम चल रहा है, उसका यही ढग है।

अगणित छोटे-छोटे पाकिस्तान

वास्तव में सपूर्ण देश में जहाँ भी एक मस्जिद या मुसलमानी मुहल्ला है, मुसलमान समझते हैं कि वह उनका अपना स्वतत्र प्रदेश है। यदि वहाँ हिंदुओं का कोई जुलूस गाते-बजाते जाता है, तो वे यह कहते क्रोधित होते हैं कि इससे उनकी धार्मिक भावनाओं को ठेस लगती है। यदि उनकी धार्मिक भावनाएँ इतनी नाजुक हो गई हैं कि मधुर सगीत से भी क्षुब्ध हो जाती हैं, तो वे अपनी मस्जिदों को जगलों में स्थानातरित करके वहाँ चुपचाप आराधना क्यों नहीं करते। वे सडक के किनारे ही एक पत्थर जमाने का, उस पर सफेदी पोतने का तथा उसे 'प्रार्थना-स्थल' कहने का हठ क्यों करते हैं? फिर जब वहाँ सगीत होता है तो हाय-तोबा क्यों मचाते हैं कि उनकी आराधना में व्याघात होता है?

कुछ वर्षों पूर्व अरब का एक मौलवी हमारे देश में आया था। उससे प्रार्थना की गई कि वह कुरान का पाठ उसी प्रकार करे, जैसे उसके देश में किया जाता है। उसने इस बात का उत्तर दिया कि वहाँ तो हम उसे हारमोनियम, तबला तथा इसी प्रकार के अन्यान्य वाद्य-यत्रों के साथ गाते हैं। यदि यहाँ मैं करूँगा तो यहाँ के मूर्ख मुसलमान मेरे टुकडे-टुकडे कर डालेंगे। क्या उससे यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि यहाँ के मुसलमानों की सगीत-विषयक तथाकथित धार्मिक भावनाओं का धर्म अथवा आराधना से

कोई सबध नहीं है, वरन् पूर्णरूपेण इसकी प्रेरणा में हिदुओं से झगडा करना तथा अपने लिए एक छोटा स्वतत्र कक्ष स्थापित करने का दृष्टिकोण निहित है?

यह किस प्रकार सभव होता है कि वे इन आक्रामक और राष्ट्रविरोधी कार्यो को खुल्लमखुल्ला करने का साहस करते हैं? यह इसलिए होता है कि हमारी सरकार भी उन्हें व्यक्त अथवा प्रच्छन्न रूप से प्रश्रय देती है। यद्यपि उच्च न्यायालय नागरिकों के अनिवार्य अधिकारों के अतर्गत सार्वजनिक मार्गो पर बाजे के साथ जुलूस निकालने के अधिकार का समर्थन कर चुका है, फिर भी सरकार शाति और व्यवस्था की दृष्टि से जुलूसों को नियमित करने के लिए प्रशासकों को दी हुई स्वतत्र निर्णय की शक्तियों के आवरण में प्राय हिदुओं को उन सडकों पर जुलूस निकालने को रोक देती है, जिनपर मस्जिदें स्थित हैं। यह उन लोगों के लिए पारितोषिक है, जो शाति भग करना चाहते हैं, और शातिप्रिय नागरिक, नागरिकों के रूप में अपने सहज अधिकारों का उपयोग करने में इस प्रकार की ज्यादती के शिकार हो जाते हैं। कानून का पालन करनेवाले नागरिकों से कहा जाता है कि वे अपने को सयमित रखें और जो हिसा में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें उनकी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतत्रता दी जाती है। यह एक प्रकार से परोक्ष रीति से स्वीकार करना है कि देश के अदर कितनी ही मुस्लिम बस्तियाँ हैं, अर्थात् कितने ही लघु पाकिस्तान हैं, जहाँ देश का सामान्य कानून कुछ सशोधनों के साथ लागू होता है और जहाँ दुष्टों के मन की लहर ही अतिम नियम है। यह स्वीकृति चाहे परोक्ष ही क्यों न हो, एक अत्यत खतरनाक सिद्धात को उपलक्षित करती है, जिसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के विकास से पूर्व विनाश की सभावनाएँ भरी पडी हैं। इस देश में इस प्रकार की बस्तियाँ नि सशय रूप से पाकिस्तान-समर्थक तत्त्वों के चारों ओर फैले हुए जाल के छोटे-बडे केंद्र हो गई हैं।

अनेक उदाहरण

उदाहरण के लिए, सन् १९६३ में महाराष्ट्र के मालेगाँव में गणेश की प्रतिमा सिराने के लिए जुलूस के साथ ले जाई जा रही थी। मुसलमानों ने इस पर आक्रमण किया। कुछ झगडा हुआ। सदैव के समान सरकार कानून और व्यवस्था स्थापित करने आगे आई और बडी सख्या में प्रमुख हिदू सज्जनों को पकड लिया, मानो वही उस कानून-भग के कृत्य के लिए उत्तरदायी रहे हों। बाद में मुझे उसी राज्य के एक महत्त्वपूर्ण उच्च

पदाधिकारी से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने उनसे कहा कि 'यह घटना रात्रि के नौ-दस बजे घटित हुई थी। ठीक दूसरे दिन पाकिस्तान रेडियो ने प्रसारित कर दिया कि उस नगर में मुसलमानों की जाति-शेष करनेवाला हत्याकाड हुआ है। पाकिस्तानी रेडियो को यह बात कुछ घटों में ही कैसे ज्ञात हो गई? कोई पाकिस्तानी सज्जन ट्रासमीटर के साथ अवश्य होने चाहिए और उनका पाकिस्तान से सतत सपर्क भी होना चाहिए।' उन्होंने कहा– 'हॉं, यही सभावना है।' तब मैंने उनसे पूछा– 'क्या आपको *ज्ञात है कि प्रधानमत्री के घर में होनेवाली गुप्त मत्रणाओं की सूचनाएँ*, जो अत्यत गोपनीय मानी जाती हैं, प्राय उसी रात में पेकिंग और रावलपिंडी चली जाती हैं।' उन्होंने कहा– 'हॉं, यह मेरी जानकारी में है।'

निष्कर्ष यह है कि प्राय हर स्थान में ऐसे मुसलमान हैं, जो ट्रासमीटर के द्वारा पाकिस्तान से सतत सपर्क स्थापित किए हैं और अल्पसख्यक होने के नाते सामान्य नागरिक के ही नहीं, अपितु कुछ विशेषाधिकारों तथा विशेष अनुग्रहों का भी उपभोग करते हैं। हमारा गुप्तचर विभाग राष्ट्रीय अस्तित्व को समाप्त करने का प्रयास करनेवाले उन तत्त्वों के प्रति उतना सचेष्ट प्रतीत नहीं होता, जितना देशभक्त व्यक्तियों के प्रति।

कुछ दिन पूर्व उत्तरप्रदेश विधानसभा में एक सदस्य ने चुनौती दी थी कि लखनऊ नगर में ही कई ट्रासमीटर चालू हैं और उनका पता लगाने के लिए वह पुलिस को ले जाने को तैयार है, यदि पुलिस में साहस हो। अब तक तो ऐसा लगता है कि सरकार उसकी बात बिलकुल नहीं सुन पाई है। कोई आश्चर्य नहीं कि शत्रु के पचमागी अपनी अति दुष्ट योजनाओं को इस प्रकार आनद से चलाते रहते हैं, मानो स्वय सरकार ही उनके पक्ष में हो। इस प्रकार के तत्त्व उत्तरदायित्व के पदों तथा महत्त्व के स्थानों पर भी हो सकते हैं। हम ज्वालामुखी पर बैठे हुए यह अनुभव कर रहे हैं कि हमारे धर्मनिरपेक्ष ससार में सब कुछ ठीक ही है।

महान 'राष्ट्रीय मुसलमान'

कम से कम अब हम जागें, चारों ओर देखें और बडे-बडे प्रमुख मुसलमानों के भी शब्द तथा कृत्यों के सही तात्पर्य को समझें। उनके अपने ही वक्तव्यों ने आज तथाकथित 'राष्ट्रीय मुसलमानों' के महानतम व्यक्तियों को भी उनके सच्चे नग्न रूप में प्रकट कर दिया है।

स्वतंत्रता-संग्राम के प्रारंभिक काल में मौलाना मुहम्मद अली महात्मा गाँधी के दाहिने हाथ थे। उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की थी कि मुसलमानों में बुरे से बुरा पापी तथा भ्रष्ट उनकी निगाह में महात्मा गाँधी से भी बहुत अधिक श्रेष्ठ है।

मुझे एक बार अपने देश में सूफी संप्रदाय के एक बड़े विद्वान से बात करने का अवसर मिला। उन्होंने कहा कि कम्युनिज्म के अनीश्वरवादी दर्शन की चुनौती का सामना करने का एक ही मार्ग है कि ईश्वर में विश्वास रखनेवाले सभी मनुष्यों को जुटाकर एकत्रित लाया जाए, चाहें वे किसी भी संप्रदाय अथवा धर्म के क्यों न हों। मैंने उनसे पूछा कि वह कौन-सा सामान्य आधार है, जिसपर वे साथ-साथ आ सकते हैं। एक क्षण भी संकोच न करते हुए उन्होंने उत्तर दिया– 'इस्लाम'। उनके तथाकथित विद्वान और दार्शनिकों के मस्तिष्क भी इस प्रकार से काम करते हैं।

हमारे समय के महानतम 'राष्ट्रीय मुसलमान' मौलाना आजाद ने भी अपने अंतिम समय में 'इंडिया विन्स फ्रीडम' नामक पुस्तक में अपने मस्तिष्क को निर्भ्रांत शब्दों में प्रकट कर दिया है। प्रथम तो संपूर्ण पुस्तक आरंभ से अंत तक एक निर्लज्जतापूर्ण अहमन्यता से भरा हुआ कथन है, जिसमें गाँधी जी तथा नेहरू जी सहित अन्य सभी नेताओं को समाविष्ट करते हुए क्षुद्र बुद्धि के रूप में चित्रित किया गया है और पटेल को साम्प्रदायिक के रूप में। दूसरे, कोलकाता और नोआखली आदि अनेक स्थानों पर मुसलमानों द्वारा हिंदुओं के घोर संहार तथा अत्याचारों की निंदा के लिए उनके पास एक शब्द भी नहीं है। सबसे बढ़कर पाकिस्तान के निर्माण का उनका विरोध पूर्ण रूप से इस कारण है कि वह मुसलमानों के हितों के प्रतिकूल होगा। आजाद के कहने का अर्थ है कि जिन्ना का अनुसरण करना मुसलमानों की मूर्खता थी, क्योंकि इससे मुसलमानों को देश का एक टुकड़ा ही मिला। यदि उन्होंने उनकी (आजाद की) शिक्षा का अनुसरण किया होता तो संपूर्ण देश के कार्यकलापों में उनकी आवाज निर्णयात्मक होती और साथ ही पाकिस्तान के सभी लाभ भी प्राप्त होते। सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व प्रधान न्यायाधीश श्री मेहरचंद महाजन ने भी उस किताब के विषय में यही टीका की है। उदाहरण के लिए, वे कहते हैं– मौलाना, जिन्ना से अधिक धूर्त थे। यदि उनपर छोड़ दिया जाता तो भारत वस्तुत: मुसलमानी वर्चस्व का देश हो जाता।'

आज भी मुसलमान, चाहें वे सरकारी उच्च पदों पर हों अथवा उसके बाहर हों, घोर अराष्ट्रीय सम्मेलनों में खुले रूप में भाग लेते हैं। उनके भाषणों में भी खुली अवज्ञा और विद्रोह की झकार रहती हे। एक केंद्रीय मुसलमान मत्री ने इसी प्रकार के एक सम्मेलन के मच से बोलते हुए चेतावनी दी थी कि यदि मुसलमानों के हितों की भली प्रकार रक्षा न की गई तो यहाँ भी स्पेन की कहानी दुहराई जाएगी, जिसका यही अर्थ है कि वे सशस्त्र विद्रोह के लिए उठ खडे होंगे।

अब तो उनमें इतना साहस हो चुका है कि कुछ प्रातों में वे 'मुस्लिम लीग' के नाम से केवल चुनाव ही नहीं लडते, अपितु सार्वजनिक सभाओं और जुलूसों में 'पाकिस्तान जिदाबाद' के नारे भी लगाते हैं। उनके लिए वही क्षेत्र 'पाक', अर्थात् पवित्र है, जहॉं उनका अबाध प्रभुत्व स्थापित है और शेष भारत जहाँ वे निवास करते और समृद्ध हो रहे हैं, 'नापाक', अर्थात् अपवित्र है। कोई पुत्र कितना ही पतित और भ्रष्ट क्यों न हो गया हो, क्या अपनी मॉ को कभी अपवित्र तथा पापपूर्ण कह सकता है? और इतने पर भी हमें यह विश्वास करने के लिए कहा जाता है कि ऐसे तत्त्व इस भूमि के पुत्र हैं।

अधिक विलब होने के पूर्व ही इस ईप्सित धारणा के लबे और आत्मघाती सम्मोहन को हम तुरत रोकें और राष्ट्र की सुरक्षा एव समग्रता के हितों को सर्वोच्च स्थान देते हुए स्थिति की कठोर वास्तविकता को दृढतापूर्वक ग्रहण करें।

१२ आतरिक सकट ईसाई

जहाँ तक ईसाइयों का सबध है, ऊपरी तौर से देखनेवाले को तो वे नितात निरुपद्रवी ही नहीं, वरन् मानवता के लिए प्रेम एव सहानुभूति के मूर्तिमान स्वरूप प्रतीत होते हैं। उनकी वक्तृताएँ 'सेवा' एव 'मानवोद्धार' जैसे शब्दों से परिपूर्ण रहती हैं। उनसे प्रतीत होता है मानो सर्वशक्तिमान ने उन्हें मानवता के उत्थान के लिए विशेष रूप से नियुक्त किया है। सब

स्थानों पर वे स्कूल, कालेज, अस्पताल तथा अनाथालय चलाते हैं। हमारे देश के लोग, जो सीधे-सादे और भोले हैं, इन बातों पर विश्वास करने लगते हैं। किंतु इन सब गतिविधियों में करोड़ों रुपए उँडेलने में ईसाइयों का वास्तविक और अंतरस्थ उद्देश्य कुछ अलग ही है।

नग्न पंजा

हमारे स्वर्गीय राष्ट्रपति डा. राजेंद्रप्रसाद एक बार असम गए थे। उन्होंने वे स्कूल और अस्पताल देखे, जिन्हें ईसाई धर्मप्रचारकों ने उन पहाड़ी प्रदेशों में स्थापित कर रखा था। उन्होंने उन सब कार्यों के प्रति अपना संतोष व्यक्त किया, किंतु अंत में यह उपदेश भी दिया कि 'निस्संदेह तुमने बहुत अच्छा काम किया है, परंतु इन चीजों को धर्मांतरण के उद्देश्य के लिए उपयोग में मत लाना।' पर उनके बाद जो धर्मप्रचारक बोला, उसने सीधे शब्दों में कह दिया— 'यदि हम केवल मानवता के विचार से ही यह करने के लिए प्रोत्साहित हुए होते तो यहाँ इतनी दूर क्यों आते? इतना धन हम लोग क्यों व्यय करते? हम तो यहाँ एक ही निमित्त से हैं कि अपने प्रभु ईसा के अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करें।' वे इस विषय में अत्यंत स्पष्ट हैं।

वे मानते हैं कि इस लक्ष्य के लिए प्रत्येक युक्ति, वह कितनी ही अनुचित क्यों न हो, उचित है। भाँति-भाँति की रहस्यपूर्ण एवं क्षुद्र युक्तियाँ, जिन्हें वे धर्मांतरण के लिए प्रयोग में लाते हैं, सभी को बहुत अच्छी प्रकार से विदित हैं। एक गाँव की ही बात है, जहाँ गत जनगणना के अवसर पर ईसाई प्रचारकों ने उस गाँव के संपूर्ण निवासियों को ईसाई के रूप में लिखवा दिया। जब इस कुचेष्टा का पता चला और वहाँ के लोगों ने विरोध प्रकट किया, तब उन ईसाई धर्मप्रचारकों ने उन्हें बताया कि अब कुछ नहीं हो सकता। अब तो तुम सरकारी अभिलेखों में ईसाई के रूप में लिख लिए गए हो। इस कारण तुम्हें ईसाइयों की भाँति व्यवहार करना चाहिए। उन गरीब हिंदू ग्रामीणों ने हमारे उदासीन हिंदू-समाज का सहारा तथा सहायता न पाकर उनकी बातों पर विश्वास कर लिया और ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। इस प्रकार की युक्तियों द्वारा वे अपनी संख्या दिनोंदिन बढ़ाते चले जा रहे हैं।

अनेक प्रमुख ईसाई धर्मप्रचारक इस बात को असंदिग्ध रूप से घोषित कर चुके हैं कि उनका एक ही लक्ष्य है— इस देश को ईसा के

साम्राज्य का एक प्रात बनाएँ। चेन्नै के 'वेदात केसरी' की सूचना के अनुसार मदुरै के आर्क विशप ने कहा है कि उनका मुख्य उद्देश्य है सपूर्ण भारत पर ईसा के झडे को फहराना। अभी हाल में मुबई में हुई युकेरिस्टिक काग्रेस में कार्डिनल ग्रेशियस इस बात से दु खी थे कि शताब्दियों तक धर्मातरण करने के पश्चात् भी भारत में केवल साठ लाख ही कैथोलिक ईसाई हैं और हिंदू बहुसख्या में बने हुए हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करते हुए कहा कि अब से उनमें प्रत्येक व्यक्ति धर्मातरण के कार्य के लिए स्वय को प्रचारक समझे। इसका अर्थ है कि देश की सपूर्ण जनता ईसाई धर्म में धर्मातरित हो जानी चाहिए, अर्थात् उनका वश, परपरागत धर्म, दर्शन, सस्कृति तथा जीवनपद्धति ध्वस्त हो जानी चाहिए और उन्हें ईसाई धर्म के विश्वसघ में विलीन हो जाना चाहिए।

धर्म या राजनीति

जिस प्रकार वे अन्य जनों के प्रति व्यवहार करते हैं, वह हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य करता है कि आधुनिक मतातरकारी धर्मों में सच्चे धर्म के तत्त्व अत्यल्प मात्रा में होते हैं। ईश्वर, पैगबर और धर्म के नाम पर वे केवल अपनी राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाओं को आगे बढाना चाहते हैं। सच्चे धर्म में तो मतातरित करने की, पूजा की विधि में परिवर्तन करने की आवश्यकता ही नहीं। प्राचीनकाल में हमारे धर्मप्रचारक जो दूसरे देशों में गए थे, उन्होंने अन्य लोगों पर बलात् अपना धर्म नहीं लादा। इसके विपरीत हमारे गुरुओं ने उनके पूजा के प्रकार अस्वीकृत न करते हुए एक सर्वव्यापक दर्शन से सुरक्षित करके उसे और भी उदात्त बनाने का, मस्तिष्क एव हृदय से उदात्त और पवित्र गुणों को उनके मन में बैठाकर तथा अपनी ही पूजा के प्रकार द्वारा उन्हें और भी अच्छे भक्त बनाने के प्रयत्न किया। यह था वास्तविक धर्म।

धर्म की जो कल्पना ईसाई प्रचारकों द्वारा प्रचारित की जाती है, वह सचमुच आश्चर्यकारक है। मैं एक बार एक धर्मप्रचारक से मिला। उसने मुझे इग्लैंड के एक आर्क विशप द्वारा लिखी गई एक पुस्तक दी और कहा कि इस पुस्तक द्वारा मुझे उनके काय की प्रकृति के विषय में स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा। मैंने उसे पढा। जब मैंने उसे पुस्तक लौटाई तो उसने अत्यत उत्साहपूर्वक पूछा कि पुस्तक कैसी थी। मैंने उत्तर दिया– 'यदि तुम्हारा आर्क विशप ऐसा है तो तुम क्या होगे?' वह इस बात से चौंका। मैंने उस

पुस्तक के कुछ अश उसे दिखाए जिनमें लिखा था कि ईश्वरप्राप्ति के लिए इतना ही पर्याप्त है कि प्रतिदिन दो वार प्रार्थना की जाए और रविवार को गिरजाघर में जाया जाए। शेष समय में सभी प्रकार के शारीरिक आनद एव भोगों का सेवन करने में कोई हानि नहीं है। सत्य यह है कि ये शब्द उस महान सत ईसा के उपदेशों के पूर्ण विरुद्ध हैं।

लोकमान्य तिलक ने ईसा के महान शिष्य सत पाल को अपने 'गीता रहस्य' में उद्धृत किया है। वह भी ईश्वर से कहता है– 'यदि मैं असत्य भाषण द्वारा तुम्हारी (ईश्वर की) महिमा की वृद्धि करता हूँ, तो वह पाप कैसे हो सकता है?' इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनके इस वक्तव्य का वर्तमान ईसाई धर्मप्रचारकों ने अपने कुचक्रों को आगे बढाने में पूर्ण उपयोग किया है। यह सच ही कहा गया है कि दुनिया में सच्चा ईसाई केवल एक ही हुआ है और क्रूस पर उसकी मृत्यु हुई।

पक्षरहित निर्णय

ईसाई धर्मप्रचारकों की गतिविधियाँ केवल अधार्मिक ही नहीं, राष्ट्रविरोधी भी हैं। एक वार मैंने एक ईसाई धर्मप्रचारक से प्रश्न किया कि वे हमारे पवित्र ग्रथों और देवी-देवताओं की निदा क्यों करते हैं? उसने स्पष्ट उत्तर दिया– 'हमारा लक्ष्य है कि हिदू के हृदय से उसके धर्म के प्रति विश्वास को झटककर वाहर कर दिया जाए। जब उसका यह विश्वास ध्वस्त हो जाएगा, तव उसका राष्ट्रत्व भी नष्ट कर दिया जाएगा। उसके मस्तिष्क में एक रिक्तता उत्पन्न हो जाएगी, तब हमारे लिए उस रिक्तता को ईसाइयत से भरना सरल हो जाएगा।'

कुछ वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश सरकार ने इन ईसाई धर्मप्रचारकों की गतिविधियों के सवध में सूचना देने के लिए एक समिति गठित की थी। इस समिति के अध्यक्ष श्री नियोगी उच्च न्यायालय के एक अति सम्माननीय अवकाशप्राप्त न्यायाधीश थे, जो किसी भी गुट या दल के व्यक्ति नहीं थे। समिति के सदस्यों ने सपूण मध्यप्रदेश का प्रवास किया और धर्मांतरित इसाइयों, इसाई धर्मप्रचारकों तथा अन्यान्य लोगों से भेंट की। वे अनेक गिरजाघरों में भी गए। अपनी व्यक्तिगत जॉच के आधार पर उन्होंने सन् १९५७ में एक लवा प्रतिनिवेदन प्रस्तुत किया। उस प्रतिनिवेदन का सार इस प्रकार है–

'ईसाई धर्मप्रचारकों के सभी औदार्यपूर्ण कार्य उनकी धर्मांतरण की

गतिविधियों को चलाने के लिए एक आवरण मात्र हैं। भोले-भोले लोगों को कभी त्रस्त करके और कभी प्रलोभन द्वारा आकर्षित कर वे अपना उपर्युक्त कार्य करते हैं। इन गतिविधियों के मूल में उनकी यह महत्त्वाकाक्षा है कि उनकी सख्या की शक्ति के आधार पर अपने लिए एक अलग ईसाई राज्य बना लिया जाए, वे इसी एक उद्देश्य से करोडों रुपए व्यय कर रहे हैं।'

'पादरिस्तान' के लिए

अमस में नागालैंड की सृष्टि इस बात का ज्वलत उदाहरण है। नागालैंड में जो खुला विद्रोह चल रहा है, वह ईसाई प्रचारकों द्वारा ही सचालित है, इस तथ्य को पडित नेहरू ने भी स्वीकार किया है, किंतु हमारी सरकार समय-समय पर देश को यह बताने में नहीं थकती कि वहाँ 'शांति' स्थापित हो गई है, चाहे दूसरे ही दिन वहाँ से समाचार क्यों न आ जाए कि कोई ट्रेन लूट ली गई, कोई पुल उडा दिया गया अथवा हमारी फौज के कुछ जवान मार दिए गए। जब लोकसभा में यह प्रश्न किया गया कि विद्रोहियों के अधिकार में इतने बडे परिमाण में शस्त्रास्त्र और गोला-बारूद कैसे पहुँचे? तो उत्तर यह दिया गया कि गत युद्ध के समय जब जापानी भाग रहे थे, तब हथियारों का भार ढोने में असमर्थ होने के कारण उन्होंने उन्हें जगलों में फेंक दिया था और नागाओं ने उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। किंतु वृत्त-पत्रों में एक सूचना प्रकाशित हुई है कि अपनी सेना से एक सघर्ष में कुछ विद्रोही मारे गए और उनके हथियार ले लिए गए। वे हथियार नवीनतम थे और अमरीका के बने हुए थे। उनपर बनाने का वर्ष भी अकित था। यह सन् १९५५ और १९५६ की बात है। हमारे नेताओं ने हमसे यह विश्वास कर लेने के लिए कहा कि नागाओं ने सन् १९५५-१९५६ के बने हुए अमरीकी हथियार बहुत पूर्व सन् १९४४ में प्राप्त किए थे। यह सूचना मिली है की नागाओं के अधिकार में नवीनतम मॉडेल की हवाई जहाजों को मारने की तोपें हैं। यह भी स्पष्ट है कि वे हथियार किस प्रकार उनके अधिकार में आए होंगे। जो अमरीकी हथियार पाकिस्तान में आते हैं, वे असम में ईसाई धर्मप्रचारकों को हस्तातरित कर दिए जाते हैं।

इस प्रकार विद्रोह चलता रहा है, फिर भी हमारे नेताओं ने आशिक रूप में उनकी मॉग को स्वीकार कर नागालैंड की स्थापना कर दी है। इसके विषय में यह अनिष्टसूचक लक्षण है कि यह सीधा विदेश मन्त्रालय द्वारा प्रशासित नहीं है।

दवाव दो प्रकार का है। एक तो आतरिक विद्रोह है, जो उनके द्वारा प्राप्त की गई आशिक सफलता के कारण अव भी चल रहा है और जिसका वेग वढता जा रहा है। नागालैंड वनाने के हमारे निणय के पश्चात् भी हमारा एक हवाई जहाज गिरा दिया गया। द्वितीय प्रकार का दवाव अतर्राष्ट्रीय है। हमें ज्ञात है कि विद्रोही नागाओं का नेता फिजो पाकिस्तान तथा कुछ अन्य शक्तियों की सहायता से हमारे देश से गायव होकर इग्लैड चला गया है। उसे एक प्रसिद्ध ईसाई धर्मप्रचारक माईकेल स्काट ने आश्रय दिया, जिसने हमारे सम्मान को धक्का पहुँचानेवाले अनेक प्रकार के वक्तव्य देने के लिए उसे प्रोत्साहित किया। हमारे नेताओं ने ससार में शातिस्थापक होने के अपने सम्मान को दॉव पर लगाने से नागालैंड दे डालना श्रेयस्कर समझा, क्योंकि वे अपने अतर्राष्ट्रीय सम्मान के प्रति, वह कुछ भी क्यों न हो, अति कोमल हृदय हैं। अब उन्होंने उनको और अधिक स्वायत्त शासनाधिकार देने की दृष्टि से नागा-विद्रोहियों के साथ 'शातिवार्ता' आरभ की है तथा उस शाति-नियोजन के एक सदस्य के रूप में उस 'सज्जन' माइकेल स्काट को भी रखा है। हमारे नेता अपने को शाति-निर्माता प्रदर्शित करने के लिए देश-विभाजन को अत्यत सस्ता मूल्य समझते हैं। अतर्राष्ट्रीय दबाव बढता ही जा रहा है। अत आश्चर्य नहीं होगा कि निकट भविष्य में ही नागालैड अलग हो जाए तथा ईसाई धर्माधों के वर्चस्व तथा आधिपत्यवाला एक स्वतत्र राज्य बन जाए।

अतर्राष्ट्रीय ईसाई आदोलन के एजेंट

असम में शिलाग के आसपास के प्रदेश के लिए पहाडी राज्य की एक अन्य माँग भी हो चुकी है। इन्हीं ईसाई प्रचारकों से उसे प्रेरणा मिली है। विहार में वे 'झारखड' के लिए आदोलन चला रहे हैं। निस्सदेह हमारे नेताओ ने स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह माँग एक अव्यवहार्य अद्‌भुत कल्पना मात्र है और कदापि स्वीकार नहीं की जा सकती। किंतु भविष्य में क्या होगा, इस विषय मे हम निश्चित नहीं हो सकते। क्योंकि हमारा बहुत बार का अनुभव है कि हमारे नेताओं द्वारा किसी माँग को 'अद्‌भुत कल्पना', 'राष्ट्रविरोधी कल्पना' आदि कहकर की गई प्रबल भर्त्सना इस बात की सूचक लक्षण रही है कि वे उस माँग को स्वीकार करने का निश्चय अपने मन में कर चुके हैं। हमारा यह

अनुभव पाकिस्तान के निर्माण से लेकर नागालैंड के निर्माण तक एक समान रहा है।

केरल में जिस समय कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध जनांदोलन चल रहा था, तब ईसाई नेता कहा करते थे कि यह केरल में ईसाई मिशनों का जीवन-मरण का संघर्ष है। वे यहाँ तक कहने लगे थे– 'केरल में या तो कैथोलिक का राज्य होगा या कम्युनिस्टों का। हम वहाँ शासन करना चाहते हैं।'

कुछ वर्षों पूर्व यूरोप में ईसाई पादरियों के एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में एक लघु पुस्तिका प्रकाशित की गई थी, जिसमें हमारे पूरे समुद्री तट पर और विंध्य एवं सातपुडा की पहाडी श्रेणियों के बीच इधर से उधर तक ईसाई-प्रभाव के केंद्र आरंभ करने की विस्तृत योजना थी। यह दक्षिणी प्रायद्वीप को घेरकर उसे ईसाई वर्चस्व के अधीन लाने की योजना का प्रथम चरण था। फिर दूसरे प्रसार में हिमालय की संपूर्ण मेखला पर वर्चस्व करना था।

कुछ दिनों पूर्व वृत्त-पत्रों में एक भेद प्रकाशित हो गया था कि हमारे देश में ईसाई मिशन और मुस्लिम लीग में यह समझौता सन् १९४२-४४ के लगभग हुआ है कि दोनों को मिलकर काम करना चाहिए और आपस में देश का बँटवारा कर लेना चाहिए। इस बँटवारे के अनुसार, पंजाब और मणिपुर के बीच गंगा का संपूर्ण मैदान मुसलमानों का तथा दक्षिणी प्रायद्वीप और हिमालय ईसाइयों का था।

कुछ वर्ष पूर्व ईसाइयों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ था, जिसमें उनसे भारत में ईसाई साम्राज्य स्थापित करने का संकल्प कराया गया था। हमारे केंद्रीय मंत्रियों में से एक उन कार्यवाहियों को आशीर्वाद देने के लिए उपस्थित था।

इस प्रकार की भूमिका है हमारे देश में निवास करनेवाले ईसाई सज्जनों की। वे यहाँ हमारे जीवन के धार्मिक एवं सामाजिक तंतुओं को ही नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील नहीं हैं, वरन् विविध क्षेत्रों में और यदि संभव हो तो संपूर्ण देश में राजनीतिक सत्ता स्थापित करना चाहते हैं। वास्तव में जहाँ कहीं भी उन्होंने कदम रखा है, उनकी यही भूमिका रही है। यह सब उन्होंने जीसस क्राइस्ट के दैवी पंखों की छाया में मानव के बीच शांति एवं भ्रातृत्व लाने के आकर्षक परिधान में किया है।

जीसस ने अपने अनुयाइयों से कहा था कि अपना सब कुछ गरीब, अज्ञानी तथा दलित को दे डालने के लिए है, किंतु उसके अनुयाइयों ने व्यावहारिक रूप में यह किया कि वे जहाँ भी गए 'रक्त देनेवाले' सिद्ध न होकर 'रक्त चूसनेवाले' सिद्ध हुए। जहाँ इन तथाकथित क्राइस्ट के अनुयाइयों ने अपने उपनिवेश बनाए हैं, उन सभी देशों की क्या गति हुई है? जहाँ कहीं उन्होंने कदम रखा, वहाँ के निवासियों को लुप्त कर दिया। क्या हम वे हृदयद्रावी कहानियाँ नहीं जानते कि किस प्रकार उन्होंने अमरीका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के मूल निवासियों का समूल नाश किया। इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है? क्या हमें ईसाई मिशनरियों का अपने देश का भीषण अत्याचारी इतिहास ज्ञात नहीं है कि उन्होंने गोवा तथा अन्य स्थानों पर किस तरह से लोगों का उत्पीडन किया?

संत जेवियर के विषय में कहा जाता है कि उस समय वह अपने जीवन में परम आनंद का अनुभव करता था, जब नवीन धर्मांतरित जन अपने पूर्व के देवी-देवताओं को पैरों से कुचलते थे, मंदिरों को ढहाते थे तथा अपने ही माता-पिता और वृद्ध जनों को, जो हिंदू रह जाते थे, अपमानित करते थे। अभी अति निकट काल मे कांग्रेस शासन-काल के अंतर्गत केरल में सैकडों प्राचीन पवित्र हिंदू मंदिर अपवित्र किए गए तथा ईसाई शिल्प-भंजकों ने उनकी मूर्तियों को तोडा। इसमें शबरी मलाई का प्रसिद्ध मंदिर भी है। ये वही धर्मांध ईसाई हैं, जिन्होंने कन्याकुमारी में विवेकानंद शिला पर स्थापित पट्टिका को तोडा था। इस प्रकार के हैं ये लोग, जो हमें यह उपदेश देने आते हैं कि ईसाई धर्म मानवता पर शांति, मंगल एवं मानवीय दयालुता की वर्षा करेगा।

यहाँ जब तक ईसाई इस प्रकार की गतिविधियों में लगे हुए हैं और अपने को ईसाई धर्म के प्रसार के लिए अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन का एजेंट मानते हैं, अपनी इस जन्मभूमि के प्रति सर्वोच्च निष्ठा अर्पण करने से तथा अपने पूर्वजों के पैतृक दाय सस्कृति की सच्ची संतान के रूप में व्यवहार करने से इनकार तक वे यहाँ विदेशियों के रूप में रहेंगे उसी किया जाएगा।

१२ आंतरिक संकट कम्युनिस्ट

साम्यवाद के लिए भूमि की तैयारी

अंग्रेज के इस देश को छोडकर जाने के पश्चात् जब हम अपने राष्ट्र की भावी रचना को आकार देने के लिए स्वाधीन हुए, तो हमारे लिए विविध सिद्धांतों और वादों पर विचार-विमर्श करना एक महत्त्व की बात हो गई। निस्संदेह हमने पाश्चात्य ढग की जनतांत्रिक रचना को अपनाया है, किंतु क्या इतने वर्षो के प्रयोगों के पश्चात् हम उसके हितकर फलों को प्राप्त करने में समर्थ हो पाए हैं? जनता की सामूहिक इच्छा का प्रतीक बनने के बजाय इसने सब प्रकार की अस्वास्थ्यकर स्पर्धाओं, स्वार्थ एव विच्छेद की शक्तियों को बढावा दिया है।

हमारे देश में जनतत्र की गभीर असफलताओं में कम्युनिज्म की बढती हुई विभीपिका है, जो जनतांत्रिक विधान की मानी हुई शत्रु है। जनता के समक्ष की गई अपनी आर्थिक अपील में कम्युनिस्टों से कहीं पिछड न जाएँ, इस प्रयास में हमारे नेतागण कम्युनिस्टों की ही भाषा तथा कार्यक्रमों को अपनाकर कम्युनिज्म को अधिक सम्माननीय बना रहे हैं। यदि नेतागण यह समझते हैं कि इस प्रकार के चातुर्य से वे कम्युनिस्टों के पाल की हवा खींच लेंगे, तो यह उनकी बहुत बडी भूल है।

वे यह अनुभव करते हैं कि आर्थिक विकास ही कम्युनिज्म से रक्षा का एकमेव उपाय है। 'उच्चतर जीवन-स्तर' के आश्वासन की जनता के कानों में हो रही सतत घोपणा, ऐसे समय में उनकी अपेक्षाएँ बढाना जब वे सभवत सतुष्ट नहीं की जा सकती, विफलता के भाव की वृद्धि करना एव सामान्य जनता के लिए असतोप और अराजकता के मार्ग को प्रशस्त करना है। हमें देशभक्ति, चरित्र एव ज्ञान जैसे उच्चतर भावनाओं के लिए आह्वान कहीं भी सुनने को नहीं मिलता और न कहीं सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा नैतिक विकास पर ही बल दिया जाता है। इसी प्रकार के दुर्वल एव विफल मस्तिष्कों में कम्युनिज्म के बीज जल्दी जड पकडते हैं।

आग मे घी डालना

कम्युनिज्म की इस विभीपिका को रोकने का पाश्चात्य देशों का दृष्टिकोण भी यहाँ कम्युनिज्म के विस्तार के लिए प्रोत्साहन देने में अपना योगदान करता है। अमरीका का विश्वास है कि अधिकाधिक डालर-सहायता

कम्युनिज्म की समस्या का हल कर देगी। चीन के सबध में तथा अब वियतनाम में हुए अनुभवों ने स्पष्ट कर दिया है कि तदनुरूप राष्ट्रीय चारित्र्य एव आत्मविश्वास की निर्मिति के बिना इस प्रकार की सहायता का कोइ लाभ नहीं होगा। प्रत्येक आर्थिक सहायता के साथ होनेवाला उनका देशव्यापी प्रचार जनता की केवल आर्थिक सज्ञा को ही उत्तेजित करता है और उन पहलुओं से वचित रखता है, जो स्वतत्र एव जनतात्रिक जीवन के वास्तविक मेरुदड का निर्माण करते हैं।

पाश्चात्य जन इस विचित्र बुद्धि-विभ्रम से भी पीडित हैं कि यदि हमारे देश की कम्युनिज्म से रक्षा करनी है तो प्राचीन हिंदुत्व मिट ही जाना चाहिए। उन्हें लगता है कि केवल ईसाई पथ ही कम्युनिज्म की बाढ का प्रतिरोध कर सकता है। अर्नोल्ड टायनबी ने कम्युनिज्म का वर्णन 'ईसाई पाखडमत' कहकर किया था। आश्चर्य का विषय है कि वही आज यह कहने लगे हैं कि ईसाई पथ ही कम्युनिज्म के लिए एकमात्र उत्तर है।

ईसाई पथ उस समस्या का समाधान कैसे हो सकता है, जो स्वय उसी की त्रुटियों की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ है। जिनका यह विचार है कि इस मूर्तिपूजक देश की रक्षा ईसाई पथ ही कर सकता है, उन्हें कुछ रुककर यह सोचना होगा कि ईसाई-विश्व के सबसे कट्टर देश रूस ने ईसा मसीह का परित्याग क्यों किया? अपने देश में ही क्या स्पष्ट नहीं है कि केरल प्रात, जहाँ ईसाई जनसख्या का प्रभाव सर्वाधिक है, सबसे बडा कम्युनिस्ट क्षेत्र है। यदि पाश्चात्यों का यह विचार है कि हिंदुओं को ईसाई पथ में धर्मांतरित करने के लिए धन तथा जन उँडेलकर वे इस देश को कम्युनिज्म से बचा लेंगे, तो वे केवल आत्मघाती आत्मवचना से ही ग्रस्त हैं, क्योंकि ईसाइयत के प्रसार से समाज की प्राचीन श्रद्धाएँ और राष्ट्रीयता भग हो जाती है और जहाँ श्रद्धाएँ भग हो जाती हैं, वहीं कम्युनिज्म जड पकडता है। कम्युनिज्म के बढने का यही सबसे बडा मनोवैज्ञानिक तत्व रहा है।

निष्ठा के अभाव का परिणाम कम्युनिज्म

मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं रहता, उसकी कोई निष्ठाएँ भी होनी चाहिए जिनके लिए वह जीवित रहे और मरे। इसके बिना जीवन दिशा एव अर्थ से विहीन हो जाता है तथा मनुष्य इधर-उधर बहने लगता है। वह खोया हुआ सा अनुभव करता है। ऐसी अवस्था में अधिक समय

रहना प्राणी के लिए एक असभव-सी यात होती है। विज्ञान के उदयकाल तक यूरोपीय जन को ईसाई धर्म आवश्यक निष्ठा प्रदान करता था, किंतु विज्ञान ने उसे नष्ट कर दिया। फिर भी यूरोप को एक लगर खोने के पश्चात् अपनी नौका को स्थिर रखने के लिए दूसरा सहारा मिल गया था। धर्म से उसकी निष्ठा चली गई, किंतु विज्ञान में नवीन निष्ठा प्राप्त हो गई। वास्तव में विज्ञान यूरोप का नवीन धर्म हो गया। तब लोग विज्ञान को उसी प्रकार सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसंपन्न मानने लगे, जैसा किसी भी धर्म में ईश्वर के विषय में विचार किया जाता है।

परंतु कुछ शताब्दियों के पश्चात् विज्ञान ने अपने को उस रूप में अप्रमाणित करना आरभ कर दिया। वैज्ञानिक विश्व के सबध में अपने अज्ञान को स्वत स्वीकृत करने लगे। आधुनिक काल के सबसे बडे वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने भी एक ऐसे सत्य की सत्ता को स्वीकार किया है, जो भौतिक विज्ञानों की पहुँच के परे है। इस प्रकार वैज्ञानिक लोग विक्टोरिया युग के सर्वज्ञता के मनोभाव के स्थान पर यह अनुभव करने लगे कि उनके समक्ष ज्ञान का एक सपूर्ण सागर अज्ञात-सा पडा है और वे उसके तट पर ककड चुननेवालों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। विज्ञान-निष्ठा के इस अवसाद के पश्चात् पश्चिम का मनुष्य अज्ञात सागर में कर्णहीन नौका के समान हो गया। प्राचीन निष्ठाएँ मर चुकी थीं तथा नवीन प्रकाश में आ नहीं पाई थीं। निष्ठा की इसी रिक्तता की स्थिति में यह घटित हुआ कि उस अवकाश को पूर्ण करने के लिए कुछ ऐसे विश्वास आए, जिनमें सत्य एव शिव का आभास मात्र था। ऐसा ही एक विश्वास कम्युनिज्म था।

अत हमारी प्राचीन जीवनदात्री निष्ठा को उन्मूलित करनेवाला किसी भी दिशा से किया गया प्रयास हमारे राष्ट्रजीवन पर भीषण सकट को निमत्रण है, क्योंकि इसी विश्वास ने हमारे अस्तित्व को बनाए रखा और उसी ने मानव-सस्कृति के श्रेष्ठतम पुष्प उत्पन्न किए हैं।

प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण सदैव सकटापन्न

हमारे देश में कम्युनिज्म की विचारधारा को विफल करने के विविध प्रयत्न हो रहे हैं। कुछ लोग अनुभव करते हैं कि विनोबा जी द्वारा चलाया गया भूदान आदोलन कम्युनिज्म के समान यह घोष कि 'भूमि जोतनेवाले के लिए' तथा विनोबा जी के कुछ अदूरदर्शी अनुयाइयों द्वारा दी गई यह धमकी कि 'यदि तुम स्वेच्छा से नहीं दोगे, तो कम्युनिस्ट निश्चित रूप से

आएँगे और तुम्हारा सब कुछ बलात् हरण कर लेंगे' विपरीत प्रभावकारी सिद्ध होंगे। क्योंकि ये जनमानस में एक विचार अंकित करते हैं कि अतत कम्युनिज्म सही और अवश्यभावी है। यह कम्युनिज्म के लिए परोक्ष स्वीकृति होगी। इससे भी बढकर जनता में यह सशय उत्पन्न हो जाएगा कि इस प्रकार के सभी आदोलन, जो उनकी उन्नति के नाम पर चलाए जाते हैं, कम उत्साह के और वचनापूर्ण हैं। वे ऐसा कह सकते हैं— 'चूँकि अब कम्युनिस्ट आगे बढ रहे हैं, तुम इन सभी सुधारों और प्रतिज्ञाओं को लेकर आगे आना चाहते हो। हम स्पष्टवादी कम्युनिस्टों को अधिक पसद करेंगे। वे कम से कम प्रामाणिक और साहसी तो हैं। वे जो कुछ कहते हैं, उसका वही अर्थ होता है। इसलिए हम उनका विश्वास कर सकते हैं।' इस प्रकार अपेक्षाओं के विपरीत यह आदोलन कम्युनिस्टों के लिए मार्ग प्रशस्त कर सकता है। वास्तव में केवल कम्युनिज्म को निष्फल करने के दृष्टिकोण से कार्य करना सदैव सकटापन्न है। यथार्थ एव भावात्मक निष्ठा का पोषण ही जनता को कम्युनिज्म की हीन विचारधारा के आकर्षण से ऊपर उठा सकता है।

कुछ लोग हैं, जो समझते हैं कि जब तक आर्थिक असमानता बनी हुई है, तब तक कम्युनिज्म की वृद्धि अनिवार्य है, किंतु वास्तविकता यह है कि आर्थिक असमानता पारस्परिक घृणा का सही कारण नहीं है, जिसपर कम्युनिस्ट पनपा करते हैं। श्रम की महत्ता का विचार हमारे समाज के मन ने भली प्रकार ग्रहण नहीं किया है। उदाहरण के लिए— एक रिक्शावाला, जो प्रतिदिन तीन चार रुपए कमाता है 'ए' 'ओ' कहकर पुकारा जाता है और क्लर्क जो साठ रुपए मासिक वेतन पाता है 'बाबूजी' कहा जाता है। दृष्टिकोण की यही असमानता, जो हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों में फैली हुई है, घृणा को उत्पन्न करती है। यह है अधुनातन विपर्यास, जो हमारे जीवन में प्रविष्ट हो गया है। हमारे दर्शन में अपने कर्तव्य-कर्मों के पालन से किसी के उच्च-नीच होने का भाव नहीं है। प्रत्येक कार्य उसी सर्वशक्तिमान की समाज के रूप में पूजा है। यह भावना एक बार पुनरुज्जीवित करनी है।

मतपत्र द्वारा समाजवाद

हमारे देश में एक अन्य दिशा से कम्युनिज्म का सकट वास्तविक हो गया है और यह है हमारे शासन की वर्तमान नीति के द्वारा, जिसने समाजवाद को अपना लक्ष्य घोषित किया हुआ है, कम्युनिज्म के

सभी तत्त्व मौजूद हैं। उसमें केवल उन्हें प्राप्त करने के साधनों का ही अतर है। पहली बात यह है कि हमारे नेता कहते हैं कि वे समाजवाद को मतपत्र-पेटिका द्वारा प्राप्त करेंगे, चीन और रूस के समान गोली से नहीं। इसका केवल यही अर्थ होता है कि चीन और रूस के समाज में तथा हमारे समाज में एक अतर है। सभवत रूस और चीन के लोग जागृत तथा क्रियाशील थे। इसीलिए उन्हें गोली से दबाया गया। यहॉ हमारे लोग नम्र वीरपूजक हैं। यदि राष्ट्रसेनानी आता है और कहता है 'मेरे प्यारे मित्र आओ, गर्दन झुकाओ, मैं तुम्हारा सिर काटना चाहता हूँ।' हमारे लोग निश्चय ही आगे आकर झुक जाएँगे और अपने को सिर काटने हेतु अर्पण कर देंगे? इस प्रकार के विनीत लोगों के लिए गोली की क्या आवश्यकता? मतपत्र-पेटिका पर्याप्त है। यदि नेता कहता है– 'समाजवाद के लिए मतदान करो' लोग समाजवाद के लिए मतदान करेंगे। यदि कल उन्हें पता लगेगा कि समाजवाद के पक्ष में मतदान करने से उनकी स्वाधीनता चली गई तथा व्यक्ति के रूप में वे एक यत्र के निर्जीव अग मात्र रह गए हैं, तो वे इसे भाग्य का विधान मानकर स्वीकार कर लेंगे।

हमारे लोग मुसलमानी शासन को एक हजार वर्ष से अधिक काल तक इस सीमा तक स्वीकार किए रहे कि आज भी हमें ऐसे कुछ लोग यह कहते हुए मिलते हैं कि मुसलमान महान एव सत पुरुष थे। कुछ तो यहॉ तक कहते हैं कि हमें हैदरअली, जिसने अपने हिंदू राजा को जेल में डालकर उसका सिहासन हडप लिया था, की तथा उसके पुत्र टीपू की प्रतिमा खडी करनी चाहिए, जिसने बलात् अनगिनत हिंदुओं को मुसलमान बनाया, बहुत से मदिर ढाए तथा अनेक स्त्रियों को सताया। अब भी इस सीमा तक हमारा बुद्धिभ्रम बना हुआ है। जब अग्रेज आया तब कुछ लोगों ने कहा– 'वे तो स्वर्ग से भेजे गए हैं।' कुछ यहॉ तक बोले कि 'भविष्य पुराण में भविष्यवाणी की जा चुकी है कि हमारे देश पर विकटेश्वरी नाम की रानी शासन करेगी। वह महारानी विक्टोरिया के अतिरिक्त और कोई नहीं है।' इस प्रकार के विनम्र लोगों के लिए थोडा-सा प्रचार ही पर्याप्त है।

जान बनियन के 'दि पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' में यात्री को एक दैत्य पकड लेता है। वह दैत्य सीधे ही उसकी हत्या करना चाहता है, किंतु अपनी पत्नी के उपदेश से उससे आत्महत्या करने के लिए अनुरोध करता है। दैत्य कहता है– 'तुम जीवन के इन सब कष्टों को क्यों भोग रहे हो? आत्महत्या से अधिक आनददायी और कुछ नहीं है। तुम जो चाहो चुन लो, चाकू,

फॉसी या विष और अपने कष्टपूर्ण जीवन का अत कर डालो तथा सदैव के लिए इस भार से मुक्त हो जाओ।' वह उस यात्री को ऐसा समझा देता है कि वह आत्महत्या करने को उद्यत हो जाता है। ठीक उसी समय एक मित्र यात्री को सलाह देता है और उस जाल में फॅसने से रोकता है। फलितार्थ यह है कि भोले और विनम्र लोगों के लिए थोडा-सा अनुनय गोली का काम करता है।

अनिष्ट सूचना

हम देखते हैं कि समाजवाद के नाम पर यहॉ जो कुछ हो रहा है, सभी उपाय, जिनका हम यहॉ प्रयोग करते हैं, चीन में घटित हुई चीजों की सशोधित प्रतिलिपि मात्र हैं। केवल अतर इतना ही है कि चीन में ये परिणाम पाशवी हिसा के द्वारा प्राप्त किए गए, जबकि वही चीजें यहाँ परिष्कृत प्रचार के द्वारा की जा रही हैं। यदि हम दोनों देशों के प्रशासनिक कार्यो की तुलना करेंगे तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा। जब वर्तमान कम्युनिस्ट सरकार ने चीन में प्रथम बार सत्ता ग्रहण की तो उन्होंने अपनी एकछत्र सत्ता के लिए किसी चुनौती को नहीं चाहा। अत उन्होंने पुराने सरदारों, रजवाडों तथा उद्योगपतियों को समाप्त किया और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया। उन्होंने बडे जमींदारों और अत में छोटे जमींदारों तथा कृषकों को भी समाप्त कर दिया।

यहॉ भी जमींदारी-उन्मूलन हो चुका है। अब सत्रहवॉं सशोधन आया है, जिसके द्वारा एक छोटे से छोटा कृषक, जिसके पास आधे एकड भी भूमि है, भी 'एस्टेट-होल्डर' माना जाएगा और सरकार को अधिकार होगा कि उसकी सपत्ति को वस्तुत बिना प्रतिफल दिए ही ले ले। सरकारी खेती, सामूहिक खेती, बैंकों और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तथा इसी प्रकार के समाजवादी मतवाद वातावरण में हैं। यह सब कुछ एक प्रकार से प्रत्येक पग पर चीन के मार्ग का ही अनुसरण है। हम चीन के साथ के निकट साम्य को देखने का प्रयत्न करें तथा अति स्पष्ट अनिष्ट सूचना को पढें और केवल दास एव उस व्यवस्था के औजार बन जाने की स्थिति को प्राप्त होने से पूर्व ही चेत जाएँ।

इससे भी आगे यदि विचार करें तो समाजवाद इस मिट्टी की उपज नहीं है। यह हमारे रक्त एव परपराओं में नहीं है। हमारे सहस्रों वर्ष प्राचीन राष्ट्रजीवन की परपराओं एव आदर्शों से इसका कोई सबध नहीं। यहाँ के

हमारे करोड़ों लोगों के लिए यह विचार परकीय है। ऐसा होने के कारण इसमें हमारे हृदयों को पुलकित और समर्थ एव चारित्र्यसपन्न जीवन के लिए प्रेरित करने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के आदर्श की आवश्यकता पूर्ण करने की प्रारभिक योग्यता भी नहीं है।

सब प्रकार से अयोग्य

अतत जैसा हम देख चुके हैं समाजवाद (वैसा ही, जैसा कम्युनिज्म अपने मूल रूप में है, क्योंकि रूस भी अपने को 'समाजवादी राज्य' ही कहता है) वर्ग-सघर्ष के सिद्धात में सराबोर एक प्रतिक्रिया के रूप में पैदा हुआ था, रूस को भी लाभान्वित करने में असफल हुआ। सिद्धात के रूप में बहुत पूर्व इसका विस्फोट हो चुका था और अब व्यवहार में विस्फोट हो चुका है।

आजकल हमारे नेता समाजवाद के घातक दोष, अर्थात् व्यक्ति को एक जीवमान सत्ता के रूप में मिटाने के दोष पर 'जनतान्त्रिक समाजवाद', 'समाजवादी जनतन्त्र' जैसे घोषों को गढकर परदा डालने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में जनतत्र और समाजवाद की दोनों कल्पनाएँ परस्पर विरोधी हैं। समाजवाद जनतन्त्रात्मक नहीं हो सकता और जनतत्र समाजवादी नहीं हो सकता। जैसा हम विचार कर चुके हैं, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य जनतत्र का प्रथम विश्वास है, जबकि यह समाजवाद का पहला शिकार है। जनतत्र में व्यक्ति के गौरव को उच्च स्थान दिया जाता है, जबकि समाजवाद में वह केवल पहिए का एक दाँत है, उस भीषण यत्र का, जिसे हम 'राज्य' कहते हैं, केवल एक निर्जीव पेंच।

राष्ट्र की प्रतिभा को पुनरुज्जीवित करो

इस प्रकार अग्रेज के छोड जाने के पश्चात् हम अपने को एक भ्रमित दशा में विदेशी सिद्धातों एव वादों में से प्रत्येक का कुछ न कुछ ग्रहण करने के प्रयत्न में पाते हैं। यह उस देश के लिए अत्यत अपमानकारक है, जिसने एक ऐसे सर्वग्राही दर्शन को जन्म दिया है, जिसमें राष्ट्रजीवन के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के लिए वास्तविक एव स्थायी आधार प्रदान करने का सामर्थ्य है। यह विश्वास करना हमारी मेधा एव मौलिकता का शुद्ध दिवालियापन होगा कि पश्चिम

फाँसी या विष और अपने कष्टपूर्ण जीवन का अंत कर डालो तथा सदैव के लिए इस भार से मुक्त हो जाओ।' वह उस यात्री को ऐसा समझा देता है कि वह आत्महत्या करने को उद्यत हो जाता है। ठीक उसी समय एक मित्र यात्री को सलाह देता है और उस जाल में फँसने से रोकता है। फलितार्थ यह है कि भोले और विनम्र लोगों के लिए थोडा-सा अनुनय गोली का काम करता है।

अनिष्ट सूचना

हम देखते हैं कि समाजवाद के नाम पर यहाँ जो कुछ हो रहा है, सभी उपाय, जिनका हम यहाँ प्रयोग करते हैं, चीन में घटित हुई चीजों की सशोधित प्रतिलिपि मात्र हैं। केवल अतर इतना ही है कि चीन में ये परिणाम पाशवी हिंसा के द्वारा प्राप्त किए गए, जबकि वही चीजें यहाँ परिष्कृत प्रचार के द्वारा की जा रही हैं। यदि हम दोनों देशों के प्रशासनिक कार्यों की तुलना करेंगे तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाएगा। जब वर्तमान कम्युनिस्ट सरकार ने चीन में प्रथम बार सत्ता ग्रहण की तो उन्होंने अपनी एकछत्र सत्ता के लिए किसी चुनौती को नहीं चाहा। अत उन्होंने पुराने सरदारों रजवाडों तथा उद्योगपतियों को समाप्त किया और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया। उन्होंने बडे जमींदारों और अत में छोटे जमींदारों तथा कृषकों को भी समाप्त कर दिया।

यहाँ भी जमींदारी-उन्मूलन हो चुका है। अब सत्रहवाँ सशोधन आया है, जिसके द्वारा एक छोटे से छोटा कृषक, जिसके पास आधे एकड भी भूमि है, भी 'एस्टेट-होल्डर' माना जाएगा और सरकार को अधिकार होगा कि उसकी सपत्ति को वस्तुत बिना प्रतिफल दिए ही ले ले। सरकारी खेती, सामूहिक खेती, बैंकों और उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तथा इसी प्रकार के समाजवादी मतवाद वातावरण में हैं। यह सब कुछ एक प्रकार से प्रत्येक पग पर चीन के मार्ग का ही अनुसरण है। हम चीन के साथ के निकट साम्य को देखने का प्रयत्न करें तथा अति स्पष्ट अनिष्ट सूचना को पढें और केवल दास एव उस व्यवस्था के औजार बन जाने की स्थिति को प्राप्त होने से पूर्व ही चेत जाएँ।

इससे भी आगे यदि विचार करें तो समाजवाद इस मिट्टी की उपज नहीं है। यह हमारे रक्त एव परपराओं में नहीं है। हमारे सहस्रों वर्ष प्राचीन राष्ट्रजीवन की परपराओं एव आदर्शों से इसका कोई सबध नहीं। यहाँ ये

हमारे करोड़ों लोगों के लिए यह विचार परकीय है। ऐसा होने के कारण इसमें हमारे हृदयों को पुलकित और समर्थ एवं चारित्र्यसंपन्न जीवन के लिए प्रेरित करने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इसमें हमारे राष्ट्रीय जीवन के आदर्श की आवश्यकता पूर्ण करने की प्रारंभिक योग्यता भी नहीं है।

सब प्रकार से अयोग्य

अतः जैसा हम देख चुके हैं समाजवाद (वैसा ही, जैसा कम्युनिज्म अपने मूल रूप में है, क्योंकि रूस भी अपने को 'समाजवादी राज्य' ही कहता है) वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत में सराबोर एक प्रतिक्रिया के रूप में पैदा हुआ था, रूस को भी लाभान्वित करने में असफल हुआ। सिद्धांत के रूप में बहुत पूर्व इसका विस्फोट हो चुका था और अब व्यवहार में विस्फोट हो चुका है।

आजकल हमारे नेता समाजवाद के घातक दोष, अर्थात् व्यक्ति को एक जीवमान सत्ता के रूप में मिटाने के दोष पर 'जनतांत्रिक समाजवाद', 'समाजवादी जनतंत्र' जैसे घोषों को गढ़कर परदा डालने का प्रयास कर रहे हैं। वास्तव में जनतंत्र और समाजवाद की दोनों कल्पनाएँ परस्पर विरोधी हैं। समाजवाद जनतंत्रात्मक नहीं हो सकता और जनतंत्र समाजवादी नहीं हो सकता। जैसा हम विचार कर चुके हैं, व्यक्ति-स्वातंत्र्य जनतंत्र का प्रथम विश्वास है, जबकि यह समाजवाद का पहला शिकार है। जनतंत्र में व्यक्ति के गौरव को उच्च स्थान दिया जाता है, जबकि समाजवाद में वह केवल पहिए का एक दाँत है, उस भीषण यंत्र का, जिसे हम 'राज्य' कहते हैं, केवल एक निर्जीव पेंच।

राष्ट्र की प्रतिभा को पुनरुज्जीवित करो

इस प्रकार अंग्रेज के छोड़ जाने के पश्चात् हम अपने को एक
दशा में विदेशी सिद्धांतों एवं वादों में से प्रत्येक का कुछ न कुछ ग्रहण
[illegible] में पाते हैं। यह उस देश के लिए अत्यंत अपमानकारक है,
[illegible] को जन्म दिया है, जिसमें राष्ट्रजीवन के
[illegible] तथा अन्य सभी क्षेत्रों के पुनर्निर्माण के
[illegible] करने का सामर्थ्य है। यह विश्वास
[illegible] शुद्ध दिवालियापन होगा कि पश्चिम

के वर्तमान सिद्धांतों और वादों में मानव की मेधाशक्ति अपनी चरम उच्चता पर पहुँच चुकी है। इसीलिए हमें अपने जीवन-पथ का विकास अपने प्राचीन ऋषियों द्वारा आविष्कृत तर्क, अनुभव एव इतिहास की कसौटी पर कसे हुए सत्य के आधार पर ही करना चाहिए।

ꠋꠋꠋ

हमारा कर्तव्य है कि अपने इन परित्यक्त भाइयो जो शताब्दियो से धार्मिक दास्य के क्लेश को भोग रहे है को पुन अपने पूर्वजो के घर बुला लाएँ। ईमानदार स्वतत्रताप्रिय मनुष्यो की भाँति वे भी दास्य तथा आधिपत्य के सभी चिह्नो को उतार फेके और वश-परपरानुगत भक्ति एव राष्ट्रीय जीवन की रीतियो का अनुसरण करे। सभी प्रकार की दासता हमारी प्रकृति के प्रतिकूल है। अत उसे त्याग देना चाहिए। यह उन सभी भाइयो के लिए आह्वान है कि वे हमारे राष्ट्र-जीवन मे अपना मूल स्थान ग्रहण करे और हमारे समाज के इन लौटे हुए भटके हुए पुत्रो के पुन आगमन पर हम महान दीपावली का पर्व मनाएँ।

— श्री गुरुजी

तृतीय भाग वैभव का मार्ग

१ ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति

अपने सगठन के सस्थापक सघ के उद्देश्य को इस एक छोटे से सारगर्भित वाक्य में रख दिया करते थे कि 'हमें अपने हिंदू-समाज को सगठित कर इतना शक्तिशाली बनाना है कि पृथ्वी पर कोई भी शक्ति इसपर कुदृष्टि न डाल सके।' इस महान समाज के सभी पुत्रों के कधों पर यह सबसे महत्त्व का उत्तरदायित्व आया हुआ है।

कृतज्ञता का हमारा ऋण-भार

हम ऐसा क्यों कहते हैं कि अपने समाज को सगठित करने के इस पवित्र कार्य हेतु अपने-आपको समर्पित करने के लिए हम कर्तव्य-बद्ध हैं? क्योंकि हम सबने इस समाज में जन्म लिया है और इसी में हमारा पालन-पोषण हुआ है। हमारे व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन की सुखमयता एव सुरक्षा इस समाज में जन्म लेने के कारण सभव हुई है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचार भी है। हमारा एक प्राचीन तथा अमर समाज है, जिसने जीवन के सभी क्षेत्रों मे महानतम व्यक्तियों को जन्म दिया है तथा सर्वोत्कृष्ट दर्शन एव पवित्रतम सामाजिक मानदडों को विकसित किया है। जगत् पर उस महानता की छाप आज तक भी देखी जा सकती है। अन्य लोग इस भूमि के एक पुत्र– राम, कृष्ण और शकराचार्य की सतति के रूप में उल्लेख करते हैं, जिसके रक्त में उन सब प्रख्यात पूर्वजों के गौरवमय कीर्तिमान गुणों की धारा प्रवाहित है, जो ज्ञान तथा कर्तृत्व के प्रत्येक क्षेत्र के जगद्गुरु रहे हैं।

यह सब प्रकट करता है कि हिंदू-समाज में हमारे जन्म ने हमें एक सुखदायी शारीरिक अवलब के अतिरिक्त यह सब अनुपम प्रतिष्ठा प्राप्त

कराई है तथा हमारे लिए आत्माओं द्वारा किए उन्नत शिखरों पर पहुँचने का मार्ग प्रशस्त किया है।

इस प्रकार हम कितने ही रूपों में अपने समाज के अमिट ऋणी हैं। इस अवस्था में क्या हमारे लिए यह योग्य है कि हम इसके प्रति अपने कर्तव्यपालन की चिंता किए बिना इसके पुण्यों तथा फलों का उपभोग मात्र करते रहें। हमारे शास्त्रों में यह कहा गया है कि एक मनुष्य को उतने पर ही निर्भर रहना चाहिए, जितना उसके पास समाज को समर्पित करने के पश्चात् शेष रहता है। इस प्रकार हमारा प्रथम कर्तव्य यह है कि हम अपने को कृतज्ञता के उस ऋण-भार से मुक्त करें। इसी में हमारे जीवन की सार्थकता है।

हम सेवा कैसे करें?

अब वह कौन-सा साधन है, जिससे हम उस ऋण को चुका सकते हैं? एक यथार्थ भक्त परमेश्वर से कहता है– 'हे भगवान! मैं तेरी पूजा कैसे करूँगा? पुष्प, चंदन तथा जल– सब तेरे ही तो हैं। तू ही तो उस दीपक की दीप्ति है, जिससे मैं तेरी आरती करता हूँ। सब कुछ तेरा ही है। जो कुछ तूने मुझे दिया है, उसको ही तेरे चरणों में अर्पित कर तेरा दीनतम सेवक बने रहने के अतिरिक्त मेरे पास और रास्ता ही क्या है?' प्राचीनकाल से ही अपने समाज को ईश्वर का जीवंत स्वरूप वर्णित किया गया है। हमें भी उस स्वरूप को अपना इष्ट देवता स्वीकार करना चाहिए तथा अपने ऋण-भार से मुक्ति के लिए, जीवन-भर उसकी सेवा करने का निश्चय करना चाहिए।

सेवा के अनेक तथा विभिन्न प्रकार संभव हैं। भूखे को भोजन देना, अज्ञानी को ज्ञान देना, रोगी को औषधि देना– ये सब सेवा के प्रकार हैं, अर्थात् यथार्थ सेवा से तात्पर्य है कि जिसकी सेवा करना है, उसमें जो कमी है, उसे दूर करना। आज हमारा समाज अज्ञानता, गरीबी, छुआछूत, अनैतिकता आदि का एक अति पीडादायी चित्र प्रस्तुत करता है। हम उन अनेक प्रयासों को भी देखते हैं जो इन कमियों को दूर करने के लिए व्यक्तियों द्वारा सदुद्देश्य से किए जा रहे हैं। यह स्वाभाविक भी है कि हममें उनके प्रति सद्भावना उत्पन्न हो, परंतु प्रश्न यह है कि क्या हम इन प्रयासों को सेवा का वही सही प्रकार कह सकते हैं, जिसकी हमारे समाज को आज अतीव आवश्यकता है? क्या वे हमारे समाज का अनंत स्थायी कल्याण कर

सकेंगे? शरीर पर एक के बाद एक उठते हुए फोड़े का उपचार एवं मल्हम-पट्टी करना व्यर्थ होगा, जब रक्त ही दूषित हो गया हो। जब मूल कारण का उपचार किया जाएगा, तभी व्याधि दूर होगी।

विगत तथा वर्तमान का चित्र

क्या यह सत्य है कि हमारे समाज में पूर्वकाल में भी दैन्य और दारिद्र्य उसी रूप में विद्यमान था, जिस रूप में आज देखने को मिलता है? पर इतिहास एक बिल्कुल भिन्न कहानी प्रस्तुत करता है। कुछ विदेशी यात्री, जो पूर्वकाल में यहाँ आए थे, उन्होंने यहाँ जो पाया, उसका आँखों-देखा हाल लिखा है। उनके लेख, जो आज विद्यमान हैं, बताते है कि 'जन-समाज यहाँ सुखी और संतुष्ट है। यहाँ कोई निराश्रयी तथा भिखारी नहीं है। लोग जब तीर्थ-यात्रा पर बाहर जाते हैं, तब चोरी का किंचित् मात्र भय न रखते हुए वर्षों के लिए अपने मकानों को ताला लगाए बिना छोड़ जाते हैं। नैतिक पथभ्रष्टता की बहुत कम घटनाएँ होती हैं। वे सब अपने व्यवहार में अत्यंत धर्मपरायण, उदार तथा विश्वसनीय हैं। वे एक पौरुषेय, सामर्थ्यवान जाति है। धनी और बुद्धिमान है।' उन विदेशी दर्शकों का इतना देदीप्यमान वर्णन लिखने के पीछे कोई दूर का मन्तव्य नहीं हो सकता था। हमारे देश में कोई लौह-आवरण भी नहीं था, जैसा कि आजकल रूस या चीन में है। वे कई वर्षों तक देश के चारों कोनों में मनचाहे ढंग से इधर-उधर घूमते रहे। इसलिए उन उल्लेखों को बिना किसी संदेह के विश्वसनीय मानना चाहिए।

ऐसा नहीं है कि हमारे समाज ने केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही ख्याति प्राप्त की थी और दैनिक व्यावहारिक जीवन के अन्य क्षेत्रों की ओर दुर्लक्ष्य किया था। प्रामाणिक प्राचीन आलेखों ने निःसंदिग्ध रूप से यह प्रकट कर दिया है कि विज्ञान और कला की प्रत्येक शाखा में हम बाकी दुनिया से कई शताब्दियाँ आगे थे। दो सहस्र वर्ष पुराना चमकता हुआ अशोक स्तंभ, जिसको किंचित् भी जंग न लगा, आज भी धातुशोधन की एक अपराजित चुनौती है।

पुरानी पुस्तकों तथा विदेशी आलेखों में भी एक घटना का उल्लेख है। एक रोमन शासक एक विचित्र रोग से पीड़ित हुआ, जो उसके राज्य में किसी के द्वारा ठीक न किया जा सका। उसने हमारे देश से सहायता माँगी, जो उस समय औषधि विज्ञान में निष्णात माना जाता था। हमारा

एक राजवैद्य वहाँ गया। उसने उसकी खोपडी खोली और उसके मस्तिष्क की शल्यक्रिया की। राजा का रोग ठीक हो गया। वह राजवैद्य उन लोगों को वह विज्ञान सिखाने के लिए वहाँ और तीन वर्ष रहा तथा उच्च सम्मान प्राप्त कर लौटा। यह स्मरण रखना चाहिए कि शल्यशास्त्र की वर्तमान प्रगति की अवस्था में भी मस्तिष्क की शल्यक्रिया एक अत्यत गभीर खतरे की विधि समझी जाती है।

हम कभी घर के लिए व्याकुल लोगों में से नहीं थे। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उद्घोष के साथ हमारे सत-महात्माओं ने ससार के चारों कोनों में भ्रमण किया। हमारा कल्याणकारी प्रभाव पृथ्वी के विशाल खडों में फैला हुआ था और हमारी पताका अनेक देशों में फहराती थी। दूर देशों से यात्री हमारे वैभव का दर्शन प्राप्त करने आया करते थे। उन दिनों की हमारी जाति की सास्कृतिक-विजय क्षमता की साक्ष्य देनेवाले मदिर एव मूर्तियाँ, चित्रकला एव नक्काशी, भाषा एव आचार-व्यवहार, महाकाव्य तथा लोकगीत, साहित्य एव कला के अगणित जीवत एव भव्य प्रमाण उन सब देशों में खडे हुए हैं। मुसलमानों का 'अर्द्धचद्र और तारा' हमारे ओंकार– 'ॐ' का ही एक अश है। यह सत्य नहीं है कि हमारे पूर्वजों ने केवल बुद्ध के जन्म के बाद ही अपने देश से बाहर जाना प्रारभ किया था। हमारे धर्म-विस्तारक इससे पूर्व भी अमरीका पहुँच चुके थे। बौद्ध भिक्षुओं ने तो केवल उस परपरा का अनुसरण किया था। घर में और विदेशों में भी हमने एक प्रतापी और साथ ही साथ एक उदार जाति के रूप में श्रेष्ठता प्राप्त की थी।

फिर अपने देश में यह वर्तमान घृणित अवस्था क्यों? इस धन-धान्यपूर्ण और सस्कृति के देश में दु ख-दारिद्रय तथा अधर्म का पिशाच किस प्रकार घुस आया? क्या कारण है कि एक समय की जगन्माता भारत, जिसने कभी अनेकों निष्कासित जातियों को आश्रय एव सुरक्षा प्रदान की थी, आज ससार की गलियों की भिखारिन बन गई है? आज हम विदेशियों के द्वारों पर केवल अन्न और धन के लिए ही नहीं, तो आदर्शो एव जीवन-मूल्यों की भी भीख माँगते फिरते हैं। इस प्रकार हम समस्त ससार के सामने अपनी बुद्धिमत्ता तथा मौलिकता के दिवालिएपन का प्रदर्शन कर रहे हैं। फिर इस दैन्य और अधोगति की पतित स्थिति की जड में क्या रहस्य छिपा हुआ है?

क्या विदेशी उत्तरदायी हैं?

गत कुछ दशाब्दियों के अनेक विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं

कि गत सहस्र वर्षो की हमारी दासता इस पतन का प्रधान कारण है। उन्होंने इतिहास में पढ़ा था कि मुसलमान आक्रमणकारियों, जो यहाँ शासक बनकर बस गए थे, ने हमारे राष्ट्रीय श्रद्धा और सम्मान के बिंदुओं का योजनानुसार विनाश किया था। उन्होंने हमारी स्त्रियों का शीलभंग किया, मंदिरों तथा तीर्थस्थानों को खंडित किया और बहुत बड़ी संख्या में लोगों का तलवार की धार पर अथवा भौतिक सुखों का प्रलोभन देकर धर्म-परिवर्तन किया। नए धर्मावलंबियों ने भी अपने राष्ट्रीय बंधों के टूट जाने के कारण विदेशी आक्रामकों के उसी बर्बर शासन तथा उन्हीं घृणित कृत्यों को जारी रखा।

अंग्रेज, जो बाद में आए, अधिक कुटिल, मगर शिष्ट थे। उन्होंने खुलेआम तोड़फोड़ एवं भ्रष्ट करने का रास्ता नहीं अपनाया। उन्होंने अपने धूर्ततापूर्ण प्रचार द्वारा परंपरागत चली आई श्रद्धा तथा राष्ट्रीय एकता को नष्ट करने की चेष्टा की। उन्होंने एक विशेष शिक्षा-पद्धति आरंभ की, जिसका लक्ष्य हमारे लोगों की राष्ट्रीय, सांस्कृतिक तथा पौरुष की भावनाओं का उन्मूलन कर अपने साम्राज्य को पुष्ट करना मात्र था। अपने शिक्षित कहलाए जानेवाले लोग उनके कपट के शिकार हो गए तथा गोरे लोगों के रीति-रिवाजों तथा विचारों की नकलकर जो कुछ अपना था, उसका उपहास करने लगे। इस प्रकार मातृभूमि की परंपराओं की मिट्टी से उखड़कर हमारा राष्ट्रजीवन अधर्म तथा दुर्गुण की दुर्गंध छोड़ता हुआ क्षीण होने तथा मुरझाने लगा। उनके सामने गत सहस्र वर्षों के विदेशी प्रभुत्व का यह धूमिल चित्र होने के कारण, वे विचारक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि केवल इस विदेशी जुए को उतार फेंकना पर्याप्त है। उन्होंने इसका प्रयास भी प्रारंभ कर दिया। यह बिल्कुल स्वाभाविक भी था।

परंतु समस्या यहीं समाप्त नहीं हो जाती, यह प्रश्न बना ही रहता है कि विदेशी यहाँ पैर जमाने में किस प्रकार सफल हो गए? क्या यह बात सत्य है कि वे आक्रामक इस विशाल देश को केवल अपनी अधिक योग्यता के आधार पर पराजित एवं शासित कर सके? नहीं। हमारे इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर यह स्पष्ट अक्षरों में लिखा हुआ है कि हमारी जाति जनसंख्या, सेना नीतिज्ञता, पराक्रम, ऐश्वर्य, बुद्धिमत्ता, ज्ञान आदि प्रत्येक गुण, जिनसे किसी भी जाति को निश्चित विजय प्राप्त होती है, में आक्रामकों की तुलना में अधिक श्रेष्ठ थी।

हमारा अपनी मातृभूमि में स्वतत्र तथा ऐश्वर्यशाली राष्ट्रीय जीवन था। हमारी एक अनूठी सामाजिक व्यवस्था और अतीव विकसित राजनीतिक सस्थाएँ थीं। उन दिनों के हमारे राजनीतिज्ञों को राज्य-प्रशासन के सिद्धांतों की गहरी पकड थी। कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक ऐसा ग्रथ है, जिसकी बराबरी का ससार के समस्त राजनीतिक साहित्य में दूसरा एक भी ग्रथ मिलना कठिन है। यह छोटा-सा ग्रथ वास्तव में ऐसे विचारों का कोष है, जिनकी स्वाभाविक एव स्थायी श्रेष्ठता देश तथा काल की सभी सीमाओं से परे है। यह एक पुस्तक में सकलित शुष्क ज्ञान मात्र नहीं है, बल्कि उन दिनों के वास्तविक राज्य-शासन का एक जीवत तथा व्यावहारिक मार्गदर्शक ग्रथ है। हमारी सेनाओं की आघाती-शक्ति बाहर से आनेवाले आक्रमणकारियों के लिए भयकारक थी। वास्तविकता यह है कि हमने पहले शकों और हूणों के बर्बर समूहों को खदेड दिया था और जो लोग यहाँ रह गए थे, उनको अपनी सर्वग्राही सस्कृति में समाविष्ट कर लिया था।

तथाकथित 'विश्वविजेता' यूनान के सिकदर को भी यही सब कुछ भोगना पडा था। पाश्चात्यों द्वारा लिखित हमारी इतिहास की पुस्तकों में हमें पढाया जाता है कि 'सिकदर महान' ने हमारे देश को जीत कर भी हमें वापस दे दिया। वह सिकदर, जो ईरान में अत्याचार करके फूला नहीं समा रहा था और जिसने विजय के उन्माद में जहाँ भी कदम रखा, वहीं सर्व प्रकार के बर्बर अनाचार किए थे, भारत की भूमि पर कदम रखते ही उदार व्यक्ति कैसे बन गया? हमसे आशा की जाती है कि हम ऐसे 'इतिहास' में विश्वास करें।

ससार को आज तक एक उदार पाश्चिमात्य विजेता देखने के लिए मिलना शेष है। लगभग दो सहस्र वर्ष की बहुप्रशसित ईसाई-शिक्षा के बाद भी उनके द्वारा पश्चिम के जीते हुए राष्ट्रों में अपने ईसाई भाइयों के प्रति दिखाई 'उदारता' की कथाओं को पढकर रोंगटे खडे हो जाते हैं। इतिहास द्वारा प्रकट किया हुआ तथ्य यह हे कि सिकदर हमारे छोटे पर्वतीय सरदारों के ध्वसकारी प्रहारों को ही झेल नहीं सका और उसे अपनी जीवनरक्षा के हित में भाग जाना पडा। फिर भी वह हमारे एक योद्धा के खतरनाक तीर से बच न सका। प्राणघातक रूप में घायल होकर और उसी मार्ग से पीछे हटने का खतरा न मोल लेने के विचार से उसने दूसरा मार्ग अपनाया।

परतु वह केवल ईरान में वावुल तक पहुँच सका। अत में वहीं उसकी कब्र वनी। सेल्यूकस द्वारा एक अन्य यूनानी आक्रमण भी मगध के महाराजाधिराज चद्रगुप्त द्वारा कुचल दिया गया।

एक विभाजित गृह

तथापि, उस समय तक हमारे राष्ट्रीय ऐक्य में धीरे-धीरे शिथिलता आनी प्रारभ हो गई थी। 'महाभारत' के विराट युद्ध के पश्चात् के लबे शाति काल में समस्त राष्ट्र पूर्ण सुरक्षा की भावना के कारण एक प्रकार की मूर्छा को प्राप्त हो गया था। ऐक्य की प्रवृत्ति, जो आनेवाले समान खतरे की चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न होती है, शताब्दियों के कालातर में मद पड गई और एक राष्ट्र होने की जीवत चेतना धीरे-धीरे अनजाने में कम होती गई, जिसके फलस्वरूप छोटे-छोटे स्वतत्र राज्य वनते चले गए और राष्ट्र कमजोर हो गया। राजपद जनता की निष्ठा का आधार वन गया और उसने राष्ट्रीय भावना का स्थान ले लिया। परस्पर विद्वेष तथा विभिन्न राज्यों में स्पर्द्धा ने उनके सवधों को दूषित कर दिया और इस प्रकार हमारा राष्ट्र अपने में ही विभाजित हो गया। राजाओं पर अपनी व्यक्तिगत शान-ओ-शौकत तथा प्रतिष्ठा का नशा चढ गया था। वे शत्रु तथा मित्र की पहचान करने की क्षमता खो बैठे थे। हम राष्ट्रीय सुरक्षा के इस प्रथम पाठ को भी भूल गए कि जिस शत्रु ने हमारी भूमि के एक हिस्से को लूटा है, वह किसी दिन इस पूरी भूमि को लूटेगा तथा राष्ट्रीय स्वतत्रता अविभाज्य है। हम यह भी भूल गए कि इसका परिणाम हमारे स्वय के तथा सभी के लिए घातक होगा और वे सव चीजें, जिससे हमें लगाव है तथा जो हमारे लिए पवित्र हैं, हमारी सारी धन सपत्ति एव समृद्धि धूल में मिल जाएगी। जो शत्रु पहले हमारे सामर्थ्य के सामने कॉपते थे, वाद में 'सम्माननीय अतिथि' के रूप में आए और हमारे विजेता तथा शासक वन गए।

हमारा देश मुस्लिम आक्रमण के सामने किस प्रकार पराजित हो गया— इसकी दर्दनाक कहानी हमारे सामने है। अपने पैगवर की मृत्यु के एक शताब्दी के अदर ही मुसलमानों ने लगभग सपूर्ण दक्षिणी यूरोप, स्पेन, पुर्तगाल तथा एशिया के हिस्सों को परास्त कर दिया था और वे प्रशात महासागर तक मजवूती के साथ जम गए थे। अपने पीछे अधमहासागर (एटलाटिक) से प्रशात महासागर (पैसिफिक) तक सर्वदूर फैले हुए

साम्राज्य-निर्माण के पश्चात् उन्होंने एक सिंध के रास्ते से और दूसरे अफगानिस्तान द्वारा हिमालय के पार पंजाब में प्रवेश करके घुसने की चेष्टा की, परंतु इतने विशाल साम्राज्य तथा सेनाओं के उनके आधिपत्य में होते हुए भी उनके एक के बाद एक आक्रमणों के झोंके अपनी उत्तरी-पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा हेतु लड़नेवाले छोटे राजाओं द्वारा दो शताब्दियों तक सफलतापूर्वक पीछे हटा दिए जाते रहे। इस प्रकार यह प्रमाणित हो गया कि हिंदू सैन्य-कौशल तथा पराक्रम मुस्लिम-समूहों की आक्रामक शक्ति की तुलना में अति श्रेष्ठ था, तथापि हिंदू-प्रतिरोध का अंतत ह्रास हो जाने का कारण यह था कि आतंरिक वैमनस्य तथा द्रोह ने उनकी श्रेणियों को दुर्बल कर दिया था और देश का बाकी हिस्सा मातृभूमि की रक्षा हेतु युद्ध को चलाए रखने के लिए समय-समय पर उनकी सहायता देने में असफल रहा।

मुस्लिम आक्रमण के पहले धक्के के पश्चात् भी अपना देश जागकर संगठित रूप से खड़ा नहीं हुआ। वैमनस्य और विश्वासघात की आत्मघाती कहानी चलती रही। महमूद गजनी, जो पवित्र सोमनाथ के मंदिर को लूटने और अपवित्र करने के उद्देश्य से निकला था, को हमारे अपने ही सरदारों ने मार्गदर्शन कर सहायता दी। वह जयचंद ही था जिसने मोहम्मद गोरी को आमंत्रित किया। एक हिंदू राजा ने ही एक विधर्मी शत्रु को हस्तिनापुर की पवित्र राजधानी में पहली बार एक विदेशी शासन स्थापित करने में सहायता दी। जयचंदों की जाति तीव्र गति से बढ़ने लगी। अकबर के विशाल साम्राज्य का आधारस्तंभ राजा मानसिंह ही था। यही महाराणा प्रताप के विरुद्ध युद्ध करने के लिए आया था, जो उन दिनों में अकेले ही स्वतंत्रता का दीपक प्रज्ज्वलित किए हुए थे। मिर्जा राजा जयसिंह, जसवंत सिंह और अन्य हिंदू सरदार कुख्यात हिंदू-विरोधी धर्मोन्मत्त औरंगजेब के शक्तिशाली हस्तक थे।

हमारा विघटन इतना अधिक हो गया था कि बख्त्यार खिलजी जो दिल्ली से पूर्व की ओर गया था और जिसके पास केवल अठारह व्यक्ति थे, ऐसा कहा जाता है कि वह नरसंहार, सामूहिक धर्मपरिवर्तन, स्त्रियों का अपहरण, मंदिरों की तोड़-फोड़ तथा राज्यों को नष्ट करता हुआ अपनी तलवार के बल पर सीधे बंगाल तक पहुँच गया। जगत्प्रसिद्ध नालंदा विश्वविद्यालय के सहस्रों विद्यार्थी तथा अध्यापक उसके द्वारा निर्दयता के साथ कत्ल कर दिए गए। उसने नगर की समस्त जनसंख्या को भी तलवार

के घाट उतार दिया। उसने वहाँ के पुस्तकालय को भी आग लगा दी, जो सहस्रों वर्षो से सग्रहीत ज्ञान का कोषागार था। अत में उसने बगाल में अपना शासन स्थापित किया।

औरगजेब की सेना के मनुची नामक इटालियन अधिकारी ने स्वय देश में चारों ओर घूमकर अपनी डायरी में लिखा कि 'यदि इस समय कोई आक्रामक ३०,००० सेना के साथ दर्रा खैबर होकर प्रवेश कर जाए तो वह सुगमता से सपूर्ण हिंदुस्थान को विजय कर शासन कर सकता है।' ऐसे उदाहरण तथा आलेख हमारे तत्कालीन इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर अकित हैं, जो परस्पर विनाशक झगडों, विश्वासघातों तथा देश को गुलाम बनाने के लिए शत्रु की सहायता की हृदयविदारक कहानी का वर्णन करते हैं।

अग्रेजों के आने के बाद भी विश्वासघात की आत्मघातक कहानी उसी प्रकार चलती रही। हमने मुस्लिम आक्रमण के पाठों से अपनी आँखें मूँद ली थीं। हिंदू सैन्य अधिकारी तथा सैनिक ब्रिटिश साम्राज्य को सुरक्षित एव सुदृढ बनाने के लिए अपना और स्वतत्रता-सेनानियों का रक्त बहाते रहे। हमारे धनी व्यापारी अग्रेजों की धन से सहायता करते रहे। व्यक्ति, धन और बुद्धि– ये सभी साधन उनके चरणों में रख दिए गए। हमारी बेडियों को मजबूत करने के लिए उनका उपयोग किया गया। जैसा कि एक अग्रेज इतिहासकार ने लिखा है– 'इग्लैंड में यदि स्वस्थ शरीर के सभी व्यक्ति शस्त्रसज्जित कर एक सेना के रूप में सगठित कर दिए जाते, तो भी वे भारत को विजित नहीं कर सकते थे, शातिपूर्वक शासन करने की तो बात ही अलग है। वास्तव में ये स्थानीय व्यक्ति ही थे, जिन्होंने अपने आतरिक झगडों के कारण हमारे लिए काट-छाँटकर एक राज्य निर्माण करके दे दिया।'

इतिहास की चेतावनी

अत इतिहास का निष्कर्ष इतना स्पष्ट है कि उसे गलत समझने की कोई गुजाइश नहीं है। राष्ट्रीय चेतना तथा एक ही राष्ट्र-शरीर के अग होने की अवयवी भावना का अभाव तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न परस्पर घृणा, फूट, विद्वेष तथा निजी क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए परस्पर विनाशक कलह– इन्होंने ही गत सहस्र वर्षो से अपने राष्ट्र के मर्मस्थान को ग्रस लिया है।

मुसलमान अथवा अग्रेज हमारे शत्रु नहीं थे बल्कि हम स्वय ही

अपने शत्रु रहे। गीता में कहा है – 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ।' (गीता ६-५), अर्थात् हम ही अपने मित्र हैं और हम ही अपने शत्रु हैं। खेद है कि अपने बारे में बाद के अर्द्धभाग की सत्यता सिद्ध हुई है।

इसलिए हम कहते हैं कि अपने पतन तथा विनाश के कारण के लिए बाह्य आक्रामकों को कोसने से कोई लाभ नहीं है। आखिरकार दुर्बल देशों पर आक्रमण करना, उन्हें लूटना तथा उनका विनाश करना, यह लुटेरे राष्ट्रों की प्रकृति होती है। यदि एक सॉप किसी आदमी को काटता है, तो यह उसका दोष नहीं हे। यह तो उसकी प्रकृति में ही है। दोष तो उस आदमी का है, जो सतर्कता नहीं बरतता ओर सभाव्य खतरे से अपना बचाव नहीं करता। दुर्भाग्य से अपने गत सहस्र वर्षो में अपमान तथा विपत्तियों के बार-बार आनेवाले इतिहास के अनुभवों के बावजूद हम एक आधारभूत शिक्षा ग्रहण नहीं कर सके कि हम स्वय ही अपने पतन के लिए उत्तरदायी हैं और जब तक अपने में से उस प्राणघातक दुर्बलता को नहीं मिटा देते, तब तक हम एक राष्ट्र के रूप में जीवित बने रहने की आशा नहीं कर सकते।

हमने कम से कम अब भी यह शिक्षा-ग्रहण नहीं की। हम आजकल सुनते हैं कि हमने स्वतत्रता विजित कर ली हे तथा अब चारों ओर जागृति हो गई है। इसलिए अब हमें अपनी पुरानी असफलताओं के बारे में चिता नहीं करनी चाहिए, परतु क्या यह सत्य है कि हमने स्वतत्रता केवल अपने पराक्रम तथा त्याग के बल पर प्राप्त की है? यदि यह सत्य हे, तो यह केसे हुआ कि अग्रेज ब्रह्मदेश तथा श्रीलका को भी छोडकर चले गए जबकि वहॉ स्वतत्रता के लिए सघर्ष बिल्कुल हुआ ही नहीं। एक नए स्वतत्र राज्य पाकिस्तान का अस्तित्व मुसलमानों की ओर से किंचित् भी त्याग हुए बिना ही कैसे बन गया? हमारे नेताओं की अविभाजित भारत की स्वतत्रता की सभी घोषणाओं और प्रतिज्ञाओं के विपरीत विभाजन के लिए सहमति क्योंकर हो गई? वास्तविकता यह है कि पिछले विश्वयुद्ध के रक्तपात के उपरात अग्रेजों में एक विशाल और विस्तृत साम्राज्य को चलाने की शक्ति रह ही नहीं गई थी। उनको भारतीय सेना की राजभक्ति का भी विश्वास नहीं रह गया था परतु अग्रेजों ने धूर्त होने के कारण अपने प्रति सद्भावना बनी रहे– इस प्रबध के साथ इन सब देशों को छोड दिया और पाकिस्तान के रूप में अपने लिए एक स्थायी अड्डा निर्माण कर लिया। सर जान स्ट्राशी ने अपनी एक पुस्तक में अर्द्धशताब्दी पूर्व लिखा है कि यदि

अंग्रेजों को सयोगवश भारत छोडना ही पडा तो वे इसे 'हिंदू-भारत' एव 'मुस्लिम-भारत' में विभाजित करके ही जाएँगे। अव भिन्नता केवल यही है कि हमारे नेताओं ने उस योजना को क्रियान्वित करने में अंग्रेजों को सहायता मात्र ही नहीं दी, अपितु और आगे बढकर देश को 'मुस्लिम भारत' और 'गैर-मुस्लिम भारत' में विभाजित कर दिया।

कार्य-कारण नियम

पाकिस्तान के निर्माण ने केवल यही सिद्ध किया है कि हमने इतिहास से शिक्षा ग्रहण नहीं की और अपनी प्राणघातक दुर्बलता का उपचार नहीं किया। अंग्रेजों के जाने के समय हिंदू अत्यधिक असगठित थे और राष्ट्रीय नेतृत्व मुसलमानों द्वारा इधर-उधर की गई छोटी-मोटी मार-काट और अंग्रेजों की कूटनीति का सामना करने के लिए अत्यत दुर्बल था। परिणामस्वरूप हुआ भारत का विभाजन। इतिहास की पुनरावृत्ति हुई। दु ख है कि हम इतिहास से केवल यही शिक्षा ग्रहण करते हैं कि हम इतिहास से कुछ भी नहीं सीखते। अपनी मातृभूमि के वडे-वडे खड-- आधा पजाव, आधा वगाल, सिध और सीमात प्रात-पुन शत्रुओं के हाथ में चले गए।

ये भूखड कभी हिंदू-राष्ट्र की शान थे। पजाव वेदों का जन्मस्थान है, जो हमारी पवित्र दायों में पवित्रतम हैं। हमारे महान ऋषियों ने सिधु के किनारे पर साधना की थी। वगाल सतों, कवियों तथा क्रातिकारियों की गोद में रहा है। उत्तर पश्चिमी सीमात प्रात सहस्रों वर्षों से हमारी सुरक्षा-रेखा थी। हमारे स्वतत्र और शक्तिशाली हिंदू राज्य का आदेश उन सव स्थानों में चलता था। परतु शताव्दियों पूर्व ये हिस्से मुस्लिम आक्रमण से पराजित हो गए। वाद में उन्होंने मुस्लिम आधिपत्य को उखाड फेंका, परतु एक अन्य शत्रु अंग्रेज के शासन के अतर्गत आ जाने मात्र के लिए। अव वे पुन मुस्लिम नियत्रण में चले गए हैं।

इन प्रातों को सन् १९४७ में मुस्लिम शासन में दे दिए जाने के वाद, वहाँ लाखों हिंदू भाई-वहन निर्दयता के साथ कत्ल कर दिए गए। हमारी नारियों का शील भग किया गया, तलवार के जोर पर विशाल प्रमाण में सामूहिक धर्मपरिवर्तन किया गया, मुस्लिम समूहों द्वारा हिंदू मात्र पर जो अमानवीय अत्याचार एक सहस्र वर्ष पूर्व किए गए थे, उनकी पुनरावृत्ति हुई। वही क्रूरता अभी भी उसी प्रमाण में, उसी वर्वरता के साथ चल रही है। क्या इन वातों के लिए इससे भी अधिक स्पष्ट प्रमाण की आवश्यकता

है कि ध्वस्त मानवों के कंकाल बने लाखों की संख्या में शरणार्थी भाइयों का पश्चिमी बंगाल में नित्य प्रति चले आने का लगातार तॉंता लगा रहता है?

एक सहस्र वर्ष पूर्व और अब एक सहस्र वर्ष के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय दुर्घटना का मूल कारण वही है– इस भूमि के पुत्र, हिंदुओं में संगठित तथा एकरूप जीवन का नितांत अभाव। कारण और परिणाम का नियम काल और स्थान की सीमा के परे है। गत एक सहस्र वर्ष के इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ हमारे राष्ट्रीय स्तर पर घटित हो रहे इस कटु सत्य का मौन साक्षी है।

अब हम उन क्षेत्रों की अवस्था का अवलोकन करें, जो अंग्रेजों के जाने के बाद हमारे हाथ में आए। क्या हमारा स्वातंत्र्य और सम्मान कम से कम वहॉं सुरक्षित है?

जयचंदों की परंपरा

उस प्रथम विभाजन के पश्चात् पुनः कश्मीर का विभाजन हुआ। एक समय हमारे स्वर्गीय प्रधानमंत्री पंडित नेहरू ने तथाकथित कश्मीर समस्या को हल करने के विचार से कश्मीर के पाकिस्तान अधिकृत हिस्से को पाकिस्तान को दे डालने की अपनी इच्छा भी व्यक्त की थी। कश्मीर में मतगणना का प्रस्ताव भी हमारे नेताओं द्वारा ही सुझाया गया था। इससे क्या स्पष्ट होता है? क्या शरीर के किसी अवयव को अपना भाग्य स्वयं निर्णीत करने के लिए कहा जाए? इसके विपरीत क्या संपूर्ण शरीर को ही इस विषय में निर्णय नहीं लेना चाहिए? उसी प्रकार से यदि मतगणना होनी ही है तो वह संपूर्ण देश में होनी चाहिए। केवल कश्मीर में मतगणना का तात्पर्य यह होगा कि हमारी मातृभूमि की एकता की चेतना हमारे मस्तिष्क से प्रायः निकल चुकी है।

इसके अतिरिक्त हमारे समाज में किसी भी तथा प्रत्येक विषय में– चाहे वह भाषा, पंथ, संप्रदाय अथवा पार्टी से संबंधित हो, गंभीर दरार बनती जा रही है। कोई भी व्यक्ति खड़ा हो जाता है और कहता है कि उसे अपनी भाषा के लिए एक राज्य अथवा अपने संप्रदाय के लिए एक राज्य चाहिए। यदि वह संघ में बने रहने के लिए तैयार भी है तो वह चाहता है कि वह एक ढीले तौर से बॉंधा गया संघ हो, जिसमें उसके राज्य को अधिकाधिक अधिकार प्राप्त हों तथा केंद्रीय सत्ता नाममात्र के लिए लागू हो।

परस्पर घृणा तथा विद्वेष का वही अभिशाप, जिसने हमारे राष्ट्रीय जीवन को गत एक सहस्र वर्षो में कसाईखाने में बदल दिया था, अभी भी प्रांत, दल, भाषा, पथ, सप्रदाय आदि के नए वेश में अपना मृत्यु-नृत्य किए जा रहा है। एक बार आंध्र के एक प्रसिद्ध नेता ने सार्वजनिक रूप से घोषणा की थी कि यदि पृथक आंध्र राज्य नहीं बनाया गया तो इसे प्राप्त करने के लिए वह रूस की सहायता लेगा। एक प्रसिद्ध सिख नेता ने एक समय धमकी दी थी कि यदि पजाबी सूबा नहीं बनाया गया तो सभी सिख साम्यवादी बन जाएँगे। हमारी सीमाओं पर चीनी सेनाओं के सन्नद्ध खडे रहने के समय इस प्रकार के वक्तव्य का केवल एक ही आशय हो सकता था और वह यह कि एक पृथक राज्य के निर्माण में उसकी सहायता देने का आश्वासन दिया जा रहा है। कुछ वर्ष पूर्व वही नेता पाकिस्तान से सहायता प्राप्त करने के लिए सॉठ-गॉठ कर रहा था। क्या हम कह सकते हैं कि इस भूमि से जयचदों तथा मानसिहों की जाति समाप्त हो गई है?

इतिहास की पुनरावृत्ति

राष्ट्रीय चेतना के अभाव का वही घातक रोग, जिसके कारण हमने शत्रु-मित्र की पहचान करने की पात्रता खो दी थी, अभी भी पूर्ववत है। एक बार नागपुर में अपने-आपको अब्राह्मण कहनेवाले लोगों का एक सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में मुसलमान तथा ईसाई भी भाषण कर रहे हैं, यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। जब उस सम्मेलन के आयोजकों में से एक से इस बारे में पूछा, तो उसने उत्तर दिया– 'अजी! वे भी तो अब्राह्मण हैं।' यह कितना आश्चर्यजनक है कि वे इस सामान्य तथ्य को भी नहीं पहचान सकते कि हिंदू की उसके पथ अथवा सप्रदाय की कोई भी सज्ञा क्यों न हो, एक सामाजिक इकाई होती है। मुसलमान एव ईसाई बिल्कुल विदेशी ही नहीं तो विरोधी पक्ष के हैं।

यह कल्पनातीत हो, तथापि एक कठोर सत्य है कि सन् १९५७ के चुनाव में पजाब के अबाला निर्वाचन-क्षेत्र से एक मुसलमान निर्वाचित हुआ, जो वहॉ पर एकमात्र मुस्लिम प्रत्याशी था और अन्य सभी हिंदू थे, जिन पर एक दशाब्दी पूर्व ही मुसलमानों के हाथों अवर्णनीय अत्याचार हुए थे। ऐसी है हमारे समाज की आत्मघातक, आत्मविस्मरण की अवस्था।

देश का कोई भी भाग इन आपस के झगडों से मुक्त नहीं है। हर जगह हमारे ही लोगों द्वारा शत्रु के प्रवेश तथा उसकी स्थिति सुदृढ करने

के लिए भूमिका तैयार की जा रही है। असम में जुलाई १९६० में बगाली-विरोधी उपद्रवों, जिनके कारण बगाली हिंदुओं को भारी सख्या में वहाँ से जाना पड़ा, ने मुसलमानों को ही लाभ पहुँचाया, क्योंकि इस प्रकार उस दुर्बल राज्य में हिंदुओं की प्रतिशत सख्या कम हो गई। असमियों और बगालियों में परस्पर घृणा और विभेद ने उस प्रात में मुसलमानों को सामान्य हिंदुओं पर और अधिक अत्याचार कर सकने में सहायता प्रदान की है।

वास्तव में हमें श्रीहट (सिल्हट) इसी असमी-बगाली विभेद के कारण पाकिस्तान को देना पड़ा। सन् १९४७ में यह निर्णय करने के लिए कि श्रीहट जिला भारत में रहेगा अथवा पाकिस्तान में, वहाँ मतगणना हुई थी। हिंदुओं ने जो कि असमी-बगाली झगड़ों और विद्वेषों से जर्जर हो गए थे, मतदान करने की चिता ही नहीं की, परतु मुसलमानों ने राजनीतिक दृष्टि से अधिक सतर्क होने के कारण अपनी सख्या को बड़े प्रमाण में एकत्रित किया और पाकिस्तान के पक्ष में ठोस मतदान कराया। यह है वह दुर्भाग्यपूर्ण कथा कि किस प्रकार हमने हिंदू बहुसख्या के होते हुए भी श्रीहट को पाकिस्तान के हाथों खो दिया।

विदेशी जाल

हमारा एक देश और एक सस्कृति है, इस चेतना के अभाव ने कुटिल विदेशियों को फूट के बीज बोने के लिए हमारे समाज को एक उपजाऊ भूमि बना दिया है। तथाकथित बुद्धिवादी वर्ग भी ऐसे कपटी प्रचार के कारण सुगमता से अपना आधार छोड़ बैठता है। उदाहरणस्वरूप, एक पृथक द्रविडनाड के लिए आदोलन एक विदेशी के कुटिल मस्तिष्क की उपज है। एक विदेशी ईसाई मिशनरी ने ही लगभग आठ वर्ष पूर्व तमिलनाडु में प्रत्येक नगर तथा ग्राम का दौरा किया और सतत यह दुष्ट प्रचार किया कि तमिल सस्कृति, तमिल भाषा तथा तमिल की प्रत्येक चीज शेष भारत की सस्कृति, भाषा आदि से मूल रूप से भिन्न है और तमिलवासी अपने में एक स्वतत्र राष्ट्र हैं। इस विषाक्त सिद्धात को सामान्य व्यक्ति के लिए ग्राह्य बनाने के लिए उसने 'तिरुवकुरल' का एक विकृत भाष्य भी तैयार किया। किंतु आश्चर्य यह है कि तथाकथित बुद्धिवादी भी उस जाल को नहीं देख पा रहे हैं जो उनको फँसाने के लिए बिछाया गया है। वस्तुत उनमें से कुछ तो शत्रुरचित खेल खेलने में ही गर्व का अनुभव

करते हैं। आंदोलन के तथाकथित विचार-प्रवर्तकों द्वारा प्रस्तुत तर्क उन विदेशी मिशनरी के तर्कों का तोते के समान दोहराना मात्र है।

द्रविडनाड आंदोलन के समर्थन में एक प्रिय तर्क इस प्रकार है– 'पूर्वकाल में यद्यपि भारत सांस्कृतिक दृष्टि से एक था, तो भी सदैव ही अन्यान्य राज्य रहे हैं। अतः इसमें क्या हानि है? यदि अब भी हम अपने भौतिक कल्याण के लिए अपना एक पृथक राज्य निर्माण कर लेते हैं, पर भारत को सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एक ही मानते रहें और हमारे लोग भारत भर में तीर्थयात्रा आदि के लिए पूर्ववत जाते रहें?' यह सत्य है कि पूर्वकाल में बहुत से छोटे-छोटे राज्य थे, यद्यपि हम सांस्कृतिक दृष्टि से सदैव एक बने रहे, परंतु यह भी उतना ही सत्य है कि हमारी भूमि के मुख्य शासकों में संपूर्ण देश को एक प्रशासकीय ईकाई के अंतर्गत लाने की अप्रतिहत प्रवृत्ति सदैव ही बनी रही। राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञों का एकमेव उद्देश्य यही था कि संपूर्ण भारत को एक ही चक्रवर्ती के सर्वोच्च राजकीय प्रभुत्व के अंतर्गत लाया जाए। इन यज्ञों को करनेवाले का दूसरे राज्यों की जनता को शोषित अथवा उसका दमन करने के सदृश कोई स्वार्थी मन्तव्य नहीं होता था। वह छोटे-छोटे राज्यों से एक सर्वोच्च केंद्रीय सत्ता के प्रति राज्यभक्ति की अपेक्षा मात्र रखता था। अन्य बातों में हस्तक्षेप न करते हुए वह उनको स्वतंत्र रूप से पहले के समान रहने के लिए छोड देता था।

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार इतिहास में अनेकों राज्यों के अस्तित्व का उल्लेख है, उसमें यह कटु सत्य भी दिया गया है कि इन अनेक छोटे-छोटे राज्यों, जो कालांतर में परस्पर से दूर तथा परस्पर के वैरी हो गए थे, के स्थापित हो जाने से ही विदेशी आक्रामकों द्वारा इन सब राज्यों सहित संपूर्ण देश को गत एक सहस्र से भी अधिक वर्षों के लिए अधीन कर लिए जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। इतिहास ने विपुल मात्रा में यह सिद्ध कर दिया है कि देश के किसी एक हिस्से का भाग्य देश के अन्य हिस्सों के साथ अविभाज्य रूप में जुडा हुआ है और विशेषतया जब भौतिक कल्याण ही प्रेरणा का एक मात्र निमित्त होता है, जैसा पृथक द्रविडनाड की माँग के बारे में है, कोई विदेशी शक्ति निश्चित ही भौतिक प्रलोभन देकर इसे अपने हाथ का मोहरा बना लेगी। इसका परिणाम होगा, जैसा पूर्वकाल में हो चुका है, शेष भारत का ही नहीं, उस तथाकथित द्रविडनाड का भी विनाश।

हमारे वर्तमान संविधान के निर्माणकर्त्ता भी हमारे समान शुद्ध भावनायुक्त राष्ट्रत्व में विश्वास नहीं रखते थे। यह हमारे संविधान के संघात्मक ढाँचे से स्पष्ट है। अब हमारे देश का 'राज्यों का संघ'– इस प्रकार से वर्णन किया जाता है। जो पूर्व व्यवस्था के अंतर्गत केवल प्रांत माने जाते थे, उनको अब अनेक अनन्य अधिकारों के साथ राज्य का दर्जा दिया गया है। वास्तव में पूर्व काल में हमारे अविभक्त राष्ट्रीय जीवन के अनेक पृथक राजनीतिक इकाइयों में खंडित हो जाने से ही राष्ट्रीय विशृंखलता तथा पराजय के बीज समाज में जड जमा सके। वर्तमान संघात्मक ढाँचे में विशृंखलता के वही बीज विद्यमान हैं, जो सीमा-निर्धारण, नदियों के जल की वितरण-व्यवस्था आदि विषयों को लेकर राज्यों में विवादों के रूप में अंकुरित होने आरंभ हो गए हैं। इन सब झगडों को अब एक ऊँचा दर्जा प्राप्त हो गया है और ये अधिकृत रूप में 'सीमा-विवाद', 'नदियों के जल का विवाद' आदि नाम से कहे जाते हैं। मानों ये विवाद दो सर्वप्रभुतासंपन्न देशों के मध्य हों। महाराष्ट्र के एक नेता ने एक समय कहा था कि उसे अपने सीमांत पर चीनी आक्रमण के बारे में सोचने का उस समय तक अवकाश अथवा इच्छा नहीं है, जब तक मैसूर-महाराष्ट्र सीमा विवाद उसकी संतुष्टि के अनुसार निर्णीत नहीं हो जाता।

वर्तमान गंभीर खाद्य-संकट के काल में भी प्रांतीयता के विषैले दाँतों ने भुखमरी के शिकंजे में जकडे हुए करोडों लोगों की भयानक विपत्ति के सामने पीछे हटने के बजाय राजनीतिक व्यवहार में विष की और अधिक मात्रा प्रविष्ट कर दी है। सन् १९६३-६४ में मध्यप्रदेश तथा पंजाब में उनकी आवश्यकता से अधिक गेहूँ का संचय था, परंतु वे राज्य सरकारें उसे अपने पडोसी राज्यों को देने को तैयार नहीं थीं। समाचार-पत्रों ने लिखा था कि पंजाब में अतिरिक्त गेहूँ सडना आरंभ हो गया है और उसे जानवरों के चारे के रूप में उपयोग करना पड रहा है। परंतु पंजाब सरकार भुखमरी से प्रभावित पडोसी राज्य उत्तरप्रदेश को अनाज का एक दाना भी देने को तैयार नहीं थी। केंद्र द्वारा पंजाब सरकार पर दबाव डाले जाने के पश्चात् ही वह उत्तरप्रदेश को उसकी माँग का पाँचवाँ हिस्सा देने को तैयार हुआ। वह भी एक पीडित पडोसी की सहायता के रूप में नहीं, तो शराब और चीनी के बदले में, जिनको पहले उत्तरप्रदेश ने जवाब के तौर पर पंजाब को देना अस्वीकार कर दिया था। गेहूँ हमारे द्वार पर अमरीका से

आ सकता है, जो हमारी सीमाओं से दस हजार मील दूर है, परतु वह अपने ही देश में एक अतिरिक्त अनाजवाले राज्य से पडोस के भुखमरी से पीड़ित राज्य तक नहीं पहुँच सकता। कितनी लज्जा का विषय है।

हाल ही में चुनाव आयोग ने राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करने का एक नया आधार विकसित किया है। राष्ट्रीय आधार पर दलों को मान्यता देने की पद्धति को राज्य स्तर पर मान्यता देने के पक्ष में बदल दिया गया है। इससे केवल यही सकेत मिलता है कि राजनीति के कर्णधारों की मानसिक प्रक्रिया राज्यीय इकाइयों के पृथकत्व की चेतना से प्रभावित है, सपूर्ण राष्ट्र की अविभाज्य एकता से नहीं। एक ओर वे 'राष्ट्रीय एकता' पर प्रस्ताव पारित करते हैं और दूसरी ओर राष्ट्रीय विषयों पर वास्तविक व्यवहार में ऐसी नीतियाँ निर्धारित करते हैं, जो राष्ट्रीय एकता के अधिष्ठान पर ही आघात करती हैं।

वायुमडल में ये सब अशुभ लक्षण हैं। सबसे बडा खतरा तो अभी आने को है। भाषावार राज्यों के विषैले सिद्धात ने 'आत्मनिर्णय का अधिकार' और 'पृथक होने का अधिकार'— इन माँगों को उत्तेजित किया है। यह हो सकता है कि हमारे वर्तमान सविधान में 'पृथक होने के अधिकार' को अगीकार नहीं किया गया है, परतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सत्ताधारी काग्रेसी दल उस सिद्धात को बहुत पहले मान चुका है। इसी के कारण तो अपनी मातृभूमि के विभाजन का बीज बोया गया था। यह भी सत्य है कि काग्रेस ने आज तक उस प्रस्ताव को रद्द नहीं किया है। उसी काग्रेस का नेतृत्व चलते रहने और प्रातीय तथा भाषायी विद्वेष एव घृणा का वातावरण बढते जाने के कारण एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब सविधान में आवश्यक सशोधन कर पृथक होने के अधिकार को भी अगीकार कर लिया जाए। बेरुबाडी (पश्चिमी बगाल) के विषय में हम देख चुके हैं कि परकीय देशों को अपनी मातृभूमि के हिस्सों को दे डालने का ससद, जिसका वास्तव में आशय है सत्ताधारी दल, को अधिकार देने के लिए सविधान में सशोधन सन् १६५६ में किया गया।

इन सशोधनों, जो सविधान की भावना पर ही आघात करते हैं, के बार-बार होते रहने पर भी जनता को सविधान की पवित्रता तथा देश की एकता बनाए रखने के लिय शपथ लेने का आग्रह किया जाता है। और वे कौन हैं, जो शपथ दिलाते हैं? वे हैं सविधान के नष्ट करने के विध्वसी हमारे देश के 'विभाजक' लोग। कितनी बडी विडबना है?

आज भी, जब हमारे राष्ट्र के मर्मस्थलों को ऐसे कीटाणु खाए जा रहे हैं, क्या यह मान लेना सकट से खाली होगा कि मूल रोग, जिसके परिणामस्वरूप पूर्वकाल में हमारी यह दुर्गति हुई तथा हमें कलकपूर्ण दासता भुगतनी पडी और जिसने आज पहले से भी अधिक भयकर रूप ग्रहण कर लिया है, कालातर में हमारी वर्तमान स्वतत्रता को क्रमश समाप्त नहीं कर देगा?

मूलगामी उपचार

इन परिस्थितियों में स्पष्टत समाज की सेवा का सर्वोत्तम प्रकार यही है कि राष्ट्रीय चेतना एव एकत्व के अभाव के मूलभूत रोग को दूर किया जाए और एक सशक्त, सुसगठित, आत्मचेतनापूर्ण तथा आत्मनिर्भर राष्ट्रजीवन निर्माण किया जाए। हमारी स्वतत्रता उसी अवस्था में सुदृढ एव सुरक्षित रह सकती है। जडों के प्रति दुर्लक्ष्य करते हुए केवल फलों का आनद लेते रहने की आशा करना व्यर्थ होगा। इसमें संदेह नहीं कि रोग से दूषित होने पर भी वृक्ष कुछ समय तक फल देता है, परतु वे फल अस्वास्थ्यकर, शुष्क तथा स्वादरहित होंगे और ऐसा ही है विभिन्न प्रकार के रोगों को प्रकट करता हुआ स्वतत्रता का फल, जो आज हमें प्राप्त है। कारण यह है कि राष्ट्रीय जडें हमारे समाज के मस्तिष्क एव हृदय में गहराई तक प्रवेश नहीं कर सकी हैं। यदि हम जडों के प्रति दुर्लक्ष्य करते चले जाएँगे, तो कुछ समय के पश्चात् ये फल भी अदृश्य हो जाएँगे और वृक्ष का सूखा और नगा तना मात्र ही खडा दिखाई देगा। यदि हम जडों की चिता करेंगे, तो फल की चिता करने की आवश्यकता नहीं। फलों को बाहर से उधार लेकर उन्हें वृक्ष पर चिपकाने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हमें अपनी राष्ट्रीय जडों को गहरे तक ले जाने का प्रयत्न करना चाहिए, ताकि हम ससार के सभी तूफानों में स्वतत्र एव सीधे खडे रह सकें।

नए उद्योग स्थापित करने अथवा आर्थिक आयोजना द्वारा यह नहीं किया जा सकेगा। यदि एक रोगी के आतरिक रोग का उपचार करना है, तो उसे औषधि देने की आवश्यकता है स्वादिष्ट भोजन तथा पेय पदार्थ नहीं। उस दुर्बल अवस्था में वह उस कुत्ते को भी भगा नहीं सकेगा, जो उसके लिए परोसी गई समस्त सामग्री को खा सकता है। हमारी राजनीति का भाग्य इससे भिन्न नहीं है। जब तक हमारे समाज के विघटन एव आत्मविस्मरण का यह आतरिक रोग दूर नहीं हो जाता और राष्ट्रीय दृष्टि

में सतर्क एव सगठित नहीं बना दिया जाता, तब तक वह ससार में किसी भी प्रकार की समृद्धि का उपभोग करने के अयोग्य रहेगा। इस पूर्वापेक्षित के बिना केवल भौतिक उत्कर्ष प्राप्त कर लेने का कोई भी प्रयास समाज के प्रति सेवा के बजाय एक अभिशाप बन सकता है। इतिहास हमें यह बताता है कि हमारी असीम समृद्धि ने ही आक्रामकों के बर्बर समूहों को हमारे देश पर आक्रमण करने के लिए आकर्षित किया था। हमारे पास उसकी रक्षा करने के लिए सगठित शक्ति नहीं थी, जिसके फलस्वरूप हम उन लुटेरों के हाथ अपने वैभव को खोकर अपने-आपको घोर दरिद्रता एव दुर्गति की वर्तमान स्थिति में पाते हैं।

इसलिए हमें अपने मातृ-समाज को एक बार पुन सयुक्त, सगठित, जागरूक तथा राष्ट्रीय चेतना एव ऐक्य की प्रचड भावना से पुनरुत्थानशील कर मूल रोग का उन्मूलन करने का निश्चय करना है। इस हेतु हमें इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के पास एक सगठित राष्ट्रत्व का सदेश लेकर पहुँचना चाहिए और उन्हें परस्पर प्रेम तथा अनुशासन के बधनों से बाँधते हुए एक सामर्थ्यशाली सगठित शक्ति अभिन्न रूप में निर्मित करनी चाहिए। ऐसा एक सतर्क, सगठित तथा अजेय शक्तिशाली राष्ट्रजीवन ही युद्ध द्वारा जर्जर ससार के वर्तमान सक्षोभ में अपना मस्तक सीधा करके खडे रहने की आशा कर सकता है।

२ एकात्मक शासन की अनिवार्यता

(श्री गुरुजी द्वारा सन् १९५६ में राज्य पुनर्गठन समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित होने के तुरत पश्चात् लिखा हुआ लेख)

राज्य पुनर्गठन समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित हुए लगभग दो सप्ताह हो रहे हैं। राजनीतिक क्षेत्र के प्रमुख व्यक्ति तो प्रतिवेदन के अधिकृत रूप से प्रकाशित होने से पूर्व ही समिति के सुझावों पर अपनी प्रतिक्रियाओं को मुक्त रूप से व्यक्त करने लगे हैं। कोई सतुष्ट हुआ प्रतीत नहीं होता। प्रतिवेदन के विरोध में सपूर्ण वातावरण आदोलित हो उठा है।

भावनाएँ उमड रही हैं। प्रात-प्रात के विधायक वर्ग एक-दूसरे के प्रति विरोधी भावनाओं को खुलकर प्रकट कर रहे हैं। कोई भी वर्ग किसी दूसरे वर्ग के साथ एक समान प्रशासनिक इकाई में सहयोग करने और साथ-साथ रहने की मन स्थिति में दिखाई नहीं देता। विरोध तीव्र और इतना बढा हुआ है कि उसने दृढमूल वैर का रूप धारण कर लिया है।

अग्रेजो द्वारा प्रचार

अग्रेज शासक ने इस देश और यहॉ की प्रजा के सबध में जो बातें प्रचारित की थीं, उनका आज बरबस स्मरण हो आता है। वह अत्यत दृढतापूर्वक ससार को यह बताता रहा है कि याद रखो यह एक नहीं है, वरन् आधुनिक यूरोप के समान एक महाद्वीप है। एक बहुत विस्तृत भूखड, जिसमें अनेक देश, अनेक जनसमुदाय, अनेक राष्ट्रीयताएँ हैं। जिनकी वश, सस्कृति एव भाषा की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ एव स्वरूप हैं। यहॉ के समाज के स्वरूप के विषय में भी धोखा न खाने के लिए वह सभी को सावधान करता रहा है। वह यही प्रतिपादित करता रहा है कि राष्ट्र की एकता के अर्थ में यह इग्लैंड, फ्रास अथवा जर्मनी के समान एक राष्ट्र नहीं है, अपितु अनेक राष्ट्रीयताओं का एक समूह है, जिनमें एक-दूसरे से समानताएँ कम एव यूरोप के विभिन्न देशों में रहनेवाले लोगों की अपेक्षा अतर अधिक है। वह यह भी प्रचार कर रहा है कि मानव वशशास्त्र के अनुसार वे सब विभिन्न वशों के हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से वे किसी अज्ञात स्थान से यहॉ बसने के लिए देशातरित होकर इस देश में आए हैं। राजनीतिक दृष्टि से वे क्रमागत लुटेरे और आक्राता हैं, जो अत में इस उर्वरा भूमि में आकर बस गए हैं और जिसके परिणामस्वरूप उनमें एक-दूसरे के प्रति अतर्निहित वैरभाव है। वह कुछ काल से प्रच्छन्न है और जिसकी प्रकट हिसा के रूप में व्यक्त होने की प्रवणता इधर कुछ कम हो गई है। भाषाओं की दृष्टि से वे एक-दूसरे से अपरिचित हैं। सस्कृति के उनके विभिन्न स्तर हैं और धर्म में तो इतने भेदभाव हैं कि वे सदैव एक-दूसरे का गला घोंटने के लिए उद्यत रहते हैं।

जिन विभेदों पर उन्होंने विशेष रीति से जोर दिया और जिन्हें बहुत मात्रा में उभारा वे हैं— हिंदू और मुसलमान, द्रविड और आर्य, जैन तथा सिख जैसे विभिन्न पथ और हिंदू-समाज की विभिन्न जातियों के एक-दूसरे से और विशेष रीति से ब्राह्मण-अब्राह्मण के। वे ससार को और विशेष रूप

से हमारे ही लोगों को यह समझाते हुए कभी नहीं थके कि इस देश में एक सार्वभौम सत्ता के रूप में उनका भगवान के द्वारा निर्धारित अस्तित्व ही परस्पर विरोधी शक्तियों को नियंत्रित किए है तथा देश में व्यक्ति के जीवन मान-सम्मान और वित्त की सुरक्षा को बनाए रखते हुए हिंसा एवं रक्तपात के भीषण दृश्य तथा समय-समय पर सतत होनेवाले परस्पर के युद्ध को रोके हुए है। हमें यह भी समझाया गया कि उन्होंने यहाँ एक सुस्थिर प्रशासन दिया है, जो न्यायी, दयालु और प्रगतिशील है। उन्हीं के कारण एवं उनके सत्ताकाल में ही इस देश के विविध, बहुधा परस्परविरोधी जनों के विचित्र समुदाय में एक समान मातृभूमि देशभक्ति एवं समान राष्ट्रीयता की भावनाएँ शनैः-शनैः विकसित हुई हैं।

नेताओं की परीक्षा

कुछ काल के लिए ऐसा प्रतीत भी हुआ कि मातृभूमि के प्रति समान प्रेम भारत के इस सिरे से लेकर उस सिरे तक लोगों में निविष्ट हो गया है अथवा नवीभूत हुआ है और इस प्रेम पर आधारित एक समाज एवं एक राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण हो गया है। उस समय जनता के सभी नेतागण एक राष्ट्र की भाषा बोलने लगे थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि एक राष्ट्र के सिद्धांत में उनकी वास्तविक आस्था है। सभी ने उस समय इस महती भावना को व्यक्त किया तथा जनता को अंग्रेजों की दासता के जुए को उतार फेंक, देश को स्वतंत्र करने के लिए संग्राम करने को प्रेरित किया। ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो समस्त जनसमुदाय ने इस भावना को ग्रहण कर लिया हो।

किंतु अंग्रेज उन विभेदों को पुनः-पुनः दृढ़तापूर्वक कहने में कभी नहीं थका, जिन्हें उसने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए परिकल्पित कर जनता के मस्तिष्क में दृढ़ता से बैठाने का प्रयत्न किया था। उसने भविष्यवाणी की कि उसके यहाँ से जाते ही देश सभी प्रकार से परस्पर विनाशकारी कलह से व्याप्त हो जाएगा तथा देश में सभी व्यवस्था भंग होकर अस्त-व्यस्तता छा जाएगी। इस प्रकार से उसने अपने को यहाँ बनाए रखने का, हमारे देश पर अपने साम्राज्यवादी आधिपत्य को न्यायसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया। हमारे नेताओं के विचार में यह केवल प्रचार मात्र था जो यदि दुष्टतापूर्ण न भी माना जाए तो भी असत्य तो था ही। और उन्होंने स्वतंत्रता की लड़ाई को इस विश्वास के साथ तीव्र किया कि वे स्वयं तथा

उनका अनुसरण करते हुए देश के सभी नागरिक एक राष्ट्र के आदर्श के वास्तविक तथ्य को अनुभव कर चुके हैं। अतत परिस्थितियों से विवश होकर अपनी युद्धोत्तर छिन्न-भिन्न अवस्था एव अतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के दवाव के कारण अग्रेज को इस देश पर से अपनी पकड ढीली करनी पडी और शासन का उत्तरदायित्व उन नेताओं को सौंपना पडा, जो जोर-जोर से लगातार स्वायत्त शासन की मॉग कर रहे थे। पर अव समय आ गया है हमारे नेताओं की उस आत्मश्लाघा की परीक्षा का कि उन्होंने एकसूत्र राष्ट्रजीवन की निर्मिति एव अनुभूति कर ली है।

असफलताएँ

यदि ईमानदारी से सोचें तो यह नहीं कहा जा सकता कि हमने परीक्षा को सफलतापूर्वक उत्तीर्ण किया है। एक देश और एक राष्ट्र की घोपणा को प्रथम और सर्वाधिक क्रूर आघात अपनी माता भारत भूमि के दु खद विभाजन की स्वीकृति के रूप में लगा। यह इस बात को मानना हुआ कि मुसलमानों का यहॉ एक अलग, विरोधी राष्ट्रीय जाति के नाते अस्तित्व है, जिसे हिंदू-राष्ट्र के साथ इस भूमि में जीवित रहने के लिए जवरदस्ती वॉध दिया गया है और उन्होंने अव इस देश का विभाजन कर जहॉ से वे मूल रूप से आक्राता के नाते आए तथा वहॉ वे विजेता के नाते वसने को प्रयत्नशील रहे हैं, अपने लिए अलग राज्य जीत लिया है। कुछ लोगों द्वारा प्रचारित द्वि-राष्ट्र सिद्धात के विपरीत प्रतिवाद तथा उसका विरोध एव धिक्कार करने के उत्कट प्रयत्नों के वावजूद विभाजन की स्वीकृति और अव उसको न्यायसगत वताना तथा परिणामस्वरूप हमारी मातृभूमि के कलेवर में से एक मुस्लिम राज्य का अलग निर्माण कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिन्होंने इन सव विरोधों की असत्यता को सुस्पष्ट कर दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि मौखिक घोपणाओं एव मूल विश्वासों में एकसूत्रता नहीं थी। हमारे इन प्रमुख नेताओं की वैचारिक प्रक्रियाओं की पृष्ठभूमि में कहीं पर यह विश्वास वरावर जमा रहा कि जिसे सव लोग अधिकारपूर्वक एक मातृभूमि कहते हैं, उसकी सीमाओं के अतर्गत एक अलग मुस्लिम राष्ट्र का अस्तित्व है और इन सीमाओं में उनकी एक मुस्लिम राज्य की मॉग न्यायोचित है। मातृभूमि की एकता में यह अतर्जात अविश्वास इस प्रकार यश के खडित होने पर प्रकाश में आ गया।

इस 'आत्म निर्णय के अधिकार' के घोप का दुरुपयोग कश्मीर

और अब गोवा तक पहुँच गया है। यह कहना कि कश्मीरी अपने भविष्य का निर्णय करेंगे, इस देश भारत तथा इसकी जनता के ऐक्य भाव को अस्वीकार करना है। इसके पश्चात् आया हमारा वर्तमान सविधान, जिसने देश को लगभग स्पष्ट रूप से विलग– ऐसी अनेक इकाइयों में परिवर्तित कर दिया, जिनमें प्रत्येक का अपना अलग-अलग राज्य है और सभी एक सघ में सम्बद्ध हैं। जब कोई यह सोचने लगता है कि हमारे इस सविधान के निर्माताओं ने, जिस समय इस सविधान को बनाया था तब देश में कैसी परिस्थितियाँ थीं, तो यह पाता है कि उस समय का वातावरण एकात्मक शासन के निर्माण एव विकास के लिए अत्यत अनुकूल था। भारत या इस नाम से पहचाना जानेवाला जो कुछ शेष है, उसके एकरस अखड राष्ट्रत्व की अभिव्यक्ति के नाते एक देश, एक विधानमडल, सपूर्ण देश में शासन को चलाता हुआ एक कार्यकारी केंद्र प्रस्थापित हो सकता था। किन्तु नेताओं का मस्तिष्क और विवेक उस समय राज्यों के सघ के विचार से मोहग्रस्त था, जिसमें प्रत्येक भाषायी गुट अपनी अलग भाषा और सस्कृति के साथ एक अलग जन (राष्ट्र) के रूप में व्यापक स्वायत्त शासन के अधिकारों का उपयोग करे।

सघ राज्य के मूल मे

अनेक वर्ष पूर्व, अर्थात् सन् १९२३ में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस, जो देश के सभी जनों के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाली एकमात्र राजनीतिक सस्था थी, ने हमारे देश के लिए इस प्रकार के साघिक ढाँचे का विचार किया था और भाषावार राज्यों ने उस सघ का निर्माण स्वीकार किया था। उन्होंने यह घोषणा क्यों की और अत में वे क्या बनाना चाहते थे यह स्पष्ट नहीं है। किंतु इसी सबध में ब्रिटिश पार्लियामेंट के कजर्वेटिव दल के एक सदस्य का एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, जिसमें उसने प्रातीय विधानमडलों की आवश्यकता पर विशद रूप से प्रकाश डालते हुए कहा है कि यह पग उठाने से अत में यह स्थिति उत्पन्न हो जाएगी कि अग्रेजों के भारत छोडने पर देश आधे दर्जन या इससे भी अधिक परस्पर विभिन्न एव विरोधी भाषायी-राज्यों में विभक्त हो जाएगा। ऐसा प्रतीत होता है कि सभवत यह घोषणा करनेवालों ने इस देश में भाषायी राज्यों की स्थापना और उनके सघ की प्रेरणा इसी मूल स्रोत से प्राप्त की हो।

इस प्रकार भाषावार राज्यों के सघ के लिए वचनबद्ध होने पर

अतत जो संविधान स्वीकार किया गया, वह ऐसे साघिक ढाँचे का ही हो सकता था, जिसमें कुछ काल के लिए प्रांतों की वर्तमान सीमाओं को स्वीकार करते हुए उन्हीं पहले के प्रांतों को लगभग स्वायत्त राज्य का पद प्रदान कर दिया गया। राज्यों की सीमाओं के पुनर्गठन का प्रश्न और भाषावार राज्यों की स्थापना की प्रतिज्ञा को पूर्ण करने की माँग के विषय को बाद में विचार में लेने का निश्चय किया गया। परिणामस्वरूप अब यह पुनर्गठन समिति अपने सुझावों को लेकर सामने आई है, जिनसे जनता के सभी वर्ग असतुष्ट दिखाई देते हैं। वातावरण में पारस्परिक अविश्वास स्पष्ट रूप से व्याप्त है। सदिच्छा का अभाव, अधिकाधिक भूमि हथियाने के लिए लोभी आक्रोश– एक ऐसे घृणित दृश्य को उपस्थित कर रहे हैं, मानो किसी शव के चारों ओर अनेक भेडिये एक-दूसरे की ओर गुर्राते हुए खडे हों। यह दृश्य कितना वेदनाकारी है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो नेता लोग अग्रेज साम्राज्यवादियों की उस गर्वोक्ति को सत्य प्रमाणित करने के लिए होड लगाए हुए हैं, जिसमें उन्होंने यह कहा था कि यदि उनका शासन यहाँ से हट जाएगा तो यहाँ के लोग एक-दूसरे के टुकडे-टुकडे कर डालेंगे और देश में निकृष्टतम अस्त-व्यस्त परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाएँगी।

हमारा भविष्य दाँव पर

यह सब क्यों घटित हो रहा है? मातृभूमि और राष्ट्र की एकता की सभी धारणाएँ क्यों चूर-चूर हो गईं? क्या वे घोषणाएँ सत्य थीं? वर्तमान दु खपूर्ण अवस्था हमें यह निष्कर्ष निकालने के लिए बाध्य करती है कि अग्रेजों की गुलामी से मुक्ति का कार्य जिन नेताओं के हाथ में था, उन्होंने यह कभी अनुभव नहीं किया कि यह एक देश, एक जन और एक राष्ट्र है। देशव्यापी एकता जो अल्पकाल के लिए अभिव्यक्त हुई थी, वह हमारी पुरातन राष्ट्रीय एकता के एकात्मक बोध से उत्पन्न नहीं थी। हमारे जीवन की बाह्य विविधता, जो एकरस राष्ट्रजीवन के स्वरैक्य को विघटित न होने देते हुए, प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यक्ति-समूहों को अपनी अभिव्यक्ति और विकास की पूर्ण स्वतत्रता देती है और इससे अपरिचित व्यक्तियों को सभ्रम में डाल देती है, हमारी राष्ट्रीय विचारधारा और जीवन के हमारे उदार दृष्टिकोणवाले राष्ट्र की जीवन-शक्ति के प्राचुर्य की अभिव्यक्ति मात्र है।

वह एकता ऊपरी भेदों के भीतर मूलभूत एकता के आधार पर अनुभूत किए सामजस्य का फल नहीं थी, वरन केवल एक जोड-जाड का

काम था, साम्राज्यवादी समान शत्रु का सामना करने के लिए अस्थायी युद्ध-विराम था और ब्रिटिश आधिपत्य के प्रतिक्रियास्वरूप सभी के लिए विदेशी राज्यकर्ताओं के विरोध की नकारात्मक भावना से एक समान सकट का सामना करने के लिए आह्वान किया हुआ एक अल्पकालिक महासघ था। इसीलिए हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जैसे ही विरोधी अग्रेज यहाँ से वापस गया, वह टुकडों को जोड-जाडकर बनाई गई एकता टुकडे-टुकडे हो गई, क्योंकि समान शत्रु से युद्ध करने के लिए अब सयुक्त मोर्चे की आवश्यकता नहीं रही थी।

हमारी वर्तमान दशा का यह एक अत्यत शोचनीय चित्र है। जब हम आगे अधिक अच्छे समय के लिए देखने का प्रयत्न करते हैं तो हमारे सामने एक निरानद भविष्य दिखाई देता है, जो निराशा के अधकार से परिव्याप्त है। आज हमारे जिन नेताओं के हाथ में देश का भाग्य है, उनमें अपनी पवित्र मातृभूमि की ऐक्य-भावना के भावात्मक बोध का अभाव है। वे उस शाश्वत राष्ट्रीय चेतना से अपरिचित हैं, जो विविधताओं की बहुलता के भीतर अमर रूप से निहित सजीव एकता को सदैव व्यक्त करती है। इसी का परिणाम है कि वे विच्छेद और खडीकरण को प्रोत्साहन देते हैं। ऐसी दशा में उज्ज्वल भविष्य की आशा करना बुद्धिमानी नहीं होगी। सम्मानपूर्ण स्वतत्र राष्ट्र के रूप में हमारा अस्तित्व भी सकट में है तथा सत्ता और युद्धप्रिय राष्ट्रों की इस दुनिया में हमारा अस्तित्व मौजी सयोग की दया पर सदिग्धावस्था में पडा हुआ है, जिसके कारण वह किसी भी समय विश्व को भीषण युद्ध में झोंक सकता है, जिसमें पड जाने पर हमें सफलता की आशा नहीं करनी चाहिए। जिस घर में फूट व्याप्त है, उसका पतन निश्चित हो जाता है।

व्याधि का उपचार

ये निराशाजनक सत्रस्त विचार हैं, किंतु कोई कारण नहीं कि हम निराशा में पडें, क्योंकि इसका भी उपचार है। वह उपचार यही है कि हम पृथकता की सभी प्रवृत्तियों, जो मातृभूमि की एकता में दृढ विश्वास करने से इनकार करती हैं, का उच्छेद कर डालें और हम उन वचनों एव कर्मों से अपने को मुक्त करें, जो हमारे राष्ट्रजीवन की एकता की अनुभूति के विरुद्ध विचारों को उत्पन्न करते हैं।

इस लक्ष्य की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रभावी कदम यह

होगा कि हम अपने देश के संविधान से साधिक ढाँचे की संपूर्ण चर्चा को सदैव के लिए समाप्त कर दें। एक राज्य के, अर्थात् भारत के अंतर्गत अनेक स्वायत्त अथवा अर्द्धस्वायत्त राज्यों के अस्तित्व को मिटा दें तथा एक देश, एक राज्य, एक विधानमंडल, एक कार्यपालिका घोषित करें। उसमें खंडात्मक, क्षेत्रीय, सांप्रदायिक, भाषायी अथवा अन्य प्रकार के गर्व का चिह्न भी नहीं होना चाहिए। इन भावनाओं को हमारे एकत्व के सामंजस्य को उद्ध्वस्त करने का अवकाश नहीं मिलना चाहिए। संविधान का पुन परीक्षण एवं पुनर्लेखन हो, ताकि अंग्रेजों द्वारा किया गया तथा वर्तमान नेताओं द्वारा मूढतावश ग्रहण किया हुआ कुटिल प्रचार कि हम अनेक अलग-अलग मानव-वंशों अथवा राष्ट्रीयताओं के गुट हैं, जो संयोगवश भौगोलिक एकता एवं एक समान सर्वप्रधान विदेशी शासन के कारण साथ-साथ रह रहे हैं, इस एकात्मक शासन की स्थापना द्वारा प्रभावी ढंग से अप्रमाणित हो जाए। हम विधान निर्माताओं और राज्य पुनर्गठन समिति के 'सुयोग्य सदस्यों' के कृतज्ञ हों, किंतु राष्ट्र को अपने ही में विभाजित हो टुकडे-टुकडे होकर विनाश की दिशा में अग्रसर न होने दें। हमारे वर्तमान राज्यकर्ताओं को चाहिए कि वे साहस से काम लें, वस्तुस्थिति की ओर वास्तविकता की दृष्टि से देखें, सम्मुख उपस्थित विघटन के संकट पर चिंतन-मनन करें, परिस्थितियों से अनवगत उन लोगों के दिशाभ्रष्ट विरोध, जो ऐसा विरोध करने की नीचता दिखाएँ, का सामना करें और सुदृढता से इस वर्तमान विकृत ढाँचे, अर्थात् एकात्मक शासन में परिवर्तित कर दें।

शंकराचार्य एवं लिंकन वर्तमान नेतृत्व को प्रेरणा दें

इस प्रकार एक ही झपट्टे में देश को खंडित करने की सभी बातें शांत हो जाएँगी। पृथकता का उमडता हुआ प्रवाह, अविश्वास एवं पारस्परिक विरोध समाप्त हो जाएँगे और एक एकरस के, एक राष्ट्र के सामंजस्यपूर्ण विकास के लिए आवश्यक परिस्थिति निर्माण हो जाएगी। इसमें संदेह नहीं कि कुछ आक्रोश करनेवाले तत्त्वों को छोडकर संपूर्ण जनता ऐसी योजना का समर्थन करेगी तथा तब हमारे वर्तमान नेता भावी इतिहास में भारत की राष्ट्रीय सुदृढता के सफल निर्माता माने जाएँगे। और भावी संतति उन्हें शंकराचार्य का वर्तमान स्वरूप अथवा अब्राहम लिंकन के भारतीय समकक्ष मानकर उनकी पूजा करेगी।

हमारी पीढी के नेताओं की देशभक्ति एवं चिरंतन भारतीय राष्ट्र में

उनका विश्वास आज कसौटी पर है। आज के ऐतिहासिक क्षण अनेक साहस, दृढनिश्चय एव अपने पुरातन, किंतु अमर राष्ट्र के लिए उत्कट प्रेम का आह्वान कर रहे हैं। इस समय अपनी दृढता और निर्भीकता को व्यक्त करनेवाला जो कदम वे उठाएँगे, वह सिद्ध करेगा कि वे शुद्ध स्वर्ण हैं अथवा केवल पानी चढा हुआ मुलम्मा। जो सर्वशक्तिमान सदैव अपनी प्रज्ञा से इस हिंदू-राष्ट्र को अपना सही मार्ग, धर्म का मार्ग याने सपूर्ण समाज को प्रेममय एकता के बधन में आबद्ध कर खडा कर देने का मार्गनिर्देश करता रहा है, उससे हम यही प्रार्थना करें कि इस कठिन समय में वह हमारे नेताओं का मार्गदर्शन करे, सच्चे ज्ञान से उन्हें स्फूर्त करे तथा हमारे महान समाज के वैभवशाली पुनरुत्थान के सही मार्ग पर चलने का साहस प्रदान करे।

ҩ ҩ ҩ

३ शाश्वत अधिष्ठान

वृद्धि की आकाक्षा

राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ का कार्य एक अत्यत छोटे स्वरूप में आरभ हुआ। धीरे-धीरे, परतु दृढता के साथ कालातर में इसने अपने कार्य का विस्तार किया और आज हम देखते हैं कि सघ की शाखाएँ देश के प्रत्येक प्रात में पूर्ण वेग के साथ कार्य कर रही हैं। बाह्य प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण उपस्थित सतत उथल-पुथल और चुनौतियों के बीच निरतर वृद्धि और स्थिर विस्तार सघ की अचूक विशेषता रही है।

सघ प्रारभ होने के पद्रह वर्ष में उसके सामने तब प्रथम परीक्षा का काल उपस्थित हुआ, जब उसके सस्थापक परम पूजनीय डा हेडगेवार का अकस्मात तथा अनपेक्षित देहावसान हुआ। कहने की आवश्यकता नहीं कि डाक्टर साहब ने सगठन को जीवन-प्राण से सींचा था। उन्होंने अपने जीवन को एक जलते हुए दीपक के समान बना दिया था, जो तेल की अतिम बूँद तक जलता रहा। ऐसा एक अपरिहार्य तथा अनुपम नेता अकस्मात चला गया। तब सगठन अभी बाल्यावस्था में ही था। सघ के अनेक शुभचिंतकों के लिए यह एक आश्चर्य का विषय था कि सघ

द्विगुणित गति तथा उत्साह से बढता गया। इसकी स्थिर प्रगति अंग्रेजों के चले जाने के पश्चात् भी घटी नहीं। कुछ लोगों को यह एक आश्चर्यजनक घटना प्रतीत होती है। भ्रमित होकर वे पूछते हैं-- 'अब अंग्रेज चले गए हैं और हम स्वतत्र हो गए हैं, तब सघ के समान एक पृथक सगठन की क्या आवश्यकता है? चूँकि अब हम स्वतत्र हैं, इसका क्या प्रयोजन हो सकता है?'

हमारा उत्तर है कि केवल बाह्य परिस्थितियाँ, जैसे राजनीतिक स्वतत्रता आज भी सुगठित अवस्था की महत्ता को कम नहीं करती। वस्तुत केवल एक सुसगठित तथा शक्तिशाली समाज ही स्वतत्र, शातिमय तथा समृद्धिशाली जीवन के फलों का आनद ले सकता है। सगठित जीवन एक स्वतत्र राष्ट्र के लिए अपने स्वातत्र्य की रक्षा हेतु उतना ही प्रभावी हथियार है, जितना अपने बधनों से छुटकारा पाने हेतु एक गुलाम राष्ट्र के लिए। केवल एक सचेत और सगठित राष्ट्र ही आतरिक ह्रास एव विध्वस को रोक सकता है, बाह्य आक्रमणों को परास्त कर सकता है तथा अपनी एकता एव स्वातत्र्य को सुरक्षित रख सकता है।

एक स्थायी अधिष्ठान के लिए

यह भी सर्वविदित है कि समाज की एक स्थायी, सचेत, भावात्मक तथा सगठित अवस्था केवल दूसरों के विरोध पर आधारित नहीं रह सकती। इसका कारण अत्यत सरल है। वे आदोलन जो बाह्य परिस्थितियों की प्रतिक्रियास्वरूप प्रारभ होते हैं, उसी समय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, जब उनके विरोध का निमित्त समाप्त हो जाता है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण भी है। जब विरोध की भावना हमारे मस्तिष्क पर सवार रहती है, तब हमें विवश होकर सतत उन्हीं के बारे में सोचना पडता है, जिनका हम विरोध करते हैं और विशेषतया हमें बार-बार उसके दुष्कार्य एव दुर्गुणों के बारे में मनन करना पडता है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि एक व्यक्ति वैसा ही बन जाता है जैसा वह विचार करता है। निरतर विचार-प्रक्रियाएँ ही व्यक्ति को ढालती हैं। इसलिए अंग्रेजों अथवा मुसलमानों के प्रति घृणा के आधार पर अपने समाज की पुनर्रचना का प्रयास करना विघटन एव विनाश को निमत्रण देना होगा, क्योंकि इस प्रकार उनके क्रूर अपराधों का निरतर स्मरण हमारे मस्तिष्कों को दूषित कर देगा। गभीर चिंतन करने तथा अपने जीवन को तदनुरूप ढालने के लिए क्या हमारे पास भावात्मक, चैतन्यपूर्ण और उदात्त जीवनादर्श नहीं है? क्यों हम अपने हृदयों में एक कुटिल

आक्रामक को चितन विदु के रूप में स्थापित करें?

यह सत्य है कि यदा-कदा हमारे सघ-कार्यकर्ता भी अंग्रेजों तथा मुसलमानों से सबधित घटनाओं का उल्लेख करते हैं। परतु वह केवल उस दिशा की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए ही होता है, जो हम इतिहास से प्राप्त करते हैं, यह स्पष्ट करने मात्र के लिए कि हम स्वय ही अपने पतन के लिए उत्तरदायी हैं। सचमुच इग्लैंड जैसे छोटे-से देश द्वारा अपने भारत जैसे विशाल देश पर ६००० मील दूर से राज्य करने की यह अनोखी घटना ही थी, जिसने अपने सघ के आदरणीय सस्थापक को उनकी बाल्यावस्था के ८वें वर्ष में ही आश्चर्य में डालकर विचार करने के लिए प्रेरित किया था। फिर गुलामी के मूल कारण तथा उसके निराकरण हेतु सही और भावात्मक कार्य-प्रक्रिया के रूप में उन्होंने सघ की स्थापना की।

प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण के परिणाम

कारण जो भी रहे हों, हमारे अधिकाश नेता अंग्रेज अथवा मुसलमान के विरोध की प्रतिक्रियात्मक भावना के शिकार हो गए। परिणाम यह निकला कि वे अंग्रेजियत और मुसलमानियत से प्रभावित हो गए। उदाहरण के लिए– अपने देश में मुसलमानों की बढती हुई हिसा, लूटपाट तथा राजनीतिक क्षेत्र में उनके तुष्टिकरण को रोकने के लिए कुछ अतिवादी हिदू सस्थाएँ स्थापित हुई। उन्होंने मुसलमानों द्वारा किए जानेवाले जबरन धर्मातरण, खून खौलानेवाले कत्लेआम, माँ-बहनों के सतीत्व-हरण, मदिरों के तोडने आदि उन सब हृदय-द्रावक भीषण अत्याचारों से पूर्ण घटनाओं का बार-बार बखान किया, जो मुसलमानों के भारत में कदम रखने से लेकर आज तक जारी हैं।

इस तथ्य को स्पष्ट करनेवाला एक प्रसग है, जो गोहत्या विरोधी आदोलन के दिनों में मेरे सामने आया। मैं एक अतीव प्रसिद्धिप्राप्त एव विद्वान हिदू नेता से मिला, जो अपनी धधकती देशभक्ति के लिए सुपरिचित हैं। हमारी बातचीत के दौरान सहसा उन्होंने पूछा– 'क्या हानि है, यदि एक हिदू गोमास खाता है?' मैं उन सज्जन, जिनके प्रति मेरे हृदय में बहुत सम्मान है, से ये शब्द सुनकर सन्न-सा रह गया। ऐसे उद्गारों की अभिव्यक्ति, जिसके विचार-मात्र से एक गया-बीता हिदू भी कॉप उठेगा, का क्या कारण हो सकता है? कारण है कि मुसलमानों और उनके दुर्गुणों के सतत चितन ने उनके मस्तिष्क पर वैसे ही विचारों की एक गहरी छाप छोड

द्विगुणित गति तथा उत्साह से ह
चले जाने के पश्चात् भी घटी न
घटना प्रतीत होती है। अमित होव
और हम स्वतत्र हो गए हैं, तव स
आवश्यकता है? चूँकि अब हम स्वत

हमारा उत्तर है कि केवल
स्वतन्त्रता आज भी सुगठित अवस्था ह
केवल एक सुसगठित तथा शक्तिशार
समृद्धिशाली जीवन के फलों का आन
स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए अपने स्वातत्र्य की
है, जितना अपने बधनों से छुटकारा प
केवल एक सचेत और सगठित राष्ट्र ही
सकता है, वाह्य आक्रमणों को परास्त कर
स्वातत्र्य को सुरक्षित रख सकता है।

एक स्थायी अधिष्ठान के लिए

यह भी सर्वविदित है कि समाज की
तथा सगठित अवस्था केवल दूसरों के वि
सकती। इसका कारण अत्यत सरल है। वे अ
की प्रतिक्रियास्वरूप प्रारभ होते हैं, उसी समय
उनके विरोध का निमित्त समाप्त हो जाता
दृष्टिकोण भी है। जब विरोध की भावना हमारे
है, तब हमें विवश होकर सतत उन्हीं के बारे में
हम विरोध करते हैं और विशेषतया हमें बार-बार
के बारे में मनन करना पडता है। हमारे शास्त्र कह
ही बन जाता है, जैसा वह विचार करता है। निर
व्यक्ति को ढालती हैं। इसलिए अग्रेजों अथवा मुसल
आधार पर अपने समाज की पुनर्रचना का प्रयास कर
को निमत्रण देना होगा, क्योंकि इस प्रकार उनके क्रूर
स्मरण हमारे मस्तिष्कों को दूषित कर देगा। गभीर चित
जीवन को तदनुरूप ढालने के लिए क्या हमारे पास भ
और उदात्त जीवनादर्श नहीं है? क्यों हम अपने हृद

अपने राष्ट्रीय अस्तित्व में यह भावात्मक श्रद्धा हमारे सभी कार्यो के लिए निरतर प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार का वास्तविक प्रेम वाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता, न ही वह उनके कारण उत्पन्न होता है। इसकी जडें हमारे हृदय में होती हैं, जो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में अपने राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का स्मरण कराती रहती हैं। यह हमें सचेत करता रहता है कि हम इस महान एव पवित्र मातृभूमि से सवधित हैं, इसकी कृतज्ञता का हमारे ऊपर वडा ऋण है और हमारी प्रत्येक कृति इसके कार्य हेतु समर्पित होनी चाहिए।

हिदुत्व, जो हमारा प्रधान अवलब है, इस पवित्र एव सर्वग्राही प्रेम का पोपण करता है तथा प्रतिक्रिया की भावना से सर्वथा मुक्त है। सघ के हम लोग, जो इस परपरा में जन्मे तथा पले हैं, केवल अपना कर्तव्य करते हैं। हम प्रतिक्रिया नहीं करते। वास्तव में क्षुद्र एव भौतिक वस्तुओं की ही ऐसी प्रकृति होती है कि वे क्षणिक गर्मी या सर्दी के प्रति प्रवल प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती हैं, परतु स्वस्थ प्राणी मौसम के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होते। वे अपना एक स्थिर तापक्रम बनाए रखते हैं, जिसको मौसम के उग्र परिवर्तन भी बदल नहीं सकते। होता यह है कि जव कभी उनके शरीर प्राकृतिक तापक्रम को बनाए नहीं रख सकते, तब वे निर्जीव होकर गिर पडते हैं। इसलिए हम अपने मन चक्षु के सम्मुख सगठित समाज की कल्पना सदैव बनाए रखते हैं, जो वाह्य परिस्थितियों में परिवर्तनों के कारण अपने मार्ग से इधर-उधर नहीं होती।

जीवन के प्रति इस अप्रतिक्रियात्मक, भावात्मक
स्थापित है, इसीलिए वह वाह्य वायुमडल
अप्रभावित रहकर शातिपूर्वक तथा स्थिर
जा रहा है। अपने सामाजिक जीवन की
अवस्था की यह कल्पना ही एक
की लेश-मात्र भावना से भी रहित
प्रेरणा के शाश्वत स्रोत का कार्य
के दैनदिन कार्य में हर्ष तथा प्रेरणा
ने स्वप्नों की कल्पना को स्वल्प रूप
होते देखता है। उसे जीवन-कार्य

दी है और उनको सांस्कृतिक दृष्टि से एक मुसलमान बना दिया है, यद्यपि वे राजनीतिक दृष्टि से हिंदू ही बने हुए हैं।

इस प्रतिक्रियात्मक मनोवृत्ति से युक्त वातावरण के कारण ही लोग संघ को भी इसी दृष्टि से देखते हैं। एक बार हम एक जगह अपना कार्य प्रारंभ करने गए हुए थे। नगर के सज्जनों ने हमसे प्रश्न किया– 'हमारे नगर में संघ की क्या आवश्यकता है? यहाँ तो मुसलमान हैं ही नहीं।' मैंने उत्तर दिया– 'हम यहाँ हिंदुओं का संगठन करने के लिए आए हैं, मुसलमानों का नहीं। मैं आशा करता हूँ कि आप सब हिंदू हैं। इसमें हमें क्या सरोकार कि यहाँ मुसलमान रहते हैं अथवा नहीं।'

जीवित समाज का लक्षण

इस प्रतिक्रियात्मक भूमिका के कारण लोग कहते हैं कि अब परिस्थितियों में परिवर्तन हो गया है और क्योंकि अंग्रेज इस देश को छोड़कर चले गए हैं, इसलिए इस प्रकार के संगठन की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत हम समस्या को भिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। हम कहते हैं कि हिंदू यहाँ थे और यहाँ रहते चले आ रहे हैं। वे असंगठित थे और अब भी असंगठित हैं। हम वही विघटित, मूक 'हिंदू-समाज' आज भी देख रहें हैं, जो अपने-आपको किसी प्रकार का विरोध व्यक्त किए बिना कुचलवाए जा रहा है। जब यह बोलता है तो इतने स्वरों में बोलता है, जिससे कोई अर्थ प्रकट नहीं होता। इस प्रकार स्थिति में किंचित भी परिवर्तन नहीं हुआ है। मान लीजिए एक व्यक्ति संक्रामक रोग के दिनों में विषम-ज्वर से पीड़ित है। क्या उस रोगी की चिकित्सा करनेवाला डाक्टर उस स्थिति में रोगी के प्रति अपनी रुचि समाप्त कर देगा, यदि नगर का स्वास्थ्य अधिकारी यह घोषणा कर दे कि अब यह संक्रामक रोग समाप्त हो गया है? ठीक इसी प्रकार क्या हम यह नहीं देख पाते कि इस महान एवं प्राचीन समाज के विघटन की पुरानी व्याधि अब भी पीड़ित किए जा रही है? तब हम रोग-मुक्ति के लिए उपयुक्त औषधि देने का कार्य कैसे बंद कर सकते हैं?

इसलिए अपने समाज को सुगठित, संगठित तथा शक्तिशाली बनाना आज भी हमारा उतना ही महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है, जितना यह पहले कभी था। यह हमारा धर्म है कि हम अपने समाज को शक्तिशाली, महान तथा सुखी बनाएं। अपने समाज के लिए यह सहज प्रेम एवं भक्तिभाव,

अपने राष्ट्रीय अस्तित्व में यह भावात्मक श्रद्धा हमारे सभी कार्यों के लिए निरतर प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार का वास्तविक प्रेम बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता, न ही वह उनके कारण उत्पन्न होता है। इसकी जड़ें हमारे हृदय में होती हैं, जो हमारे जीवन के प्रत्येक क्षण में अपने राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का स्मरण कराती रहती हैं। यह हमें सचेत करता रहता है कि हम इस महान एव पवित्र मातृभूमि से सबधित हैं, इसकी कृतज्ञता का हमारे ऊपर बडा ऋण है और हमारी प्रत्येक कृति इसके कार्य हेतु समर्पित होनी चाहिए।

हिंदुत्व, जो हमारा प्रधान अवलब है, इस पवित्र एव सर्वग्राही प्रेम का पोषण करता है तथा प्रतिक्रिया की भावना से सर्वथा मुक्त है। सघ के हम लोग, जो इस परपरा में जन्मे तथा पले हैं, केवल अपना कर्तव्य करते हैं। हम प्रतिक्रिया नहीं करते। वास्तव में क्षुद्र एव भौतिक वस्तुओं की ही ऐसी प्रकृति होती है कि वे क्षणिक गर्मी या सर्दी के प्रति प्रबल प्रतिक्रिया प्रदर्शित करती हैं, परतु स्वस्थ प्राणी मौसम के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होते। वे अपना एक स्थिर तापक्रम बनाए रखते हैं, जिसको मौसम के उग्र परिवर्तन भी बदल नहीं सकते। होता यह है कि जब कभी उनके शरीर प्राकृतिक तापक्रम को बनाए नहीं रख सकते, तब वे निर्जीव होकर गिर पडते हैं। इसलिए हम अपने मन चक्षु के सम्मुख सगठित समाज की कल्पना सदैव बनाए रखते हैं, जो बाह्य परिस्थितियों में परिवर्तनों के कारण अपने निर्धारित मार्ग से इधर-उधर नहीं होती।

स्वप्न साकार करना

सघ अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रति इस अप्रतिक्रियात्मक, भावात्मक तथा स्थायी श्रद्धा पर दृढतापूर्वक स्थापित है, इसीलिए वह बाह्य वायुमडल में होते रहनेवाले परिवर्तनों से अप्रभावित रहकर शातिपूर्वक तथा स्थिर गति से उत्तरोत्तर शक्तिमान होता जा रहा है। अपने सामाजिक जीवन की एक नित्य, शक्तिमान तथा वैभवशाली अवस्था की यह कल्पना ही एक स्वयसेवक के लिए सघकार्य को स्वार्थ की लेश-मात्र भावना से भी रहित जीवन-कार्य के रूप में अपनाने के लिए प्रेरणा के शाश्वत स्रोत का कार्य करती है। वास्तव में स्वयसेवक को सघ के दैनदिन कार्य में हर्ष तथा प्रेरणा का स्फुरण अनुभव होता है। वह अपने स्वप्नों की कल्पना को स्वल्प रूप में ही क्यों न हो, वास्तविकता में चरितार्थ होते देखता है। उसे जीवन-कार्य

सत्य, अहिंसा, चारित्र्य, देशभक्ति आदि सभी सिद्धांत हवा में विलीन हो गए हैं। यद्यपि घोष वाक्य वही हैं, लेकिन उनका सार पूर्णतया अदृश्य हो गया है।

ऊपर से सच्चाई का ढोंग करते हुए निरा झूठ बडे ठाठ-बाट के साथ स्वेच्छापूर्वक चल रहा है, उनकी स्वीकारोक्ति के अनुसार सरकार को सन् १९५४ से ही अपनी उत्तरी सीमाओं पर चीनी आक्रमण की जानकारी थी, परंतु उन्होंने वास्तविकता को दबाया तथा उसको अस्वीकार किया और जिन्होंने इसकी चर्चा की, उनका उपहास किया। वे देश के सामने हिंदी-चीनी भाई-भाई' का आकर्षक चित्र खींचते रहे। क्या यह मिथ्याचार की पराकाष्ठा नहीं है?

जहाँ तक अहिंसा का सबंध है, निस्संदेह हमारे नेता समस्त ससार को शांति और अहिंसा का उपदेश देते हैं, परंतु स्वदेश में जिनको वे अपना राजनीतिक विरोधी समझते हैं, ऐसे देशवासियों पर अंग्रेजी शासनकाल से भी अधिक गिरफ्तारियाँ, लाठीचार्ज तथा गोली-वर्षा करते हुए हिंसा कर रहे हैं और जहाँ तक वाणी द्वारा हिंसा की बात है, इसकी तो कोई सीमा ही प्रतीत नहीं होती। प जवाहरलाल नेहरू ने एक समय देश के सभी राजनीतिक नेताओं से अपनी आलोचनाओं में सयत रहने के लिए सार्वजनिक प्रार्थना की थी और उन्होंने ही उन लोगों, जो उनके राजनीतिक विचारों से भिन्नता रखते थे, की 'गद्दार' कहकर भर्त्सना की थी।

चरित्र की अवनति तो आजकल सामान्य बात बन गई है। भ्रष्टाचार तथा पक्षपात व्यापक हो गए हैं। विभिन्न विभागों में भ्रष्टाचार रोकने के लिए एक पृथक विभाग खोला गया है। किंतु यह अनुभव किया गया कि स्वय उस भ्रष्टाचार-विरोधी विभाग में भ्रष्टाचार रोकने के लिए एक अन्य विभाग की आवश्यकता है। इस प्रकार यह सब ऐसा ही चलता रहेगा। मेरे एक परिचित व्यक्ति, जो कभी एक बडे कांग्रेसी कार्यकर्ता थे, मुझसे मिलने आए। वे दुःख प्रकट करने लगे कि चोरबाजारी, तस्करी, भ्रष्टाचार आदि रोकने के लिए इतने अधिक विभाग बनाए रखने के लिए सरकारी धन का अत्यधिक अपव्यय हो रहा है। उन्होंने सुझाव दिया कि इन बुराइयों के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों का सुधार करने का कार्य सघ को ले लेना चाहिए। मैंने उनसे कहा, 'मैं आपके सुझाव का स्वागत करता हूँ। परंतु क्या आप यह बताएँगे कि मैं किससे आरभ करूँ?' मैंने जो कुछ कहा उसे वे भी समझ गए, क्योंकि वे अच्छी प्रकार जानते थे कि उच्चतम

की पूर्ति के लिए और अधिक प्रयत्नशील होने की प्रेरणा मिलती है।

संघकार्य का यह अनोखा लक्षण है, जिसमें 'साधन' और 'साध्य' एकरूप हो जाते हैं। सुसंगठित समाज के निर्माण का हमारा 'साध्य' व्यक्तियों को एकत्रित करने तथा संगठित जीवन के लिए उन्हें संस्कारित करने के प्रत्यक्ष कार्य, अर्थात् 'साधन' द्वारा धीरे-धीरे दिन-प्रतिदिन साकार होता जा रहा है। भक्तों के संबंध में हमारे शास्त्रों ने जो उपदेश दिए हैं, यह बात ठीक उनके अनुकूल है। एक भक्त के लिए भक्ति 'साधन' और 'साध्य' दोनों हैं- 'स्वयंफलरूपता'। इसी प्रकार हमारा संगठन-कार्य, जो समाज के प्रति आत्यंतिक भक्ति के कारण उत्पन्न होता है, स्वप्रेरित तथा स्व-आधारित है। अपने स्वीकृत ध्येयपथ पर हमारी पूर्ण एकाग्रता, जो कि शाश्वत शक्तिशाली, आत्मनिर्भर राष्ट्रजीवन के मूलाधार रूप सिद्धांतों के परिपूर्ण ज्ञान से उत्पन्न होती है, ने ही हमारे इस संगठन को सतत विकासशील और अजेय बनाया है।

एक विरोधी उदाहरण

अब इसके विपरीत एक उदाहरण लें, जो इस दृष्टिकोण को अधिक अच्छी प्रकार से समझने में सहायक हो सकता है। यह एक ऐसे संगठन का उदाहरण है, जिसने अपने समक्ष एक अस्थायी उद्देश्य रखा था। इंडियन नेशनल कांग्रेस, जो आज देश में सबसे पुराना राजनीतिक दल है, ने अपने सामने अंग्रेजों को भारत से निकालने का उद्देश्य रखा था। अब क्योंकि अंग्रेज चले गए हैं, कांग्रेस का उद्देश्य पूरा हो गया है। यथार्थ में इसी कारण महात्मा गाँधी जी, जो इस संस्था के लगभग २५ वर्ष तक मुख्य आश्रय-दाता रहे तथा जिनको इसकी कार्यपद्धति का पूर्ण ज्ञान था, ने अंग्रेजों के चले जाने के तुरंत बाद ही कांग्रेस को भंग कर देने का परामर्श दिया था। परंतु जैसा हम जानते हैं, मनुष्य को नाम और रूप से लगाव हो जाता है। इसीलिए उनके बहुत से अनुयाइयों को कांग्रेस भंग कर देने का विचार रुचिकर नहीं लगा। कदाचित् राजनीतिक सत्ता का स्वाद भी अपने नेता की आंतरिक इच्छा को झुठलाकर उसी नाम और रूप के साथ चिपके रहने का एक कारण रहा होगा।

परिणाम यह है कि प्राप्ति के लिए कोई भावात्मक लक्ष्य सामने न होने के कारण वह अत्यल्पकाल में ही उन सब आदर्शों से दूर तथा पतित हो गई है, जिनकी घोषणा उसने अंग्रेजों के साथ संघर्ष के समय की थी।

सत्य, अहिसा, चारित्र्य, देशभक्ति आदि सभी सिद्धात हवा में विलीन हो गए हैं। यद्यपि घोष वाक्य वही हैं, लेकिन उनका सार पूर्णतया अदृश्य हो गया है।

ऊपर से सच्चाई का ढोंग करते हुए निरा झूठ बडे ठाठ-बाट के साथ स्वेच्छापूर्वक चल रहा है, उनकी स्वीकारोक्ति के अनुसार सरकार को सन् १९५४ से ही अपनी उत्तरी सीमाओं पर चीनी आक्रमण की जानकारी थी, परतु उन्होंने वास्तविकता को दवाया तथा उसको अस्वीकार किया और जिन्होंने इसकी चर्चा की, उनका उपहास किया। वे देश के सामने 'हिंदी-चीनी भाई-भाई' का आकर्षक चित्र खींचते रहे। क्या यह मिथ्याचार की पराकाष्ठा नहीं है?

जहाँ तक अहिसा का सबध है, निस्सदेह हमारे नेता समस्त ससार को शाति और अहिसा का उपदेश देते हैं, परतु स्वदेश में जिनको वे अपना राजनीतिक विरोधी समझते हैं, ऐसे देशवासियों पर अग्रेजी शासनकाल से भी अधिक गिरफ्तारियाँ, लाठीचार्ज तथा गोली-वर्षा करते हुए हिसा कर रहे हैं और जहाँ तक वाणी द्वारा हिसा की वात है, इसकी तो कोई सीमा ही प्रतीत नहीं होती। प जवाहरलाल नेहरू ने एक समय देश के सभी राजनीतिक नेताओं से अपनी आलोचनाओं में सयत रहने के लिए सार्वजनिक प्रार्थना की थी और उन्होंने ही उन लोगों, जो उनके राजनीतिक विचारों से भिन्नता रखते थे, की 'गद्दार' कहकर भर्त्सना की थी।

चरित्र की अवनति तो आजकल सामान्य बात बन गई है। भ्रष्टाचार तथा पक्षपात व्यापक हो गए हैं। विभिन्न विभागों में भ्रष्टाचार रोकने के लिए एक पृथक विभाग खोला गया है। कितु यह अनुभव किया गया कि स्वय उस भ्रष्टाचार-विरोधी विभाग में भ्रष्टाचार रोकने के लिए एक अन्य विभाग की आवश्यकता है। इस प्रकार यह सब ऐसा ही चलता रहेगा। मेरे एक परिचित व्यक्ति, जो कभी एक बडे काग्रेसी कार्यकर्ता थे, मुझसे मिलने आए। वे दु ख प्रकट करने लगे कि चोरबाजारी, तस्करी, भ्रष्टाचार आदि रोकने के लिए इतने अधिक विभाग बनाए रखने के लिए सरकारी धन का अत्यधिक अपव्यय हो रहा हे। उन्होंने सुझाव दिया कि इन बुराइयों के लिए उत्तरदायी व्यक्तियों का सुधार करने का कार्य सघ को ले लेना चाहिए। मैंने उनसे कहा, 'मैं आपके सुझाव का स्वागत करता हूँ। परतु क्या आप यह बताएँगे कि मैं किससे आरभ करूँ?' मैंने जो कुछ कहा उसे वे भी समझ गए, क्योंकि वे अच्छी प्रकार जानते थे कि उच्चतम

व्यक्तियों की नसों में भी यह दोष प्रवेश कर गया है।

नया पागलपन

अब हम देशभक्ति एवं स्वार्थत्याग की उन उदात्त कल्पनाओं की वर्तमान अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं, जिन्होंने अंग्रेज-विरोधी आंदोलन के दिनों में अपने नेताओं को प्रोत्साहित किया था, तो हमें ज्ञात होता है कि उनके अर्थ ही सर्वथा बदल गए हैं। *मातृभूमि की अखंडता अब उनके लिए सजीव कल्पना नहीं रह गई है।* श्रेष्ठ नेताओं ने भी देश को खंडित करने के उद्देश्य से चलाए गए आंदोलनों को आशीर्वाद एवं प्रोत्साहन देना प्रारंभ कर दिया है। श्री सी राजगोपालाचारी ने सन् १९६५ में जिसको वे तमिलनाडु पर 'हिंदी का थोपना' कहते हैं, कहा है कि इसकी तुलना में वे देश का विभाजन अधिक पसंद करेंगे। त्याग के भाव के स्थान पर पुराने त्यागों का पारिश्रमिक बटोरने की भावना ने घर कर लिया है। सच्चा त्याग कहीं दिखाई नहीं पडता। सब ओर त्याग का दिखावा मात्र दृष्टिगोचर हो रहा है। यह तो एक पंडित की कहानी जैसी बात हो गई, जो सत्यनारायण की कथा कहने के बाद पूजा में से एक हीरा चुराकर चलता बना, किंतु दिखावे के लिए धागे का एक टुकडा देने पूरा रास्ता वापस चलकर पुन उस घर में आया और घर के लोगों पर अपनी ईमानदारी की छाप बैठा गया।

त्याग की वास्तविक भावना से रहित दिखावे की इस प्रवृत्ति ने हमारी सभी बडी योजनाओं को एक मजाक बना दिया है। नाम और ख्याति की इच्छा को सेवा समझा जा रहा है। एक मजेदार उदाहरण है। कुछ वर्ष पूर्व गंगा नदी में बाढ आई थी, जिससे काशी का कुछ भाग जलमग्न हो गया। एक मंत्री, जो प्रसंगवश उस समय वहाँ थे, ने प्रभावित क्षेत्रों को देखने का विचार किया और बाढ के पानी के किनारे तक कार में गए। वहाँ उन्होंने अपने सचिव से पूछा कि फोटोग्राफर कहाँ है? परंतु वह 'महत्त्वपूर्ण व्यवस्था' किसी प्रकार नहीं हो पाई थी। कार फोटोग्राफर को लाने के लिए वापस भेजी गई। जब वह आ गया और 'बाढ-सहायता कार्य' के नाटक के लिए घुटनों तक पानी में खडे हुए मंत्री जी के दो-एक छाया-चित्र खींच लिए, उसके बाद वे सब बाढ-पीडितों के लिए अपना अधिकतम योगदान करने का संतोष अर्जित कर प्रसन्नतापूर्वक कार में लौट आए।

अस्थिर श्रद्धाएँ

वे व्यक्ति, जो किसी समय राष्ट्र के लिए समर्पण की बातें कहा करते थे, अब स्वयं के बड़प्पन की छाया के पीछे दौड़े जा रहे हैं। आत्मसमर्पण का स्थान आत्म-अहंकार ने ले लिया है। उनके विचार, शब्द और कार्य सभी अहं-केंद्रित हो गए हैं। कुछ वर्ष पूर्व पंडित नेहरू नागा-पर्वतीय क्षेत्रों के प्रवास पर गए थे। कुछ लोग पृथक स्वतंत्र राज्य की माँग के लिए उन्हें सार्वजनिक सभा में एक स्मृति-पत्र देना चाहते थे, परंतु स्थानीय अधिकारियों ने इसकी अनुमति नहीं दी। विरोधस्वरूप ३००० नागा एक साथ उठ खड़े हुए और जैसे ही पंडित नेहरू भाषण देनेवाले थे, वे सभा छोड़कर चले गए। पंडित नेहरू ने इसे निजी अपमान समझा और कहना आरंभ किया कि विदेशी ईसाई मिशनरी इस देश में दूषित राष्ट्रविरोधी षड्यंत्र रच रहे हैं। इसके पूर्व अब तक वे उनकी 'मानव-सेवा' की गतिविधियों की सब ओर प्रशंसा ही किया करते थे और जब कोई स्थानीय पादरी 'कार्डिनल' बन जाता था, तो इसे वे 'अपने देश का एक बड़ा सम्मान हुआ'– ऐसी घोषणा तक किया करते थे।

संपूर्ण राष्ट्र के लिए स्वार्थरहित निष्ठा का अति श्रेष्ठ तथा आग्रही भाव छोड़कर, इसके स्थान पर छोटे और निम्न-स्तर के उद्देश्यों ने अपने हृदय में घर कर लिया है। दल, भाषा, प्रदेश, संप्रदाय अथवा पंथ के साथ लगाव के बेमेल विरोधी स्वरों ने हमारे राष्ट्रीय जीवन की चिथड़े-चिथड़े कर दिया है। दुर्भाग्य का विषय यह है कि वे 'उच्चस्तरीय नेता' ही हैं, जो अपने स्वार्थ-साधन के लिए इस प्रकार की सभी विश्रृंखलकारी युक्तियाँ अपनाने में अग्रगण्य रहते हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण के लिए स्थापित विशेषज्ञ समिति ने यह कहकर कि जिस ढंग से योजना का स्वरूप निर्धारित किया गया है, वह एक प्रकार से उनके सुविचारित मतों के विरुद्ध उनपर राजनीतिक दबाव डालकर उनसे कराया गया है, योजना के पीछे छिपे असली निहित उद्देश्य को स्पष्ट कर दिया है।

निरुद्देश्य गति

इस प्रकार हमारा समाज प्रगति की ऊँची बातों के नाम पर लक्ष्यहीन बहता जा रहा है। हम नहीं जानते कि हम कहाँ जा रहे हैं। क्या आज कोई ऐसी चीज है, जिसे हम अपने राष्ट्रीय जीवन के स्वत्व के रूप में इंगित कर सकते हैं? जीवन की हमारी पद्धति, शिक्षण की हमारी विधि,

व्यवहार की हमारी रीति, वेश-भूषा का हमारा प्रकार, मकान, कस्बे तथा नगर-निर्माण के हमारे ढग तथा हमारी राष्ट्रीय प्रकृति के ऐसे सभी तत्त्वों में इतना भयानक परिवर्तन आ गया है कि हम एक क्षण के लिए भी यह सोचने हेतु नहीं रुकते कि क्या दूसरों का यह निम्न-स्तर का अनुकरण हमारे राष्ट्र के स्वाभिमान को चोट पहुँचा रहा है, जो हमारी राष्ट्रीय अस्मिता को गँवा बैठने तथा बौद्धिक दासता में बँधते चले जाने का सुनिश्चित लक्षण है।

हमारे नेताओं ने हमारे राष्ट्र के लिए एक नया ध्वज निर्धारित किया है। उन्होंने ऐसा क्यों किया? यह प्रवाहपतितता तथा परानुकरणता का एक स्पष्ट प्रमाण है। इस ध्वज का निर्माण कैसे हुआ? फ्रासीसी क्राति के समय फ्रास ने अपने ध्वज पर 'समता', 'भ्रातृत्व' तथा 'स्वातत्र्य'— इन त्रिरूप कल्पनाओं की अभिव्यक्ति के लिए अपने झडे पर तीन पट्टियाँ बनाई थीं। इसी प्रकार के सिद्धातों से प्रेरित अमरीकी क्राति ने भी कुछ परिवर्तनों के साथ इसको अपना लिया। इसलिए हमारे स्वातत्र्य-सेनानियों के लिए इन तीन पट्टियों का विशेष आकर्षण था। अत काग्रेस ने इसे अपना लिया। फिर इसे विभिन्न जातियों की एकता का स्वरूप प्रकट करने का अर्थ प्रदान किया गया कि भगवा रग हिंदुओं का प्रतीक है, हरा मुसलमानों का तथा सफेद अन्य सभी जातियों का। अहिंदू जातियों में मुसलमानों को विशेष स्थान इसलिए दिया गया, क्योंकि उन प्रख्यात नेताओं के मस्तिष्कों में मुसलमान ने विशेष स्थान बना लिया था और उसका नाम लिये बिना उनके विचार में हमारी राष्ट्रीयता पूर्ण नहीं होती थी। जब कुछ लोगों ने कहा कि इससे तो कुछ साप्रदायिक दृष्टिकोण की गध आती है, तो एक नया स्पष्टीकरण सामने लाया गया कि 'भगवा' त्याग का प्रतीक है, 'सफेद' पवित्रता का और 'हरा' शाति का। इन सब व्याख्याओं पर उन दिनों काग्रेस कमेटियों में वाद-विवाद हुआ। कौन कह सकता है कि यह एक शुद्ध तथा स्वस्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण है? यह तो केवल एक राजनीतिज्ञ की जोड-जाड थी, केवल राजनीतिक कामचलाऊ तात्कालिक उपाय था। यह किसी राष्ट्रीय दृष्टिकोण के अथवा राष्ट्रीय इतिहास तथा परपरा पर आधारित किसी सत्य से प्रेरित नहीं था। वही ध्वज आज कुछ छोटे से परिवर्तनों के साथ राज्य-ध्वज के रूप में अपना लिया गया है। हमारा एक प्राचीन तथा महान राष्ट्र है, जिसका एक गौरवशाली इतिहास है। तब क्या हमारा अपना कोई ध्वज नहीं था? क्या इन सहस्रों वर्षों में हमारा कोई

राष्ट्रीय चिन्ह नहीं था? निस्सदेह, वह था। तब हमारे दिमागों में यह शून्यतापूर्ण रिक्तता क्यों?

हमारा सविधान भी पश्चिमी देशों के विभिन्न सविधानों में से लिए गए विभिन्न अनुच्छेदों का एक भारी-भरकम तथा बेमेल अशों का सग्रह मात्र है। उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसको हम अपना कह सकें। उसके निर्देशक सिद्धातों में क्या एक भी शब्द इस सदर्भ में दिया है कि हमारा राष्ट्रीय-जीवनोद्देश्य तथा हमारे जीवन का मूल स्वर क्या है? राष्ट्रसघ के घोषणापत्र से अथवा पुराने लीग ऑफ नेशन्स के घोषणापत्र से कुछ अपूर्ण सिद्धातों और कुछ अमरीकी एव ब्रिटिश सविधानों की विशेषताओं के कुछ अशों को एक-साथ मिलाकर एक खिचडी मात्र बना दी गई है। थियोड्र शे ने 'द लीगेसी ऑफ लोकमान्य' (लोकमान्य की देन) नामक पुस्तक में लिखा है– 'आश्चर्य है कि स्वराज्य, धर्मराज्य, तथा जीवन के लक्ष्य के साथ राज्य के लक्ष्य के सयोग जैसी कल्पनाएँ सविधान की भूमिका में देखने को नहीं मिलतीं। दूसरे शब्दों में, भारतीय सविधान में भारतीय आदर्शों अथवा राजनीतिक दर्शन की कोई झलक नहीं है।'

हम यह भी देखते हैं कि प्रत्येक चुनाव के पूर्व अथवा प्रत्येक वर्ष ही अनेकों नारों की रचना की जाती है, जो ऐसी विदेशी कल्पनाओं में से चुने जाते हैं, जो बहुत पहले ही असत्य सिद्ध हो चुके हैं। ये कहते हैं कि अब हम 'समाजवाद के सिद्धात' के लिए सघर्ष कर रहे हैं। आजकल काग्रेसी नेता की 'हॉ' में 'हॉ' मिलाने तथा यूरोपीय विचारों की गुलामी की इतनी अधिक भावना है कि एक अदना-सा काग्रेसी कार्यकर्ता भी 'समाजवाद', 'समाज का समाजवादी ढॉंचा', 'लोकतात्रिक समाजवाद' और इसी प्रकार के शब्दों को इस हद तक दोहराता है और दावा करता है, मानो सन् १८८५ से ही काग्रेस की यही सुनिर्धारित नीति चलती आ रही हो।

कभी हम अमरीका की ओर बह जाते हैं और कभी रूस की ओर। यह सब हमें नैतिक तथा बौद्धिक विनाश के अतिरिक्त और कहाँ ले जाएगा? हम इसलिए बहते चले जा रहे हैं, क्योंकि हम अपने पैरों पर नहीं खडे हैं। जिन्होंने अपने आधारस्तभ को ही खो दिया है, उनको बहना ही पडेगा। एक वृक्ष, जो जड से उखड गया है तथा बाढ के प्रवाह में आ गया है, जल की प्रत्येक धारा द्वारा इधर से उधर फेंक दिया जाता है। हमारा सपूर्ण राष्ट्रीय जीवन अपना जडमूल ही खो बैठा है और इसलिए बहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं है। बहने का अर्थ होता है ऊँचे स्तर से निचले

स्तर की ओर जाना और अतत अथाह सागर में डूब जाना। इस दुर्भाग्यपूर्ण अवस्था में ही हम आजकल अपने आपको खडा पाते हैं।

इतिहास की शिक्षा

इस पतन को रोकने का केवल एक उपाय है और वह है स्वय में इस चेतना का पुनर्जागरण कि हमारा अपना भावात्मक आधार है। हमारी अपनी जडें हैं, जो हमारे राष्ट्रीय आदर्शो एव आकाक्षाओं की कथा, इतिहास एव परपरा की धरती में गहरी बैठी हुई है। सघ के सदृश सगठन का भावात्मक एव जीवमान निर्माण ही अपने समस्त समाज को प्रेममय एव शाश्वत भ्रातृत्व में समेटने और उनको राष्ट्रीय भवितव्य के प्रति अत्यत सचेत करने में समर्थ होकर लक्ष्यहीनता से उत्पन्न स्वार्थपरता, मतभेद तथा भद्दे अनुकरण की वर्तमान दुर्गंध को सफलतापूर्वक रोक सकता है।

अत हम प्रामाणिकता के साथ कह सकते हैं कि सघ की आवश्यकता, जिस समय यह प्रारभ किया गया था, उस समय से कहीं अधिक आज अनुभव की जा सकती है। वर्तमान अवस्था में किसी प्रकार की सतोष-भावना उचित नहीं है। देश के अदर तथा बाहर की परिस्थितियाँ विस्फोटक हैं। हम सुना करते हैं कि सतत जागरूकता ही स्वतत्रता का मूल्य है। कम से कम अब हमें अपने इतिहास से शिक्षा लेनी चाहिए। पृथ्वीराज, जो पहले कई बार मोहम्मद गोरी के काफिलों को खदेड सका था, उस समय परास्त हो गया, जब वह देहली के द्वार पर शत्रु के पहुँच जाने पर भी अपनी नवविवाहिता पत्नी सयोगिता के साथ आमोद-प्रमोद में डूबा रहा।

खतरे का सकेत

क्या हम प्रामाणिकता के साथ कह सकते हैं कि हमारा राष्ट्र इतना प्रबल इच्छाशक्तिसपन्न तथा सुसगठित हो गया है कि हम अपने स्वतत्र एव समृद्धिशाली अस्तित्व के प्रति आनेवाली आपत्तियों का विश्वास के साथ सामना कर सकते हैं? क्या हम अपने युवकों के नेत्रों में पौरुष एव आदर्शवाद की चमक देख सकते हैं? इसके विपरीत हम अपने युवकों को विदेशी फैशनों की भद्दी नकलकरते हुए तथा इद्रिय विषयोपभोग में लिप्त देखते हैं। एक बार मुझे काग्रेस द्वारा सचालित शारीरिक शिक्षण का शिविर देखने का अवसर मिला। लडके तथा लडकियाँ कार्यक्रमों में भाग ले रहे

थे। मैंने शिविर के आयोजक से पूछा– 'क्या यह अच्छा नहीं होता कि यहाँ लडकियाँ नहीं बुलाई जातीं।' उसने निष्कपट भाव से स्वीकार किया कि उस अवस्था में बहुत कम युवक वहाँ आए होते। लखनऊ में एक युवक सम्मेलन आयोजित किया गया था। वहाँ अपने मित्रों से उस सम्मेलन का ऑंखों–देखा विवरण सुनने पर मैंने अनुभव किया कि उस सम्मेलन का कोई शैक्षणिक महत्त्व नहीं था, बल्कि वह भयानक अनैतिकता फैलाने का एक अपवित्र केंद्र मात्र था।

कोई भी राष्ट्र अपने युवकों के ऐंद्रिय विषयों तथा क्लीवता में लिप्त हो जाने पर जीवित रहने की आशा नहीं कर सकता है। यह क्षय तथा विनाश का निश्चित लक्षण है, भले ही कुछ काल विशेष के लिए राष्ट्र कितना भी समृद्धिशाली तथा शक्तिशाली हो जाए। एक बार एक अमरीकी सवाददाता यह जानने के लिए मुझसे मिलने आया कि अमरीका तथा रूस की वर्तमान खींचा–तानी में अपने सघ की सहानुभूति किस ओर है। परतु हम तो अपने ही पैरों पर दृढ खडे रहते हैं, अपने आपको किसी भी ओर खिचने नहीं देते। उसने पूछा– 'आपकी आजकल के अमरीका के बारे में क्या राय है?' मैंने उत्तर दिया– "अमरीका बडी तेजी के साथ आत्मविनाश के मार्ग पर जा रहा है। आप जरा अपने वस्त्रों को देखें। आप एक ढीला–ढाला फैशनेबल वेश पहने हुए हैं। आपकी जेब में कघा है, वह आजकल के सामान्य अमरीकी की स्त्रैण प्रकृति का परिचायक है। प्रथम विश्वयुद्ध में 'मित्र सेनाओं' का सर्वोच्च सेनाधिकारी एक फ्रासीसी मार्शल फोश था। उस समय उस राष्ट्र की इतनी पराक्रमयुक्त स्थिति थी कि उन्होंने विकट निश्चय के साथ जर्मनी से मोर्चा लिया और अतत युद्ध मे विजय प्राप्त की। उन्होंने जर्मनी का एक बडा हिस्सा भी अपने अधिकार में ले लिया। परतु विजय के पश्चात् फ्रासीसी लोग इद्रियलोलुपता तथा सुखोपभोग के शिकार हो गए। वे मद्यपान, नाच–गाने में लिप्त हो गए, जिसके फलस्वरूप अपने विशाल सैनिक सगठन तथा अपनी 'मेजीनो रेखा' के होते हुए भी द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मन आक्रमण के १५ दिन के अदर ही फ्रास का पतन हो गया और फ्रास के आकस्मिक तथा पूर्ण पुरुषत्व की शक्ति को उखाड फेंका गया। युद्ध के पश्चात् वृद्ध फ्रासीसी जनरल माशल पेता ने कहा– 'फ्रास की पराजय युद्ध–क्षेत्र में नहीं, बल्कि पेरिस के नृत्य–गृहों में हुई।' मैं प्रामाणिकतापूर्वक आशा करता हूँ कि अमरीका समय रहते जाग उठेगा और अपने तरुण पुरुषत्व के इस आतरिक क्षय को रोकेगा।"

हमारे देश में भी परिस्थिति भिन्न नहीं है। तरुण पुरुषों का आधुनिक फैशन बना है— अधिकाधिक स्त्रैण रूप में दिखाई पडना। वेश में, स्वभाव में, साहित्य में और अपने दैनदिन जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'आधुनिकता' का अर्थ हो गया है 'स्त्रैणता'। 'यौन' हमारे सभी 'आधुनिक' साहित्य का एक सर्वव्यापी विषय-विशेष हो गया है। ससार-भर के देशों के इतिहास ने बार-बार यह प्रकट किया है कि यौन-प्रभावित साहित्य ने ही राष्ट्रों तथा सभ्यताओं के विनाश की निश्चित भूमिका तैयार की है।

यह है, सक्षेप में 'स्वातत्र्य' काल में हमारे राष्ट्रीय जीवन का आतरिक चित्र। यह खतरे का सकेत है, जिसके प्रति हम दुर्लक्ष्य नहीं कर सकते। इन परिस्थितियों में केवल सघ ही एक ऐसा सगठन है, जिसने अपने समाज को एक ऐसे शुद्ध, पवित्र, कल्याणकारी तथा सगठित जीवन में सूत्रबद्ध करने का निश्चय किया हुआ है, जो त्याग एव पराक्रम की भावना से युक्त हो और जो हमारे प्राचीन तथा गौरवशाली राष्ट्रत्व की भावात्मक तथा स्थायी नींव पर आधारित हो। अपने राष्ट्र की रक्षा तथा पुनर्निर्माण के लिए ऐसे ही सगठन का आसरा लिया जा सकता है और यही है आह्वान अभी तक अपूर्ण इस कार्योद्देश्य का, जो राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के निरतर विकसित होते हुए तथा निरतर बढते हुए कार्य के पीछे की प्रेरक शक्ति है।

४ आधार-तत्त्वो का पोषण

(शिक्षकों को सबोधित)

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शिक्षा का केंद्र-बिंदु शिक्षक है। अत यह उचित ही है कि हम इस सदर्भ में कुछ मूलभूत बिंदुओं पर सक्षेप में विचार करें।

प्रारभ यहीं से करें कि आधुनिक सदर्भ में 'शिक्षा' का अर्थ-सकेत क्या है? यह मानव की अतर्निहित क्षमताओं का प्रकटीकरण है। सूचनाओं का मस्तिष्क में ठूँसना-भर शिक्षा नहीं है। इसका लक्ष्य मानव-मस्तिष्क को कबाडी का गोदाम बनाना नहीं है। शिक्षा को सर्वत्र मानव में निहित विविध

प्रतिभाओं तथा क्षमताओं की पहचान एव प्रकटीकरण के आधार-स्तभ के रूप में ग्रहण किया गया है और इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम भी सामने आए हैं। कला और विज्ञान के विविध क्षेत्रों में महान उपलब्धियों से अलकृत व्यक्ति तो अन्य अनेक देशों में भी विद्यमान हैं, परतु हम हिंदू और भी आगे गए हैं। हमारे लिए शिक्षा का सार है व्यक्ति के अत व्यक्तित्व का प्रकटीकरण अथवा प्रस्फुटीकरण। जीवन मनोविकारों का पुज मात्र नहीं है। हमारी मान्यता है कि हमारे भीतर चरम सत्य विद्यमान है। उसी परम सत्य की अनुभूति एव अभिव्यक्ति हमारी शिक्षाप्रणाली का मूल उद्देश्य है। हमारे महान सतों तथा तपस्वियों ने उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया के सबध में विस्तृत दिशा-निर्देश दिए हैं, जिन्हें कार्यान्वित करने में शिक्षक की अत्यत महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

ज्ञानकोष का उपयोग करें

शिक्षक का प्रथम कार्य 'यम व नियम' के दस सिद्धातों को विद्यार्थी के मन में बैठाना है। यम हैं– अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पाँच नियम हैं– शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश-प्राणिधान (ईश्वर के प्रति स्वकर्मार्पण)। वास्तव में बाइबिल में वर्णित 'दस आदेश' भी इन पाँच नियमों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। यदि कुछ विद्यार्थी ही इन यम-नियमों की भावना को आत्मसात कर लें, तो वे अत्यत स्वस्थ वातावरण का निर्माण कर सकते हैं, जिसका अनुसरण कालातर में अन्य लोग भी करेंगे।

युवा हृदयों को इन सिद्धातों की रोचक ढग से जानकारी कराना आवश्यक है। जब मैं माध्यमिक विद्यालय का छात्र था, तब हमारे एक अध्यापक निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त पुराणों की कथाएँ भी अत्यत रोचक तथा शिक्षाप्रद ढग से सुनाते थे। मैंने अपनी माताजी से भी बहुत कुछ सीखा है। वे 'पढी-लिखी' महिला नहीं थीं, अत मैं अपना धार्मिक साहित्य, यथा– महाभारत, रामायण पढकर उन्हें सुनाया करता था और स्वाभाविक रूप से उससे स्वय भी लाभान्वित होता था।

ऐसी ही कथाएँ सदियों से एक राष्ट्र के रूप में हमारी परपराओं तथा चरित्र का निर्माण करती रही हैं। वे शिक्षा का असीम भडार हैं। उदाहरणार्थ– जाबालि की एक कथा है। यह बालक हर परिस्थिति में सत्य पर डटा रहता था। जब उसने एक आचार्य से उसे अपना शिष्य बना लेने

का निवेदन किया, तो उन्होंने उसका गोत्र जानना चाहा। बालक ने घर आकर अपनी माँ जावाला से आचार्य के प्रश्न का उत्तर पूछा। माँ ने कहा– 'सुनो, जब मैं एक व्यक्ति के घर में नौकरानी के रूप में कार्य कर रही थी, तभी तुम मेरे गर्भ में आए थे। अत मुझे स्मरण नहीं कि तेरे पिता कौन थे। अपने आचार्य को यही बात बता देना।' बालक वापस गया और अपनी माता का उत्तर अक्षरश अपने आचार्य को कह सुनाया। आचार्य ने कहा– 'तुम शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो, क्योंकि तुममें चरित्र की ऋजुता और सत्य बताने का साहस है।' इसके बाद ही वह बालक 'सत्यकाम जाबालि' कहलाने लगा।

विकृति की शुद्धि कीजिए

आज हममें से अधिकाश लोग ऐसे बहुमूल्य दृष्टातों और रूपकों के कोष का विस्मरण कर चुके हैं। हमारे अधिकाश नवयुवक यह भी नहीं जानते कि जीवन के सभी पहलुओं के उत्कृष्ट ज्ञान से समृद्ध हमारा कोई प्राचीन इतिहास भी है। आश्चर्य नहीं कि शिक्षा में सकारात्मक एव स्वस्थ विषय-वस्तु के अभाव में हमारे विद्यार्थी अश्लील व असभ्य साहित्य पढना अपनी अभिरुचि बना लेते हैं। उनकी अध्ययन-प्रणाली उनमें सीखने की इच्छा व गहन प्रयास के अभाव को व्यक्त करती है। स्तरीय लेखकों की पाठ्यपुस्तकों एव सदर्भ-साहित्य के पठन-पाठन को विदाई दे दी गई है। सरल गाइड व कुजियों का प्रचलन हो गया है। निजी अध्यापन (ट्यूशन) भी विद्यार्थियों के लिए सफलता का दूसरा सरल उपाय बन गया लगता है। वस्तुत अच्छे शिक्षक को इसे अपने सामर्थ्य व कर्तव्यनिष्ठा का अपमान समझना चाहिए, यदि उसके विद्यार्थी को दूसरों से ट्यूशन पढने की जरूरत पडे। इन सभी सक्षिप्त-मार्गों का दुष्प्रभाव यह हो रहा है कि विद्यार्थियों में समझने की पहल, इच्छाशक्ति एव क्षमता का निरतर ह्रास हो रहा है। सामान्यत यह भी देखा गया है कि ऐसी बातों को शिक्षक स्वय ही प्रोत्साहित करते हैं। कतिपय शिक्षक तो विद्यार्थियों को ट्यूशन हेतु अपने पास आने के लिए धमकाते हैं। इससे छात्रों का उत्साह भी प्रभावित होता है। उनके मन में यह धारणा स्वत उत्पन्न होगी कि अपने कर्तव्य को ईमानदारी से करने की आवश्यकता नहीं है। शेष सभी 'सक्षिप्त-मार्गों' के असफल होने पर नैतिकता का यही लोप 'अनैतिक मार्ग' द्वारा सफलता प्राप्त करने हेतु प्रवृत्त करता हे।

पूरे मन से हिंदू बनो

इन विकृतियों को उभरते ही समाप्त कर देना आवश्यक है। युवा हृदयों के मन-मस्तिष्क में महान गुणों का बीजारोपण प्रारंभिक विद्यार्थी जीवन से ही करना चाहिए। यह बीज हमारे पुरातन एव अर्वाचीन साहित्य के असीम भडार से प्राप्त होगा, जिसमें हमारे उत्कृष्ट राष्ट्रीय आदर्शों, महान शक्ति-पुत्रों और ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण रहता है। विशेष रूप से हमारे नवयुवकों में यह गौरवानुभूति होनी चाहिए कि वे ऋषि-मुनियों की महान परपराओं में जन्मे हैं। यदि हम उनकी विरासत के अनुरूप सिद्ध होना चाहते हैं तो हमें हिंदू बनकर रहना होगा, हिंदू बनकर दिखाना होगा। हमें अपने हिंदुत्व की अनुभूति समस्त विश्व को करानी होगी। यह तभी होगा, जब हम स्वय अपनी राष्ट्रीय परपराओं एव प्रथाओं का सम्मान करेंगे। तभी हम विश्व से समुचित सम्मान प्राप्त करने की आशा कर सकेंगे। वास्तव में विश्व हमें आदर्श हिंदू के रूप में देखना चाहता है, न कि पश्चिम की हू-ब-हू नकल के रूप में।

अपने प्रति सच्चे बने

एक बार एक फ्रासीसी को मैंने अपने यहाँ भोजन पर आमत्रित किया। उसने प्रसन्नतापूर्वक हमारे साथ जमीन पर बैठकर हाथ से भोजन किया, जहाँ न चम्मच था, न काँटा और न मेज। उसने कहा कि मुझे बहुत आनद की अनुभूति हुई और टिप्पणी की कि 'आपके पास आने पर हमें आपके रीति-रिवाजों, परपराओं तथा व्यावहारिक विशेषताओं का अनुभव मिलना चाहिए, अन्यथा इतनी दूर से आपके देश में आने का औचित्य ही क्या है?'

एक बार अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् ने एक प्रकल्प चलाया। उसके अतर्गत उत्तर-पूर्वांचल (नेफा) से कुछ विद्यार्थियों को शिक्षा-प्राप्ति के लिए महाराष्ट्र के पुणे व अन्य स्थानों पर भेजा गया। योजना के अतर्गत उन्हें विभिन्न परिवारों के साथ रहना था, ताकि वे हमारी सस्कृति को आत्मसात कर हमारी मातृभूमि व समाज से भावात्मक सबध बना सकें। जब इस प्रकल्प के सयोजक मुझे मिले, तो मैंने उन विद्यार्थियों को पश्चिमी सभ्यता में डूबे हुए परिवारों में न ठहराने का परामर्श दिया। उनका निवास उन घरों में हो, जहाँ प्रात और साय– दोनों समय इष्ट देव के सम्मुख दीप जलाया जाता है, जहाँ हमारे पर्व व परपराएँ जीवत हैं और जहाँ वे हमारी

सांस्कृतिक मर्यादा को आत्मसात कर सकें। इन्हीं संस्कारों द्वारा इस विशाल भूमि पर बसे हमारे वृहत् समाज ने सारी उथल-पुथल के बीच भी अपने राष्ट्रीय अस्तित्व की पहचान को कायम रखा और स्वयं को एक अमर राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है।

बहुत पहले, सन् १८७२ में 'ऐडिनबरा रिव्यू' ने लिखा था कि 'हिंदू पृथ्वी पर सबसे पुरातन राष्ट्र है और यह संस्कृति एवं परिष्कार में अतुलनीय रहा है।' परंतु दुर्भाग्यवश ऐसी पुरातन व महान जाति के पुत्र विदेशी कुप्रचार के शिकार बनकर अपने पुरातन इतिहास व धरोहर को भूल बैठे हैं। कोई भी समाज अपने अतीत से संबंध विच्छेद कर अपने उज्ज्वल भविष्य के निर्माण की आशा नहीं कर सकता।

मुख्य अवरोध

दिल्ली-प्रवास के दौरान एक बार श्री मोहम्मद करीम छागला से भेंट हुई। उस समय वे केंद्रीय शिक्षा मंत्री थे। वे रूस के प्रवास से कुछ ही समय पूर्व लौटे थे। उन्होंने अपने अनुभवों का वर्णन करते हुए बताया कि वहाँ के युवक जीवन के हर क्षेत्र में अपनी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने की महत्त्वाकांक्षा से अनुप्राणित और अध्ययन के प्रति अति गंभीर लगते थे। उन्होंने जिज्ञासावश मुझसे पूछा, 'मुझे यह समझ में नहीं आता कि हमारे युवकों में क्या कमी है? क्यों वे हड़ताल, अनुशासनहीनता और उपद्रवों में संलग्न हैं? परंतु मुझे आभास होता है कि आपके संगठन में युवक अनुशासित एवं समर्पित हैं। क्या आप हमारे नवयुवकों की समस्या का कोई निदान प्रस्तुत कर सकते हैं?'

मैंने प्रति-प्रश्न किया— 'आपका कथन ठीक है, किंतु क्या आपने विद्यार्थियों के समक्ष कोई महान आदर्श प्रस्तुत किया है?' उन्होंने उत्तर दिया— 'मुझे स्वीकार कर लेना चाहिए कि नहीं किया है। मैंने कहा— 'प्रेरणास्पद उत्तम आदर्श के अभाव में हम छात्रों से यह अपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि वे जीवन के मूल्यों के प्रति समर्पण तथा अनुशासन को आत्मसात कर लें। यही ऐसा उच्चादर्शवाद है, जिससे प्रेरित होकर वे अपने उग्र आवेग को संयमित कर अपनी उफनती ऊर्जा को राष्ट्र-निर्माण की रचनात्मक दिशा में मोड़ सकते हैं। इस राष्ट्रीय आदर्शवाद को हृदयंगम करने का कार्य विद्यालयों व महाविद्यालयों में हमारे सत्य इतिहास के पाठन से प्रारंभ होगा। हमें अपने बच्चों को सिखाना होगा कि जिस धरती पर वे

जन्मे हैं, उसकी विरासत महान है और उनके पूर्वजों ने भौतिक व आध्यात्मिक उपलब्धियों के उच्चतम मानदंड स्थापित किए हैं। तभी उन्हें इनसे भी उच्चतर आदर्शों को प्राप्त करने के पुरजोर प्रयास हेतु उत्साह से भरपूर किया जा सकेगा। किंतु हम इसके विपरीत अपने विद्यालयों में बिल्कुल उल्टी शिक्षा दे रहे हैं। हमारे इतिहास के सबसे गौरवशाली काल को 'अंधकार-युग' कहा जाता है। दासता के कालखंडों को महिमान्वित किया जाता है, पर हमारे स्वतंत्रता सेनानियों के प्रेरक योगदान को नहीं। हमारे इतिहास का अधिकांश भाग 'मुगल काल' और 'ब्रिटिश काल' है। यदि हमारे बच्चों को यही शिक्षा दी जाती है कि भूतकाल में हमारा कुछ महान नहीं था, हम सदैव पराजित राष्ट्र रहे हैं, केवल मुगलों व अंग्रेजों के आगमन के बाद हमारे राष्ट्र का विकास हुआ है, अर्थात् हमारा अतीत किसी गर्व के योग्य नहीं है तथा हमारे पूर्वज किसी प्रतिस्पर्धा के योग्य नहीं थे, तो क्या हम उनसे किसी सार्थक वस्तु की अपेक्षा कर सकते हैं?'

'हाँ, यदि आप हिंदुओं की अतीतकालीन उपलब्धियों का, आक्रांताओं के विरुद्ध संघर्ष में उनके आत्म-बलिदानी उत्साह और वीरता का उल्लेख ओजस्वी रूप में करेंगे– फिर आक्रांता ग्रीक, मुस्लिम अथवा अंग्रेज कोई भी हो, तो आप तुरंत 'सांप्रदायिक' घोषित कर दिए जाएँगे। यही है असली अड़चन और समस्या का मूल मर्म।' श्री छागला एक क्षण शांत रहे, फिर उन्होंने स्वीकार किया, 'हाँ, ऐसा ही है।'

विपर्यय

इस आत्म-धिक्कारमयी और मूर्ख बनानेवाली शिक्षा का परिणाम क्या है? कुछ वर्ष पूर्व कोई डा. चतुर्वेदी जर्मनी जानेवाले थे। उन्हें 'भारत-जर्मन परिषद्' ने आमंत्रित किया था। जैसे ही वे यूरोपीय देश में हवाई अड्डे पर उतरे, वहाँ के लोग दंग रह गए। परंतु यह मानकर कि ठंड से सुरक्षा के लिए ऐसा किया होगा, उन्होंने अपने मन को सांत्वना दी। वे उन्हें विशेष रूप से सजाई गई सड़कों से ले गए, जिसमें चारों ओर वेदों के नाम पर तोरणद्वार बने थे। वे 'चतुर्वेदी' थे, इसलिए स्वागतकर्त्ताओं की कल्पना थी कि वे वेदों के अच्छे जानकार होंगे। शुद्ध संस्कृत में उनका स्वागत किया गया। इसके बाद एक भाषण हुआ, वह भी संस्कृत में ही। 'विद्वान' डा. चतुर्वेदी ने अंग्रेजी में उत्तर देते हुए जो कुछ कहा, उसका स्वागत भाषण से कोई लेना-देना नहीं था। स्पष्ट है कि वेद-ज्ञान तो दूर,

उन्हें संस्कृत का एक शब्द भी नहीं आता था। सारी पोल खुल चुकी थी। फलतः शिष्टाचार के विपरीत आगे के सभी कार्यक्रम रद्द करके उस 'महापंडित' को अगली उड़ान द्वारा वापस जाने के लिए कहा गया।

इसके विपरीत देखिए कि हमारे महापुरुषों ने किस प्रकार का आचरण किया है। जब स्वामी रामतीर्थ ने अमरीका के तट पर पदार्पण किया, तब तो सभी सहयोगी अपना सामान लेकर जाने की जल्दी में थे, परंतु यह भगवा वस्त्रधारी सन्यासी शांत व निश्चिंत होकर इस दृश्य का आनंद ले रहा था। बंदरगाह पर उपस्थित एक अमरीकी ने दौड़ते हुए पूछा– 'आप कहाँ जाएँगे? आपका सामान कहाँ है? आपके पास कोई परिचय-पत्र है?' स्वामी रामतीर्थ ने कहा– 'मेरे पास न कोई सामान है और न ही धन। यहाँ तक कि परिचय-पत्र भी नहीं है।' उस व्यक्ति ने अति विस्मय से पूछा– 'तब आप विदेश में निर्वाह-व्यवस्था कैसे करेंगे? क्या यहाँ आपका कोई मित्र-परिचित नहीं है?' इसपर स्वामी जी मुस्कराए, स्नेहपूर्वक उस व्यक्ति के कंधे पर हाथ रखकर पुलकित स्वर से कहा– 'हाँ, एक है, और वह तुम हो।' इस पर वह अमरीकी अत्यधिक भावुक हो गया और सचमुच में उनका उत्कट मित्र व प्रशंसक बन गया। अमरीका प्रवास में उसने स्वामीजी के लिए उत्कृष्ट व्यवस्था की।

आधार को न भूलें

प्रेम व बुद्धिमत्ता की ऐसी गहराई शैशव से ही आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करने पर हो सकती है। इसके लिए प्रारंभिक पाठशाला स्तर से ही उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना आवश्यक है। एक बार मैं नासिक के किसी विद्यालय में गया। वहाँ गलियारे की दीवार पर सैंकड़ों चित्र लगे थे, परंतु वे सभी यूरोप व अन्य देशों के चित्रण करनेवाले थे। हमारे इतिहास या महाकाव्यों से संबंधित एक भी चित्र नहीं था। मैंने प्रधानाध्यापक से पूछा, 'ये चित्र हमारी युवा पीढ़ी में उचित भावना का संचार कैसे करेंगे? इनमें हल्दीघाटी, पानीपत इत्यादि के युद्ध-चित्र क्यों नहीं हैं?' उसने उत्तर दिया– 'हमारा दृष्टिकोण अपने देश की सीमाओं में ही बँधा तथा संकीर्ण नहीं होना चाहिए।' अंतर्राष्ट्रीयवाद और इसी प्रकार के अन्य नारे हमारे नवयुवकों के मानस पर सत्यानाशी प्रभाव डालेंगे।

राष्ट्रवाद के ठोस व सुदृढ आधार के बिना मानवता एवं अंतर्राष्ट्रीयवाद की बातें करना हमें किसी दीन का नहीं रखेंगी। जहाँ तक हमारे राष्ट्रीय

दर्शन व धरोहर का प्रश्न है, उसने सदैव अपनी परिधि में सारी मनुष्य जाति के सर्वोच्च कल्याण को अगीकार किया है। हमारे राष्ट्रवाद का उग्रतम रूप भी हमारे बच्चों को मानव-कल्याण के उच्चतम मूल्यों से विमुख नहीं करेगा, प्रत्युत् इन मानव-मूल्यों को सुदृढ ही करेगा।

ये हैं कतिपय सामान्य दिशा-सकेत, जिन्हें युवा हृदयों के शिक्षकों को ध्यान में रखना उपादेय रहेगा।

५ चुनौतियाँ अनेक

राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के कार्य का श्रीगणेश हिंदू जन के सगठित तथा एकीभूत जीवन-रचना के एकमात्र उद्देश्य से हुआ है। निस्सदेह यह एक कठिन एव श्रमसाध्य कार्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु हमें पहले इसके मार्ग में आनेवाले अवरोधों व समस्याओं की विवेचना करना आवश्यक है।

शर्म-सकोच क्यो?

सबसे पहली बात जो हमारी आँखों को खटकती है, वह यह है कि हममें से बहुत से हिंदू भाई, जिनमें शिक्षित और सदाशयी हिंदू भाई भी शामिल हैं, स्वय को 'हिंदू' कहने में सकोच करते हैं। कुछ लोग स्वय को हिंदू न पुकारने के समर्थन में आपातृरमणीय तर्क देते हैं। मुझे स्मरण है कि किसी ने स्वामी विवेकानद को उद्धृत करते हुए कहा कि वे समाजवाद और सप्रदायनिरपेक्षता के सूत्रपात के लिए विश्वधर्म की बात करते थे। परतु वास्तविकता यह है कि विवेकानद साहित्य में ऐसे असख्य अनुच्छेद आते है, जिनमें वह हमें हिंदू के रूप में गर्व से सिर ऊँचा करने का उद्‌बोधन देते हैं। उन्होंने हमारा आह्वान किया है कि अपनी पूरी शक्ति लगाकर उद्‌घोष करो 'मैं हिंदू हूँ।' महर्षि अरविद ने कहा है कि सनातन धर्म ही हिंदू-राष्ट्र का सार है। अत स्वय को 'हिंदू' कहने में लज्जा का अनुभव इन महान द्रष्टाओं व विचारकों की शिक्षा के सर्वथा प्रतिकूल है।

एक भ्रामक मिथक समाप्त

द्वितीय विषय है हिंदू-समाज का विभिन्न भागों व खंडों में विघटन। जाति, वर्ग, सम्प्रदाय और भाषागत आधार पर अनगिनत विभाजन हमारे सम्मुख पूर्ण विभाजन का निराशाजनक चित्र उपस्थित करते हैं।

आज से लगभग ४० वर्ष पूर्व भाषा को एकता का सबल सूत्र माना जाता था, परंतु अब यह मान्यता निर्मूल हो चली है। समान भाषा-भाषी लोग भी अलग होकर पृथक राज्य का गठन करना चाहते हैं। मराठी लोगों में यह प्रवृत्ति पहले ही विद्यमान थी। अब आंध्रप्रदेश में पृथक तेलगाना हेतु आंदोलन भी इस प्रकार का है।

आंध्रप्रदेश के गठन के दिन से ही तेलगाना क्षेत्र में यह शिकायत प्रबल होती गई कि तटवर्ती आंध्रप्रदेश के लोग सभी सेवाओं एवं आर्थिक अवसरों पर अपना एकाधिकार कायम कर रहे हैं और 'भूमिपुत्रों' का निष्कासन हो रहा है। यह 'भूमिपुत्र' शब्द किस ओर संकेत करता है? इसका यही अर्थ है कि लोगों ने यह अनुभव करना शुरू कर दिया है कि वे एक छोटे क्षेत्र की संतान हैं, संपूर्ण राष्ट्र की नहीं। यदि यह सब चलता रहा, तो प्रत्येक जनपद ही आस्था का केंद्र बन जाएगा। आजकल तेलगुभाषी लोग केंद्र पर दबाव डाल रहे हैं कि वर्तमान राज्य का विभाजन २-३ भागों में कर दिया जाए। यह विश्वास झूठा सिद्ध हो रहा है कि भाषा-परक राज्य समरस होते हैं।

एकमेव निदान

इस समस्या का एक ही निदान है कि साहसपूर्वक संविधान में उचित संशोधन करते हुए 'एकात्म शासन' की घोषणा की जाए। राष्ट्र एक है, जन एक है, अतः सरकार एवं विधायिका भी एक ही होनी चाहिए। प्रशासनिक सुविधानुसार देश को विभिन्न अंचलों में व्यवस्थित किया जाना चाहिए। ये अंचल कम या अधिक हो सकते हैं। इनकी संख्या महत्त्वपूर्ण नहीं है। कार्यपालिका के अधिकारों का विभाजन हो सकता है, किंतु विधायिका एक ही होनी चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि लोकतंत्र की भावना की संतुष्टि के लिए अधिक प्रांतों एवं प्रांतीय विधायिकाओं का होना आवश्यक है। मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि लोकतंत्र एवं बहु-विधायिकता में क्या संबंध है? एक केंद्रीय विधायिका संपूर्ण देश की लोकतंत्रीय भावना को संतुष्ट करने के लिए पर्याप्त है।

छोटी बुराई

तथापि आज जिस प्रकार की स्थिति है, उसमें जो लोग कर्णधार हैं, वे एकात्मक शासन अपनाने में सर्वथा असमर्थ दिखाई देते हैं। अत यदि वर्तमान सघीय प्रणाली को जारी रखना है, तो यह अनिवार्य है कि इस हेतु सुनिश्चित सिद्धातों को निर्धारित किया जाए और उसका पालन कठोरता से हो। यदि छोटी-छोटी इकाइयाँ भी हों और उनका एकमेव आधारभूत तत्त्व भाषा ही न हो, तो उनका भी स्वागत है।

समग्र राष्ट्रहित को दृष्टिगत रखकर यद्भाषी राज्य या समान भाषावाले एकाधिक राज्य गठित किए जा सकते हैं। छोटी इकाइयाँ सदैव अहितकर ही होंगी, यह आवश्यक नहीं है। निश्चितरूपेण अहितकर होते हुए भी पूर्व असम प्रात को छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित कर दिया गया। अंग्रेजों ने तथाकथित उत्तर-पूर्व सीमात प्रदेश (नेफा) को शेष असम से पृथक रखा था। हमारी सरकार भी उसी व्यवस्था को ढोए चली जा रही है। अब उसे नया नाम दिया गया है, जिससे उसके पृथक अस्तित्व की पुष्टि हो गई है। इसके अतिरिक्त किसी दबाव में आकर अथवा किसी अन्य कारण से शिलाँग को चारों ओर से मिलाकर मेघालय तथा मिजोरम की रचना भी की गई। आर्थिक दृष्टि से ये राज्य दिवालिया हैं। यह उनकी विवशता है, क्योंकि यहाँ की जनसख्या ही इतनी कम है। असम को अनेक खडों में विभाजित कर दिए जाने से उस सीमाक्षेत्र में हमारी स्थिति और भी दुर्बल हो गई है, जहाँ सन् १९६२ में चीनी अतिक्रमण के बाद से निरतर उपद्रव की स्थिति बनी हुई है।

पीडादायक दृश्य

जिस-तिस कारण से हिसक प्रदर्शनों एव आदोलनों के दृश्य कितने पीडादायक हैं। विभिन्न विघटनकारी शक्तियाँ कैसा विनाश ढा रही हैं। एक राष्ट्र से जुडे होने का भाव लुप्तप्राय हो गया है। यह भावना चतुर्दिक फैल रही है कि दक्षिण के लोगों का उत्तरवालों से कोई साम्य नहीं है। रूडयार्ड किपलिग ने लिखा था-- पूर्व, पूर्व है और पश्चिम, सदैव पश्चिम, जो कभी नहीं मिलेंगे। वे दोनों अब सास्कृतिक और वैज्ञानिक आधार पर मिल रहे हैं। परतु हमारे अपने देश में, जहाँ हम सहस्रों वर्षों से एक रहे हैं, अब कहा जाता है 'दक्षिण, दक्षिण है और उत्तर, उत्तर है, इनका मिलना कभी नहीं हो सकता।' यह कैसा निदारुण दुर्भाग्य है।

बहुआयामी सकट

इन विघटनकारी शक्तियों के साथ ही भ्रष्टाचार की घातक बुराई भी सर्वत्र विद्यमान है। चरित्र का गभीर सकट उत्पन्न हो गया है। हर कोई इसे जानता है और इसकी चर्चा करता है। वास्तव में भ्रष्टाचार की चर्चा इतनी व्यापक हो गई है कि उसने हमारी सवेदनशीलता को कुद कर दिया है। अव हम इसे देखकर भी उद्वेलित नहीं होते, हमारी आत्मा जागृत नहीं होती।

जय किसी राष्ट्र के चरित्र का अध पतन होता है, तो स्वतत्र एव स्वाभिमानी राष्ट्र के रूप में उसका अस्तित्व ही सकटग्रस्त हो जाता है। आज हमारे देश की यही स्थिति है। हमारे कुछ उच्चपदस्थ नेता कहते हैं कि सी आई ए (अमरीकी खुफिया एजेंसी) हमारे राष्ट्रजीवन को छिन्न-भिन्न करने के प्रयास में सलग्न है। मान भी लें कि ऐसा है, तो भी चाहे अमरीकी हो अथवा रूसी, कोई भी सस्था हमारे लोगों का उसके हस्तक बने विना हमारे देश में कैसे काम कर सकती है? या तो ऐसे लोग उनके वेतनभोगी हैं अथवा किसी न किसी तरह उनके प्रभाव में हैं।

मधुर विष का आनद

प्रशसा भी एक प्रभावकारी तत्त्व है। प्रशसा के भी कई सूक्ष्म प्रकार हैं। पिछले दिनों प्रकाशित एक समाचार के अनुसार फ्रास की नगर-नियोजन एव शिल्पियों की किसी सस्था ने घोषणा की कि चडीगढ विश्व का सर्वोत्तम शहर है। उसे सभवत सम्मान का प्रमाण-पत्र भी दिया गया था, परतु इतना ही कहा होता तो आपत्ति की वात नहीं थी। चूँकि फ्रासीसी वस्तु-विशेषज्ञों व नगर-नियोजकों ने इसकी योजना वनाई थी, अत उसे सवश्रेष्ठ कहना स्वाभाविक है। परतु उसी साँस में यह कहना कि यह प नेहरू की दूरदर्शिता और गतिशील व्यक्तित्व का परिणाम है और ये गुण उनकी पुत्री एव तत्कालीन प्रधानमत्री में भी विद्यमान हैं, चाटुकारिता का कैसा सुदर व मधुर ढग है। हम आशा करते हैं कि हमारी प्रधानमत्री चाटुकारिता से प्रभावित नहीं होंगी। यह किसी प्रशसा व चाटुकारिता से अभिभूत न होने एव दृढ और सतुलित मस्तिष्क रखने की हमारी महान परपरा का प्रतीक होगा।

हमें आभास नहीं है कि दूसरों द्वारा और कितने प्रकार की चाटुकारिता से हमारे लोगों को प्रलोभित करने का प्रयास किया जा रहा है?

सामान्यत मानव-मन दुर्बल होता है और यदि उच्च पदों पर आसीन लोग इस जाल में फँसते हैं, तो हम सबको इससे हानि होना सुनिश्चित है। चाटुकारिता से परास्त हो जाना भी चारित्रिक दृढता में कमी का ही परिचायक है।

क्या इससे भी बढकर पतन की सीमा हो सकती है?

समय-समय पर देश में अनेक स्थानों पर अकाल-राहत कार्यक्रमों के सदर्भ में प्राप्त अनुभव चरित्र-पतन के निकृष्टतम उदाहरण हैं। बाढग्रस्त लोगों की सहायता के लिए सरकार एव अन्य सस्थाओं द्वारा जुटाई गई सहायता प्रभावित व्यक्तियों तक सदैव नहीं पहुँचती। इन्हें अधिकाशत मध्यस्थ लोग हडप लेते हैं। पिछले दिनों पूर्व बगाल में विस्थापितों के लिए औषधि, ऊनी वस्त्र एव कबलों के रूप में विदेशों से भी प्रचुर सहायता-सामग्री आई, परतु इसका अधिकाश भाग शरणार्थियों तक पहुँचा ही नहीं और कोलकाता के बाजारों में बिक गया। प्रशासन ने ऐसे लोगों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की, जो अपने विपदाग्रस्त भाइयों के कष्ट के मूल्य पर अपना घर भरने के घृणित व्यापार में लिप्त थे। अगर इस काड की जॉच की गई होती, तो सभव है कि भ्रष्ट राजनेताओं के दुष्कृत्य प्रकाश में आ जाते। हमने अपना चरित्र इतना गिरा लिया है कि जब हमारे ही कुछ बधु तडप रहे हों, उस समय हममें से कुछ लोग उनकी कीमत पर अपना पेट और मोटा करते रहें। ऐसे भ्रष्ट लोगों के बल पर कोई भी राष्ट्र प्रगति की आशा नहीं कर सकता। यह 'चारित्रिक सकट' राष्ट्र के समक्ष एक विशाल चुनौती बन गया है।

पुरानी समस्या का पुनरोदय

एक पुरानी समस्या ने फिर अपना सिर उठाया है। सर्वविदित है कि स्वाधीनता-सग्राम में मुसलमानों ने 'वदेमातरम्' के गान पर आपत्ति प्रकट की थी। उस गीत पर, जिसने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए हमारे स्वतत्रता-सेनानियों को अपने प्राणोत्सर्ग की प्रेरणा दी थी। परिणामस्वरूप हमारे ही नेताओं ने इस सुदर गीत का अग-भग कर इसकी कुछ आरभिक पक्तियों के ही गायन की अनुमति दी। मातृभूमि को जगज्जननी की अभिव्यक्ति माननेवाले समर्पित लोगों के अतिरिक्त आज भी अन्य सभी सभाओं में उस अधूरे गीत का ही गायन होता है। कुछ दिन पहले ही

कतिपय मुस्लिम 'सज्जनों' ने मुंबई नगर निगम के एक उर्दू विद्यालय में इस आधे-अधूरे गीत के गायन का भी विरोध किया था। इनमें सत्ताधारी दल के कुछ मुसलमान भी थे, जबकि पिछले कई वर्षों से उर्दू, हिंदी, मराठी, गुजराती सभी- भाषा-माध्यम के विद्यालयों में 'वंदेमातरम्' गान होता रहा है।

आत्मघाती समर्थन

इस संदर्भ में समस्या यह थी कि सत्ताधारी दल के महासचिव द्वारा भी उक्त विरोध का समर्थन किया गया था। यदि यह समाचार सही है और हमारे 'भाग्यविधाता' यह निर्देश देते हैं कि 'वंदेमातरम्' गान ऐच्छिक होगा, तो यह जनता की राष्ट्रभक्तिपूर्ण भावनाओं के दमन का सुनियोजित प्रयास होगा। इस प्रकार का दमन राष्ट्र के लिए हानिकारक ही होगा। यदि इस घटना को गंभीरतापूर्वक नहीं लिया गया, तो संपूर्ण देश में अहिंदुओं की सांप्रदायिक भावना को प्रोत्साहन मिलना सुनिश्चित है। दुर्भाग्य से उपर्युक्त प्रसंग में किसी राजनेता ने 'वंदेमातरम्' के विरोध की भर्त्सना नहीं की। यहाँ तक कि मुस्लिम समाज में सुधार के लिए प्रयासरत लोगों ने भी इसका खुले शब्दों में विरोध नहीं किया। मेरे विचार से सत्ताधारी दल सहित सभी राजनैतिक दलों को इसकी तीव्र प्रतिक्रियास्वरूप यह दृष्टिकोण अपनाना चाहिए कि 'वंदेमातरम्' को गाने से इनकार करनेवालों का उनके दल में कोई स्थान नहीं होगा। इससे यहाँ बसनेवाले सभी समाजों के मध्य 'माता-पुत्र' के संबंध का वातावरण निर्मित करने में सहयोग मिलेगा।

अंतर्निष्ठा का प्रकटीकरण हो

वर्तमान परिस्थितियों में यह स्पष्ट है कि केवल हिंदू ही इस देश को अपनी आराध्य मातृभूमि मानता है। यह भावना उसकी रक्त-शिराओं में प्रवाहित है। पीढ़ियों से वह इसके रजकण की पूजा करता रहा है और प्रत्येक मांगलिक कार्य का शुभारंभ भूमिपूजन से करता है। इसी अंतस्थ श्रद्धाभावना को एक बार पुनः जगाना होगा और संपूर्ण हिंदू-समाज को यह अनुभव कराना होगा कि वे एक ही भूमि के पुत्र होने के नाते परस्पर भाई-भाई हैं।

आजकल हम रूस, चीन, जापान, अरब, अमरीका आदि अनेक राष्ट्रों के साथ भाईचारे की स्थापना का प्रयास कर रहे हैं, परंतु अपने देश

हिंदुस्थान के बादशाह थे। यह हजारों वर्षों से हिंदूभूमि है और यहाँ की राष्ट्रीय प्रवृत्ति हिंदू स्वभाव ही है। उन्हें यह भी ज्ञात है कि यह राष्ट्रीय प्रवृत्ति उनके व्यक्तिगत मजहब के विरुद्ध उन्माद नहीं जगाती, परतु दुर्भाग्यवश ऐसे प्रबुद्ध लोग बहुत कम हैं और उन्हें प्रमुखता भी प्राप्त नहीं होती। सभवत उनके अपने मजहबवाले भी उनके विचार से सहमत नहीं होते।

हमारा ही दायित्व

यदि एक बार भी हिमालय से कन्याकुमारी और द्वारिका से मणिपुर पर्यंत सभी हिंदू (चाहे वे किसी भी राजनैतिक दल व विचारधारा के हों) एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में सगठित होकर कधे से कधा मिलाने का निश्चय कर लें, तो यहाँ रहनेवाले अन्य लोग भी मातृभूमि व राष्ट्रीय अस्मिता का सम्मान करने लगेंगे। और अपनी व्यक्तिगत मजहबी आस्था को अक्षुण्ण रखते हुए वे इस महान राष्ट्र के उपयोगी घटक भी बन सकेंगे।

इसीलिए राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ सदैव इस बात पर बल देता रहा है कि हमारे राष्ट्रीय जीवन के आधारभूत सत्य को पुन बलवान बनाकर ही हमारे समाज को, राष्ट्र के लिए एकताबद्ध और समर्पित प्रयास करने की प्रेरणा मिलना सभव है। यह पुनर्जागरण ही विश्व के चतुर्दिक सघर्ष व उथल-पुथल में हमारे राष्ट्र को शक्ति व विश्वास के साथ मस्तक ऊँचा रखने एव आगे बढने में सहायक सिद्ध होगा।

६ राष्ट्रजीवन – वास्तविकता का ससार

महान तथ्य

इस महान एव प्राचीन राष्ट्र के पुत्र हम स्वाभाविक रूप से यह कामना रखते हैं कि हमारा राष्ट्र विश्व में समृद्धि, वैभव तथा प्रतिष्ठा के नवीन शिखरों को प्राप्त करे। यह कामना उचित ही है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। तथापि इस कठिन जगत् में जीवन सदैव सुगमता से अथवा निर्विघ्न तो चलता नहीं। न्यायोचित तथा उचित इच्छाओं की पूर्ति के लिए भी बाह्य जगत् की ओर से आनेवाली बाधाओं तथा विरोधों का

सामना करना पडता है। यदि हमें अपने राष्ट्रीय वैभव के स्वप्न को साकार करना है, तो इस आह्वान के स्वरूप का मूल्याकन एव विश्लेषण करना पडेगा तथा इसके सफल निराकरण की तैयारी करनी होगी।

जगत् आज जिस अवस्था में है, मनुष्यों के समूहों, जिनको हम 'राष्ट्र' कहते हैं, में बँटा हुआ है। ये राष्ट्र अधिकाधिक सामर्थ्य एव समृद्धि तथा पृथ्वी के अधिकाश प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए परस्पर स्पर्द्धा में लगे हुए हैं। आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक एक यह मानव-इतिहास का निश्चित लक्षण रहा है। इन सहस्रों वर्षों के काल में घोषणाएँ बदलती रही हैं, परतु यह आधारभूत तथ्य वैसा ही बना है। मुखौटा भले ही बदला हो, परतु भावना नहीं।

पूर्व काल में साम्राज्य-भावना अपने निर्लज्ज नग्न रूप में अन्यों पर अपना राजनीतिक जाल फैलाने की चेष्टा करती रही। आज आधिपत्य की भावना ने अन्य चोले धारण कर लिये हैं, जो पूर्वापेक्षा अधिक प्रलोभनकारी तथा खतरनाक हैं। वे देखने में कभी आर्थिक तथा कभी सिद्धातवादी होते हैं, परतु ससार पर प्रभुत्व स्थापित करने की भावना सदैव के समान ही प्रवल बनी हुई है। जब एक राष्ट्र दूसरे पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है, तो सघर्ष अपरिहार्य है। इसीलिए इस विस्तृत जगत् में हम कभी वास्तविक शाति नहीं देखते। वास्तविकता यह है कि इस ससार में एक के बाद दूसरे युद्ध की अवस्था बनी रहती है तथा शाति दो युद्धों का मध्य-काल मात्र होती है। सघर्ष इस मानव-जाति, जैसी आज यह गठित है, की प्रकृति में ही विद्यमान है।

श्रीकृष्ण जैसे एक महान पुरुष, जिन्होंने न्यायोचित एव शातिपूर्ण समझौता कराने का कोई प्रयास शेष नहीं छोडा, भी अपने उद्देश्य में विफल रहे। युद्ध अपरिहार्य हो गया और श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है–

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्त ।
ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिता प्रत्यनीकेषु योधा ।।
(गीता, ११-३२)

(मैं ही विनाशक शक्ति हूँ, जो इन लोगों का सहार करने आई है। तेरे बिना भी ये सब योद्धा, जो विरोधी पक्तियों में खडे हुए हैं, मृत्यु को प्राप्त होंगे।)

इसका आशय यही है कि मृत्यु एव विनाश जगत् की प्रकृति में ही

समाविष्ट हैं। मानव-जीवन का यह महान तथ्य है, जिसे आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता।

संघर्ष चल रहे हैं। कभी-कभी यथार्थ में शस्त्र टकरा जाते हैं, रक्तपात होता है। फिर किसी अन्य समय 'शीत-युद्ध' होता है, एक देश के कूटनीतिक व्यक्ति दूसरों को कूटनीति द्वारा नीचा दिखाने की चेष्टा करते हैं। युद्धनीति जो भी हो, राष्ट्रों के बीच संबंधों का आधारभूत नियम है- जंगल का कानून, याने शक्तिमान दुर्बल का भक्षण करते हुए और अधिक शक्तिशाली होता जाता है। यह मत्स्य न्याय का एक नियम है- 'जीवो जीवस्य जीवनम्', बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है तथा बडा छोटे को मिटाकर और बडा होता जाता है।

वास्तविकता का संसार

यूरोप के इतिहास पर तनिक दृष्टिपात करें। जब यूरोप के देश औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप शक्तिशाली हो गए, तब उनमें से प्रत्येक ने अन्य देशों को हडपने के लिए अपने आक्रामक हाथ फैलाए। जब स्पेन शक्तिशाली हुआ, तो उसने अमरीका पर आक्रमण किया। अपने सामर्थ्य के काल में पुर्तगाल ने विनाश का जाल हमारे देश में गोवा तक फैलाया। जब कभी फ्रांस शक्तिशाली हुआ, उसने यूरोप के छोटे देशों को अपने पैरों तले दबाया। इंग्लैंड का इतिहास सबको भली-भाँति परिचित है, जिसने अपने साम्राज्य को पृथ्वी के कोनों तक फैलाया। जर्मनी की कहानी भी भिन्न नहीं है। इसने अपनी आक्रामक भावना की तृप्ति के लिए संसार को दो बार विश्वयुद्ध में झोंका। जब इटली ने अपने को पर्याप्त शक्तिशाली अनुभव किया, ऐबीसीनिया को कब्जे में कर लिया। अब रूस ने द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एक शक्ति के रूप में उभरकर फिनलैंड, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, बाल्कन राज्यों और आधे जर्मनी को हडप लिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की ठीक नाक के नीचे उसने हंगरी के सहस्रों स्वतंत्रता-सेनानियों का संहार किया और उसे अपनी लौह-एडियों के नीचे कुचल दिया। अब रूस अपने अगले शिकार की तलाश में चारों ओर ताक लगाए बैठा है। चीन शक्ति-विकास के सद्य प्रारंभिक काल में ही कोरिया तथा इंडोचीन में अपने पंजे नग्न कर चुका है। वह तिब्बत पर जमकर बैठा है, लद्दाख तथा नेफा के हिस्सों को हडप कर चुका है और अब हिमालय के राज्यों में और अधिक घुसने के लिए सन्नद्ध है।

हर बार जब युद्ध छिडता है, युद्ध के अधिनायक कहते हैं कि युद्ध भविष्य में सभी युद्धों को समाप्त करने के लिए है। प्रथम विश्वयुद्ध की भयानकता को देखकर ससार-भर के मनुष्यों ने शाति तथा समस्त युद्धों की समाप्ति के लिए प्रार्थना की थी। परतु दो दशाब्दियों के अदर ही ससार एक और अधिक भयकर विध्वस और हत्याकाड के रक्तपात से स्नात हो गया और द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् पुन मानवमात्र ने शाति के लिए आशा रखते हुए प्रार्थना की, परतु अब यथार्थ परिस्थितियाँ क्या हैं? हर जगह झगडे चल रहे हैं। सपूर्ण अफ्रीका ज्वालामुखी के उबलते हुए अतराल के समान है, जिसका हर थोडे दिनों में विस्फोट होता रहता है। रूस की क्यूबा को अपने मिसाइलों का अड्डा बनाने की छद्‌म योजना ने ससार को विश्वसघर्ष के कगार पर खडा कर दिया था।

घोषणाएँ बदलती हैं, वास्तविकता वही बनी रहती है

तथापि ये सघर्ष एव रक्तपात विभिन्न परिधानों के आवरणों में किए जाते हैं। आज अधिकाश खतरनाक तथा आक्रमण की षड्‌यत्री योजनाएँ साम्यवाद की आड में ही बनाई जाती हैं। यह स्मरण रखना होगा कि साम्यवाद का जन्म प्रत्येक प्रकार के आधिपत्य के विरुद्ध क्राति की घोषणा के साथ हुआ था। रूस और चीन में साम्यवादी अपने ही राजाओं तथा जागीरदारों के विरुद्ध विद्रोह के रूप में खडे हुए थे। उन्होंने उनको समाप्त कर सत्ता ग्रहण कर ली, परतु अल्पकाल में ही उन्होंने साम्राज्यवाद का वही मार्ग 'ससार के मानवों को साम्राज्यवाद तथा पूजीपतियों के पजे से मुक्त करने' की नवीन घोषणा की आड लेकर अपनाया। यहाँ तक कि वे अपनी आक्रमणकारी सेनाओं को 'मुक्तिसेना' के नाम से सबोधित करते हैं।

रूस द्वारा मुक्त किए गए चीन तथा हगरी पोलैंड आदि पूर्वी यूरोपीय देशों की कहानी क्या है? बाद में जो चीन गए हैं तथा जो यथार्थता को प्रकट करने का मानसिक सतुलन एव साहस रखते हैं, उन्होंने असदिग्ध शब्दों में कहा है कि वहाँ का सामान्य नागरिक अपने को अनुभव करता प्रतीत होता था। वह अपने व्यवहार में स्वतत्र नहीं दिखाई देता था। यह सब इस कारण था कि रूसी अधिकारी और उनके तत्रस्थ स्थानीय एजेंट प्रत्येक विभाग के गुप्त स्थानों पर बैठे वहाँ के राष्ट्रीय जीवन के थलसेना जलसेना, वायुसेना, कृषि आदि प्रत्येक क्षेत्र का नियत्रण कर रहे थे। वे लोगों के सामने नहीं आते, किंतु अपना सपूर्ण वर्चस्व मजबूती से बनाए रखते हैं।

चीन में निस्संदेह ऐसे कुछ लोग थे, जो 'नए चीन', 'बडी छलाँग' और 'हमारा बडा भाई रूस' आदि की प्रशसा का गान करते रहते थे। अपने भी देश में जब अग्रेज शासन करते थे, ऐसे कुछ लोग थे जो दुनिया-भर में यह कहते फिरते थे कि अग्रेजी शासन ईश्वरप्रदत्त है, एक वरदान है। मानो अग्रेज ईश्वरप्रेरित पैगबर थे, जो हमारे उद्धार के लिए भेजे गए थे। हमें ऐसे गुलाम सदैव ही दिखाई देंगे, जो अपने स्वामियों की प्रशसा कर उन्हें आसमान पर बैठा देते हैं। यदि स्वामी कोडे लगाएगा तो वे स्वामी की शक्ति की प्रशसा करेंगे और कहेंगे– 'उसके पास कितना अच्छा कोडा है। वह उसके उपयोग में कितना कुशल है।' अब चीन 'मुक्ति' की वही कहानी तिब्बत में दोहरा रहा है।

अमरीका भी ब्रिटेन के साम्राज्यवादी अत्याचारों के विरोध में खडा हुआ था। उसने उसका आधिपत्य समाप्त किया और अपना स्वातत्र्य स्थापित किया। सभव है वही अमरीका साम्यवाद के बढते हुए सकट की रोक-थाम की दृष्टि से अनेक देशों को आर्थिक सहायता और कभी-कभी सैनिक सहायता देकर, अपने प्रभाव के अतर्गत ला रहा है। किंतु जैसा हम जानते हैं कि 'अर्थस्य पुरुषो दास', जहाँ कहीं आर्थिक सहायता आती है, वहाँ किसी न किसी प्रकार की मानसिक दासता भी निर्माण हो जाती है। अमरीकी सहायता प्राप्त करनेवाले सभी गरीब देशों में हम अमरीकी सस्कृति की छाप देख सकते हैं, जो जीवन के प्रत्येक पक्ष में उनके स्वय के राष्ट्रीय आदर्शों, परपराओं तथा मौलिकता को क्षीण करती जा रही है।

पारस्परिक मित्रता की मृगतृष्णा

तब सघर्षों से भरे इस ससार में अपनी राष्ट्रीय अखडता तथा गौरव को बनाए रखने का उपाय क्या है? क्या हम अन्य देशों की मित्रता तथा सधियों पर निर्भर रह सकते हैं? इस सबध में भी विश्व-इतिहास की शिक्षा हमें आशा प्रदान नहीं करती। किन्हीं दो राष्ट्रों के बीच मित्रता अथवा शत्रुता कभी स्थायी नहीं रहती। राष्ट्र अपने स्वार्थों की अनुकूलता के अनुसार अपने मित्रों तथा शत्रुओं को बदलते रहते हैं।

पिछली कुछ शताब्दियों में यूरोप के राष्ट्रों में हुए आपसी सबधों में परिवर्तन तथा सधियों का एक रोचक इतिहास है। इग्लैंड तथा फ्रास शताब्दियों तक कट्टर शत्रु बने रहे। जब नेपोलियन के शासनकाल में फ्रास, इग्लैंड के लिए एक चुनौतीस्वरूप खडा हो गया, तब इग्लैंड ने जर्मनी के

साथ मित्रता के सबध निर्माण कर फ्रास को कुचल डाला। बाद में जब जर्मनी अधिक शक्तिशाली हो गया, तब इग्लैंड तथा फ्रास दोनों विश्वयुद्धों में एक साथ हो गए और जर्मनी को कुचल डाला। दूसरे विश्व युद्ध के प्रारभ में रूस तटस्थ बना रहा, किंतु बाद में लूट में हाथ बँटाने के लिए जर्मनी के साथ मिल गया। परतु बाद में इग्लैंड ने रूस को जर्मनी से विमुख करने की कूटनीति खेली और वह अमरीका, इग्लैंड तथा फ्रास के गुट में जा मिला। अमरीका भी अपने स्वातत्र्य-सघर्ष काल में इग्लैंड का विरोधी, किंतु फ्रास का मित्र था। कुछ वर्षो के पश्चात् चित्र बदला और इग्लैंड पुन उसका मित्र हो गया। इस पृथ्वी पर राष्ट्रों के बीच 'पारस्परिक मित्रता' का इस प्रकार का इतिहास रहा है। जब तक राष्ट्रों के मस्तिष्कों में स्व-वृद्धि तथा प्रभुत्व की भावना प्रधान रहती है, हम इससे भिन्न किसी प्रकार की आशा नहीं कर सकते। अत अन्य राष्ट्रों के साथ मित्रता के रूप में स्थायी सुरक्षा की खोज प्रवचना मात्र ही होगी।

दानव एव बौने की मैत्री

आज ससार दो शक्तिगुटों में बँटा हुआ दिखाई देता है। उनके सामर्थ्य एव वैभव ओर उनकी तुलना में अपनी दुर्बलता को देखते हुए कुछ लोग एक या अन्य गुट में मिल जाने का परामर्श देते हैं, जिससे कि उसकी शरणदायी छत्रछाया के नीचे मुक्त रूप से साँस ली जा सके। परतु स्वय दुर्बल बने रहना और शक्तिमान का एक साथी बन जाना भी खतरे से खाली नहीं है।

एक समय एक दानव तथा एक बोना मित्र बन गए। वे एक जगल में किसी साहसिक कार्य के लिए चले। वहाँ उन्होंने डाकुओं के एक गिरोह को लूट की बहुत बडी धनराशि आपस में बाँटते हुए देखा। दानव ने डाकुओं को मार भगाया, समस्त धनराशि ली और वापस आ गया। दुर्भाग्य से सघर्ष की मारकाट में बौने का एक हाथ कट गया। कुछ दिनों के पश्चात् वे पुन एक अन्य साहस के लिए निकले। इस बार उनको एक किले पर हमला करना पडा, जिसमें किसी अत्याचारी राजा द्वारा बदी बनाए हुए तथा पीडित लोग थे। दानव ने आततायी को मार डाला और उसके पश्चात् लोगों ने कृतज्ञता की भावना से उसे अपना राजा मान लिया। इस बार बौने की टाँग कट गई। दानव को एक विशाल किला तथा अनेक कर्तव्यपरायण प्रजाजन मिले।

बौने ने अपने दुर्भाग्य को कोसते हुए तथा दानव के सौभाग्य से ईर्ष्या करते हुए सोचा कि अपने लिए भी लाभप्राप्ति हेतु कुछ करना चाहिए। अत वह एक बार फिर अपनी बैसाखी के सहारे दानव के साथ निकल पडा। अवसर की बात थी कि उन्हें दुराचारियों द्वारा घोडे की पीठ पर एक राजकुमारी लादकर ले जाती हुई दिखाई पडी। दानव ने उसे बचा लिया और उसे उसके पिता के पास ले गया। कृतज्ञता के वशीभूत राजा ने राजकुमारी का विवाह दानव के साथ कर दिया और उसे अपना राज्य भी दिया। इस 'दयालुता' अभियान में बौने की एक आँख भी जाती रही। निष्कर्ष था कि दानव को दो राज्य, पत्नी के रूप में एक राजकुमारी तथा विशाल धनराशि मिली और उसके मित्र बौने को एक हाथ, एक टॉग तथा एक ऑख गँवानी पडी।

इससे प्राप्त बोध अत्यत स्पष्ट है। शक्तिमान तथा दुर्बल के बीच मित्रता का एक ही परिणाम होगा कि शक्तिमान दुर्बल को हानि सहन करने के लिए छोडकर लाभ का स्वय उपभोग करेगा। अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हम ऐसा ही देखते हैं। शक्तिशाली राष्ट्र अन्यों की भूमि पर युद्ध चलाते रहने की दृष्टि से अपनी सीमाएँ अपनी स्वय की राष्ट्रीय सीमाओं से दूर बनाते हैं और इस प्रकार अपने देश की भूमि को युद्ध के विनाशकारी परिणामों से बचाते हैं। हम रूसी सेनाओं को दूर के देशों में फैला हुआ देखते हैं। अमरीकी सेनाएँ भी कोरिया, वियतनाम में लडती हुई देखी हैं। इस प्रकार छोटे राष्ट्र बडी शक्तियों की सामर्थ्य की परीक्षा हेतु युद्ध-क्षेत्र बन जाते हैं तथा वहाँ के स्थानीय लोगों का उनके द्वारा युद्ध-बलि के रूप में उपयोग किया जाना स्वाभाविक है।

शाति के लिए शक्ति

इसलिए जब हम विश्व का सही प्रकार से अध्ययन करते हैं, तो हम इस सरल निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य होते हैं कि हमारे स्वतन्त्र तथा समृद्धिशाली राष्ट्रीय जीवन के लिए एकमात्र आधार अजेय राष्ट्रीय सामर्थ्य ही है। एक ऐसा सामर्थ्य जो आक्रामक शक्तियों के हृदयों में आतक उत्पन्न करेगा तथा अन्य राष्ट्रों को हमसे मैत्री-सबध प्राप्त करने के लिए उत्सुक बनाएगा।

वास्तव में दुर्बल बने रहना अधिक सबल बाहरी शक्तियों को आक्रमण तथा लूट-खसोट के लिए आमत्रण देना है। चर्चिल ने द्वितीय

विश्वयुद्ध को 'अनावश्यक युद्ध' बताया था, क्योंकि इग्लैंड तथा फ्रास, जर्मनी को प्रारभिक स्थिति में ही सुगमता से रोके रख सकते थे तथा युद्ध को बचा सकते थे, यदि उन्होंने साहस तथा ऐसा करने के लिए आवश्यक शक्ति का परिचय दिया होता। किंतु वे असिद्ध तथा दुर्बल बने रहे ओर इस प्रकार उन्होंने जर्मनी की युद्ध-भावना को प्रोत्साहित किया। अस्तु, सबल होना ही शाति का यथार्थ मार्ग है।

आज भी हम देखते हैं कि अमरीका तथा रूस समान रूप से शक्तिशाली होने के कारण उनमें से कोई भी विश्वयुद्ध का खतरा उठाने के लिए तैयार नहीं है। दोनों के पास विश्वनाशक मिसाइल हैं तथा दोनों को ही विदित है कि अणु-युद्ध से उनमें से कोई भी जीवित नहीं रह सकेगा। क्यूबा का प्रकरण हमारे लिए अत्यत शिक्षाप्रद है। रूस ने क्यूबा को गुप्त रूप से अपनी मिसाइलों का अड्डा बनाकर अमरीका की सुरक्षा को आघात पहुँचाने की चेष्टा की। किंतु अमरीका द्वारा तीव्र तथा त्वरित कार्यवाही ने रूस की चेष्टा को रोक दिया तथा ससार को आगामी विश्वव्यापी सघर्ष से बचा लिया।

परतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दुर्बल देश सुरक्षित हैं अथवा युद्ध अब होंगे ही नहीं। केवल अतिम आणविक शक्ति-परीक्षा से बचा जा रहा है और उसे भविष्य के लिए टाला जा रहा है। अन्य सभी बातें पूर्ववत चल रही हैं। हम बहुधा अपने देश के 'बुद्धिमान व्यक्तियों' को ऐसा आश्वासन देते हुए पाते हैं कि किसी विदेशी शक्ति द्वारा हमारे साथ युद्ध का खतरा मोल लेने के बारे में चिंता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से सपूर्ण मानवता एक आणविक सघर्ष के लपेटे में आ जाएगी। परतु हमारे लिए यह विश्वास करना अत्यत बुद्धिहीनता होगी कि अन्य राष्ट्र भी उतने ही युद्ध-भीरु हैं, जितने कि हम। वे युद्ध की नियमानुसार घोषणा किए बिना ही शत्रु प्रदेशों पर आक्रमण कर देते हैं तथा अधिकार कर लेते हैं। युद्ध की घोषणा किए बिना ही पाकिस्तान द्वारा कश्मीर एव कच्छ में तथा चीन द्वारा लद्दाख एव नेफा में अपने देश के विशाल भूखड हथिया लेने का ज्वलत उदाहरण हमारे सामने है। इसी प्रकार की कहानी आज भी इडोचीन तथा अन्य स्थानों में दोहराई जा रही है।

ᗢ ᗢ ᗢ

बौने ने अपने दुर्भाग्य को कोसते हुए तथा दानव के सौभाग्य से ईर्ष्या करते हुए सोचा कि अपने लिए भी लाभप्राप्ति हेतु कुछ करना चाहिए। अत वह एक बार फिर अपनी बैसाखी के सहारे दानव के साथ निकल पडा। अवसर की बात थी कि उन्हें दुराचारियों द्वारा घोडे की पीठ पर एक राजकुमारी लादकर ले जाती हुई दिखाई पडी। दानव ने उसे बचा लिया और उसे उसके पिता के पास ले गया। कृतज्ञता के वशीभूत राजा ने राजकुमारी का विवाह दानव के साथ कर दिया और उसे अपना राज्य भी दिया। इस 'दयालुता' अभियान में बौने की एक ऑख भी जाती रही। निष्कर्ष था कि दानव को दो राज्य, पत्नी के रूप में एक राजकुमारी तथा विशाल धनराशि मिली और उसके मित्र बौने को एक हाथ, एक टॉग तथा एक ऑंख गॅवानी पडी।

इससे प्राप्त बोध अत्यत स्पष्ट है। शक्तिमान तथा दुर्बल के बीच मित्रता का एक ही परिणाम होगा कि शक्तिमान दुर्बल को हानि सहन करने के लिए छोडकर लाभ का स्वय उपभोग करेगा। अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हम ऐसा ही देखते हैं। शक्तिशाली राष्ट्र अन्यों की भूमि पर युद्ध चलाते रहने की दृष्टि से अपनी सीमाएँ अपनी स्वय की राष्ट्रीय सीमाओं से दूर बनाते हैं और इस प्रकार अपने देश की भूमि को युद्ध के विनाशकारी परिणामों से बचाते हैं। हम रूसी सेनाओं को दूर के देशों में फैला हुआ देखते हैं। अमरीकी सेनाऍं भी कोरिया, वियतनाम में लडती हुई देखी हैं। इस प्रकार छोटे राष्ट्र बडी शक्तियों की सामर्थ्य की परीक्षा हेतु युद्ध-क्षेत्र बन जाते हैं तथा वहॉं के स्थानीय लोगों का उनके द्वारा युद्ध-बलि के रूप में उपयोग किया जाना स्वाभाविक है।

शाति के लिए शक्ति

इसलिए जब हम विश्व का सही प्रकार से अध्ययन करते हैं, तो हम इस सरल निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए बाध्य होते हैं कि हमारे स्वतत्र तथा समृद्धिशाली राष्ट्रीय जीवन के लिए एकमात्र आधार अजेय राष्ट्रीय सामर्थ्य ही है। एक ऐसा सामर्थ्य, जो आक्रामक शक्तियों के हृदयों में आतक उत्पन्न करेगा तथा अन्य राष्ट्रों को हमसे मैत्री-सबध प्राप्त करने के लिए उत्सुक बनाएगा।

वास्तव में दुर्बल बने रहना अधिक सबल बाहरी शक्तियों को आक्रमण तथा लूट-खसोट के लिए आमत्रण देना है। चर्चिल ने द्वितीय

विश्वयुद्ध को 'अनावश्यक युद्ध' बताया था, क्योंकि इग्लैंड तथा फ्रास, जर्मनी को प्रारंभिक स्थिति में ही सुगमता से रोके रख सकते थे तथा युद्ध को बचा सकते थे, यदि उन्होंने साहस तथा ऐसा करने के लिए आवश्यक शक्ति का परिचय दिया होता। किंतु वे असिद्ध तथा दुर्बल बने रहे और इस प्रकार उन्होंने जर्मनी की युद्ध-भावना को प्रोत्साहित किया। अस्तु, सबल होना ही शांति का यथार्थ मार्ग है।

आज भी हम देखते हैं कि अमरीका तथा रूस समान रूप से शक्तिशाली होने के कारण उनमें से कोई भी विश्वयुद्ध का खतरा उठाने के लिए तैयार नहीं है। दोनों के पास विश्वनाशक मिसाइल हैं तथा दोनों को ही विदित है कि अणु-युद्ध से उनमें से कोई भी जीवित नहीं रह सकेगा। क्यूबा का प्रकरण हमारे लिए अत्यंत शिक्षाप्रद है। रूस ने क्यूबा को गुप्त रूप से अपनी मिसाइलों का अड्डा बनाकर अमरीका की सुरक्षा को आघात पहुँचाने की चेष्टा की। किंतु अमरीका द्वारा तीव्र तथा त्वरित कार्यवाही ने रूस की चेष्टा को रोक दिया तथा संसार को आगामी विश्वव्यापी संघर्ष से बचा लिया।

परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दुर्बल देश सुरक्षित हैं अथवा युद्ध अब होंगे ही नहीं। केवल अंतिम आणविक शक्ति-परीक्षा से बचा जा रहा है और उसे भविष्य के लिए टाला जा रहा है। अन्य सभी बातें पूर्ववत चल रही हैं। हम बहुधा अपने देश के 'बुद्धिमान व्यक्तियों' को ऐसा आश्वासन देते हुए पाते हैं कि किसी विदेशी शक्ति द्वारा हमारे साथ युद्ध का खतरा मोल लेने के बारे में चिंता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से संपूर्ण मानवता एक आणविक संघर्ष के लपेटे में आ जाएगी। परंतु हमारे लिए यह विश्वास करना अत्यंत बुद्धिहीनता होगी कि अन्य राष्ट्र भी उतने ही युद्ध-भीरु हैं, जितने कि हम। वे युद्ध की नियमानुसार घोषणा किए बिना ही शत्रु प्रदेशों पर आक्रमण कर देते हैं तथा अधिकार कर लेते हैं। युद्ध की घोषणा किए बिना ही पाकिस्तान द्वारा कश्मीर एवं कच्छ में तथा चीन द्वारा लद्दाख एवं नेफा में अपने देश के विशाल भूखंड हथिया लेने का ज्वलंत उदाहरण हमारे सामने है। इसी प्रकार की कहानी आज भी इंडोचीन तथा अन्य स्थानों में दोहराई जा रही है।

७ राष्ट्रजीवन – अंतिम अनुशास्ति

सच्ची तटस्थता के लिए

आजकल हम अपने देश में 'पक्षनिरपेक्षता', 'गतिशील तटस्थता' आदि के विषय में बहुत कुछ सुनते हैं, मानो यही हमारे विनाश से रक्षा प्रदान करनेवाले सिद्धात हैं। परतु क्या वास्तव में यह दुर्बल के लिए सहायक सिद्ध हो सकेंगे? यदि किसी आक्रमणकारी शक्ति ने हम पर हमला किया तो उस स्थिति में हम अपना सरक्षण कैसे करेंगे? क्या हमको अपनी रक्षा के लिए किसी एक अथवा दूसरे शक्तिशाली गुट का सहारा नहीं लेना पडेगा? वास्तव में तब यह एक फुटबाल की 'गतिशील तटस्थता' होगी, जो स्वय केवल 'निष्पक्ष' और 'तटस्थ' ही नहीं है, परतु 'गतिशील' भी है, क्योंकि उसे बार-बार पैरों से एक ओर से दूसरी ओर ठोकर मारी जाती है। इसके अतिरिक्त व्यापक सघर्ष की स्थिति में बडी शक्तियाँ दुर्बल की तटस्थता की दो कौडी की भी चिता नहीं करेंगी।

प्रथम महायुद्ध में अपनी सेना फ्रास में ले जाने के लिए जर्मनी ने फ्रास की खतरनाक पर्वतीय सीमा से जाने के बजाय तटस्थ नीदरलैंड की समतल भूमि का उपयोग किया था। बेल्जियम और हालैंड द्वारा अपनी तटस्थता के आग्रहपूर्ण प्रतिपादन की जर्मनी ने तनिक भी चिता नहीं की। उसने अपनी सेना को प्रयाण का आदेश देकर उनकी तटस्थता को अपने सैनिकों के बूटों से कुचल दिया। यदि ये देश शस्त्रों से पूरी प्रकार से सज्जित होते, तो जर्मनी को उन देशों को कोपभाजन बनाने का साहस न होता।

इसका एक सुस्पष्ट विरोधी उदाहरण है कि स्विट्जरलैंड ने पूर्ण तटस्थता बनाए रखी। वह देश तुलनात्मक रूप में निर्धन है, परतु वहाँ के लोगों के हृदय देशभक्ति के प्रबल उत्साह, राष्ट्रीय स्वाभिमान तथा स्वतत्रता की दुर्दम्य भावना से स्पदित हैं। अतर्राष्ट्रीय नियम यह है कि युद्धों में विदेशी सेनाओं तथा शस्त्रों के आवागमन के लिए तटस्थ देशों का मार्ग के रूप में उपयोग नहीं किया जा सकता। उस युद्ध में एक बार यह देखा गया कि जर्मनी पर बम छोडने के लिए जाते हुए अग्रेजी वायुयान स्विट्जरलैंड के ऊपर से जा रहे हैं। उन वायुयानों को स्विट्जरलैंड की वायु सीमा अविलब छोडने की चेतावनी दी गई, परतु अपनी शक्ति की दभपूर्ण अनुभूति में अग्रेजों ने उस चेतावनी की उपेक्षा की। बिना किसी दुविधा के

स्विट्ज़रलैंड ने उन वायुयानों को मार गिराया। बाद में इंग्लैंड ने एक लंबा विरोध-पत्र भेजा, परंतु स्विट्ज़रलैंड ने उत्तर दिया कि वह एक स्वतंत्र राष्ट्र है, जो अपनी तटस्थता बनाए रखने के लिए कटिबद्ध है और यदि उसकी संप्रभुता के उल्लंघन का फिर ऐसा ही प्रयत्न हुआ तो उसके फिर वही परिणाम होंगे।

वास्तविकता से दूर भागने का परिणाम

परंतु आज हमारे देश में यह विचित्र धारणा निर्माण हो गई है कि हम लोग बिना शक्तिशाली हुए भी सुख और सम्मान के साथ अपना जीवन चला ले जाएँगे तथा यह भी कि मनुष्य की उच्च भावनाओं को अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ को अपील करने से अथवा पंचशील की दुहाई देने से सभी संघर्षों को सुलझाया जा सकेगा। ऐसी सब विकृत धारणाओं को सार्वदेशिक सत्य के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है।

हमारे प्रमुख व्यक्ति सेना को भी 'अंतर्राष्ट्रीयता' और 'विश्वबंधुत्व' का उपदेश देते हैं। एक बार मेरे साथ एक सैनिक अधिकारी तथा एक अन्य सज्जन रेल में यात्रा कर रहे थे। वे उर्दू में बातचीत कर रहे थे। सैनिक अधिकारी ने उनसे कहा– 'आप बहुत अच्छी उर्दू बोलते हैं।' उस सज्जन ने उत्तर दिया– 'हाँ, मैंने अपने स्कूल-जीवन में उर्दू पढ़ी थी। परंतु अब मैं बड़ा हो गया हूँ, मेरा उर्दू-प्रेम समाप्त हो गया है।' सैनिक अधिकारी ने पूछा 'ऐसा क्यों?' उन्होंने उत्तर दिया– 'जब मैं उर्दू अथवा फारसी पढ़ता हूँ तो उनके संपूर्ण साहित्य में मेरे सामने किसी बुलबुल का, किसी ईरान का, किसी यूफ्रेटिस अथवा टिगरिस का चित्र आता है, परंतु मेरे देश की किसी बात का नहीं।' सैनिक अधिकारी ने कहा– 'आप कितने संकुचित और मध्ययुगीन हैं। अब ऐसा समय है कि हमें देश, राष्ट्र आदि की संकुचित सीमाओं में सोचना छोड़ देना चाहिए। अब तो हमें संपूर्ण संसार के रूप में सोचना है।' अब ऐसा सैनिक अधिकारी युद्ध के लिए जाए, तो क्या वह अपने देश की रक्षा के लिए पूर्ण विश्वास से लड़ सकेगा? किसी भी क्षण उसके अंदर की 'विश्वचेतना' विद्रोह कर सकती है और वह अनुभव कर सकता है कि 'यह क्या वाहियात बात है? मैं क्यों लड़ूँ? यदि विपक्षी विजयी हो जाए तो इसमें क्या आपत्ति है? आखिर वह भी तो हमारे ही जैसे मनुष्य हैं।' तब हमारी क्या दशा होगी? क्या ऐसी विश्वचेतना हमें विनाश से बचा सकेगी?

एक समय एक ज्योतिषी था। जैसा हम जानते हैं कि ससार कभी भी समस्याओं से मुक्त नहीं हुआ। यह ज्योतिषी भी बहुत उद्विग्न था। ससार का भविष्य जानने के विचार से वह पृथ्वी को प्रभावित करनेवाले ग्रहों की स्थिति देखने के लिए निकला। जब वह अपने गाँव से बाहर हुआ तो एक ग्रह के पश्चात् दूसरा ग्रह देखता हुआ अपनी कल्पनाओं और आशकाओं का ताना-बाना बुनते हुए एक कुएँ में जा गिरा। ज्योतिषी के भाग्य से कुआँ बहुत दिन से उपयोग में नहीं आया था तथा सूखा था। ज्योतिषी अपने बचाव के लिए चिल्लाया। कुछ मनुष्य उस ओर से जा रहे थे। उन्होंने उस ज्योतिषी को बाहर निकाला और आश्चर्य से पूछा, 'पडित जी! आप मार्ग से अलग इस कुएँ में कैसे गिर पडे?' पडित जी ने इस ससार के हित के प्रति अपनी निष्ठा तथा ग्रहों से सबधित अपना उद्देश्य विस्तारपूर्वक बताया और अपने कुएँ में गिरने का सुबकते हुए वर्णन किया। तब उसको बचानेवालों ने टीका की कि 'पडित जी, ससार की कुडली पढने का प्रयत्न करने के पहले यदि आप अपनी कुडली पढ लेते तो यहाँ गिरने से बच जाते।'

अच्छा हो यदि ये लोग, जो आज अपनी दुर्बलता और अज्ञानता को अतर्राष्ट्रीयता के जोरदार नाम के आवरण में छिपाना चाहते हैं, उक्त ज्योतिषी की दुर्गति से पाठ सीखें तथा उन अतर्राष्ट्रीय हलचलों को प्रारभ करने के पूर्व, जिन्हें कार्यान्वित करने की उनके पास कोई शक्ति नहीं है, अपने राष्ट्र को व्यवस्थित कर लें। जब कि ससार सत्ता-राजनीति से ही सचालित हो रहा है और शक्ति का चारों ओर बोलबाला है। ऐसा दिखाई देता है कि वे लोग जो 'विश्वबधुत्व' अथवा ऐसी ही अन्य बातें करते रहते हैं, सचमुच नहीं जानते कि वे क्या बोल रहे हैं। विश्व-राजनीति का आज यही एकमेव तथ्य है कि निजी स्वार्थों तथा निजी हित-सरक्षण द्वारा ही विभिन्न राष्ट्र अस्तित्व में हैं। जो इस बात की उपेक्षा करते हैं, वे काल्पनिकता के फेर में वास्तविकता को दाँव पर लगा रहे हैं।

एक बार मैं कुछ वयोवृद्ध लोगों के मध्य बोल रहा था। मैंने राष्ट्र की स्थिति का विश्लेषण किया तथा अपना मत प्रकट किया कि यदि हम अपना स्वय का आतरिक ह्रास नहीं रोकेंगे और शक्तिशाली नहीं होंगे, तो हमारा राष्ट्र के नाते अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। तुरत ही एक अति बुद्धिमत्तापूर्ण टीका हुई— 'क्या हुआ यदि हम राष्ट्र के नाते जीवित न रहे? तब भी हम मानव के नाते जीवित तो रहेंगे ही।' मैंने कहा— 'हम लोग तो

मृत्यु के बाद भी जीवित रहेंगे। हमारी राख अथवा हमारे समाधिस्थ शव तो रहेंगे ही। क्या विज्ञान ने पदार्थ का अविनाशत्व सिद्ध नहीं किया है?'

आत्मसम्मोहन का परिणाम

'अतर्राष्ट्रीयता', विश्व-एकता' आदि वर्तमान प्रिय लगनेवाली धुन ने हमारे देश को इस हास्यास्पद और सकटमय स्थिति तक पहुँचा दिया है। हम लोग इन नारों से पूर्णतया इतने सम्मोहित हैं कि हम 'विश्वशाति', 'अतर्राष्ट्रीयता' आदि का मुखौटा धारण करनेवाली विदेशी शक्तियों के आक्रामक उद्देश्यों तक को समझने में असमर्थ हो गए हैं। वे यहाँ आकर 'अतर्राष्ट्रीय शाति-सम्मेलनों' का सचालन करते हैं, जबकि वे अपने देशों में विश्व-सहारक प्रक्षेपणास्त्रों का निर्माण करते रहते हैं। उनकी सब चालों का यही अर्थ है कि वे हमको अपने गुट में खींच लेना चाहते हैं, जिससे वे हमको उन भावी युद्धों, जिनकी वे योजना कर रहे हैं, में युद्ध-बलि के रूप में प्रयोग करें। ये भी सचमुच में 'शाति' चाहते हैं। पर कैसी शाति? स्वय को स्वामी और दूसरों को दास बनाकर वे आराम से सोना चाहते हैं और चाहते हैं कि दास आपस में न झगडें और स्वामी की निद्रा भग न करें। हम इन विचित्र सिद्धातों के शिकार बने हुए स्वय धोखा खाते रहते हैं और अपने 'प्रगतिशील' तथा 'अतर्राष्ट्रीय' दृष्टिकोण पर अपनी पीठ थपथपाते रहते हैं। क्या हम अपने लोगों को नहीं देखते, जो यह जानते हुए भी कि ये साम्यवादी तौर-तरीके पाचर के नुकीले छोर के समान साम्यवादी विस्तारवाद के लिए प्रयुक्त होनेवाले हैं, इन तथाकथित अतर्राष्ट्रीय शाति सम्मेलनों में सम्मिलित होते रहते हैं।

'शातिपूर्ण सह-अस्तित्व' और 'पचशील' जैसे नारे तथा कागजी समझौते, जिनमें हमारे नेता दिन-रात उलझे हुए हैं, हमारे देश के विरुद्ध ससार के स्वार्थी लुटेरे देशों के छिपे गर्हित उद्देश्यों की पूर्ति में केवल छद्मावरण बनाने में प्रयुक्त होते हैं। जैसा हम जानते हैं कि पचशील सिद्धात के प्रति विश्वास-प्रदर्शन में चीन सबसे अधिक चिल्लानेवाला था। चीन की यह कहकर अत्यधिक प्रशसा की जाती रही कि पिछले दो हजार या उससे भी अधिक वर्षो से, जब से उसने बौद्धमत स्वीकार किया है, चीन हमारे महान पडोसी और मित्र के रूप में है। हमारे नेताओं ने घोषणा की कि वे 'किसी भी मूल्य पर' चीन के साथ मित्रता बनाए रखने के लिए कृतनिश्चय हैं। एक समय हमने इसी प्रकार से 'किसी भी मूल्य पर' इस

देश के मुसलमानों की मित्रता संपादित करने का भी निश्चय किया था। राष्ट्र की अखंडता और सम्मान की दृष्टि से हमें इस निर्णय से कितना मूल्य चुकाना पड़ा, यह सर्वज्ञात है। चीन के संबंध में भी वही इतिहास दुहराया गया।

कुचिह्नों की उपेक्षा

हम यह भूल गए कि पिछले कुछ वर्षों से प्राचीन बौद्ध मतावलंबी चीन मर चुका है। रूसी जादूगर ने उसके शव में एक आत्मा का प्रवेश कराकर उसे एक दानव बना लिया है। आज हम उसका दानवी नृत्य अपनी सीमाओं पर देख रहे हैं। जब उसने तिब्बत को हड़पा और पंडित नेहरू ने उसका हलका-सा विरोध किया तो रुखाई के साथ उनकी भर्त्सना करते हुए कहा गया कि वह उनके 'आंतरिक मामले' में अपनी टाँग न अड़ाएँ। हमारे स्वर्गीय प्रधानमंत्री इस राष्ट्रीय अपमान को चुपचाप पी गए। तब से ही हम दो राष्ट्रों के बीच शाश्वत मित्रता तथा भ्रातृत्व की ऐतिहासिक उस संधि के नाम पर की गई चीन की दोस्ती और पंचशील की गरिमा बनाए रखने के लिए हम ऊँची उठ रही कीमत चुकाते चले आ रहे हैं। उस संधि पर दो देशों के महान प्रधानमंत्रियों के हस्ताक्षर जब हो रहे थे, उसी समय लद्दाख में चीन द्वारा बनाए गए फौजी रास्तों पर उनके सैनिकों से भरे ट्रक धड़धड़ाते बढ़े आ रहे थे और हमारे हिमालय क्षेत्र के बड़े-बड़े भू-भागों पर कब्जा कर रहे थे।

गाँधी जी के शिष्य तथा प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा. जे सी कुमारप्पा ने अपनी रूस और चीन की यात्रा के पश्चात् उन दिनों स्पष्ट चेतावनी दी थी कि उनकी (चीन और रूस की) दृष्टि में पंचशील की संधि उस कागज के टुकडे के बराबर भी मूल्य नहीं रखती, जिसपर वह लिखी गई है। परंतु साम्यवादी चीन के आक्रमण के सर्वग्रासी भय के सुस्पष्ट चिह्नों के प्रति हमारे नेता आँखें बंद कर अपने स्वप्नलोक में विचरण करते रहे। हमारे देश में साम्यवादियों ने चीन के एक नए मानचित्र की प्रतियाँ बाँटी, जिसमें हिमालय के सभी क्षेत्रों– लद्दाख, नेपाल, सिक्किम, भूटान तथा नेफा (तिब्बत से बाहर निकलती हुई चीन की आक्रामक मुट्ठी की पाँच उँगलियों के पाँच प्रतीक) तथा बर्मा के भाग चीन की सीमा के अंतर्गत दिखाए गए थे। हमारी सरकार ने इन मानचित्रों का वितरण रोका तक नहीं।

जब ख्रुश्चेव हमारे देश में आया और कश्मीर में था, तब उसने घोषणा की 'जब कभी तुम पर विपत्ति आए, तब इन पहाडों की चोटियों

पर चढ जाओ और सहायता के लिए पुकारो। दूसरी ओर से हम सदा तुम्हारी सहायता के लिए छोडकर आने को प्रस्तुत रहेंगे।' उस घोषणा का यह रहस्य हम न भूलें कि उनके अनुचर यहाँ हैं, जो कभी भी उन्हें सहायता के लिए पुकार लेंगे।

इसके अतिरिक्त जब ख्रुश्चेव और बुल्गेनिन का सपूर्ण देश में अभूतपूर्व जय-जयकार से स्वागत हो रहा था और उन्हें विश्व-शाति के दूत के रूप में अभिनदित किया जा रहा था, उस समय हमारे देश में एक रूसी समाचार-चलचित्र प्रदर्शित हो रहा था। वह चलचित्र मास्को के दृश्य से प्रारभ होता है, जिसमें व्याख्याकार घोषित करता है– 'भावी ससार की राजधानी मास्को।' यदि मास्को ऐसी राजधानी बने तो क्या इसका यह अथ नहीं है कि सपूर्ण ससार को रूस के अधीन होना पडेगा?

धोबी का गधा

हम लोग अभी अपने को इस भ्रम से मुक्त करने में समर्थ नहीं हुए कि हमारी अतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा इन निस्सार सदुउक्तियों के कारण बढी है। परतु तथ्य यह है कि हमारा ही एक अग पाकिस्तान हमको धृष्टतापूर्वक अपमानित करने, हमारे सैनिकों और सेनाधिकारियों को अपहृत करने, हमारे वायुयानों को गिराने तथा अभी भी वहाँ रहनेवाले हिदुओं के नियमित रूप से जातीय विनाश करने का एक भी अवसर हाथ से नहीं जाने देता। अब तो उसने हमारे देश पर आक्रमण भी कर दिया है। एक छोटा-सा देश लका पीढियों से वहाँ रहनेवाले हमारे लाखों बधुओं को बाहर भगा रहा है। बर्मा ने भी वही मार्ग अपनाया है। हमने आक्राता के नाते कश्मीर का प्रश्न सयुक्त राष्ट्र सघ के समक्ष उपस्थित किया और यह विश्व-ससद हमारी 'महती अतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा' के कारण हमारे साथ आक्रामक की बराबरी का व्यवहार कर रही है। यह दावा किया जाता है कि चीन में बदी बनाए हुए ग्यारह अमरीकी वायुयान-चालकों को मुक्त कराने में हमारे प्रभाव का उपयोग हुआ, कोरिया में हमारी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही, आदि। तब फिर उन सब मामलों में, जहाँ हमारे राष्ट्रीय सम्मान और अखडता को गभीर सकट उपस्थित हैं, इस 'महती अतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा' का उपयोग क्यों नहीं हुआ? अथवा हमारी यह 'प्रतिष्ठा' धोबी के उस गधे के समान है, जिसे दिन-भर तो मालिक के कार्य के लिए बोझा ढोना पडता है और शाम को अपनी जरूरतें स्वय पूरी कर लेने के लिए

खदेड दिया जाता है।

हमारे नेता बहुधा दुहराते हैं कि हमारी शांति और पक्षनिरपेक्षता की नीति के कारण सब बड़े राष्ट्र हमारे मित्र हैं और हमारा आदर करते हैं। वह उस आर्थिक सहायता की ओर इंगित करते हैं, जो हमें अमरीका और रूस से प्राप्त हो रही है। परंतु वही अमरीका हमारे शत्रु पाकिस्तान को नवीनतम शस्त्रों से सज्जित कर रहा है। क्या यह मित्रता का चिह्न है कि एक ओर तो हमें बलि के बकरे के समान आर्थिक सहायता से पुष्ट किया जाए और दूसरी ओर हमारे ऊपर आक्रमण करनेवालों को शस्त्र दिए जाएँ? रूस, जिसने भारत के साथ 'मित्रता' की तुलना में चीन के साथ 'बंधुत्व के अटूट बंधन' की घोषणा की है तथा जो प्रायः चीन की आक्रामक योजनाओं के पीछे संचालक शक्ति के रूप में काम करता रहा है, के बारे में अधिक कहने की आवश्यकता ही नहीं है।

अपनी सरलता के कारण हम संसार के राज्यों की घोषणाओं और राजनीतिक चालों को सत्य समझते हैं और यह सोचकर स्वयं ही प्रसन्न होते हैं कि हमारा संसार की राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि एक उदाहरण ही देना हो तो कुछ वर्ष पूर्व श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित को संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा की अध्यक्षा निर्वाचित किया गया था। परंतु हमारे देश को यह 'महान सम्मान' प्रदान करने के पीछे कौन सा हेतु छिपा था? उसी समय शेख अब्दुल्ला का कश्मीर को एक स्वतंत्र राज्य बनाने के देशद्रोहपूर्ण षड्यंत्र प्रकट हुआ था। उसे पद से हटाकर कैद किया गया था। उस घृणित षड्यंत्र को प्रोत्साहित करने की संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधियों की कुमंत्रणा भी पूरी तरह से प्रकाशित हो गई थी। संयुक्त राष्ट्र संघ के ये एजेंट जिनके इशारों पर कार्य कर रहे थे, वह आंग्ल-अमरीकी गुट अपना चेहरा बचाने के लिए उत्सुक थे और कश्मीर में अपना पैर जमाए रखकर बिना किसी बाधा के अपने षड्यंत्रों को चलाए रखने के लिए हमारे देश को किसी प्रकार समझौते की मनःस्थिति में तैयार करना चाहते थे। इसके लिए हमारे स्वर्गीय प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की बहन को संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षता का महान सम्मान प्रदान करने के अतिरिक्त और कौन-सा अधिक अच्छा साधन हो सकता था? यह एक चातुर्यपूर्ण खुशामद के अतिरिक्त और कुछ नहीं था, परंतु अपनी सरलता में हमने इसे अपना वास्तविक सम्मान समझा।

वर्तमान के लिए शिक्षा

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमने अपनी राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और प्रगति के आलब के रूप में उच्च स्वर से घोषित जिन विविध धारणाओं को स्वीकार किया है, उनका इस ससार की कठोर वास्तविकता में कोई मूल्य नहीं है। दुर्भाग्य से वार-वार अपने हाथ जला लेने पर भी हम इन ईप्सित विचारों के प्रति अपना मोह नहीं छोड पाते। यह केवल अभी से नहीं, अपितु शताब्दियों से हमारे समाज के ऊपर एक अभिशाप रहा है। जब चगेज खॉ इस देश पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था, उसे ज्ञात हुआ कि हमारे पूर्वी-पश्चिमी राज्य के बहुत से लोग बौद्ध हो गए हैं। अत उसने बौद्ध बनने का ढोंग कर आक्रमण कर दिया। यहॉ के बहुत से बोद्ध यह देखकर कि वह उनका धर्म-बधु है, उसका स्वागत करने गए। परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म की 'अहिसा' के आवरण में चगेज खॉ मानव-सिरों के पर्वत-सदृश ऊँचे ढेर खडे कर सका।

ससार शक्ति का पुजारी

कम से कम अब तो हम इस सत्य को स्वीकार कर लें कि वास्तविक राष्ट्रीय सम्मान तथा वास्तविक शाति के लिए अजेय राष्ट्रीय शक्ति निर्माण करने के अतिरिक्त ओर कोई मार्ग नहीं है। तभी यह सभव हे कि जिन महान सिद्धातों का हम ससार को उपदेश देते हैं, उन्हें महत्त्व तथा प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। ससार दुर्बल तत्वज्ञान, चाहे वह कितना ही उदात्त क्यों न हो, सुनने को तैयार नहीं है। एक पुरानी घटना है जो हमारे कई प्रमुख समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुई थी। हमारे महान राष्ट्रीय कवि रवींद्रनाथ ठाकुर जापान गए थे। वे हिंदू-दर्शन की श्रेष्ठता पर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के समक्ष भाषण देनेवाले थे, परतु सभा-भवन कुछ अध्यापकों को छोडकर खाली रहा। यह सोचकर कि यह दृश्य प्रतिष्ठित अतिथि के लिए अपमानजनक होगा, एक अध्यापक ने कुछ विद्यार्थियों, जो बहुत दूर खडे थे, को भाषण सुनने के लिए तैयार करने का प्रयत्न किया। विद्यार्थियों ने दृढता के साथ यह कहकर मना कर दिया कि 'हम गुलाम राष्ट्र का दर्शन नहीं सुनना चाहते।'

ससार केवल शक्तिशालियों की पूजा करता है। पिछले युद्ध के पूर्व जब इग्लैंड शक्तिशाली था, हमारे लोग अग्रेजों का अनुकरण और उनकी प्रशसा करते थे, परतु जब युद्ध के काल में कुछ समय ऐसा लगा कि जर्मनी

जीत जाएगा, तो वे लोग हिटलर और नाजीवाद की उपासना करने लगे। हम ऐसे व्यक्तियों से परिचित हैं जो आजकल हिटलर और नाजीवाद की निंदा सबसे अधिक जोर-शोर से करते हैं, परतु उन दिनों समादर की भावना से गुप्त रूप से अपने रेडियो से जर्मनी के समाचार सुना करते थे। जर्मन आक्रमण के दो सप्ताह के भीतर फ्रास का पतन सुनकर वे कितने प्रसन्न हुए थे। *अब वही लोग अमरीका अथवा रूस की उपासना करते हैं,* क्योंकि ये वही देश हैं, जिन्होंने जर्मनी की सैनिक-शक्ति को चूर-चूर कर दिया तथा जो आज विश्व के सबसे शक्तिशाली राष्ट्र हैं। आज बहुत से व्यक्तियों का साम्यवाद के प्रति जो आकर्षण है, यह प्रमुख रीति से साम्यवाद के पृष्ठपोषक रूस और चीन की पाशविक शक्ति के कारण है। यही ससार का ढग है। दुर्बल के स्वर की कोई तनिक भी चिंता नहीं करता। बहुत पूर्व हमारे पूर्वजों ने घोषित किया था कि निर्धनों और दुर्बलों की इच्छाएँ हवा में महल बनाने के समान हैं–

'उत्पद्यन्ते विलीयन्ते दरिद्राणा मनोरथा ।'

सामर्थ्य ही पुण्य और दुर्बलता ही पाप है

किसी भी स्थिति में दुर्बल को कष्ट भोगना पडता है। कितना भी ऊपरी तालमेल अथवा हेरफेर उसे बचा नहीं सकता। दुर्बल रहना ससार का सबसे जघन्य पाप है, क्योंकि इससे स्वय हमारा विनाश होगा और दूसरों की हिंसा की वृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। हमारे पूर्वजों ने कहा है कि अपने शरीर की विनाश से रक्षा करना सर्वोच्च धर्म का एक अग है। शारीरिक सरक्षण का एकमात्र आधार शक्ति है। विश्वामित्र के विषय में बताया जाता है कि एक बार बडे अकाल के समय उन्हें कई दिनों तक भोजन नहीं मिला। एक दिन उन्होंने एक चाडाल के घर में एक मृत कुत्ते की सडती हुई टॉग पडी देखी। विश्वामित्र ने झपटकर उसे ले लिया और परमात्मा को भोग लगाकर उसे खाने को सिद्ध हुए। चाडाल विस्मय से बोला– 'अरे ऋषि! तुम कुत्ते की टॉग कैसे खा रहे हो?' विश्वामित्र ने उत्तर दिया– 'ससार में तपस्या और सत्कर्म करने के लिए मुझे पहले जीवित रहना और शक्तिशाली होना आवश्यक है।

परतु पिछले कुछ दशकों में हमारे देश में जो विचार रहा है, उसमें शक्ति को पापपूर्ण और गर्हित माना जाता रहा है। 'अहिंसा' के गलत अर्थ लगाने के कारण राष्ट्र के मस्तिष्क की विवेचन-शक्ति समाप्त हो गई है।

हम लोग शक्ति को 'हिंसा' मानने लगे हैं तथा अपनी दुर्वलता को गौरवास्पद समझने लगे हैं।

एक वार एक साधु ने कहा 'अहिंसा' शब्द ही हिंसा के अस्तिवाचक भाव में 'अ' लगाकर 'हिंसा' से निकली हुई एक नकारात्मक अभिव्यक्ति है।' जो हिंसा करने में पर्याप्त समर्थ हैं, परतु जो सयम, विवेक और दया के कारण ऐसा नहीं करता, केवल उसी व्यक्ति के लिए यह कहा जा सकता है कि वह अहिंसा का आचरण करता है। मान लो कोई तगडा व्यक्ति सडक पर जा रहा है और उससे कोई टकरा जाता है। यदि वह वलवान व्यक्ति दया करके कहे– 'ठीक है, तुमने मेरे प्रति जो अनुचित कार्य किया है, उसके लिए मैं तुम्हें क्षमा करता हूँ', तव हम कहते हैं कि उस वलवान व्यक्ति ने अहिंसा का व्यवहार किया है, क्योंकि यद्यपि वह प्रहार करने में और सिर तोडने में समर्थ है, परतु उसने स्वय को नियन्त्रित किया।

मान लो एक पतला-दुवला मच्छर जैसा व्यक्ति जा रहा है, कोई उसके कान खींच लेता है और वह 'मच्छर' सिर से पैर तक काँपता हुआ कहता है, 'महाशय! मैं आपको क्षमा करता हूँ,' तो कौन उसका विश्वास करेगा? कौन कहेगा कि वह अहिंसा का पालन कर रहा है? वह उस व्यक्ति के समान है, जो डाकुओं को अपना घर लूटने से रोकने में असमर्थ होने पर जोर-जोर से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की घोषणा करता है। लोग कहेंगे कि वह कायर और ढोंगी है, उसे कुछ करने का साहस नहीं है तथा वडी-वडी सद्उक्तियों से केवल अपनी दुर्वलता छिपा रहा है। हमारे देश का वायुमडल इस प्रकार के भ्रमों और आत्मप्रवचनापूर्ण सद्उक्तियों से भरा पडा है। केवल अपनी कायरता को छिपाने के लिए नैतिक अधिकार का दभ लेकर 'शाति' और 'अहिंसा' जैसे वडे-वडे शब्दों का धूल के वादलों जैसा ववडर खडा किया जाता है।

नपुसक की अहिंसा

ऐसी विपरीत धारणाओं के कारण ही हम चारों ओर हानि सह रहे हैं। प्रतिदिन हम देखते हैं कि हमारी सीमाएँ सकुचित होती जा रही हैं। कोई भी मातृभूमि की अखडता और सम्मान को बचाने की मन स्थिति में नहीं है। प्रत्येक राष्ट्रीय अपमान को 'शाति' के आवरण में ढक दिया जाता है। दिन-प्रतिदिन हमारे ऊपर अपमान लादे जा रहे हैं। शत्रुओं द्वारा हमारे लोगों को गोलियों से मार दिया जाता है और पडित नेहरू के जन्मदिन पर

चीन ग्यारह सैनिकों के शव भेंट में देता है। हम यह कहकर कि हम शांति के पुजारी हैं, यह सब निगल जाते हैं। महाभारत में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपमान निगल जाता है वह न पुरुष है न स्त्री है।

एतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी।
क्षमावान् निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुन पुमान्।।
(महाभारत, उद्योग पर्व १३३-३२)

(वही पुरुष है, जो न सहन करता है और न क्षमा करता है। क्षमा करनेवाला तथा सहन कर लेनेवाला न तो स्त्री है और न पुरुष है।)

श्रीकृष्ण का आदर्श

हमारा दर्शन हमें बताता है कि मनुष्य को तभी विनम्र होना चाहिए, जब वह दूसरों को विनीत करने में समर्थ हो। किसी व्यक्ति को तभी क्षमाशील होना चाहिए, जब वह इतना शक्तिशाली हो जाए कि अपने को अपमानित करनेवाले को नष्ट कर सके। व्यक्ति को तब दूसरों की सेवा करनी चाहिए, जब वह इतना योग्य हो कि सारा ससार स्वेच्छा से उसकी सेवा करने को प्रस्तुत हो। श्रीकृष्ण हमारे आदर्श हैं, जिन्होंने बचपन से ही एक के पश्चात् एक अनेक दुष्ट राक्षसों को समाप्त किया और फिर गीता में अहिंसा का उपदेश दिया। उन्होंने ही कस का वध किया, उग्रसेन को गद्दी पर पुन प्रतिष्ठापित किया, परतु स्वय अतिथि राजाओं का स्वागत करते हुए राजसभा के द्वारपाल रहे। फिर उन्होंने ही युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भोजन के पश्चात् पत्तल हटाने का छोटा-सा सेवा-कार्य स्वय स्वीकार किया, जबकि उनको अग्रपूजा का सम्मान प्रदान किया गया था। हमारे दर्शन का ऐसा ही संदेश है।

हमारे सभी महान पुरखों, जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय आचार के मानदड प्रस्थापित किए हैं, ने आदर्श का व्यावहारिकता के साथ तथा मानव-कल्याण के सर्वोच्च सिद्धातों का व्यावहारिक ससार की आवश्यकताओं के साथ सदा मेल बैठाया है। जब राम और रावण का युद्ध बहुत प्रबल रूप में चल रहा था, उस समय की एक घटना रामायण में वर्णित है। रावण के पुत्र मेघनाद को मारने के पश्चात् लक्ष्मण उसका सिर शिविर में ले आए थे। मेघनाद की पत्नी सुलोचना अपने पति के शरीर के साथ सती होना चाहती थी। अपने पति का सिर लौटाने की प्रार्थना करने के लिए वह राम के शिविर की ओर गई। राम के पक्ष के सैनिकों ने रावण के शिविर से एक सुदर स्त्री को अपनी ओर आते देखकर समझा कि आनेवाली नारी

स्वय देवी सीता होंगी। प्रसन्नता और हर्षोद्घोष से वे चलितचित्त होकर अपने हथियार डाल देने को तैयार हुए। परतु जब श्रीराम को इस उत्तेजना का और उनके पीछे के कारण का ज्ञान हुआ, तब उन्होंने शातिपूर्वक कहा– 'मत भूलो कि अपने दसों सिर और बीसों भुजाओं के साथ रावण अभी भी अच्छी प्रकार से जीवित है। रावण के मृत शरीर पर चलकर ही हम लका में प्रवेश कर सकते हैं और सीता को मुक्त कर सकते हैं। तब तक सीता-दर्शन का स्वप्न मत देखो। किसी भ्रम में मत रहो।' मनुष्य के मनोविज्ञान की पूर्ण जानकारी होने के कारण उन्होंने रावण के स्वभाव का ठीक प्रकार से आकलन किया। इस कारण ही वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि राक्षस की दुष्प्रवृत्ति इतनी गहरी जमी हुई है कि उसमें किसी भी परिस्थिति में परिवर्तन नहीं आ सकता। उनके अचूक रामबाण से ही सकट मिट सकता है। राम द्वारा मानव-जीवन के सर्वोच्च मानदडों को बनाए रखना और शक्ति के अतिम प्रामाण्य होने का विश्वास, उसी एक चरित्र के ऐसे दो पक्ष थे, जिसने उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम (आदर्श मानव) बना दिया।

महाभारत में कुरुक्षेत्र की रणभूमि में 'क्लैब्य मा स्म गम पार्थ' का उद्घोष कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन के पुरुषार्थ का आह्वान किया। यह ठीक है कि अर्जुन कायर नहीं था। वह जन्मजात योद्धा था, परतु अपने गुरुजनों और पूज्यों को अपने विरोध में खडा देखकर उसका मन अपने कार्य के औचित्य के विषय में सदेह से भर गया था। वह रणक्षेत्र से भागना नहीं चाहता था। इसके विपरीत अपने शस्त्र अलग कर वह वैराग्य की भावना से अपने शत्रुओं के हाथों मरना चाहता था।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्र शस्त्रपाणय ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतर भवेत् ।।

(गीता, १-४६)

(यदि हाथ में शस्त्र धारण किए धृतराष्ट्र के पुत्र मुझ बिना शस्त्रवाले तथा प्रतिकार न करनेवाले को रण में मार डालें, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारी होगा।)

हमारे नेताओं के मनों में भी आज उसी प्रकार का सभ्रम उत्पन्न हो गया है। 'अप्रतिकार' और 'शांति' आदि शब्दों को उच्च स्वर से घोषित किया जा रहा है। वास्तव में दोनों की मानसिक स्थितियों में बडा अतर है। अर्जुन अपने अतरतम से वीर था, जबकि आजकल हमको सुनाई देनेवाला 'अप्रतिकार' जैसे शब्दों का गभीर प्रतिपादन हमारी कायरता को छिपाने के

आवरण के रूप में प्रयोग किया जाता है।

सही दर्शन

आज के ससार में कोई चाहे अथवा न चाहे, सघर्ष उत्पन्न होना अवश्यभावी है। क्या हमारे धर्मात्मा बने रहने से दूसरों की दुष्प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाएँगी? क्या इस प्रकार के सुस्पष्ट रीति से विवेकशून्य मूढ-विश्वासों को मानने से बढकर कोई दूसरी आत्म-प्रवचना हो सकती है? वास्तव में वह बकरा, जिसे बलिवेदी पर शातिपूर्वक ले जाया जाता है, अप्रतिकार की मूर्ति है। तनिक-सा भी विरोध प्रकट किए बिना वह कसाई के छुरे के नीचे अपना सिर रख देता है। कसाई एक क्षण भी यह अनुभव नहीं करता कि ऐसे निर्दोष 'अहिसक' प्राणी को नहीं मारना चाहिए। परतु कोई भी व्यक्ति यज्ञ में व्याघ्र की बलि देने का विचार करने का भी साहस नहीं करता। केवल उसी दुर्बल, सीधे, 'अहिसक' बकरे को बलि के लिए पसद किया जाता है। मनुष्य भी उसका मास स्वाद के साथ खाते हैं। कहा गया है–

अश्व नैव गज नैव व्याघ्र नैव च नैव च।
अजापुत्र बलि दद्यात् देवो दुर्बलघातक ।।

(घोडा नहीं, हाथी नहीं, व्याघ्र तो कदापि नहीं, बकरा ही बलि दिया जाता है। देवता भी दुर्बल का ही विनाश करते हैं।)

'अप्रतिकार' की प्रवृत्ति का यही परिणाम है। यह ठीक है कि बिना उत्तेजना के हमको हिसा में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, पर साथ ही साथ हमें दूसरों को भी अपने विरोध में हिसा का व्यवहार नहीं करने देना चाहिए। अपने प्रति हिसा करने देना भी हिसा है, अत अधर्म है। एक श्रेष्ठ जैन साधु ने अहिसा का महत्त्व बताते हुए कहा– 'यदि तुम्हें नष्ट करने पर तुली हुई किसी पाशविक शक्ति से तुम्हारा सामना हो और अहिसा के नाम पर तुम अपने सरक्षण का कोई प्रयत्न न करो, तो तुमने उस दुष्ट शक्ति को हिसा में प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहित ही किया है। इस प्रकार तुम उस अपराध के प्रोत्साहनकर्ता बन गए हो। प्रोत्साहक भी अपराध का उतना ही दोषी है, जितना कि वास्तविक अपराधी। उन्होंने आगे कहा– 'कोई कार्य हिसात्मक है अथवा अहिसात्मक, यह निर्णय करने का एकमात्र मापदड उसके पीछे का हेतु है, न कि वह कार्य स्वय।

जो वास्तव में महान पुरुष हुए हैं, उनकी शिक्षाओं ने ऐसे सब मामलों में हमारा सदैव सही मार्गदर्शन किया है। तुकाराम जैसे एक बडे

दयालु संत ने भी दया की परिभाषा की है–

'दया तिचें नाव भूतांचें पालन आणिक निर्दालन कण्टकाचें'

(प्राणियों का पालन और कंटकों, अर्थात् दुष्टों का विनाश ही दया है।)

श्रीकृष्ण ने सुस्पष्ट रीति से तथा सदा के लिए घोषित कर दिया है कि धर्म की स्थापना का अर्थ है– दुष्टों का विनाश ('विनाशाय च दुष्कृताम')। श्रीकृष्ण स्वयं उस सिद्धांत के मूर्त रूप थे। उन्होंने युद्ध टालने तथा शांति प्रस्थापित करने का निस्संदेह उपदेश दिया तथा उसके लिए संपूर्ण शक्ति लगा दी, परंतु उन्होंने दूरदृष्टि से स्पष्ट रूप से समझ लिया कि उनकी स्वयं की श्रेष्ठतम शक्ति ही अंतिम रूप से निर्णायक है। जब वह दुर्योधन के पास समझौते की बात करने के लिए जानेवाले थे, उस समय यह सोचकर कि दुष्ट प्रकृतिवाला दुर्योधन कहीं श्रीकृष्ण को हानि न पहुँचाए, धर्मराज उनकी सुरक्षा के लिए चिंतित हो गए। श्रीकृष्ण ने उन्हें विश्वास दिलाया कि उस स्थिति में तो धर्मराज बिना युद्ध के ही राज्य प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि तब दुर्योधन और उसके साथियों के दल को वह स्वयं नष्ट कर देंगे। शत्रुओं का सामना करते समय शक्ति की भूमिका के संबंध में यही यथार्थ विचार है। आवश्यकता न होने पर अथवा न्याय और सम्मानपूर्ण समझौता संभव होने पर भी सदैव शक्ति-प्रयोग की बात करना और वैसा ही व्यवहार करना अमानुषिक तथा क्रूरतापूर्ण है, परंतु सदा समझौते की बात करना और जब अन्याय तथा अपमानों को दूर करने का कोई अन्य मार्ग न हो, उस समय भी शक्ति का प्रयोग न करना कायरता और नपुंसकता है।

अतः इस संसार की कठोर वास्तविकताओं का जीवन व्यतीत करते हुए महान व्यक्तियों ने जैसा संदेश दिया था, उसे हमें ठीक से समझना है। कठोर वास्तविकता यह है कि आज का जैसा संसार है, वह एक ही भाषा– शक्ति की भाषा– समझता है। केवल अपरिमित शक्ति के दृढ आधार पर ही राष्ट्र का उत्कर्ष होता है और उसकी यशस्वी स्थिति बनी रह सकती है।

अपराजेय राष्ट्रीय संकल्प–शक्ति की आवश्यकता

राष्ट्रीय शक्ति का वास्तविक तथा अक्षय स्रोत है संपूर्ण जाति का सुगठित, समर्पित तथा अनुशासित जीवन। अतः जीवन के विविध क्षेत्र, समाज की अंतर्निहित शक्ति की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। राजनीतिक सत्ता इस प्रकार की एक अभिव्यक्ति है, सैनिक शक्ति एक दूसरी अभिव्यक्ति है।

परतु राष्ट्र की सु-अनुशासित, प्रखर देशभक्तिपूर्ण और शौर्यपूर्ण स्थिति ही शक्ति का अपरिहार्य भडार है।

यह सच ही कहा गया है कि वदूक नहीं, उसके पीछे जो हृदय है, वही लडता है। विना शक्तिशाली देशभक्तिपूर्ण हृदय के कितने भी शस्त्रास्त्र देश को नहीं वचा सकेंगे। जिसे लोग 'हिदू-मुस्लिम दगा' कहते हैं, वह अनिवार्य रूप से एक 'मुस्लिम दगा' होता है, क्योंकि मुसलमान ही सदैव पहले प्रहार करता है और हिदू उसकी चोट सहता है। ऐसे ही समय की एक घटना है। उस दगे में एक हिदू अपने घर की ऊपरी मजिल पर एक भरी हुई बदूक लेकर वैठ गया। कुछ मुसलमान गुडों ने उसके घर पर आक्रमण किया, परतु दरवाजे मजवूती से वद थे, अत वे अदर नहीं घुस सके। तब उनमें से एक ने अपने हाथ की एक छोटी कुल्हाडी घुमाते हुए ऊपर वैठे व्यक्ति को धमकाकर कहा कि वह वदूक फेंक दे, अन्यथा उसके टुकडे-टुकडे कर दिए जाएँगे। भयभीत होकर उस सज्जन ने वदूक गिरा दी। वह उसी बदूक से मार डाला गया। अत एक निर्भय लौह-हृदय मनुष्य के द्वारा ही शस्त्रों का प्रयोग और स्वय की रक्षा हो सकती है। यही वात राष्ट्र के सबध में भी है।

इन्हीं व्यावहारिक और मार्ग-निर्देशक सिद्धातों के आधार पर ही हमारा समाज पुन एक महान राष्ट्र के रूप में खडा हो सकता है। अत हमारे सपूर्ण प्रयत्न हमारे लोगों में राष्ट्रीय चेतना जागृत कर सुसगठित राष्ट्रनिर्माण करने की दिशा में होने चाहिए। इस पृथ्वीतल पर स्वतत्र और तेजस्वी राष्ट्रीय जीवन का यही अतिम प्रामाण्य हे।

✿ ✿ ✿

८ विजय के उपासक

पुण्य तिथियाँ

हमारे महापुरुष हमारे राष्ट्रीय जीवन के उद्देश्य तथा राष्ट्रीय गौरव की प्राप्ति के मार्ग पर दीपस्तभ के समान विद्यमान हैं। हमारी भावी पीढियाँ उस मार्ग का सफलतापूर्वक अनुसरण करें, इसके लिए यह आवश्यक है कि उनकी स्मृति तथा उदाहरण राष्ट्र के मस्तिष्क में सदैव जागृत रहें। साथ

ही यह भी आवश्यक है कि विचारों और कर्मों में निपुण उन व्यक्तियों के जीवन और कृतियों की शिक्षाएँ अपने वास्तविक स्वरूप में ही प्रस्तुत की जाएँ। वास्तव में इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर हमारी राष्ट्रीय परपरा में अति प्राचीनकाल से हमारे प्राचीन राष्ट्र-सेनानियों के जन्म और मृत्यु की पुण्य तिथियों को मनाने का महत्त्व रहा है।

महान व्यक्तियो को देवत्व प्रदान

दुर्भाग्य से इन महान पूर्वजों द्वारा स्थापित आदर्शों के स्मरण की इस परपरा में एक बडी विकृति प्रवेश कर गई है। हमारे समाज के लोग—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंऽशसभवम्।। (गीता, १०-४१)

(जो-जो भी जीव ऐश्वर्ययुक्त, श्रीयुक्त अथवा शक्तियुक्त हैं, उन सबको तू मेरे तेज के अश से उत्पन्न समझ।) गीता के इस श्लोक में पूर्ण विश्वास रखते हुए ऐसी महान आत्माओं की अलौकिक शक्ति में परमात्मा की अभिव्यक्ति का चिह्न, दैवी तेज की एक झलक देखते हैं। यहाँ तक तो ठीक है। परतु इसके कारण यह भ्रमपूर्ण विश्वास उत्पन्न हुआ है कि ऐसे सब महापुरुष महामानव हैं, सामान्य मनुष्य की पहुँच के बहुत ऊपर हैं। सर्वसाधारण व्यक्ति स्वय को परिस्थितियों का दास मानकर इन महापुरुषों को देवता की श्रेणी में ढकेलकर अपने कर्त्तव्यों से पलायन का एक सुरक्षित मार्ग ढूँढने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार वह अपने व्यावहारिक प्रतिदिन के जीवन में उनका अनुसरण करने के उत्तरदायित्व, जिसके कारण उसे बहुत सी अग्निपरीक्षाओं और आपत्तियों को झेलना पडेगा, से स्वय को मुक्त कर लेता है। वह अपनी दुर्बलता और असहायता से परमात्मा की प्रार्थना भी करता है कि परमात्मा आएँ, उसका उद्धार करें और इन सकटों का सामना करने के कष्टों से उसे बचा लें। जहाँ तक उसका अपना प्रश्न है, वह चाहता है कि वह घर पर आराम से बैठे और परमात्मा की कृपा से सब ठीक हो जाए।

इसके साथ आजकल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह पागलपन सवार है कि व्यक्ति को कम से कम उत्तरदायित्व और खतरा उठाते हुए अधिक से अधिक लाभ और आनद प्राप्त हो। हमें कहीं भी पौरुष की भावना नहीं दिखाई देती, जिसके कारण व्यक्ति कहे— 'हाँ, मैं एक मनुष्य हूँ। चाहे जैसी परिस्थिति आ पडे, उसकी चिता न करते हुए मैं मनुष्योचित प्रयत्न करूँगा

और सपूर्ण शक्ति लगाकर अपने कर्तव्यों की पूर्ति करूँगा।' यही कारण है कि धनी परिवार में उत्पन्न व्यक्ति बहुत भाग्यशाली माना जाता है, क्योंकि उसे बिना किसी प्रयत्न के सभी आराम और उपभोग के साधन प्राप्त हो जाते हैं। उसे अपने खाने-पीने की चिता नहीं करनी पडती। उसका प्रत्येक छोटा काम करने के लिए उसके इशारे पर चलनेवाले नौकर होते हैं, जिसके कारण वह सपूर्ण समय निकृष्ट कोटि के भोग-विलास में निमग्न रहने के लिए मुक्त हो जाता है। अत अपने जीवन में असहायता के कारण अथवा उपभोग के इस प्रकार के उन्माद के कारण सामान्य मनुष्य स्वाभाविक रूप से चाहता है कि उसे स्वय कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। वह चाहता है कि 'परमात्मा पृथ्वी पर आए और मुझे विपत्तियों के भँवर से मुक्त कर किनारे पर लगा दे। वह मेरे ऊपर सुख-सुविधाओं की वृष्टि कर दे तथा अपना अवतारी जीवन समाप्त कर अपने स्थान को लौट जाए।'

इस प्रकार की मनोवाछित आशाएँ लेकर सामान्य मनुष्य आपत्ति के समय परमात्मा की प्रार्थना करता है और उसका सहारा लेता है, मानो सर्वशक्तिमान प्रभु उसकी प्रार्थनाओं से दयार्द्र होकर और इन 'सतों' की रक्षा के लिए अपनी इस प्रतिज्ञा की पुन पूर्ति करेगा—

परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। (गीता, ४-८)

(सज्जनों की रक्षा और दुष्टों का विनाश करने तथा धर्म की सस्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में उत्पन्न होता हूँ।)

इस विषय में सघ के सस्थापक हँसी में कहा करते थे— 'इसके विपरीत मैं तो परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वह अभी जन्म न ले, क्योंकि सपूर्ण समाज को आलस्य और स्वार्थ, अर्थात् अधर्म में डूबा देख वह अधर्म का विनाश करने की अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इसे पूरी तरह नष्ट कर देंगे। इसलिए पहले हम लोग साधु बनें, जिसका अर्थ है कि समाज के लिए परिश्रम और त्याग का जीवन बिताएँ और तब सर्वशक्तिमान परमात्मा को पुकारें। तभी वह हमारी रक्षा और दुष्टों का विनाश करेगा।'

परतु साधारण व्यक्ति ऐसा अनुभव करते हैं कि इन महान 'अवतारों' का स्मरण करने और इन्हें परमात्मा के व्यक्त रूप के नाते पूजने में ही उनका कर्तव्य समाप्त हो जाता है। उन्हें कुछ और करने की इच्छा

केवल खाने, पीने, पैसे कमाने, बच्चों का पालन-पोषण करने और अंत में एक दिन मर जाने के लिए है।

प्रयत्न परमेश्वर

अपनी जान बचाने की इसी प्रवृत्ति के कारण लोग महापुरुषों को परमात्मा की श्रेणी में ढकेल देते हैं। साधारण मनुष्य जब विपत्तियों से घिर जाता है, तब वह हतबुद्धि और भयभीत हो जाता है। और क्या करे?— यह न समझ सकने के कारण वह परमात्मा की शरण लेता है और रोता-बिलखता हुआ परमात्मा से पुन अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना करता है। निराशा के उस अंधकार में उसे परमात्मा के सिवाय आशा की कोई और किरण दिखाई नहीं देती। कभी-कभी हम महान संतों और विद्वानों को भी इस प्रकार विलाप करते देखते हैं। यदि इन परिस्थितियों में कोई महापुरुष उपस्थित हो जाता है तथा अपने पौरुष, धैर्य और बुद्धिमत्ता से घटनाचक्र में परिवर्तन कर देता है, तो लोग उसे भी देवता की श्रेणी में डाल देते हैं, परंतु यह तो कोरी दुर्बलता ही है, जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति ऐसे महापुरुषों को मानवों की कोटि से बाहर ढकेल देता है।

हमें अपने समाज के व्यक्तियों की इस विकृत मनोवृत्ति को बदलना है। उसके स्थान पर पौरुष और उद्यम की दृष्टि प्रस्थापित करनी है। स्वामी रामदास ने कहा है— 'यत्न तो देव जाणावा' (प्रयत्न ही परमात्मा है)। हमें मानव-प्रयत्न के रूप में व्यक्त परमात्मा की शरण लेनी चाहिए। यह कर्मभूमि है, मानव के उद्योग की भूमि। यह असामान्य सामर्थ्यशाली व्यक्तियों के रक्त और पसीने से पवित्र हुई मिट्टी है। यहीं पर हमारी अंतर्निहित शक्तियाँ और गुण प्रस्फुटित होते हैं तथा हमारे प्रसुप्त देवत्व का जागरण होता है। इसी यथार्थ विश्वास से मानव-उद्योग के पथ पर बढ़ने की हमें प्रेरणा मिलनी चाहिए। हम उन महान आत्माओं की पूजा करें और उनके प्रति श्रद्धा का भाव रखें, परंतु देवता जैसी निरी पूजा के रूप में नहीं, अपने सदृश मनुष्यों के रूप में, जो व्यक्तिगत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इतनी ऊँचाई तक पहुँचे हैं। जब रावण सीता को हर ले गया, तब श्री रामचंद्र जी ने उसी प्रकार विलाप किया था और उसी प्रकार रोए थे, जैसा हममें से कोई भी अपने पारिवारिक जीवन में विपत्ति आने पर करेगा। ऐसा कर उन्होंने संसार के सम्मुख घोषित कर दिया कि वे भी अन्य किसी के समान ही मनुष्य हैं। यद्यपि वह हमारे समान खाते-पीते थे, सोते और

चलते थे तथा एक मनुष्य की सामान्य भावनाओं का अनुभव करते थे, तथापि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण महान व्यक्तिगत परिश्रम द्वारा संपादित मानवता के उच्चतम आदर्श की ओर बढ़ने का हमें संकेत करता है।

हमारे महान संतों और भक्तों ने निस्संदेह भगवान की प्रार्थना पर बहुत बल दिया है। परंतु उन्होंने जीवन में अकर्मण्यता का उपदेश कभी नहीं किया। जो अकर्मण्य रहकर परमात्मा के नाम पर रोते रहते हैं, ऐसे भक्तों की सदैव बहुत खिल्ली उड़ाई गई है। हमारे सभी महापुरुषों ने समाज में पौरुष और कर्तव्य की भावना भरने का निरंतर प्रयत्न किया है। हमारे समक्ष वे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मानवीय प्रयत्न और उपलब्धि के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में उपस्थित हैं। हम इन सब कर्मवीरों की संतान हैं। उनका रक्त हमारी नसों में बहता है। वे आकाश से बने-बनाए महापुरुष के रूप में नहीं टपक पड़े थे। उन्होंने अपने परिश्रम, बुद्धिमत्ता, धैर्य, त्याग और ऐसे ही अन्य पुरुषोचित गुणों के बल पर महानता संपादित की थी। हम ऐसा विश्वास क्यों न रखें कि हम भी कम से कम कुछ मात्रा में अपने जीवन में उन्हीं गुणों को प्रकट कर सकते हैं। यदि हमें एक महान राष्ट्र के नाते खड़े होना है तो यह सबसे अधिक आवश्यक है कि जब भी हम पूर्व के महान व्यक्तियों के जीवन और कार्यों की ओर देखें, तो हम इस सही दृष्टिकोण को अपनाएँ।

विजयशाली की पूजा

अब हम यह देखें कि अपनी इस भूमि में किस प्रकार के श्रेष्ठ जीवनों की पूजा की गई है। क्या कभी हमने ऐसे व्यक्तियों को आदर्श माना है, जो जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहे हैं? हमारी परंपरा ने उन्हीं की पूजा और आराधना करना सिखाया है, जो अपने जीवन-उद्देश्य में पूरी तरह सफल सिद्ध हुए हैं। जो व्यक्ति परिस्थितियों का दास है, वह हमारा आदर्श कभी नहीं रहा। हमारा आदर्श वह वीर रहा है, जो परिस्थिति का स्वामी बन जाता है, मात्र अपनी योग्यता और चरित्र के आधार पर परिस्थिति में परिवर्तन ला देता है और अपने जीवन की आकांक्षाओं को प्राप्त करने में पूर्ण सफल हो जाता है। ऐसी ही महान आत्माओं की पूजा करने का आदेश हमें हमारी संस्कृति देती है, जिन्होंने अपने आत्मतेज से अपने चारों ओर के घोर अंधकार को नष्ट कर प्रकाश भर दिया, निराश हृदयों में विश्वास उत्पन्न किया, मृतप्राय लोगों तक में प्राण फूँके और

केवल खाने, पीने, पैसे कमाने, बच्चों का पालन-पोषण करने और अंत में एक दिन मर जाने के लिए है।

प्रयत्न परमेश्वर

अपनी जान बचाने की इसी प्रवृत्ति के कारण लोग महापुरुषों को परमात्मा की श्रेणी में ढकेल देते हैं। साधारण मनुष्य जब विपत्तियों से घिर जाता है, तब वह हतबुद्धि और भयभीत हो जाता है। और क्या करे?– यह न समझ सकने के कारण वह परमात्मा की शरण लेता है और रोता-बिलखता हुआ परमात्मा से पुन: अवतार ग्रहण करने की प्रार्थना करता है। निराशा के उस अंधकार में उसे परमात्मा के सिवाय आशा की कोई और किरण दिखाई नहीं देती। कभी-कभी हम महान संतों और विद्वानों को भी इस प्रकार विलाप करते देखते हैं। यदि इन परिस्थितियों में कोई महापुरुष उपस्थित हो जाता है तथा अपने पौरुष, धैर्य और बुद्धिमत्ता से घटनाचक्र में परिवर्तन कर देता है, तो लोग उसे भी देवता की श्रेणी में डाल देते हैं, परंतु यह तो कोरी दुर्बलता ही है, जिसके वशीभूत होकर व्यक्ति ऐसे महापुरुषों को मानवों की कोटि से बाहर ढकेल देता है।

हमें अपने समाज के व्यक्तियों की इस विकृत मनोवृत्ति को बदलना है। उसके स्थान पर पौरुष और उद्यम की दृष्टि प्रस्थापित करनी है। स्वामी रामदास ने कहा है– 'यत्न तो देव जाणावा' (प्रयत्न ही परमात्मा है)। हमें मानव-प्रयत्न के रूप में व्यक्त परमात्मा की शरण लेनी चाहिए। यह कर्मभूमि है, मानव के उद्योग की भूमि। यह असामान्य सामर्थ्यशाली व्यक्तियों के रक्त और पसीने से पवित्र हुई मिट्टी है। यहीं पर हमारी अंतर्निहित शक्तियाँ और गुण प्रस्फुटित होते हैं तथा हमारे प्रसुप्त देवत्व का जागरण होता है। इसी यथार्थ विश्वास से मानव-उद्योग के पथ पर बढ़ने की हमें प्रेरणा मिलनी चाहिए। हम उन महान आत्माओं की पूजा करें और उनके प्रति श्रद्धा का भाव रखें, परंतु देवता जैसी निरी पूजा के रूप में नहीं, अपने सदृश मनुष्यों के रूप में, जो व्यक्तिगत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप इतनी ऊँचाई तक पहुँचे हैं। जब रावण सीता को हर ले गया, तब श्री रामचंद्र जी ने उसी प्रकार विलाप किया था और उसी प्रकार रोए थे, जैसा हममें से कोई भी अपने पारिवारिक जीवन में विपत्ति आने पर करेगा। ऐसा कर उन्होंने संसार के सम्मुख घोषित कर दिया कि वे भी अन्य किसी के समान ही मनुष्य हैं। यद्यपि वह हमारे समान खाते-पीते थे सोते और

चलते थे तथा एक मनुष्य की सामान्य भावनाओं का अनुभव करते थे, तथापि उनके जीवन का प्रत्येक क्षण महान व्यक्तिगत परिश्रम द्वारा संपादित मानवता के उच्चतम आदर्श की ओर बढ़ने का हमें संकेत करता है।

हमारे महान संतों और भक्तों ने निस्संदेह भगवान की प्रार्थना पर बहुत बल दिया है। परंतु उन्होंने जीवन में अकर्मण्यता का उपदेश कभी नहीं किया। जो अकर्मण्य रहकर परमात्मा के नाम पर रोते रहते हैं, ऐसे भक्तों की सदैव बहुत खिल्ली उड़ाई गई है। हमारे सभी महापुरुषों ने समाज में पौरुष और कर्तव्य की भावना भरने का निरंतर प्रयत्न किया है। हमारे समक्ष वे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में मानवीय प्रयत्न और उपलब्धि के श्रेष्ठ उदाहरण के रूप में उपस्थित हैं। हम इन सब कर्मवीरों की संतान हैं। उनका रक्त हमारी नसों में बहता है। वे आकाश से बने-बनाए महापुरुष के रूप में नहीं टपक पड़े थे। उन्होंने अपने परिश्रम, बुद्धिमत्ता, धैर्य, त्याग और ऐसे ही अन्य पुरुषोचित गुणों के बल पर महानता संपादित की थी। हम ऐसा विश्वास क्यों न रखें कि हम भी कम से कम कुछ मात्रा में अपने जीवन में उन्हीं गुणों को प्रकट कर सकते हैं। यदि हमें एक महान राष्ट्र के नाते खड़े होना है तो यह सबसे अधिक आवश्यक है कि जब भी हम पूर्व के महान व्यक्तियों के जीवन और कार्यों की ओर देखें, तो हम इस सही दृष्टिकोण को अपनाएँ।

विजयशाली की पूजा

अब हम यह देखें कि अपनी इस भूमि में किस प्रकार के श्रेष्ठ जीवनों की पूजा की गई है। क्या कभी हमने ऐसे व्यक्तियों को आदर्श माना है, जो जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहे हैं? हमारी परंपरा ने उन्हीं की पूजा और आराधना करना सिखाया है, जो अपने जीवन-उद्देश्य में पूरी तरह सफल सिद्ध हुए हैं। जो व्यक्ति परिस्थितियों का दास है, वह हमारा आदर्श कभी नहीं रहा। हमारा आदर्श वह वीर रहा है, जो परिस्थिति का स्वामी बन जाता है, मात्र अपनी योग्यता और चरित्र के आधार पर परिस्थिति में परिवर्तन ला देता है और अपने जीवन की आकांक्षाओं को प्राप्त करने में पूर्ण सफल हो जाता है। ऐसी ही महान आत्माओं की पूजा करने का आदेश हमें हमारी संस्कृति देती है, जिन्होंने अपने आत्मतेज से अपने चारों ओर के घोर अंधकार को नष्ट कर प्रकाश भर दिया, निराश हृदयों में विश्वास उत्पन्न किया, मृतप्राय लोगों तक में प्राण फूँके और

सफलता एव प्रेरणा के जीवत लक्ष्य के प्रति श्रद्धा को बनाए रखा।

श्रीरामचद्र जी हमारे आदर्श हैं, जिन्होंने अपने शौर्य, बुद्धिमत्ता और इच्छाशक्ति के आधार पर रावण जैसे बलवान अत्याचारी, जिसने सारे ससार को दास बना लिया था तथा तैंतीस करोड देवताओं को कैद कर लिया था, का विनाश किया। उन श्रीकृष्ण के पूर्ण सफल जीवन के रूप में एक और महान आदर्श हमारे सामने आता है, जो चाहते तो अपने शरीर और बुद्धि की अतुलित शक्तियों के आधार पर एक अजेय सम्राट के रूप में अपना अभिषेक करा सकते थे, परतु उन्होंने वैसा करना अस्वीकार कर दिया। ऐसे ही सफल जीवन सदैव हमारी पूजा के केंद्र रहे हैं। यह स्पष्ट है कि जो जीवन में असफल रहे हैं, उनमें अवश्य कोई कमी रही होगी। जो पराजित हो चुका है, वह दूसरों को प्रकाश कैसे दे सकता है और उन्हें सफलता की ओर कैसे ले जा सकता है? हवा के प्रत्येक झोंके से कपित ज्योति हमारा पथ कैसे प्रकाशित कर सकती है? केवल ऐसा ही जीवन, जो चारों ओर प्रचड तूफानों और वर्षा के बीच एक ऊँचे प्रकाश स्तभ के रूप में सीधा, बिना मद पडे खडा रहता है और अधकार को निरतर दूर करता रहता है, हमारी जीवन-नौका को सफलता के किनारे पर पहुँचा सकता है।

बलिदानी महान, पर आदर्श नहीं

जब कोई समाज सभी प्रकार की विपत्तियों से निरतर आक्रात रहता है और उसे पूर्ण निराशा का सामना करना पडता है, तब उसमें विभिन्न प्रकार की मानसिक ग्रथियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो सकटों के बोझ से दब जाते हैं और असहायतापूर्वक दैवी सहायता की प्रतीक्षा करते हैं। परमात्मा जब उनकी प्रार्थनाएँ सुनता दिखाई नहीं देता और विपत्तियाँ उन्हें अधिकाधिक घेरती जाती हैं, तब कुछ लोग क्रुद्ध होकर उस निराशापूर्ण परिस्थिति को बदलने का प्रयत्न करते हैं, परतु इच्छित परिवर्तन करने की उनके पास पर्याप्त शक्ति नहीं होती। यह अवश्य है कि वे असतोष से जलते रहते हैं, परतु अनुभव करते हैं कि परिस्थिति का सामना करने की दृष्टि से वे बहुत दुर्बल हैं।

उनके हृदय की प्रज्ज्वलित अग्नि केवल अपने भाग्य पर विलाप करनेवाले शात और असहाय द्रष्टा के रूप में नहीं बैठने देती। इस असहनीय दारुण परिस्थिति में आक्रोश करते रहने की तुलना में वे शूरतापूर्वक मृत्यु का वरण करना अधिक अच्छा समझते हैं। उनके चारों

ओर अधकार और निराशा, अज्ञान और निदा का नग्न नृत्य होता रहता है। उन्हें किसी आशा की किरण, किसी एक भी व्यक्ति, जो उनके आह्वान का प्रत्युत्तर दे, का सहारा नहीं होता। दुर्बल हृदयवाले हिम्मत हार जाते हैं और केवल प्रतीक्षा करते रहते हैं, परतु जिनके अदर अग्नि है, वे यह स्वीकार नहीं करते और बलिदान की चमक प्रकट करते हुए अपने-आपको नष्ट करना अधिक पसद करते हैं। साधारण व्यक्ति ऐसी मृत्यु की चमक से चकाचौंध हो जाता है और कहता है– 'कैसा जोशीला व्यक्ति था। टूट गया, पर झुका नहीं।' लोग उसे 'शहीद' कहते हैं और उसके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं।

हमारी भारतीय सस्कृति को छोडकर अन्य सब सस्कृतियों ने ऐसे बलिदान की उपासना की है तथा उसे आदर्श माना है, ऐसे सब बलिदानियों को राष्ट्रनायक के रूप में स्वीकार किया है। ईसा मसीह को वे एक महान आत्मा इसलिए कहते हैं कि वे एक शहीद थे और उन्होंने अपना जीवन बलिदान कर दिया था, परतु हमने भारतीय परपरा में इस प्रकार के बलिदान को सर्वोच्च आदर्श नहीं माना। निस्सदेह ऐसे व्यक्ति, जो अपने-आपको बलिदान कर देते हैं, श्रेष्ठ व्यक्ति हैं और उनका जीवन-दर्शन प्रमुखतया पौरुषपूर्ण है। वे सर्वसाधारण व्यक्तियों, जो चुपचाप भाग्य के आगे समर्पण कर देते हैं और भयभीत एव अकर्मण्य बने रहते हैं, से बहुत ऊँचे हैं। फिर भी हमने ऐसे व्यक्तियों को समाज के सामने आदर्श के रूप में नहीं रखा है। हमने ऐसे बलिदान को महानता का सर्वोच्च बिदु, जिसकी आकाक्षा मनुष्य करें, नहीं माना है, क्योंकि अतत वे अपना उद्देश्य प्राप्त करने में असफल हुए और असफलता का अर्थ है कि उनमें कोई गभीर त्रुटि थी।

'अवतारों' का सदेश

जिस प्रकार हम व्यक्ति के जीवन में निराशा के परिणामस्वरूप आत्म-विनाश को आदर्श नहीं मानते, उसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर आत्मबलिदान की भी प्रशसा नहीं करते। वास्तविक महानता तो जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त करने में है। हमारी सस्कृति में केवल ऐसे ही व्यक्तियों की पूजा की गई है, जिन्होंने अपनी असामान्य योग्यता और साहस के द्वारा गरजते हुए समुद्री तूफान और बवडरों की छाती पर चढकर विजय प्राप्त की और अत में परिस्थितियों के प्रतिकूल प्रवाह को अपने पक्ष में करने में

समर्थ हुए। वे अपने समय के निर्माता थे, उसकी निर्मिति मात्र नहीं। यह उन सभी महापुरुषों के विषय में है, जिन्हें हमारी राष्ट्रीय परंपरा में अवतार समझा गया है। उदाहरण के लिए– 'दशावतारों' की कथा लो। जब भी हमारा समाज संकटों और भीषण दुर्घटनाओं की पकड़ तथा व्यामोह में था और परमात्मा का नाम लेता हुआ केवल अशक्त बना रोता था, उस समय एक अति विशाल व्यक्तित्व प्रकट हुआ, जिसने अपने असीम त्याग की भावना, तपस्या, बुद्धि और कार्य-शक्ति से सभी शत्रुओं का दमन कर विजय का प्रतीक बन गया। उन्होंने भले ही कोई भी रूप अपनाया हो– मत्स्य, वराह अथवा भिक्षु के वेश में छात्र का, वे अपना पवित्र जीवन-कार्य पूरा करने में सफल रहे।

ऐसे हैं हमारे राष्ट्र-पुरुष, विजय के मूर्तिमंत प्रतीक। हमारी दिव्य वीरपूजा का प्राण 'विजय की संकल्प-शक्ति' है। यही वे आत्माएँ हैं, जो अपने जीवन में एक क्षण के लिए भी अंतिम विजय को अपनी आँखों से ओझल नहीं होने देंगी और न ही संकटों का सामना पड़ने पर डगमगाएँगी, अपितु आगे, और आगे निरंतर बढ़ती जाएँगी। अपने साधनों को इस ढंग से योजित करेंगी कि कार्यपूर्ति के लिए आवश्यक ऊँचाई तक खड़ी हो सकें और अंत में अपनी आँखों से गौरवशाली सफलता के दर्शन करें।

राजपूतों के हौतात्म्य से शिक्षा

हमें अपने इतिहास में यह दृष्टिगत होता है कि राष्ट्रीय पुनरुत्थान की प्रक्रिया में हुतात्मा वीरों को भी अनिवार्य तथा सम्मानित स्थान प्राप्त हुआ है। कोई यह नहीं कह सकता कि उनका बलिदान व्यर्थ गया। हमारे देश में स्वतंत्रता के लिए बलिदान होनेवाले वीरों की संख्या कम नहीं है। यह हो सकता है कि उनमें विजयशाली होने की योग्यता न हो, परंतु यह सत्य है कि उनमें त्याग की आवश्यक भावना थी तथा स्वधर्म और स्वसमाज के लिए हँसते हुए मृत्यु का आलिंगन करने की शूरता थी। इस व्यक्तिगत बलिदान के अतिरिक्त हम देखते हैं कि हमारे समाज में वीरों के पूरे के पूरे समूहों ने अपने आपका, जिसे वे योद्धा का कर्तव्य समझते थे क्षात्रधर्म की मर्यादा बनाए रखने के लिए सामूहिक बलिदान किया।

राजपूतों का इतिहास इस प्रकार की रोमांचकारी घटनाओं के स्फुलिंग के प्रकाश से आलोकित है। चारों ओर क्रूर शत्रुओं से घिरे होने और आशा की कोई किरण न रहने पर हिंदू वीरता और पराक्रम के इन

उत्कृष्ट उदाहरणों ने अपनी माताओं और बहनों, पत्नियों और पुत्रियों को जौहर की ज्वाला में कूदते देखा। फिर केशरिया बाना धारणकर अपनी चमकती तलवारों के साथ शत्रुसेना में घुस पडे– कभी न लौटने के लिए। उन्होंने पराजय और अपमान के घृणित जीवन की तुलना में सम्मानपूर्ण बलिदान को अधिक अच्छा समझा। राजपूतों ने पराक्रम और आत्म-बलिदान के इन महान कार्यो के द्वारा हमारे इतिहास में चकाचौंध तथा विस्मयपूर्ण श्रद्धा उत्पन्न करनेवाला एक पृष्ठ लिख दिया है। अनुपम वीरता के ऐसे ज्वलत क्षण, मृत्यु से खिलवाड करने की ऐसी उल्लामपूर्ण वृत्ति विश्व के इतिहास में दुर्लभ है। यह ठीक ही है कि हम ऐसी आत्माओं के विषय में अभिमान और आदर की भावना रखें, परतु यह सत्य है कि ये वीर रणक्षेत्र में मृत्यु का एकमात्र विचार लेकर घुसे थे, विजय की इच्छा लेकर नहीं। वे केवल वीरतापूर्ण मृत्यु प्राप्त करने के विचार से प्रेरित थे।

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हत ।।

(विदुर नीति १-६६)

(योगयुक्त सन्यासी और रण में सामना करते हुए मरनेवाला वीर ससार में सूर्यमडल को भेदकर एक-सी आध्यात्मिक परमगति को प्राप्त होते हैं।)

जब युद्ध के लिए आह्वान होता था, तब राजपूत योद्धा इसी विश्वास से अनुप्राणित हो प्रसन्नतापूर्वक, मृत्यु की तनिक भी चिता न करते हुए शत्रु दल पर धावा बोल देते थे।

जैसी इच्छा, वैसा ही परिणाम। यदि विजय की इच्छा सर्वोपरि है, तो विजय प्राप्त होती है। जो केवल मृत्यु की कामना करता है, उसे अवश्य मृत्यु मिलती है। जो केवल मृत्यु की आकाक्षा करता है, उसे यदि हम अमृतकुड में भी डाल दें, तो वह अवश्य ही उसमें डूबकर मर जाएगा। उसे कोई बचा नहीं सकता। कामनाओं को पूर्ण करनेवाले कल्पवृक्ष के नीचे बैठनेवाला व्यक्ति जो इच्छा करता है, वह पाता है। इसी प्रकार योद्धा के नाते अपना कर्तव्य पूर्ण करनेवाला वीर जो भी प्रबल कामना करता है, भगवान उसे वही वरदान देते हैं। राजपूतों का बलिदान निस्सदेह रीति से असाधारण पराक्रम और स्वाभिमानी तथा निडर वृत्ति का परिचायक है, परतु साथ-ही-साथ वह एक गलत और आत्मघाती आकाक्षा का प्रतीक है। वह हमारे भारतीय शौर्य की गाथाओं का एक स्मरणीय, परतु दु खद अध्याय है।

प्रतिक्रिया नहीं, क्रिया

क्षात्रधर्म की एक गलत धारणा के ही कारण इन वीरों ने बलिदान की आकाक्षा लेकर स्वय को नष्ट कर दिया। यह भी एक प्रकार की दुर्बलता है। परिस्थितियों की मार न सह सकने के कारण सामूहिक रूप से क्रोधावेश में भर जाना और उसके बोझ से नष्ट हो जाना हमारा आदर्श नहीं हो सकता। इस प्रकार का भावुकतापूर्ण स्वाभिमान धारण करनेवाले वर्ग में वैसी शात और स्थिर सकल्प-शक्ति नहीं हो सकती, जो परिस्थितियों की किकर्तव्यविमूढ करनेवाली कशमकश में भी अनुद्विग्न बनी रहे। केवल ऐसी सकल्प-शक्ति ही अतिम विजय की ओर ले जा सकती है। एक प्रतिक्रियात्मक मस्तिष्क, जो छोटा-सा आघात होने पर भी सतुलन खो बैठता है, निकृष्ट कोटि का होता है। एक पशु, जिसमें तर्क करने की शक्ति नहीं है, केवल प्रतिक्रियात्मक जीवन व्यतीत करता है। उसमें शातिपूर्वक सोचने और कार्य करने की शक्ति नहीं होती, जिसके द्वारा वह प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजयी हो सके, परतु बुद्धिमान और परिपक्व व्यक्ति केवल परिस्थितियों से प्राप्त प्रतिक्रिया से प्रभावित होकर कार्य नहीं करते। वे परिस्थितियों को अपना दास बनाने की दृढ-शक्ति लेकर साहसपूर्वक कार्य करते हैं। मनुष्य बोलकर अपनी स्वय की इच्छा व्यक्त करता है, जबकि एक निष्प्राण पहाडी से केवल प्रतिध्वनि निकलती है। कुत्तों के भौंकने की नकल बच्चे करते हैं, प्रौढ व्यक्ति नहीं। एक निर्बुद्धि प्राणी दुर्बल प्रतिक्रिया व्यक्त कर स्वय को ही नष्ट कर लेता है। मरना या मारना समझदार व्यक्ति के लिए कभी भी आदर्श नहीं हो सकता। उसका दृष्टिकोण रचनात्मक होता है। वह अपने सुविचारित मार्ग, जो उसे अतिम विजय की ओर ले जाता है, पर चुपचाप बढता जाता है। ऐसे ही हमारे आदर्श हैं, जिन्होंने विजय की आराधना की तथा जीवन का अपना उद्देश्य सफलतापूर्वक प्राप्त किया।

वास्तविक धर्म

हमारे एक सर्वोच्च आदर्श श्रीराम विजय के इस दर्शन के एक ज्वलत उदाहरण हैं। स्त्रियों का वध करना क्षात्रधर्म के विपरीत माना जाता है। उसमें शत्रु के साथ खुले लडने का आदेश भी है। फिर भी श्रीराम ने ताडका राक्षसी का वध किया और बालि पर पेड के पीछे से प्रहार किया क्योंकि श्रीराम को दुष्टों का नाश कर धर्मराज्य की पुनर्स्थापना करने के अपने परम कर्तव्य का ज्ञान था। एक स्त्री का वध करना पापपूर्ण है, परतु

वह सिद्धात राक्षसी के लिए लागू नहीं किया जा सकता। युद्ध करने की विधि भी शत्रु की प्रकृति के अनुसार परिवर्तित हो जाती है। यही क्षात्रधर्म की सही कल्पना है और श्रीराम ने इसका अनुसरण किया। उस काल में श्रेष्ठ गुरु थे, जो सही धारणाएँ सिखाते थे और ऐसे पराक्रमी शिष्य थे, जो उनका अनुसरण करते थे।

यही स्थिति श्रीकृष्ण और अर्जुन के विषय में है। महाभारत का महायुद्ध प्रारभ होने के ठीक पूर्व अपने विरोध में भीष्म, द्रोण आदि गुरुजनों और गुरुओं को खडा देखकर अर्जुन का उत्साह ठडा पड गया। उसने अपना धनुष फेंक दिया। उसे भ्रमित होते देख श्रीकृष्ण ने यह कहकर उसे जागृत किया— 'तुम्हारा नाम ही विजय नहीं है। तुम्हारा कर्तव्य रणक्षेत्र में विजय प्राप्त करना है। फिर स्वय को तुम इस प्रकार क्यों भ्रमित करते हो? तुम्हारा सर्वप्रमुख कर्तव्य अधर्म तथा उसके समर्थकों, चाहे वे कोई भी क्यों न हो, को नष्ट कर साधु तथा न्यायी पुरुषों का वर्चस्व प्रस्थापित करना है।'

युद्ध के बीच जब कर्ण कीचड में फँसे हुए अपने रथ के पहिये को निकालने के लिए उतरा, तब श्रीकृष्ण ने उसपर बाण छोडने का अर्जुन को आदेश दिया। कर्ण ने अर्जुन से यह कहकर धर्म की दुहाई दी कि नि शस्त्र और बिना रथवाले प्रतिपक्षी पर प्रहार करना अधर्म है। तब योगिराज श्रीकृष्ण गरजकर बोले, 'अरे कर्ण! तुमने आज तक धर्म के कौन-से आदेशों का पालन किया है, जो आज तुम हमें धर्म की शिक्षा देने चले हो? तुम्हारा धर्म कहाँ गया था, जब तुम सबने नि शस्त्र बालक अभिमन्यु को घेर लिया और उसकी निर्लज्जतापूर्वक हत्या कर दी थी? तुम्हारा धर्म कहाँ अदृश्य हो गया था, जब तुमने एक निस्सहाय स्त्री द्रोपदी का खुली सभा में अपमान किया था? मैं एक ही धर्म की रक्षा करना जानता हूँ और वह है धर्मराज।' चूँकि श्रीकृष्ण ने यह सही दृष्टिकोण रखा था और इससे अर्जुन की सकल्प-शक्ति को दृढ बनाया था, इसीलिए वह युद्ध में लड सका और धर्म के पक्ष को विजयी बना सका।

विजय की इच्छा-शक्ति का तत्त्वज्ञान

तत्त्वज्ञान रहा है अधर्म की शक्तियों पर धर्म की शक्तियों की विजय का, जिसकी शिक्षा सहस्राब्दियों से दी गई है और जिसके अनुसार आचरण किया गया है। आज भी पाप की दानवी शक्तियाँ, विश्व-सहारक शस्त्रास्त्र

लेकर विश्व के रगमच पर शान के साथ चलती दिखाई देती हैं और मानवता के भविष्य के लिए सकट उत्पन्न कर रही हैं। हम केवल अपने तत्त्वज्ञान, जो हमारी विजय की इच्छा-शक्ति को दृढीभूत करता है, के ही बल पर समस्त ससार को अधर्म की इस नई चुनौती का सामना करने की प्रेरणा दे सकते हैं। कई बार पश्चिम के सुविख्यात विचारक भी भविष्य के सबध में निराश हो जाते हैं। उदाहरण के लिए बर्ट्रेंड रसेल, जो पश्चिम के एक बडे दार्शनिक माने जाते हैं, ने साम्यवादी शक्तियों से सघर्ष की अवस्था में आणविक महाविध्वस की सभावना उपस्थित देखकर कहा 'मरने की अपेक्षा हम लाल (साम्यवादी) हो जाएँ।' यह कैसा दार्शनिक है, जो पौरुष का नहीं, निराशा का उपदेश देता है।

वास्तव में साम्यवादी यही चाहते हैं कि उनके आक्रमण के प्रति मानसिक विरोध समाप्त हो। हमारे तत्त्वज्ञान ने और हमारे विचारकों ने तो अधर्म की शक्तियों के विरुद्ध सघर्ष में निराशा का उपदेश कभी नहीं दिया। अधर्म की शक्तियों पर धर्म की शक्तियों की अतिम विजय का विश्वास हमारे रक्त में दृढमूल है। राक्षसों का नाश करना और मानवधर्म का साम्राज्य स्थापित करना अति प्राचीनकाल से हमारी परपरा रही है। वस्तुत मनुष्य का वास्तविक पुरुषत्व राक्षस के ऊपर अपनी श्रेष्ठता प्रस्थापित करने में है। क्या हम नहीं जानते कि अपने प्रारभिक दिनों में मनुष्य जगली शिकारी जानवरों, यद्यपि वे शारीरिक दृष्टि से कहीं अधिक भयानक और शक्तिशाली थे, से परास्त नहीं हुआ? उसने उन्हें जीत लिया और अपनी श्रेष्ठता प्रस्थापित की। साम्यवादी भी आज विनाश की भीषण शक्तियों से सपन्न दिखाई दे सकते हैं, परतु मनुष्य में अतर्जात अच्छाई की शक्ति कहीं अधिक प्रबल है, जो दुष्ट शक्तियों को अवश्य एक दिन पराजित कर देगी। मानव-इतिहास का सही अध्ययन यही बताता है और दर्शन के हमारे प्राचीन आचार्यों ने भी हमें यही शिक्षा दी है।

अत हम अपना सपूर्ण ध्यान और शक्ति अधर्म की शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के अतिम लक्ष्य पर केंद्रित कर उस मार्ग पर चलने का निश्चय करें। धर्म की शक्तियों की अतिम विजय की कसौटी पर हमको वाह्यत अच्छे या बुरे लगनेवाले प्रत्येक कार्य की परीक्षा करनी चाहिए। केवल वही अच्छा और सराहनीय है, जिसके द्वारा पुण्यात्माओं और धर्मात्माओं को विजय प्राप्त होती है। विजयी व्यक्तियों और महापुरुषों के उदाहरण तथा शिक्षाएँ अपने सही स्वरूप में विजय की आवश्यक सकल्प-शक्ति

की हमें प्रेरणा दे सकती हैं और धर्मस्थापना के, अर्थात् सारे ससार में धर्म की प्रतिष्ठापना, जो युगों से हमारे राष्ट्रीय जीवन का उद्देश्य रहा है, के मार्ग में वे हममें सही विवेक जागृत कर सकती हैं।

ऋ ऋ ऋ

९ विजय के लिए समुचित उपाय

विश्वासघात

लोगों का कहना है कि चीन द्वारा हमारे देश पर आक्रमण २० अक्तूबर १९६२ से ही हुआ है। यद्यपि हमारी सरकार तो चीन के इस आक्रमण पर अकस्मात सहसा जागी-सी प्रतीत होती है, फिर भी चीन का यह ताजा अतिक्रमण अनपेक्षित कदापि नहीं है। जब चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया और वहाँ बलात् कब्जा कर लिया था, तभी यह स्पष्ट हो चुका था कि हमारे प्रति चीन के इरादे सद्भावनापूर्ण नहीं हैं। एक ओर रूस और दूसरी ओर समुद्र से घिरे चीन को अपनी विस्तारवादी भूख के लिए निर्बल स्थान तिब्बत ही दिखाई दिया। अंग्रेजों ने भारत और चीन के बीच एक 'सघात-सह राज्य' (बफर स्टेट) के नाते तिब्बत का स्वतत्र अस्तित्व बनाए रखा था, किंतु अंग्रेजों द्वारा सपादित इस कार्य को नष्ट करने के उत्साह में हमारे वर्तमान सत्ताधारियों ने तिब्बत पर चीन की प्रभुसत्ता स्वीकार कर ली। अब चीन हमारे भू-प्रदेश में घुस पडा, उसने हमारे क्षेत्र की १२००० वर्गमील भूमि अवैध रूप से हथिया ली। इस तथ्य को हमारे नेताओं ने ही स्वीकार किया है। इन घटनाओं और तथ्यों के प्रकाश में हम चीन पर विश्वासघात करने का दोष लगाएँ, यह कठिन है। वर्षों से हमारे देश की ओर चीन की कार्यवाहियाँ खुले रूप से शत्रुता की रही हैं।

इस वर्तमान सकट का मुकाबला करने के लिए प्रभावी उपाय-योजना सोच सकने के पूर्व हमें अपने मस्तिष्कों को पूर्व-निर्धारित विचारों के जालों से साफ कर लेना होगा और शत्रु के वास्तविक स्वभाव तथा उसकी तैयारियों की व्यापकता का ठीक-ठीक निर्धारण कर लेना होगा।

पूर्व चेतावनी की उपेक्षा की गई

सबसे पहले हमें यह ध्यान में रखना होगा कि चीन सदा से विस्तारवादी देश रहा है। यह उसके रक्त में है। डेढ सौ वर्ष से अधिक काल पूर्व नेपोलियन ने सावधान करते हुए कहा था– 'इस पीले दैत्य को न उठने दो, अन्यथा यह मानवता के लिए एक गभीर सकट सिद्ध होगा।' सत्तर वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानद ने विशेष रूप से सावधान किया था– 'अग्रेजों के भारत छोडने के पश्चात् शीघ्र ही चीन भारत पर आक्रमण करेगा।'

हम सघ के लोग भी आठ वर्ष से स्पष्ट शब्दों में सावधान करते आ रहे थे कि चीन ने हमारे देश के सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कितने ही स्थानों पर अतिक्रमण किया है। उस समय कोई हम पर विश्वास करने को तैयार नहीं था। एक प्रमुख अग्रेजी दैनिक पत्र के सपादक ने तो यहाँ तक कहा कि हम एक पागल की तरह बात करते हैं। अब हमारे नेता कहते हैं कि उनपर यह आकस्मिक आघात हुआ है।

अब तो चीन के विस्तारवादी रक्त के साथ-साथ साम्यवाद का नशा भी है, जिसकी विचारधारा अत्यत आक्रामक, विस्तारवादी और साम्राज्यवादी होती है। इस प्रकार साम्यवादी चीन दो आक्रामक प्रवृत्तियों का विस्फोटक सम्मिश्रण है, जो इस कहावत को चरितार्थ करता है– अपि च कपि कापिशायन मदमत्त (एक तो वानर दूसरे मदिरा पिए हुए)। अत यदि हम कम्युनिस्ट चीन की इस आक्रामक वृत्ति को केवल उसकी जातीय प्रकृति का लक्षण ही मानते रहेंगे और उसकी वर्तमान साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव भी उसका कारण है– ऐसा नहीं मानेंगे, तो हम अपने को भ्रम में रखते हुए उसका सामना करने की अपनी तैयारी में गलत पग उठाएँगे।

पीले सकट का स्वरूप

कुछ लोग कहते हैं कि चीन का यह आक्रमण 'ईश्वरीय वरदान' है, 'आवरण से ढका आशीष है, जिसने हमारे लोगों को राष्ट्रीय एकता में आबद्ध कर दिया है। निस्सदेह लोगों ने समय की पुकार का उत्तर अत्यत उत्तमता से दिया है ओर शत्रु को खदेडने के लिए अविचल निश्चय के साथ एक पुरुष के समान खडे हो गए हैं, कितु वे नहीं जानते कि अपने इस निश्चय को किस प्रकार व्यक्त करें और उन्हें करना क्या है? जैसा वे अग्रेजों से सघर्ष करते हुए किया करते थे, उसी प्रकार उन्होंने जुलूस

निकाले, प्रदर्शन किए, पुतले जलाए और प्रस्ताव पारित किए। किंतु हमें यह बात भली प्रकार समझनी चाहिए कि यह शत्रु, जिसका सामना हम इस समय कर रहे हैं, नितांत भिन्न प्रकार का है। अंग्रेज सभ्य लोग थे, जो सामान्यतया कानून का पालन करते थे, किंतु चीनी जाति एक भिन्न प्रकार की समस्या है। उनमें सौजन्य, दया अथवा मानव-जीवन के प्रति सम्मान जैसे सामान्य मानवोचित गुणों तक का अभाव है। तथ्य यह है कि एक बार माओ-त्से-तुंग ने स्पष्ट रूप से अपनी यह इच्छा व्यक्त की थी कि वह संसार में एक ऐसा युद्ध देखना चाहता है, जिसमें सभी आधुनिक आणविक अस्त्रों का पूर्ण और खुलकर प्रयोग हो। उसका तर्क था कि अमरीका, रूस तथा यूरोप के अन्य सभी देशों के अधिकतर जनों का पूर्ण विनाश हो जाएगा। यदि उस उपद्रव में चालीस करोड़ चीनी समाप्त हो गए, तब भी संसार पर शासन करने के लिए उनके पास पच्चीस करोड बचे रहेंगे। उनके लिए यह अत्यंत साधारण तर्क है। उन्हें मानव-जीवन की हानि की कोई चिंता नहीं है। उनके लिए यह घास के समान है, जो काटी जाती है और पुन: लगाई जाती है। कोरिया में भी यही अनुभव हुआ था। जब वे आक्रमण करते हैं, तब सैनिक एक के बाद दूसरे रेले की तरह आते हैं। जब एक सैन्य टुकडी समाप्त कर दी जाती है, तो उसके स्थान पर दूसरी लगा दी जाती है।

कहा गया है कि मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही हो जाता है। चीनियों के लिए कहा जाता है कि वे द्विपादों में मनुष्य को नहीं खाते तथा चतुष्पादों में केवल मेज को ही छोडते हैं। वे चूहे, बिल्ली, सुअर, कुत्ते, साँप, तिलचट्टा आदि सब कुछ खा लेते हैं। ऐसे लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती कि उनमें मानवोचित गुण होंगे। अत: जो कला सुसभ्य अंग्रेजों के विरुद्ध प्रयोग में लाई गई थी, उसे चीनियों के साथ व्यवहार में लाने से कोई लाभ नहीं। उन्हें 'धोखेबाज', 'अधम' आदि कहकर उनको दोष देने से भी कोई लाभ नहीं। इस प्रकार की गालियाँ दुर्बलों द्वारा व्यक्त अभिशाप मात्र होती हैं, जो घूँसे के बदले में घूँसा नहीं मार पाते, अत: अपने शत्रु को गाली देकर अपने मन को समझा लेते हैं। हमें ऐसे निम्नकोटि के विचारों के वशीभूत नहीं होना चाहिए।

हमें यह भी स्मरण रहे कि आज संपूर्ण चीन एक सशस्त्र शिविर है। प्रत्येक वयस्क शस्त्रास्त्र चलाने में प्रशिक्षित है। उनके शस्त्रास्त्र हमसे श्रेष्ठतर हैं। उनके नेता गत कई शताब्दियों से भी अधिक काल से लगातार

पूनी युद्ध के वातावरण में पैदा हुए और पले हैं। फिर भी हम इन प्रतिकूल तत्त्वों को ठीक कर सकते हैं, यदि मन लगाकर दृढतापूर्वक सही दिशा में प्रयास करने के लिए आगे बढें।

इच्छाशक्ति दृढ बनाएँ

एक राष्ट्रव्यापी सुनिश्चित एव सगठित प्रयास के लिए सबसे पहली आवश्यकता है फौलादी आकाक्षा की। एक लबे और कटु सघर्ष की सभावना है। कष्टों एव बलिदानों के लिए हम सभी का आह्वान होगा। हम सभी इन कठिनाइयों का सामना दृढता एव प्रसन्नता के साथ करें। इसमें कोई सदेह नहीं कि अपनी मातृभूमि के लिए उपासना की जो भावना हमारे हृदयों में इतने समय से सुप्त रूप से पडी हुई है, वह अब उद्दीप्त होगी तथा स्वार्थ एव ईर्ष्या के घने अधकार को बहिष्कृत करेगी। राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में दान देने के लिए इतने लोग आगे आ रहे हैं कि उन्हें देखकर प्रोत्साहन मिलता है। मैं आशा करता हूँ कि अधिकाधिक लोग इससे भी अधिक देंगे। शारीरिक दृष्टि से योग्य सभी व्यक्तियों को सेना में सेवा करने के लिए उद्यत रहना चाहिए तथा उनकी माताओं को इस परीक्षा में उन्हें आशीर्वाद देकर विदा करना चाहिए। जब महाभारत-युद्ध के पूर्व पाँचों पाडव अपनी माता कुती से मिलने गए तब उसने यह कहते हुए उन्हें आशीर्वाद दिया कि 'तुम सब युद्ध में जाओ और अपनी सपूर्ण शक्ति इस धर्मयुद्ध में लगा दो, क्योंकि इसी अवसर के लिए क्षत्राणी पुत्रों को जन्म देती है।' इस समय भी प्रत्येक माता को इसी प्रकार के पराक्रम को जाग्रत करनेवाले ओजस्वी भाव व्यक्त करने चाहिए।

यह स्मरण रहे कि आधुनिक युद्धों में एक सपूर्ण राष्ट्र दूसरे सपूर्ण राष्ट्र से युद्ध करता है। उसमें सभी का योगदान होना चाहिए। ये युद्ध केवल सेनाओं में ही नहीं हुआ करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, वैज्ञानिक एव उद्योगपति से लेकर श्रमिक एव कृषक पर्यंत सभी को राष्ट्र के प्रति समर्पण की भावना से परिश्रमपूर्वक अधिकाधिक कार्य करना होगा तथा वैयक्तिक एव दलीय झगडों और अधिकारों के अन्य सभी विचारों को इस काल के लिए अलग रखना होगा।

नेतृत्व परीक्षा पर

दूसरी आवश्यकता है एक ऐसे नेतृत्व की, जिसके सकल्प में वज्र

के समान दृढ़ता हो, जो वर्तमान सकट में भीति के कारण शातिवार्ता के लिए न झुके। किंतु हमारे कुछ चोटी के नेता शांति की भावनाओं से इतने विवेकभ्रष्ट हो गए हैं कि युद्धबंदी के लिए चीनियों की घोषणा मात्र से ही उनके पैर उखड गए हैं। वे सोचते हैं कि किसी भी मूल्य पर शांति मोल ले लेनी चाहिए। 'किसी भी मूल्य पर शांति को मोल लेने' की इस प्रवृत्ति के कारण १५ वर्ष पूर्व हमारे देश का विभाजन हुआ था। उसके पश्चात् भी इसी प्रवृत्ति के कारण हमने एक-तिहाई कश्मीर भी खोया। अब बेरुबाडी जा रहा है। वर्तमान सकट में कम से कम अतीत के इन दु:खद प्रसगों की शिक्षाओं से हमारी आँखें खुल जानी चाहिए।

अतएव जनमत को शिक्षित और सचालित कर समाज की सामूहिक इच्छा को जागृत करना हमारा कर्तव्य है, जिससे कि हमारे नेतागण आक्रांताओं से कोई अपमानजनक समझौता न कर सकें। शत्रु को तिब्बत से निकाल बाहर किए बिना युद्धबंदी स्वीकार करना सामरिक दृष्टि से भयकर भूल होगी। कश्मीर में युद्धबंदी का जो अनुभव हुआ है, वह हमारे लिए पर्याप्त चेतावनी होनी चाहिए। समय से पूर्व युद्धबंदी हमारी सेना एव जनता का केवल उत्साह भग करेगी। वास्तव में इससे उनके महान बलिदान व्यर्थ हो जाएँगे। यदि हमारे नेता राष्ट्र के सघर्ष को आवश्यकतानुसार उत्कटता से नहीं चला सकते, तो उन्हें चाहिए कि दृढ़तर तत्त्व से निर्मित लोगों के लिए स्थान खाली करें। प्रतिभा और मेधा शक्ति पर कुछ व्यक्तियों का ही एकाधिकार नहीं होता, चाहे वे व्यक्ति वर्तमान काल के कितने ही प्रभावशाली तथा लोकप्रिय क्यों न हों। योद्धाओं की अमर जाति की माता– भारत में पराक्रमी एव सामर्थ्यवान नेताओं का अभाव कभी नहीं रहा।

हम अपनी ओर से पीछे हटना और प्रयत्नों का शैथिल्य कभी सहन नहीं कर सकते। यदि हम चीनियों को अपने भू-प्रदेश पर जमे रहने देते हैं तो हम उन्हें स्वस्थ होने का समय तथा और अधिक विस्तार के लिए एक आधार प्रदान करते हैं। इससे भविष्य के लिए हमारे राष्ट्र की सुरक्षा सकट में पड जाएगी। इसलिए हम सबका यह कर्तव्य है कि इस निर्णायक समय पर यह देखते रहें कि हमारे नेता फिसल न जाएँ। हम उन्हें सावधान करते हुए साहस देते रहें, जिससे कि वे अपने महान देश के सम्मान एव प्रभुसत्ता की रक्षा के लिए पराक्रमी पुरुषों की भाँति कार्य करें।

शत्रु की घात-नीति से सावधान

चीनियों द्वारा युद्धवदी की घोषणा से हमारे देश की जनता पर हुए उत्साह-भग के परिणाम को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार सावधान करना ओर भी अधिक आवश्यक हो गया है। शत्रु की यह चाल है कि हममें झूठी सुरक्षा की भावना निर्माण कर उत्साह को ठडा करते हुए हमारे युद्ध-प्रयत्नों को शिथिल कर दे और हमें असावधान पाकर और भी अधिक शक्ति से पुन आक्रमण कर सपूर्ण देश पर अधिकार कर ले।

एक अन्य बात भी है, जिसका प्रभाव हमारे लोगों के मनोधैर्य पर विपरीत होता है। अब तक सुरक्षा-प्रयत्नों के लिए हम जो कुछ कर रहे हैं, वह धन-सग्रह मात्र है। आरभ में लोगों ने स्वयस्फूर्ति व स्वेच्छा से धन दिया। यह अच्छा था, क्योंकि इससे देशप्रेम की इच्छाशक्ति को जगाने एव मूर्त रूप में प्राप्त कराने में सहायता ही हुई, किंतु बाद में सरकार ने यह धन एकत्र करने का कार्य अपने हाथ में ले लिया। जन-उत्साह का प्रथम आवेश ठडा भी हो रहा है। सपूर्ण देश से निश्चित और विश्वसनीय सूचनाएँ प्राप्त हो रही हैं कि जनता से धन प्राप्त करने के लिए प्रशासनिक तत्र द्वारा सभी प्रकार के दवाव डाले जा रहे हैं। यह एक प्रकार से अवैध धनापहरण से कम नहीं है। जब सरकार इस प्रकार से दबाव डालने की युक्तियों पर उतर आती है, तो जनता के यह सोचने की सभावना रहती है कि 'यदि हमें इस प्रकार धमकाया जा रहा है, तो हमारे अपने शासन और विदेशी शासन में अतर क्या रहा?' इससे लोगों की स्वयस्फूर्तता नष्ट होकर उनका उत्साह भग होगा।

वास्तविक मितव्ययिता

यदि हम वास्तव में अपने आर्थिक साधनों को जुटाने का गभीरता से विचार कर रहे हैं तो उसके लिए अन्य स्वस्थ उपाय हैं। प्रथम बात तो यह है कि सकटकाल घोषित हो जाने से अब हमें कुछ काल के लिए राज्य विधानमडलों को भग कर देना चाहिए। इससे करोड़ों रुपए वार्षिक की बचत होगी। केंद्र में एक दृढ निर्वाचित ससद जनतत्र की माँगों की भली-भाँति पूर्ति कर सकती है। दूसरे, मद्य-निषेध कानून को समाप्त करो। इसका अर्थ मद्य की बुराइयों को न्यून समझना कदापि नहीं है। इसके विपरीत मदिरा के दैत्य को गहरा गाड देना चाहिए इस विषय में दो मत नहीं हो सकते, किंतु मद्यनिषेध की इस वर्तमान नीति ने अन्य अनेक

सामाजिक बुराइयों को जन्म दिया है, जो अब तक हमारे देश में नहीं थीं। मद्यासक्त लोगों को मद्य विपुल मात्रा में प्राप्त होता है, किंतु उसके लिए उन्हें अवैध उपाय अपनाने पड़ते हैं। फिर ऐसे लोग भी हैं, जो यह अवैध व्यापार चलाते हैं और उसमें सहायक होता है भ्रष्टाचारी अधिकारियों का संपूर्ण वर्ग, जो इस निषेध के द्वारा लाभान्वित होता है। वास्तविकता यह है कि निहित स्वार्थोंवाले ये ही व्यक्ति मद्य-निषेध को चालू रखना चाहते हैं। यह जनता की नैतिकता को नष्ट करता है। यही वह नैतिक पक्ष है, जिसके कारण हम कहते हैं कि 'निषेध समाप्त करो।' शिक्षा एवं मनोरंजन की स्वस्थ आदतों तथा संस्कारों द्वारा हम इस मद्यपान की बुराई को दूर कर सकते हैं, कानून बनाने से नहीं। इसके द्वारा सरकार को राजस्व की अच्छी आय भी होगी।

इस आपत्कालीन अवस्था का सामना करने के लिए जिन विशाल साधनों की आवश्यकता है, वह भी प्रत्येक क्षेत्र में जितना भी अधिक से अधिक संभव हो, मितव्ययिता करके ही जुटाए जा सकते हैं। किंतु दुर्भाग्य से आज हमारे देश के उत्तरदायी व्यक्तियों को मितव्ययिता सबसे छोटा गुण प्रतीत होता है। हाँ, निस्संदेह सामान्यजन को वे मितव्ययता का उपदेश देते हैं। किंतु वे स्वयं जिस प्रकार से फिजूलखर्ची करते हैं, उससे कोई भी यह समझेगा कि वास्तव में वे इस बात को अल्प मात्रा में भी अनुभव नहीं करते कि देश के सामने कोई भयंकर संकट भी है। वे तो अपनी वर्तमान सत्ता की कुर्सियों को मजबूत करने में, आंतरिक स्पर्द्धाओं में, अपने ही अनचाहे साथियों को निकालने में तथा इसी प्रकार की अन्य क्षुद्रताओं में इतने व्यस्त हैं कि देश की सुरक्षा के अपरिहार्य महत्त्व की सुदृढ़ तैयारी जैसी बातों पर विचार करने के लिए उनके पास समय ही नहीं है।

आलोचना का स्वागत

जब हम यह सब बातें कहते हैं, तो हमारे बड़े नेता हमें सावधान करते हैं कि इस संकटकाल में हमें उनकी आलोचना करने से विरत होना चाहिए। हम यह समझने में असमर्थ हैं कि प्रामाणिक देशभक्ति की भावना से की गई आलोचना से उन्हें घबड़ाना क्यों चाहिए? क्या वे हमसे केवल यही आशा करते हैं कि उनके सभी कार्यों को शतप्रतिशत ठीक मान लिया करें? क्या ऐसी चापलूसी देशहित में होगी? यदि उनकी सभी नीतियाँ और कार्य ठीक हैं, तो दूसरों को उनकी आलोचना का अवसर ही नहीं मिलेगा।

शत्रु की घात-नीति से सावधान

चीनियों द्वारा युद्धवदी की घोषणा से हमारे देश की जनता पर हुए उत्साह-भग के परिणाम को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार सावधान करना और भी अधिक आवश्यक हो गया है। शत्रु की यह चाल है कि हममें झूठी सुरक्षा की भावना निर्माण कर उत्साह को ठडा करते हुए हमारे युद्ध-प्रयत्नों को शिथिल कर दे और हमें असावधान पाकर और भी अधिक शक्ति से पुन आक्रमण कर सपूर्ण देश पर अधिकार कर ले।

एक अन्य बात भी है, जिसका प्रभाव हमारे लोगों के मनोधैर्य पर विपरीत होता है। अब तक सुरक्षा-प्रयत्नों के लिए हम जो कुछ कर रहे हैं, वह धन-सग्रह मात्र है। आरभ में लोगों ने स्वयस्फूर्ति व स्वेच्छा से धन दिया। यह अच्छा था, क्योंकि इससे देशप्रेम की इच्छाशक्ति को जगाने एव मूर्त रूप में प्राप्त कराने में सहायता ही हुई, किंतु बाद में सरकार ने यह धन एकत्र करने का कार्य अपने हाथ में ले लिया। जन-उत्साह का प्रथम आवेश ठडा भी हो रहा है। सपूर्ण देश से निश्चित और विश्वसनीय सूचनाएँ प्राप्त हो रही हैं कि जनता से धन प्राप्त करने के लिए प्रशासनिक तत्र द्वारा सभी प्रकार के दबाव डाले जा रहे हैं। यह एक प्रकार से अवैध धनापहरण से कम नहीं है। जब सरकार इस प्रकार से दबाव डालने की युक्तियों पर उतर आती है, तो जनता के यह सोचने की सभावना रहती है कि 'यदि हमें इस प्रकार धमकाया जा रहा है, तो हमारे अपने शासन और विदेशी शासन में अतर क्या रहा?' इससे लोगों की स्वयस्फूर्तता नष्ट होकर उनका उत्साह भग होगा।

वास्तविक मितव्ययिता

यदि हम वास्तव में अपने आर्थिक साधनों को जुटाने का गभीरता से विचार कर रहे हैं तो उसके लिए अन्य स्वस्थ उपाय हैं। प्रथम बात तो यह है कि सकटकाल घोषित हो जाने से अब हमें कुछ काल के लिए राज्य विधानमडलों को भग कर देना चाहिए। इससे करोड़ों रुपए वार्षिक की बचत होगी। केंद्र में एक दृढ निर्वाचित ससद जनतत्र की माँगों की भली-भाँति पूर्ति कर सकती है। दूसरे, मद्य-निषेध कानून को समाप्त करो। इसका अर्थ मद्य की बुराइयों को न्यून समझना कदापि नहीं है। इसके विपरीत मदिरा के दैत्य को गहरा गाड देना चाहिए, इस विषय में दो मत नहीं हो सकते, किंतु मद्यनिषेध की इस वर्तमान नीति ने अन्य अनेक

सामाजिक बुराइयों को जन्म दिया है, जो अब तक हमारे देश में नहीं थीं। मद्यासक्त लोगों को मद्य विपुल मात्रा में प्राप्त होता है, किंतु उसके लिए उन्हें अवैध उपाय अपनाने पडते हैं। फिर ऐसे लोग भी हैं, जो यह अवैध व्यापार चलाते हैं और उसमें सहायक होता है भ्रष्टाचारी अधिकारियों का संपूर्ण वर्ग, जो इस निषेध के द्वारा लाभान्वित होता है। वास्तविकता यह है कि निहित स्वार्थोंवाले ये ही व्यक्ति मद्य-निषेध को चालू रखना चाहते हैं। यह जनता की नैतिकता को नष्ट करता है। यही वह नैतिक पक्ष है, जिसके कारण हम कहते हैं कि 'निषेध समाप्त करो।' शिक्षा एवं मनोरंजन की स्वस्थ आदतों तथा संस्कारों द्वारा हम इस मद्यपान की बुराई को दूर कर सकते हैं, कानून बनाने से नहीं। इसके द्वारा सरकार को राजस्व की अच्छी आय भी होगी।

इस आपत्कालीन अवस्था का सामना करने के लिए जिन विशाल साधनों की आवश्यकता है, वह भी प्रत्येक क्षेत्र में जितना भी अधिक से अधिक संभव हो, मितव्ययिता करके ही जुटाए जा सकते हैं। किंतु दुर्भाग्य से आज हमारे देश के उत्तरदायी व्यक्तियों को मितव्ययिता सबसे छोटा गुण प्रतीत होता है। हाँ, निस्संदेह सामान्यजन को वे मितव्ययता का उपदेश देते हैं। किंतु वे स्वयं जिस प्रकार से फिजूलखर्ची करते हैं, उससे कोई भी यह समझेगा कि वास्तव में वे इस बात को अल्प मात्रा में भी अनुभव नहीं करते कि देश के सामने कोई भयंकर संकट भी है। वे तो अपनी वर्तमान सत्ता की कुर्सियों को मजबूत करने में, आंतरिक स्पर्द्धाओं में, अपने ही अनचाहे साथियों को निकालने में तथा इसी प्रकार की अन्य क्षुद्रताओं में इतने व्यस्त हैं कि देश की सुरक्षा के अपरिहार्य महत्त्व की सुदृढ तैयारी जैसी बातों पर विचार करने के लिए उनके पास समय ही नहीं है।

आलोचना का स्वागत

जब हम यह सब बातें कहते हैं, तो हमारे बडे नेता हमें सावधान करते हैं कि इस संकटकाल में हमें उनकी आलोचना करने से विरत होना चाहिए। हम यह समझने में असमर्थ हैं कि प्रामाणिक देशभक्ति की भावना से की गई आलोचना से उन्हें घबडाना क्यों चाहिए? क्या वे हमसे केवल यही आशा करते हैं कि उनके सभी कार्यों को शतप्रतिशत ठीक मान लिया करें? क्या ऐसी चापलूसी देशहित में होगी? यदि उनकी सभी नीतियाँ और कार्य ठीक हैं, तो दूसरों को उनकी आलोचना का अवसर ही नहीं मिलेगा।

शत्रु की घात-नीति से सावधान

चीनियों द्वारा युद्धवदी की घोषणा से हमारे देश की जनत उत्साह-भग के परिणाम को दृष्टि में रखते हुए इस प्रकार सावधा और भी अधिक आवश्यक हो गया है। शत्रु की यह चाल है कि ह सुरक्षा की भावना निर्माण कर उत्साह को ठडा करते हुए हमारे युद्ध को शिथिल कर दे और हमें असावधान पाकर और भी अधिक पुन आक्रमण कर सपूर्ण देश पर अधिकार कर ले।

एक अन्य बात भी है, जिसका प्रभाव हमारे लोगों के मनो विपरीत होता है। अब तक सुरक्षा-प्रयत्नों के लिए हम जो कुछ कर वह धन-सग्रह मात्र है। आरभ में लोगों ने स्वयस्फूर्ति व स्वेच्छा दिया। यह अच्छा था, क्योंकि इससे देशप्रेम की इच्छाशक्ति को ज मूर्त रूप में प्राप्त कराने में सहायता ही हुई, किंतु बाद में सरका धन एकत्र करने का कार्य अपने हाथ में ले लिया। जन-उत्साह आवेश ठडा भी हो रहा है। सपूर्ण देश से निश्चित और वि सूचनाएँ प्राप्त हो रही हैं कि जनता से धन प्राप्त करने के लिए तंत्र द्वारा सभी प्रकार के दबाव डाले जा रहे हैं। यह एक प्रका धनापहरण से कम नहीं है। जब सरकार इस प्रकार से दबाव युक्तियों पर उतर आती है, तो जनता के यह सोचने की स है कि 'यदि हमें इस प्रकार धमकाया जा रहा है, तो हमारे और विदेशी शासन में अतर क्या रहा?' इससे लोगों की स्व होकर उनका उत्साह भग होगा।

वास्तविक मितव्ययिता

यदि हम वास्तव में अपने आर्थिक साधनों को जुटा से विचार कर रहे हैं तो उसके लिए अन्य स्वस्थ उपाय हैं। यह है कि सकटकाल घोषित हो जाने से अब हमें कुछ काल विधानमडलों को भग कर देना चाहिए। इससे करोड़ों रुपए बचत होगी। केंद्र में एक दृढ निर्वाचित ससद जनतत्र की भली-भाँति पूर्ति कर सकती है। दूसरे, मद्य-निषेध कानून को सम इसका अर्थ मद्य की बुराइयों को न्यून समझना कदापि नहीं है। विपरीत मदिरा के दैत्य को गहरा गाड देना चाहिए, इस विषय में दो नहीं हो सकते, किंतु मद्यनिषेध की इस वर्तमान नीति ने अन्य अ

जो व्यक्ति देश के कर्णधार हैं, उन्हें इस प्रकार की अप्रजातांत्रिक बातें बद करनी चाहिए। युद्ध में रत नेतृत्व के लिए यह अयोग्य होगा। वे अपने को राष्ट्रीय नेता समझें, एक ही दल का नेता नहीं। हम अपने को यह बात पुन स्मरण दिलाएँ कि हमारा सबका एकमात्र शत्रु चीन है तथा पारस्परिक विरोध, सदेह एव स्पर्धा के वशीभूत हो जाना हमें शोभा नहीं देता। हम आशा करें कि हमारे सभी नेता जनता के मनोधैर्य का निर्माण करनेवाले सभी मामलों में अपना उदाहरण प्रस्तुत कर अवसर के अनुरूप सिद्ध होंगे।

व्यक्तिपूजा का सकट

कुछ लोग हमारे सुयोग्य प्रधानमत्री के प्रति इस प्रकार की स्पष्ट एव मैत्रीपूर्ण चेतावनियों को उनके प्रति प्रेम और सम्मान के अभाव का सूचक मानने की भूल करते हैं। वे पूर्णतया भ्रम में हैं। वे चापलूसी को ही सम्मान मान बैठे हैं। हम प्रधानमत्री का सम्मान करते हैं और उन्हें विश्व का एक महान व्यक्तित्व मानते हैं, किंतु हम उनकी चापलूसी नहीं कर सकते, उन्हें भूलों से परे नहीं मान सकते। यह उनके लिए भी भला नहीं होगा। कम्युनिस्ट तथा इसी प्रकार के अन्य लोग उच्च स्वर से कहते रहते हैं कि हमें नेहरू के हाथ मजबूत करने चाहिए। स्पष्ट है कि यह केवल उनकी चापलूसी करके अपने प्रच्छन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए है। किंतु हम कहते हैं कि हम नेहरू के हृदय को मजबूत बनाएँ। यदि हम यह करते हैं तो अपने-आप उनके हाथों को मजबूत बनाते हैं।

इस प्रकार की 'व्यक्तिपूजा' हमारी सस्कृति और परपराओं के लिए पराई ही नहीं, वरन् हमारे राष्ट्रीय हितों के लिए भी अति हानिकारक होगी। पानीपत के तृतीय युद्ध में हिंदू सेना के मुख्य सेनापति सदाशिवराव भाऊ किसी कारण हाथी से उतरकर घोडे पर सवार हो गए। देख न सकने के कारण सैनिकों ने उन्हें मरा हुआ समझ लिया और धैर्य छोडकर भाग खडे हुए। यह इसलिए हुआ कि सदाशिवराव का व्यक्तित्व ही एकमात्र ऐसा केंद्र था, जिससे सपूर्ण सेना प्रेरणा एव मार्गदर्शन प्राप्त करती थी। दूसरी ओर शिवाजी के पश्चात् बीस वर्ष तक महाराष्ट्र में कोई एक सर्वमान्य नेता नहीं था। सभाजी पकडा गया, यातना देकर उसकी हत्या कर दी गई। शाहू मुगलों का बदी था। राजाराम को पृथक करके जिजी में घेर लिया गया था, किंतु प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार युद्ध करता रहा, मानो स्वराज्य तथा शिवाजी

यदि इसके विपरीत वे गलत हैं, तो हम उनकी आलोचना करने और उनका सुधार करने के लिए कर्त्तव्यबद्ध हैं। उन्हें भी जनता की आवाज को नम्रतापूर्वक सुनना और उसका सम्मान करना चाहिए। हमारे नेताओं का आलोचना से शीघ्र कुपित हो जाना ही यह सकेत देता है कि आलोचना के लिए बहुत बडी गुजाइश होने की सभावना है।

प्रामाणिक आलोचना का दमन जनता की आवाज का गला घोंटने से कम नहीं होगा, जो हिटलर और स्टालिन के अत्याचारी शासन का स्मरण करानेवाला होगा। किंतु यह स्मरण रहे कि इस प्रकार का अनियन्त्रित शासन अल्पकालीन हुआ। उनके विदा होते ही इतिहास ने उन्हें क्षमा नहीं किया और विश्वमत ने उनकी पूर्णरूपेण भर्त्सना की। एक और बात है, जैसे ही व्यक्ति सत्ता के उच्च स्थान पर पहुँचते हैं, वे जनता की दृष्टि में आने लगते हैं तथा उनकी छोटी से छोटी असफलता एव स्खलन भी जनता की आलोचना के विषय बन जाते हैं। हमारे नेताओं को इग्लैंड से शिक्षा लेनी चाहिए, जो दो विश्वयुद्धों की अग्निपरीक्षा में से गुजरा, किंतु जिसने जनता की आवाज को एक बार भी नहीं दबाया और नागरिक-स्वाधीनताओं को बराबर अक्षुण्ण बनाए रखा।

अभी हाल में (सन् १९६२ में) चीनी आक्रमण के समय हमारे सुयोग्य गृहमत्री ने राजनीतिक दलों के विरुद्ध राज्यसभा में बहुत बातें कहीं तथा उसके बाद ही काग्रेस द्वारा इस आशय का एक 'गुप्त' परिपत्र प्रसारित किया गया कि जो लोग सरकार और पडित नेहरू की आलोचना करते हैं, उन्हें देशद्रोही बताकर उनसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। निस्सदेह आचार्य रगा के आपत्तिसूचक पत्र के उत्तर में नेहरू ने कहा था कि यह शब्दावली अनुचित थी। किंतु ध्यान दीजिए, उन्होंने केवल 'अनुचित' कहा, 'असत्य' नहीं। क्या ऐसे प्रभाव से जनता में पक्षभेद उत्पन्न नहीं होंगे-- एक ओर काग्रेस तथा दूसरी ओर शेष सभी। इतने पर भी वे कहते हैं कि दूसरे लोगों की आलोचना नहीं करनी चाहिए, वरन् एकता के लिए कार्य करना चाहिए। अभी हाल में एक बडे काग्रेसी नेता ने कहा कि दूसरे सभी राजनीतिक दलों को कठोर नियत्रण में रखना चाहिए, अन्यथा वे लोकप्रियता प्राप्त कर सकते हैं और अगले निर्वाचनों में काग्रेस की विजय को दुरूह बना सकते हैं। इसपर एक स्थानीय काग्रेसजन इस विचार को सहन न कर सका और उसने खुले रूप से प्रत्युत्तर दिया-- 'यदि चीनी आ गए तो अगला निर्वाचन होने की सभावना ही कहाँ है?'

जो व्यक्ति देश के कर्णधार हैं, उन्हें इस प्रकार की अप्रजातात्रिक बातें बद करनी चाहिए। युद्ध में रत नेतृत्व के लिए यह अयोग्य होगा। वे अपने को राष्ट्रीय नेता समझें, एक ही दल का नेता नहीं। हम अपने को यह बात पुन स्मरण दिलाएँ कि हमारा सबका एकमात्र शत्रु चीन है तथा पारस्परिक विरोध, सदेह एव स्पर्धा के वशीभूत हो जाना हमें शोभा नहीं देता। हम आशा करें कि हमारे सभी नेता जनता के मनोधैर्य का निर्माण करनेवाले सभी मामलों में अपना उदाहरण प्रस्तुत कर अवसर के अनुरूप सिद्ध होंगे।

व्यक्तिपूजा का सकट

कुछ लोग हमारे सुयोग्य प्रधानमत्री के प्रति इस प्रकार की स्पष्ट एव मैत्रीपूर्ण चेतावनियों को उनके प्रति प्रेम और सम्मान के अभाव का सूचक मानने की भूल करते हैं। वे पूर्णतया भ्रम में हैं। वे चापलूसी को ही सम्मान मान बैठे हैं। हम प्रधानमत्री का सम्मान करते हैं और उन्हें विश्व का एक महान व्यक्तित्व मानते हैं, किंतु हम उनकी चापलूसी नहीं कर सकते, उन्हें भूलों से परे नहीं मान सकते। यह उनके लिए भी भला नहीं होगा। कम्युनिस्ट तथा इसी प्रकार के अन्य लोग उच्च स्वर से कहते रहते हैं कि हमें नेहरू के हाथ मजबूत करने चाहिए। स्पष्ट है कि यह केवल उनकी चापलूसी करके अपने प्रच्छन्न लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए है। किंतु हम कहते हैं कि हम नेहरू के हृदय को मजबूत बनाएँ। यदि हम यह करते हैं तो अपने-आप उनके हाथों को मजबूत बनाते हैं।

इस प्रकार की 'व्यक्तिपूजा' हमारी सस्कृति और परपराओं के लिए पराई ही नहीं, वरन् हमारे राष्ट्रीय हितों के लिए भी अति हानिकारक होगी। पानीपत के तृतीय युद्ध में हिदू सेना के मुख्य सेनापति सदाशिवराव भाऊ किसी कारण हाथी से उतरकर घोडे पर सवार हो गए। देख न सकने के कारण सैनिकों ने उन्हें मरा हुआ समझ लिया और धैर्य छोडकर भाग खडे हुए। यह इसलिए हुआ कि सदाशिवराव का व्यक्तित्व ही एकमात्र ऐसा केंद्र था, जिससे सपूर्ण सेना प्रेरणा एव मार्गदर्शन प्राप्त करती थी। दूसरी ओर शिवाजी के पश्चात् बीस वर्ष तक महाराष्ट्र में कोई एक सर्वमान्य नेता नहीं था। सभाजी पकडा गया, यातना देकर उसकी हत्या कर दी गई। शाहू मुगलों का बदी था। राजाराम को पृथक करके जिजी में घेर लिया गया था, किंतु प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार युद्ध करता रहा, मानो स्वराज्य तथा शिवाजी

की आत्मा ने उसमें जन्म ग्रहण कर लिया हो। उनसे लडते-लडते बीस वर्ष के पश्चात् पराजित एव भग्नहृदय औरगजेब मर गया। इस प्रकार का महत् अतर है व्यक्तिपूजा और आदर्श के प्रति समर्पण में।

लाल प्रवचना

तृतीय बात यह है कि हमें अपने देश के आतरिक सकट से अत्यत सावधान रहना चाहिए। जैसा हमें ज्ञात है, अपने बीच में पर्याप्त सख्या में ऐसे लोग हैं जो कहते हैं कि चीनी सेना 'मुक्तिसेना' है। उनके कुछ चोटी के लोगों ने तो यहाँ तक खुलकर कहा है कि आक्राता चीन नहीं, वरन् भारत है। आज भी सीमा-क्षेत्रों में कम्युनिस्ट यह जोरदार प्रचार कर रहे हैं कि धर्मराज्य की स्थापना के लिए चाऊ-एन-लाई के रूप में पृथ्वी पर श्रीकृष्ण का अवतार हुआ है। उन्होंने चदा भी किया है और जनता से कहा है कि इन रसीदों को सुरक्षित रखें तथा चीनियों के आने पर उन्हें दिखाएँ, जिससे वे मित्र के रूप में पहचाने जाएँगे। इस प्रकार के दल को हमारे प्रधानमत्री द्वारा शत-प्रतिशत राष्ट्रीय होने का शुद्ध प्रमाणपत्र दिया जा चुका है।

एक सूचना के अनुसार कम्युनिस्टों ने असम में भी तोड-फोड करने का प्रयत्न किया है। देश के अन्य भागों में भी वे ऐसा ही करने का प्रयास कर सकते हैं, किंतु आश्चर्य इस बात का है कि उनपर न तो निगाह ही रखी जाती है और न नियत्रण। उल्टे प्रतीत यह होता है कि हमारी सरकार और जनता उनकी चालबाजियों में फँस जाती है। कहा जाता है कि उनका दल पीकिंगवादी तथा मास्कोवादी— दो गुटों में विभक्त हो गया है, उनमें फूट पड गई और दोनों ही एक-दूसरे के कटु विरोधी हैं। स्मरण रखिए कि उनमें भारतवादी गुट एक भी नहीं है। जिसे कम्युनिस्ट-कला का स्वल्प भी ज्ञान है, वह इस कल्पित कथा में कभी विश्वास नहीं करेगा। यह तथाकथित फूट जनता को छलने की एक चाल मात्र है। उनकी योजना यह है कि एक गुट तो प्रधानमत्री तथा उनकी नीतियों का साथ देता रहे, जिससे वे अपने को सामान्य जनता के विश्वास में स्थान प्राप्त करा सकें और उस आवरण के पीछे दूसरा गुट गुप्त रूप से शस्त्रास्त्रों का सचय करके गुरिल्ला युद्ध में प्रशिक्षित हो जाए, ताकि कुछ ही महीनों में वे सपूर्ण देश में, विशेष रूप से असम और बगाल में विद्रोह करने के लिए सुसज्ज हो सकें तथा प्रशासन को भग कर सपूर्ण देश पर चीनियों के आक्रमण को

सुलभ बना सकें। वास्तव में यही हो रहा है। गुरिल्ला-युद्ध की शिक्षा दी जा रही है।

चीनी पहेली

हमें इससे चीनियों की आकस्मिक एवं अनपेक्षित युद्धबंदी के पीछे जो कारण है, उसका संकेत प्राप्त होता है। वे जिस समय वास्तविक रूप से विजेता थे, उसी समय उन्होंने युद्धबंदी की घोषणा करके समस्त विश्व को आश्चर्य में डाल दिया। यह एक अद्भुत कृत्य था कि विजयी स्वेच्छा से युद्ध रोक दे तथा शांति का अति उदार संकेत करे। इस रहस्य को समझने के लिए विविध सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। एक सिद्धांत है कि चीनियों ने यह अनुमान लगाया था कि इस देश के लोगों को एक-दूसरे से कलह करना इतना रुचता है कि उनके झगडे तथा विभेद इसी प्रकार चलते रहेंगे और उनसे लाभ उठाकर वे सरलता से देश को जीत सकेंगे। किंतु उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आक्राता को निकाल बाहर करने के लिए संपूर्ण देश एक व्यक्ति के समान खडा हो गया। चीनियों के लिए यह अनपेक्षित था। अतएव उन्होंने अपने आक्रमण को रोक देना ही अच्छा समझा।

दूसरा सिद्धांत है कि चीनियों को यह आशा नहीं थी कि भारत के लिए अमरीका आदि मित्र देशों से शस्त्रास्त्र तथा अन्य प्रकार की सैन्य-सहायता इतने कम समय में प्राप्त हो सकेगी। वास्तव में जिस क्षिप्रता और क्षमता से अमरीकी सहायता हमारे लिए आई, उसकी हृदय से प्रशंसा करनी ही चाहिए। इससे चीनी विस्मयाभिभूत हो गए और एक भीषण प्रत्याक्रमण के भय से वे और आगे बढने से विरत हो गए।

कुछ लोग, जो चीन तथा रूस की प्रत्येक बात की प्रशंसा करते रहते हैं, कहते हैं कि चीनी केवल उसी भू-भाग पर अपना अधिकार जमाने आए थे, जिसे वे अपना बताते थे। उन्होंने मैक्मोहन सीमा रेखा को स्वीकार नहीं किया था। वे कहते हैं कि वास्तविक सीमा कहीं और दक्षिण में है, इसलिए वे उस सीमा तक आए, जिसे वे ठीक समझते थे। एक प्रकार से उन्होंने अपने अधिकार को व्यक्त किया और लौट गए। यह कहना चीनियों को पर्याप्त प्रशंसा देना है।

गहरी चाल

तथापि एक और तथ्य उपेक्षित ही रह गया है। चीनियों के

आक्रमण के काल में बगाल के कम्युनिस्ट दल द्वारा विप्लव करने की एक योजना थी, जिसके अनुसार वे इतने व्यापक परिमाण में व्यवस्था भग कर देना चाहते थे कि प्रशासन ही भग हो जाता, अराजकता छा जाती और इस अवस्था का लाभ उठाकर चीनी हिमालय से लेकर कोलकाता तक सरलतापूर्वक अपने को सुस्थिर बना लेते। किसी कारणवश यह योजना विफल हो गई या यह हो सकता है कि कम्युनिस्ट तैयार नहीं थे, अथवा उनके हृदय की शक्ति ने अतिम क्षण पर उन्हें धोखा दिया अथवा जनता अत्यत सावधान होकर उनके विरुद्ध हो गई, जिससे उनमें उस योजना को आगे बढकर क्रियान्वित करने का साहस नहीं रहा। कारण कुछ भी हों, तथ्य यह है कि वे आक्राता चीनियों की अपेक्षा के अनुसार कार्य न कर सके। उनकी योजना विफल हो जाने से चीनियों ने सोचा कि उन्हें और अधिक उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिए। इसीलिए उन्होंने कुछ काल के लिए आक्रमण बद कर दिया। जब हम इस तथ्य के अशों को यहाँ कम्युनिस्टों की वर्तमान चाल के साथ देखते हैं, तो हमारे सामने एक ज्वालामुखी की विभीषिका का पर्याप्त सही और स्पष्ट चित्र उभरता है, जो चीनियों की वर्तमान युद्धबदी की दृश्यरूप ऊपरी शाति के नीचे शनै-शनै उबल रहा है।

हरा सकट

हमारी आतरिक व्यवस्था में एक अन्य सकट का स्थान सशस्त्र पाकिस्तानी पचमागी हैं, जो सपूर्ण देश में सामरिक महत्त्व के स्थानों पर मोर्चाबदी किए हुए हैं। विविध प्रकार के घातक शस्त्र सीमात क्षेत्रों में बसे हुए मुसलमानों को बाँटे जा रहे हैं। सभवत वे अनुभव करते हैं कि उनके लिए विद्रोह करने का यह स्वर्णिम अवसर है, जिससे वे हमारे नेताओं को घुटने टिकाकर पहले की भाँति एक और भूखड दे डालने के लिए बाध्य कर दें। सच बात तो यह है कि चीनी उर्वशीयम् क्षेत्र में चौकी के बाद चौकी पर अधिकार करते जा रहे थे, तब सपूर्ण देश में इस प्रकार के पाकिस्तानी तत्त्व बहुत हर्षित हुए थे। वे कहा करते थे– 'तुम्हारे प्रति ठीक ही हो रहा है। अभी हाल में ही हुई पाक-चीन की अपवित्र मैत्री के कारण वे और भी ढीठ हो गए हैं। जिस समय जनता और सरकारी अधिकारी तेजपुर तथा अन्य क्षेत्रों को खाली कर रहे थे, उस समय केवल मुसलमान ही वहाँ रुके थे। वे कहते थे कि पाकिस्तान और चीन में गुप्त समझौता हो गया है कि असम को दोनों परस्पर बाँट लेंगे, उत्तरी भाग चीन का और दक्षिणी

भाग पाकिस्तान का होगा, अत वे सुरक्षित हैं। वे लोग सन् १९४६-४७ की भाँति पूर्णरूप से उन्मत्त हो गए थे और 'पाकिस्तान-जिंदाबाद' तथा 'हँस के लिया है पाकिस्तान, लड के लेंगे हिंदुस्तान' के नारे लगाया करते थे। उन्होंने खाली किए हुए हिंदू घरों और दुकानों को लूटा। इसलिए सभी नागरिकों, जिनमें विचारवान मुसलमान भी सम्मिलित हैं, का यह कर्तव्य है कि इस प्रकार के पचमागी मुसलमानों से विशेष रूप से सावधान रहें तथा आरभ से ही उनपर दृष्टि रखें, ताकि उन्हें आतरिक शाति एव व्यवस्था भग करने का अवसर ही न मिले। हमारे सुरक्षा-सिद्धातों की यह सबसे बडी और पहली आवश्यकता है।

इस प्रकार के विध्वसकारी तत्त्वों के साथ व्यवहार करते समय एक मार्गदर्शक सिद्धात है कि उन्हें भी शत्रु जैसा ही मानकर कठोरतापूर्वक उनका दमन करना। महाभारत में एक अत्यत बोधप्रद घटना है। जब राजा जनमेजय ने तक्षक के द्वारा अपने पिता परीक्षित के मारे जाने का बदला लेने के लिए सर्प यज्ञ किया, तब तक्षक ने भागकर इद्र की शरण ली। तब जनमेजय तक्षक के साथ इद्र को भी उस सर्वग्रासी अग्नि में आहूत करने के लिए उद्यत हो गया तथा यह उच्चारण करके आहुति देने लगा– 'सेन्द्राय तक्षकाय स्वाहा।' इस प्रकार के कठोर उपाय ही शत्रु के सभाव्य हस्तकों के हृदयों में भीति उत्पन्न कर सकते हैं और उनसे निष्ठावान नागरिकों के समान व्यवहार करा सकते हैं।

तुष्टिकरण से भूख बढती है

इसके बाद हमें अपने पडोसी देशों के साथ अपने सबधों पर विचार करना होगा। विशेषतया वे विचार वर्तमान परिस्थितियों के सदर्भ में होने चाहिए। जब हम इस प्रकार की कठिन स्थिति में हैं, तब हमारा पडोसी पाकिस्तान हमें सता सकता है, क्योंकि नेहरू के शब्दों में पाकिस्तान का जन्म घृणा और रक्तपात में हुआ है। यह भी सभावना है कि हमारे नेता उसे सतुष्ट करने के लिए और अधिक देते जाएँ तथा कश्मीर के मामले में समझौता कर लें। राजाजी और जयप्रकाश नारायण ने तो यह प्रार्थना ही की है कि किसी भी मूल्य पर पाकिस्तान के साथ शाति बनाए रखना चाहिए। यदि आवश्यक हो तो कश्मीर देकर भी, जिससे चीन के विरुद्ध सम्मिलित मोर्चा बनाया जा सके। किंतु क्या इससे समस्या का समाधान होगा? इन तत्त्वों से सबधित पूर्व इतिहास क्या बताता है? उनके हृदयों को जीतने के लिए अगणित प्रयोग किए गए थे। उनकी पीठें थपथपाई गई

और उनपर सुविधाओं की वर्षा की गई। अत में हमने उन्हें अपनी मातृ-भू के भाग भी दे दिए। इतने पर भी वे सतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने कश्मीर पर आक्रमण किया। उन्हें प्रसन्न करने के लिए हमने एक-तिहाई कश्मीर दे दिया। हमने उन्हें अपनी लागत से बनाई हुई नहरों का पानी दिया। इस सबके सिवाय उन्हें लगभग ८५ करोड रुपया भी दिया।

किंतु बदले में उन्होंने हमें क्या दिया? विभाजन की शर्तो के अनुसार हिंदुओं द्वारा पाकिस्तान में छोडी हुई सपत्ति के लिए उनकी ओर से मुआवजा दिया जाना चाहिए था। वह सपत्ति अरबों रुपए की थी। किंतु अब तक हमें एक पाई भी नहीं मिली। प्रत्येक वस्तु, जिसकी वे मॉग करते हैं, हम देते चले आ रहे हैं। किंतु क्या हमें उनसे कोई चीज लेने में सफलता मिली है? यदि हम उन्हें अधिकाधिक देते हुए चुप रहने को कहेंगे, तो क्या वे और कुछ मॉगने से रुकेंगे? यदि हम उन्हें कश्मीर दे देते हैं, तो वे असम और तत्पश्चात् बगाल मॉग सकते हैं। हम उन्हें जितना ही देते हैं, उनकी भूख उतनी ही बढती जाती है। इसलिए यह इकतरफा व्यवहार रुकना ही चाहिए। पाकिस्तान के साथ वार्ता के लिए एक ही आधार है– 'चीन, भारत और पाकिस्तान दोनों के लिए समान सकट है। अतएव दोनों कधे से कधा मिलाकर इस शक्तिशाली शत्रु का सामना करने के लिए खडे हों।' वार्ता के लिए केवल यही आधार होना चाहिए। यदि हम उन्हें तुष्ट करना आरभ करते हैं, तो इसका अत नहीं होगा।

मित्रों को पहचानो

अब हम अपने पाश्चात्य देशों के साथ अपने सबधों के विषय को लें। तटस्थ नीति में वैसे कोई दोष नहीं है। इसके विपरीत हमारी मूर्खता रही है कि हम वास्तव में पूर्ण तटस्थ नहीं रहे। हमारा झुकाव कम्युनिस्ट गुट की ओर अधिक रहा है। जब इग्लैंड और फ्रास ने स्वेज नहर के प्रश्न को लेकर मिस्र पर आक्रमण किया था, तब हम प्रथम थे, जिन्होंने उनकी कठोरतम शब्दों में भर्त्सना की थी। किंतु जब चीन ने तिब्बत की हत्या कर डाली, तब हमने विरोध का एक शब्द भी नहीं कहा। जब रूसी टैंक हगरी में घूम-घूमकर उनका स्वातत्र्य-विद्रोह कुचलने लगे, तो हमने उसे न्याय्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया। यदि हम सच्चाई से निष्पक्ष रहे होते और जनतत्र के प्रति अपना समान प्रेम प्रकट किया होता, तो पश्चिम हमें विश्वसनीय मित्र के रूप में देखता। तथापि जब हमने कष्ट पडने पर

उनकी ओर देखा, तब वे हमारी सहायता के लिए दौडे आए। हमारे प्रति मित्रता की सभी स्पष्ट प्रतिज्ञाओं के होते हुए भी रूस ने हमारे लिए चार मिग हवाई जहाज, जो हमें बहुत पहले प्राप्त होने चाहिए थे, निश्चित समय के इतने पश्चात् भेजे कि हमारा सकटकाल व्यतीत हुए कई मास हो चुके थे। इससे भी अधिक विचित्र बात यह है कि वे हवाई जहाज पानी के जहाज द्वारा भेजे गए, आकाशमार्ग से नहीं। उनकी उडान के विषय में हमने अब तक नहीं सुना है। मुझे नहीं मालूम कि सरकार इन घटनाओं को 'तटस्थता' कहती है या किसी 'गुट के साथ सबद्धता'।

हम केवल आशा ही कर सकते हैं कि सरकार समस्या को वास्तविक दृष्टिकोण से देखेगी और हमारे राष्ट्र को पूर्णरूपेण शस्त्रसज्जित बनाने के मार्ग में आडबरपूर्ण घोषों तथा रूढ सिद्धातों की बाधा नहीं आने देगी। हमें जहाँ से भी मिले, शस्त्रास्त्र लेना चाहिए। यदि जर्मनी प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व-दिवस तक इग्लैंड से बदूकें मोल ले सकता था और फ्रास द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व दिवस तक जर्मनी को टैंक बेच सकता था तथा जर्मनी के विरुद्ध सभी देश, जिनमें रूस भी सम्मिलित है, उस युद्ध के मध्य अमरीका से सैनिक सहायता प्राप्त कर सकते थे, तो हमें उन देशों से शस्त्रास्त्र लेने में क्यों लज्जा आती है, जो हमें शस्त्र देने के लिए इच्छुक हैं, फिर वे देश कोई भी क्यों न हों?

विश्वसनीय प्रहरी को दृढ करो

हमारी उत्तरी सीमा पर एक महत्त्वपूर्ण कडी है, जिसे हमें सशक्त करना चाहिए। वह है नेपाल। अनत काल से नेपाल हमारी राष्ट्रीय जीवन-पद्धति से एकात्म रहा है। वह एक सर्वसत्ताधारी राज्य है ओर हमारे लिए यह विषय प्रसन्नता का है। आकार में वह छोटा है, इसलिए यह देखना हमारा कर्तव्य है कि उसे कुचलकर उसका अस्तित्व न मिटा दिया जाए। चीन जैसी बडी और शक्तिशाली सत्ता के दबाव में नेपाल ने अपने दुर्बल क्षणों में ल्हासा-काठमाडू मार्ग का प्रस्ताव मान लिया है। हमारा यह कर्तव्य है कि इस बात पर दृष्टि रखें कि नेपाल की स्वतत्रता एव प्रभुसत्ता सुरक्षित बनी रहे। हम दोनों के सामने समान सकट है। हमें नेपाल की प्रभुसत्ता का सम्मान करना चाहिए और अपने निष्कपट भावों के प्रति उसके मन में विश्वास उत्पन्न करना चाहिए। उसके विद्रोहियों ने हमारे देश में शरण प्राप्त की है। यह नेपाल के हृदय में अत्यत चुभनेवाली बात है। इसके कारण उस

देश में एक जोरदार भारत-विरोधी प्रचार उत्पन्न हो गया है। हमें उन विद्रोहियों को नियन्त्रित करना चाहिए और परपरागत मैत्री के वर्षों की पुनर्स्थापना करनी चाहिए।

हमारी पावन मातृभूमि की रक्षा हमारी आतरिक एव बाह्य– सभी नीतियों की प्रथम कसौटी हो। यदि इसके लिए हमें अपनी सीमाओं को पार करना आवश्यक हो, तो उसमें हम जरा भी सकोच न करें। आज दलाईलामा हमारे बीच हैं। तिब्बती-जन अपने देश में चीनी सेनाओं से अभी तक लोहा ले रहे हैं। तिब्बत की मुक्ति के लिए यह तथ्य हमारे पक्ष में है। दलाईलामा को हम उसकी अपनी देशातर सरकार की स्थापना करके तिब्बत की स्वतत्रता की घोषणा करने दें। हम उसे अपने देश की स्वाधीनता के लिए सघर्ष चलाने के लिए सभी आवश्यक सहायता दें। बिना स्वाधीन एव मैत्रीपूर्ण तिब्बत के हमारी सपूर्ण उत्तरी सुरक्षा केवल उपहास मात्र है। किंतु हमारे प्रधानमत्री कहते हैं कि यह पग 'स्पष्ट मूर्खता' है। यह समझने में हम असमर्थ हैं कि वे इस प्रकार के उदात्त कार्य का विरोध क्यों करते हैं, जिससे दलित जनों की स्वाधीनता-प्राप्ति में सहायता प्राप्त होती है और जो हमारे राष्ट्र की सुरक्षा की दृष्टि से भी सर्वाधिक अपरिहार्य है। वास्तव में हमारे स्वर्गीय सम्मान्य राष्ट्रपति डा राजेंद्रप्रसाद ने ठीक ही कहा था कि शत्रु के प्रदेश में युद्ध को बिना ले जाए हम अपनी सीमाओं की रक्षा की आशा नहीं कर सकते। इसके लिए तिब्बत को मुक्त कराना प्रथम सैनिक पग है।

१० विजय के लिए समुचित तत्त्वज्ञान

विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य

अपने सपूर्ण आतरिक साधनों को सचालित करने, सब प्रकार की आतरिक विरोधी शक्तियों को समाप्त करने, शत्रु के पूर्णतया विनाश तक युद्ध करने तथा इस पीली आपदा को पृथ्वी पर से मिटाने के लिए शक्ति का जो महान और अक्षय भडार हमें निर्माण करना है, वह है हमारे समाज के विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य का। उसके अभाव में कितनी भी बाह्य सहायता एव सज्जा व्यर्थ होगी।

वास्तविक विभीषिका

हम जानते हैं कि चीन में जनतान्त्रिक शक्तियों में चारित्र्य का अभाव ही कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों द्वारा उनके पराभव का एक प्रमुख निर्णायक कारण था। अमरीका ने उस जनतन्त्र की रक्षा करने के लिए अपनी पूरी शक्ति से प्रयत्न किया। अमरीका ने उसे करोड़ों डालर की सहायता दी, विपुल नवीनतम शस्त्रास्त्रों तथा युद्ध-सामग्री से वहाँ की सेना को सुसज्जित किया, जिससे वह कम्युनिस्ट विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन कर सके। किंतु इतिहास हमें बताता है कि सेना के अधिकारी तक क्षुद्र धन-लाभ के लिए अमरीका से प्राप्त हुए शस्त्रास्त्रों को विद्रोहियों के हाथों बेच देते थे। परिणाम यह हुआ कि विद्रोही अच्छी तरह से शस्त्रसज्जित हो गए और राष्ट्रीय सेना पराजित हुई।

अपने यहाँ भी चरित्रहीनता के इस प्रकार के अगणित उदाहरण हैं। जैसे यह सर्वविदित है कि असम में पाकिस्तानी षड्यन्त्र चल रहा है। अनेक पाकिस्तानियों ने पूर्वी बंगाल से असम में घुसपैठ की और अब भी कर रहे हैं। वे वहाँ बस गए हैं। असम को मुस्लिमबहुल क्षेत्र बनाकर बाद में उसे पाकिस्तान में मिला लेने का यह एक षड्यंत्र है, किंतु हमारी सरकार इस तथ्य का सामना करना नहीं चाहती। हम सन् १९५० से सावधान करते आ रहे हैं तो भी उसने अपनी आँखें नहीं खोली हैं। अब वह पूछती है कि 'उन पाकिस्तानियों को पहचाना कैसे जाए?' असम में कुछ लोग आगे आए और उन सभी पाकिस्तानियों के नाम, पते आदि के साथ एक सूची तैयार की जो हाल के वर्षों में अवैध रूप से घुस आए थे। वह सूची सरकार को भेज दी गई, सरकार ने उस सूची पर विचार करने के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया। उस अधिकारी ने जाँच कर जो वृत्त प्रस्तुत किया, उसमें लिखा-- यह संपूर्ण सूची मिथ्या है। बहुत थोड़े ही पाकिस्तानी आए हैं।' उसने इस प्रकार की सूचना क्यों दी? बाद में यह ज्ञात हुआ कि उसने बहुत बड़ी घूस लेकर इस प्रकार का वृत्त दिया था।

भारत के संबंध में इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध मजदूर नेता लार्ड एटली ने एक लेख में लिखा है कि हमारे देश का शासन-तंत्र अंदर तक बिल्कुल भ्रष्ट हो चुका है। वे कहते हैं कि ऐसे ही देशों का उन्मूलन करने में कम्युनिस्ट सफल हो जाते हैं। एशिया के एक देश में एक प्रमुख व्यक्ति से उन्होंने प्रश्न किया था कि क्या उसके देश में कम्युनिस्टों द्वारा उन्मूलन का भय तो नहीं? इसपर उस व्यक्ति ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया था--

'हमारा शासन भ्रष्ट नहीं है। अत हमें ऐसा कोई भय नहीं।' इग्लैंड जैसे परिपक्व राष्ट्र के एक प्रख्यात राज्यमर्मज्ञ की इस चेतावनी पर हमें अपने देश के घातक आतरिक ह्रास पर गभीरता से विचार करने के लिए प्रवृत होना चाहिए।

मूल व्याधि

इसलिए चरित्रहीनता का यह सकट अतीव गभीर विषय है। हमें उससे जूझना है, केवल शब्दों के द्वारा अथवा दूसरों की आलोचना मात्र से नहीं, वरन् उसके मूल तक पहुँचकर। केवल आलोचना से कुछ नहीं होगा। यदि हम 'क', 'ख' अथवा 'ग' को गालियाँ देते हैं, तो इससे हमारे व्यवहार में कैसे सुधार होगा? इसके विपरीत यह हममें दूसरों को गालियाँ देने का एक दुर्गुण उत्पन्न कर देगा। तब हम इस अनैतिकता के दैत्य से स्वय को किस प्रकार मुक्त कर सकेंगे?

यह सर्वविदित है कि व्यक्ति के जीवन में जिस मात्रा में स्वार्थ का प्रभाव होता है, वह उसी मात्रा में दुश्चरित्र और भ्रष्ट हो जाता है। स्वार्थ जितना अधिक होगा, उसकी पूर्ति के लिए उतने ही अधिक निकृष्ट उपाय काम में लाने की ओर व्यक्ति का झुकाव बढता जाता है। यदि कोई आदमी नि स्वार्थ है, तो वह बुरे कार्य नहीं करेगा और उसके चरित्र में विकृति उत्पन्न नहीं होगी। वह एक प्रामाणिक पुरुष बनेगा।

आज स्वार्थ बढ गया है। प्रत्येक व्यक्ति के पास जो कुछ है, वह उससे अधिक की आकाक्षा करता है। उसे इस बात की चिता नहीं होती कि जिन उपायों से उसे पैसा प्राप्त होता है, वे उपाय भले हैं या बुरे। प्राय वे बुरे ही रहते हैं, इसीलिए चरित्र के अभाव का सकट है। अत हमें मनुष्य के स्वार्थ को नियत्रित करना है। यह अतीव कठिन कार्य है। सामान्य व्यक्ति में कुछ स्वार्थ रहना स्वाभाविक ही है। सब साधु तो हैं नहीं, सबने कौपीन धारण करके अपने परिवारों को त्यागा नहीं है। यह सभव भी नहीं है। जहाँ तक सपूर्ण समाज का सबध है, वह उसके लिए हितावह भी नहीं होगा। अपने शरीर एव अपने परिवार की धारणा के लिए तथा उन्हें आधुनिक युग के अनुरूप कम से कम कुछ आनद देने के लिए थोडा स्वार्थ बना रहेगा। अत हमें उस व्यक्ति को बुरा नहीं समझना चाहिए, जो सामान्य सुख-सुविधा का जीवनयापन करना चाहता है, किंतु उसकी यही सीमा है। यदि कोई व्यक्ति इस सीमा का उल्लघन करता है और स्वार्थपरता

में इतना अधिक लिप्त हो जाता है कि उससे संपूर्ण समाज के हितों को हानि पहुँचती है, तो वह निश्चित रूप से निंदनीय है।

नैतिकता ऊपर से नीचे की ओर

इस स्वार्थ को रक्तपिपासु बनने से रोकने के लिए मान लीजिए कि सब लोगों को उपदेश और भाषण दें, तो क्या इससे लाभ होगा? क्या सदाचार समितियाँ और जनता में सामूहिक प्रतिज्ञाएँ यह चमत्कार कर सकेंगी? सदाचार पर इस प्रकार के भाषणों और प्रतिज्ञाओं से कभी किसी व्यक्ति के चरित्र में सुधार नहीं हुआ है। इतना ही नहीं, सदाचार पर भाषण देनेवाले और प्रतिज्ञाएँ करानेवाले अनेक व्यक्ति ऐसे हैं कि हमें उनके जीवन की ओर देखना तक नहीं चाहिए।

एक बार मैं एक साधु से मिला। उसने मुझसे कहा कि वह सरकारी कार्यालयों में लिपिकों तथा निम्न श्रेणी के कर्मचारियों को चरित्र-संबंधी व्याख्यान दिया करता है कि किस प्रकार वे भ्रष्टता आदि से बचें। मैंने कहा, 'आप अपने उद्देश्य में किस प्रकार सफल होंगे? आप एक चपरासी को उपदेश देते हैं जो घूस में केवल कुछ पैसे ले रहा होगा। क्या आप यह अनुभव नहीं कर सकते कि चपरासी एक दरिद्र आदमी है, जो अपने परिवार के सदस्यों को दो बार भोजन भी देने में असमर्थ है। यदि ऐसी दशा में वह थोड़ी-सी घूस लेने के लिए बाध्य हो जाता है, तो हमें उसपर दया आ सकती है, यद्यपि उसके कृत्य को हम न्यायसंगत नहीं कह सकते। इसलिए आप ऊपर को जाइए और उच्चपदस्थ लोगों को यह उपदेश दीजिए। देखिए कि क्या उनमें सुधार हो सकता है?' तब उस साधु ने कहा– 'वे ऊपर के लोग तो भले हैं।'

मैंने कहा– 'मैं आपको एक उदाहरण दूँगा। एक सज्जन हमारे राजनीतिक नेताओं की आकाशगंगा के एक उज्ज्वल नक्षत्र हैं। देश उनकी पूजा करता है और उनसे प्रेम करता है। गत निर्वाचनों के पूर्व निर्वाचन के लिए एक थैली भेंट करने के लिए उन्हें एक नगर में आमंत्रित किया गया। बड़े-बड़े व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने एक समिति गठित की और विशाल धन-राशि एकत्रित की। एक बड़े समारोह में उन सभी व्याख्यानों, जिनमें उस व्यक्ति और दल की अत्यंत प्रशंसा की गई थी, के बीच वह थैली उन्हें भेंट की गई। उत्तर देने के लिए वे उठे और उन्होंने कहा– 'मैं जानता हूँ कि ये सभी लोग, जो यहाँ एकत्र हुए हैं, खूब कालाबाजार करते

हैं और जो धन मुझे दिया गया है, वह पाप से पैदा हुआ है। इसको छूना भी पाप है। मुझे लगता है कि इस प्रकार के सभी कालाबाजार करनेवालों को सार्वजनिक रूप से कोडे लगाने चाहिए और उन्हें फॉसी पर भी लटका देना चाहिए।' यह सब वे अत्यत उच्च नैतिकता के स्वर में बोले और थैली को चुपचाप जेब में रखकर चले गए। सौभाग्य से वह साधु भी इस घटना को जानता था। मैंने उससे कहा– 'पहले इस प्रकार के उच्चपदस्थजनों के पास जाइए और उनका सुधार कीजिए।'

यदि ऊपर के नेता नैतिक दृष्टि से उन्नत हों, तब नैतिकता समाज के निम्नतम स्तर तक शनै -शनै पहुँचेगी और इसका परिणाम सामान्य जन के उत्तम चरित्र की निर्मिति के रूप में होगा। आप यह निर्माण नीचे से ऊपर की ओर नहीं ले जा सकते। चरित्र-निर्माण का प्रारभ सदैव ऊपर से ही होना चाहिए। इसी प्रकार दूसरी ओर भौतिक सुख प्रदान करने का प्रारभ नीचे से ही होना चाहिए। जो लोग हमारे समाज-जीवन में निम्न स्तर पर हैं और रात-दिन शारीरिक परिश्रम करते हुए भी एक ऐसा जीवन यापन कर रहे हैं, जो हमारे समाज की प्रतिष्ठा के लिए अपमानजनक है, उन्हें हम भोजन दें। जो लोग उच्च स्थानों पर हैं, यदि वे बिना भोजन के रहते हैं तो मैं चिता नहीं करता। समाज की रचना एव उसका शक्ति-सपादन इस प्रकार करना चाहिए कि शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नीचे से ऊपर की ओर हो तथा नैतिकता समाज में ऊपर से नीचे की ओर अवतीर्ण हो।

जीवत आदर्श

यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि हमारे राष्ट्रजीवन के अति उच्च स्तर पर भी चरित्र ओर नैतिकता का अभाव है। जीवन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित जन मेधावान एव शिक्षित हैं। वे नैतिकता और अनैतिकता के भेद को जानते हैं। वे नैतिकता पर अति उत्तम उपदेश दे सकते हैं। ऐसी दशा में हम शब्दों के द्वारा भला उन्हें क्या सिखा सकते हैं? ऐसे लोगों को केवल उपदेश देने से हमें कोई लाभ नहीं होगा।

क्या कानून बनाकर हम अपने लोगों का नैतिक मानदड उन्नत कर सकते हैं? नशाबदी को ही लीजिए। बहुत से राज्यों में यह कानून लागू है, किंतु उन सभी राज्यों में अवैध शराब बनाना एक फलता-फूलता घरेलू उद्योग हो गया है। अत सदाचार की वृद्धि के लिए केवल कानून बनाने का साधन भी व्यर्थ है।

वास्तव में स्वार्थपरता पर नियत्रण के लिए केवल एक ही मार्ग है। मानव को एक आदर्श प्रदान करो, जिसके लिए वह कार्य करे, जिये और मरे। उसे अपने आदर्शो पर जो श्रद्धा हे, उसके आधार पर वह व्यक्ति अपने स्वार्थो के मोह पर नियत्रण करने में सक्षम होगा और श्रेष्ठतर चरित्र का निर्माण करेगा। अन्य कोई मार्ग नहीं है। लोगों को एक उच्च एव पवित्र आदर्श दो। ऐसा आदर्श जो स्वाभाविकत उनके हृदयों के तारों को झकृत करता हो, उनके रक्त को स्फुरित करता हो और जो उनमें पीढियों से विद्यमान हो। तब एक सामान्य मनुष्य भी स्वय में श्रद्धा एव चरित्र के उदय की अनुभूति करने में समर्थ होगा। अपने पवित्र हिदू-राष्ट्र के वेभव एव उसकी महानता की अनुभूति ही इस प्रकार का आदर्श हे।

'मैं इस महान हिदू राष्ट्र की सतति हूँ। अनेक पीढियों से मेरे महान पूर्वजों ने इसे महानतम एव उदात्ततम राष्ट्र बनाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने इसे पृथ्वी पर आदर्श मनुष्यों का आदर्श राष्ट्र बनाने के स्वप्न देखे हैं। मैं भी उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जिऊँगा और परिश्रम करूँगा।'– यही है वह स्वाभाविक प्रेरणा जो, हमने अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त की हे। हम इसे अपने रक्त में अनुभव करते हैं। यदि वह स्वाभाविक एव उदात्त लगन जाग्रत हो जाए, तो हमारे देश के लोग स्वार्थो के आकर्षणों से परे हो सकेंगे तथा दैनिक जीवन में विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य को व्यक्त करने में समर्थ होंगे।

प्रेरणादायी कल्पना

राष्ट्रीय सकट के वर्तमान समय में भी हम आदर्श के इस तत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें यह विस्मरण नहीं होना चाहिए कि कुरुक्षेत्र के युद्ध-क्षेत्र में जब युद्ध के नगाडे बज रहे थे, तूर्यो की ध्वनि हो रही थी ओर अर्जुन दोनों सेनाओं के मध्य में खडा था, उस समय श्रीकृष्ण ने उसे धर्म के लिए निष्काम कर्म करने का शाश्वत एव प्रेरणादायी सदेश और शिक्षा दी थी तथा उसे अद्वितीय पराक्रम और विजय के लिए प्रवृत किया था। जब कोई वीर आदर्श की कल्पना से प्रेरित होता है, तभी वह अपने जीवन की श्रेष्ठतम योग्यताओं को उस लक्ष्य के लिए आगे बढकर प्रकट कर देता है। उसके मस्तिष्क में उन जीवन-मूल्यों की स्पष्ट कल्पना होनी चाहिए, जिनके लिए उसे लडना है ओर आवश्यक होने पर मृत्यु को भी वरण करना हे। आर्थिक योजनाओं एव व्यापारिक वैभव की बातें कष्ट सहन

करने तथा बलिदान के लिए आत्मा को उत्साहित नहीं कर सकतीं। मातृभूमि के प्रति 'बर्फीला', 'जहाँ कोई आदमी तक नहीं रह सकते', 'घास का तिनका भी जहाँ नहीं उगता' आदि प्रकार के रुक्ष और असम्मानजनक उद्गार नागरिकों के उत्साह का हनन ही करेंगे। यदि ऐसे भू-भाग पर शत्रु कब्जा कर लेगा तो वे इस बात पर परिस्थिति का कोई अतर भी नहीं आँक सकेंगे। इसलिए यह नितात आवश्यक है कि अपनी पवित्र मातृभूमि के लिए भक्ति का शाश्वत और प्रेरणादायी आह्वान तथा हमारे राष्ट्रीय आदर्श इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के हृदय पर उत्कीर्ण हों।

अतीत एव आधुनिक काल के हमारे सभी पराक्रमी स्वातत्र्य-सेनानी हिंदू-राष्ट्र की जीवत कल्पना से प्रेरित थे। देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक हमारे जनसमुदाय को कर्तव्य का आह्वान देने के लिए यही थी एक मात्र प्रभावी एव एकत्रित करनेवाली पुकार। जब-जब यह कल्पना धुँधली या ओझल हुई, हमारे देशवासी निष्क्रियता एव दासता में पुन वापस जा पड़े।

सन् १८५७ के स्वातत्र्य-सग्राम का पाठ हमारे सामने है। उस क्राति के महान नेताओं ने पहली ही चोट में दिल्ली पर अधिकार कर मुगल बादशाह, जो अग्रेजों के हाथ का एक उपकरण मात्र हो गया था, को मुक्त किया था। उन्होंने उसे स्वतत्र सम्राट के रूप में पुन सिहासनासीन कर स्वतत्रता-सग्राम का नेता घोषित किया। यह इसलिए किया गया क्योंकि उस वर्ग की सहायता भी प्राप्त हो जाए, जो वर्ग उस समय तक दिल्ली के तख्त के प्रति वफादार था। कितु इस पग ने हिंदू जनता के हृदय में संदेह उत्पन्न कर दिया कि वही अत्याचारी मुगल शासन, जो गुरुगोविंदसिह, छत्रसाल, शिवाजी तथा इसी प्रकार के अन्य देशभक्तों के पराक्रमी यत्नों के द्वारा नष्ट हो चुका था, एक बार पुन पुनरुज्जीवित होकर उनपर छलपूर्वक लाद दिया जाएगा और वह अग्रेजी शासन से भी बहुत बडी दु खद घटना होगी। हिंदू मस्तिष्क, जो नानासाहब पेशवा, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई तथा कुँवरसिह जैसे सेनानायकों की ओर देखकर हिंदू-स्वराज की आशा से स्फूर्त था, की युद्ध करने की प्रेरणा समाप्त हो गई। इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि उस क्राति की अतिम असफलता के निर्णायक कारणों में से यह भी एक कारण था।

जब जनसमुदाय उस पुरातन राष्ट्रीय आदर्श से स्फूर्त होता है, तभी उन्हें इतना उन्नत करना सभव है कि वे नि स्वार्थता, बलिदान एव

पराक्रम के लिए उठ खड़े हों तथा उनमें देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक सजीव राष्ट्रीय एकात्म भावना का उदय होकर एक अपराजेय राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण हो जाए। जब हम यह कर लेंगे, तब एक नहीं दस चीन हमारे सामने नत होंगे।

स्वप्नद्रष्टाओ, जागो

राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण से सबधित हमारी वैचारिक धारणाओं में एक और भी गभीर प्रतिरोध है, जिसे हमें साफ करना है। इस सपूर्ण काल में हमारे नेताओं के लिए शक्ति का विचार करना भी निदनीय और अवाछनीय बात रही है। हमारे नेतृत्व की मानसिक दशा शक्ति के विचार के प्रति एक प्रकार से प्रतिकूल ही थी। उन्हें पुण्यशील सद्उक्तियों में पूर्ण विश्वास था। अभी हाल में भी हमारे कुछ उत्तरदायित्ववान नेताओं ने एकपक्षीय नि शस्त्रीकरण की बातें की थीं, जो एकपक्षीय आत्मघात के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। कम से कम सन् १६५४ से हमारे नेता स्वय की ही स्वीकारोक्ति के अनुसार, चीन के नग्न आक्रमण के तथ्य से परिचित रहे हैं, किंतु वे पचशील के स्वप्नलोक में विचरण करते रहे। इन आठ वर्षों में हम अपने देश को बहुत अच्छी प्रकार से शस्त्र-सज्जित कर अपनी सुरक्षा को अभेद्य बना सकते थे। किंतु आज हमारे पास एक छोटी-सी सेना है, उसकी भी अपेक्षा कम शस्त्रास्त्र तथा उनसे भी कम कारतूस। बमवर्षक, युद्ध के हवाई जहाज, टैंक, सैन्य परिवहन आदि का उत्पादन नितात उपेक्षित रहा है। हमारे पास पर्याप्त दूरी तक मारनेवाली एक भी विमान-मारक तोप नहीं है और हम नि शस्त्रीकरण की बातें कर रहे हैं। जब हमारे पास हथियार ही नहीं, तो हम नि शस्त्र कैसे हो सकते हैं?

हमने पत्रों में अवश्य पढ़ा होगा कि हमारी ऑर्डिनेंस फैक्टरियों में 'काफी क्रेशर' तथा 'प्लास्टिक के थैले' बनते रहे। उन्होंने एक ट्रक भी बनाया, जिसमें सामान्य ट्रक के समान सामर्थ्य नहीं था, पर उसका नाम *'शक्तिमान'* रखा। उस *'शक्तिमान' का पहला नमूना उसकी प्रथम परीक्षा में* ही जवाब दे गया। किंतु अब प्रतीत होता है कि हमारे जवानों के इतने मूल्यवान प्राणों की कीमत पर हमारे नेताओं ने शिक्षा ग्रहण कर ली है। हमारे प्रधानमत्री ने स्पष्टत स्वीकार किया कि चीन ने हमें अपने ही निर्मित स्वप्न-ससार से जगाकर वास्तविकता के ससार में लाकर खड़ा कर दिया है। 'हम बिना शक्ति के जीवित नहीं रह सकते। यदि अवसर आएगा

तो हम लाठियों से भी लडेंगे।' हमारे गृहमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने भी कहा– 'अब हम और अधिक असावधान नहीं रहेंगे।' इसका अर्थ तो यही होता है कि हम अब तक ऊँघ रहे थे। यह कुछ सतोष का विषय है कि देर से ही क्यों न हो, उन्हें इस सत्य का अनुभव तो हुआ कि इस सघर्षमय ससार में शक्ति को ही मान्यता प्राप्त होती है। ससार तो शक्ति की ही भाषा समझता है। हम ईश्वर से प्रार्थना करें कि उनकी इस वर्तमान अनुभूति का जीवन स्वल्पकालीन न हो।

सत्य तो यह है कि यह जीवन का एक प्राथमिक सिद्धात है, जिसे हमारे पूर्वजों ने बहुत काल पूर्व ही अनुभव किया था। मनुस्मृति कहती है– दण्डस्य हि भयात् सर्व जगत् भोगाय कल्पते (७-२२) (समाज की धारणा शक्ति के भय से ही होती है)।वे इसी सत्य के प्रकाश में जीवित भी रहे। यद्यपि उन्होंने मानव भ्रातृत्व के उच्चतम दर्शन का उपदेश दिया और उसे व्यवहार में लाया, फिर भी इस ससार के उन कठोर सत्यों की उन्होंने कभी उपेक्षा नहीं की, जिनमें उन्हें रहना और काम करना था। कभी-कभी हम अपने नेताओं को यह कहते सुनते हैं कि हम परपरा से शातिप्रिय और अहिसक रहे हैं। यह सत्य है, किंतु वह शाति सम्मान का मूल्य चुकाकर नहीं ली गई थी, वह श्मशान की शाति नहीं थी। सच यह है कि अपमानित होने पर मूक समर्पण करना पौरुषहीनता का हीन कृत्य माना जाता था। हमने भूतकाल में पराक्रम और शूरता के श्रेष्ठतम मापदड स्थापित किए हैं। विश्व जिनकी कल्पना तक नहीं कर सकता– ऐसे कुछ सर्वश्रेष्ठ सेनापति तथा विजेता उत्पन्न किए हैं, जिन्होंने धर्माधिष्ठित शाति की स्थापना के लिए सघर्ष किया, सहार किया और अविराम भीषण सग्राम चलाते रहे।

आत्मघात का दर्शन

हम सचमुच ही यह देखकर आश्चर्यचकित हैं कि आज की सकटग्रस्त अवस्था में भी कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं, जो उसी पुराने ढग पर विचार करते और उपदेश देते हैं। अब भी वे तर्क देते हैं 'हम शाति और अहिसा को माननेवाले हैं। यदि चीनी आते हैं तो हम उनके सामने केवल शाति सेना के रूप में खडे हो जाएँगे। वे क्या करेंगे? आखिर लडने के लिए भी तो दो की आवश्यकता होती है। यदि हम नहीं लडते तो वे किसके साथ लडेंगे?' सचमुच, यह एक मजेदार तर्क है, विशेषतया जिनमें लडने की हिम्मत ही नहीं है, उन्हें जँचनेवाला है।

यह सत्य है कि लडने के लिए दो की आवश्यकता होती है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि दोनों ही लडनेवाले होने चाहिए। यह पर्याप्त है कि एक चोट करता हो और दूसरा चोटों को सहन करता हो। फिर यदि हम शांतिपूर्ण बने रहे और दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करते रहे तो क्या यह आवश्यक सिद्धांत है कि दूसरे भी हमारे साथ उसी प्रकार का व्यवहार करेंगे? क्या संसार का हमारा यही अनुभव है?

एकपक्षीय सौजन्य की भवितव्यता

हम अपना ही एक उदाहरण देखें। जब पहले-पहल इस्लाम का जन्म हुआ और गुजरात के राजा को व्यापारियों से ज्ञात हुआ कि अरब देश में एक नवीन मत का उदय हुआ है। उसे उसके विषय में जानने की उत्कंठा हुई और उसने अपने व्यापारियों से उस धर्म के किसी विद्वान को लाने के लिए कहा, जिससे उसके विषय में और अधिक ज्ञान प्राप्त हो सके। कुछ मौलवी गुजरात आए और हमारे पंडितों ने उनसे शास्त्रार्थ किए। उन्हें ज्ञात हुआ कि यह एक ऐसा मत है, जो मनुष्य को ईश्वर की प्रार्थना के लिए प्रेरित करता है, यद्यपि उसमें दर्शन जैसी कोई वस्तु नहीं है। अतएव पंडितों और राजा ने कहा– 'कोई चिंता नहीं है। यदि तुम मनुष्य को ईश्वर की प्रार्थना का मार्ग दिखा सकते हो, परंतु तुम्हारा कोई दर्शन नहीं, तो भी तुम्हारा मत अच्छा है। हम उसके शुभचिंतक हैं। इस नवीन मत के द्वारा, जिसका प्रचार तुम्हारे संस्थापक पैगंबर ने किया है, अरब के लोग ईश्वराभिमुख हों।' अर्थात् हमने उस धर्म, उन मौलवियों तथा उस संस्थापक का सम्मान किया। हमने यह नहीं कहा कि वह बेकार की चीज है, जिसे नष्ट कर देना चाहिए। कोई हिंदू यह कभी नहीं कहेगा।

एक दूसरा उदाहरण है। दक्षिण में मदुरै राज्य में अरब देश का एक मुसलमान व्यापारी था। वह अच्छा, चरित्रवान और सद्गुणसंपन्न व्यक्ति था। अतः राजा ने उसे अपना मंत्री बना लिया। आज भी कुछ मुसलमान मंत्री बन गए हैं, किंतु आज वे मुसलमानों के वोट प्राप्त करने के लिए बनाए गए हैं। राजा के सामने यह विचार नहीं था, क्योंकि वह सहारे के लिए मुसलमानों के वोटों पर निर्भर नहीं था। उस व्यक्ति के गुणों का सम्मान करने के लिए ही उसे मंत्री बनाया गया था। हमने मुसलमानों के प्रति इस प्रकार से सम्मान, प्रेम तथा भ्रातृ-भावना के साथ व्यवहार किया है, किंतु उन्होंने हमारी इस भावना का प्रतिदान कैसे किया?

विनाश, अपहरण तथा सब प्रकार के बर्बर अत्याचारों की घटनाओं से भरा हुआ उनका १२०० वर्षों का इतिहास हमारे सामने है। आज हमारे देश में मुसलमानों की इतनी बडी जनसख्या उनके द्वारा सपूर्ण देश में किए गए घातक विनाश के परिणामों में से एक है। केवल भग्न पडे खडहर ही नहीं, वरन् टूटे हुए समाज के ये टुकडे भी उनके द्वारा किए गए विध्वस के उसी प्रकार साक्षी हैं। इस्लाम मत तथा मुसलमानों के प्रति अच्छे व्यवहार से हमें मिला केवल हमारे पवित्र स्थानों का अपवित्रीकरण एव हमारे समाज के कई लोगों पर उनकी गुलामी।

वास्तविकता का सामना करो

चीन का ही मामला लीजिए। दो सहस्र वर्षों से अधिक काल से, जब से बौद्ध प्रभाव ने चीन में प्रवेश किया था, इन दो देशों के विद्वानों के बीच नियमित साहचर्य एव भ्रातृभाव रहा। हमारे वर्तमान नेताओं ने मानो उसी सूत्र को पकडकर 'हिंदी-चीनी, भाई-भाई' का उद्घोष किया। उन्होंने इस नीति का पालन तिब्बत के प्रति अपने नैतिक उत्तरदायित्व का परित्याग करने तक किया। केवल इतना ही नहीं, एक प्रकार से हमने सर्वभक्षी चीन के सामने थाली में रखकर तिब्बत भेंट कर दिया। वास्तव में हमने तिब्बत के साथ विश्वासघात किया। सत्य तो यह है कि चीन ने हमारे साथ विश्वासघात नहीं किया, क्योंकि उसमें हमारे विश्वास का कभी प्रश्न ही नहीं था। इसके विपरीत हमने तिब्बत के उस विश्वास के साथ धोखा किया, जो उसने हमारे ऊपर किया था। हमने एक बडा पाप किया है। ईश्वर ही जाने हमें इसका किस प्रकार से प्रायश्चित करना होगा? हमने यह पाप केवल चीन को 'भाई' कहकर पुकारने के लिए ही किया। इस सीमा तक हमने चीन के साथ भ्रातृभाव की स्थापना की, पर हमारे इस भ्रातृभाव का उत्तर उसकी ओर से कैसे दिया गया? हमारी सीमाओं पर आक्रमण के द्वारा। अस्तु, इस वास्तविक ससार में इस प्रकार के एकपक्षीय भले व्यवहार से कोई फल निकलता प्रतीत नहीं होता।

अब हम चीनियों के चरित्र की ओर दृष्टिपात करें और सोचें कि जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, क्या यह सच है कि हमारे चुप रहने पर वे हमें घास की तरह नहीं काट डालेंगे। जब वर्तमान कम्युनिस्ट सरकार ने चीन में सत्ता ग्रहण की, तो उन्होंने अपने शासन के प्रति विरोध को समाप्त

करने के लिए अनेक लोगों का संहार कर डाला। उन दिनों के समाचार के अनुसार उन्होंने लगभग ९६ लाख लोगों को समाप्त कर दिया था। क्या कोई समझदार व्यक्ति विश्वास करेगा कि जो लोग अपनी सत्ता की प्यास बुझाने के लिए अपने ही देशवासियों की, एक ही रक्त-मांस से बने हुए लोगों की, लगभग एक करोड़ की संख्या में हत्या कर सकते हैं, उनकी सेनाएँ हमारे देश में आकर बिना हमारी हत्या किए इसलिए लौट जाएँगी कि हम लड़ने से इनकार करते हैं?

अतएव हमें इस बात को भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि इस संसार की ऐसी निर्दय चुनौतियों का सामना करने के लिए तथा विजय प्राप्त करने के लिए शक्ति चाहिए। एक ठोस अजेय राष्ट्रीय शक्ति ही हमारी सहायता कर सकती है।

सैनिकों की शक्ति का उद्गम

इस प्रकार के सभी गंभीर संकटों के अवसर पर आघात को प्रसन्नतापूर्वक और साहस के साथ सहन करने के लिए हमारी सेनाओं को अगले मोर्चे पर रहना होगा। विशेषतया युद्ध-क्षेत्र में हमारे सैनिकों का अतुलनीय पराक्रम एवं वीरता हमारे हृदय को विश्वास, गर्व और आनंद से भर देते हैं। किंतु जब ऐसा सैनिक घूमकर पीछे देखता है, तब उसे क्या दिखाई देना चाहिए? क्या अपने स्वार्थों और सत्ता के आपसी झगड़ों में उलझा हुआ विघटित एवं देशभक्तिशून्य समाज उसे देखने को मिलना चाहिए? सैनिक को यह देखने को मिलता है तो क्या उसे युद्ध करने के लिए तथा अपना जीवन अर्पण करने के लिए प्रेरणा मिलेगी? उसे सुसंगठित, देशभक्तिपूर्ण समाज अपने पीछे खड़ा देखने के लिए मिलना चाहिए। वह ऐसा विश्वास अनुभव करे कि जो कुछ भी सेना की आवश्यकता होगी, कश्मीर से कन्याकुमारी तक फैला हुआ लौह इच्छाशक्ति से संपन्न सुसंगठित समाज उसे पूर्ण करने के लिए सदैव उद्यत है। यदि मनुष्यों की आवश्यकता है, मनुष्य आएँगे। यदि अन्य विविध आवश्यक वस्तुओं की आवश्यकता होगी तो उन सभी की पूर्ति की जाएगी, चाहे समाज के अन्य लोगों को कितनी ही कठिनाई क्यों न उठानी पड़े। संपूर्ण समाज हमारे पीछे है– यह विश्वास प्रत्येक सैनिक को यह अनुभूति देगा कि उसकी शक्ति, उसका धैर्य तथा उसकी युद्ध करने की योग्यता सौ गुनी

वढ गई है और तव वह विजयी होकर आएगा।

सामर्थ्य से मित्रो की प्राप्ति

जव विरोध के सामने हम अविचल भाव से खडे होने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेते है, तभी मित्र हमारी सहायता के लिए दौडकर आते हैं। यदि हम स्वय ही सामना करने के लिए अयोग्य और पर्याप्त दृढ नहीं है तो वे क्यों सहायता करेंगे? यदि वे सहायता करने के इच्छुक भी हों, तो किसकी और कैसे सहायता करेंगे? इस समय भी जव हमने अपने सहारे खडे होने का अत्यल्प ही प्रयास किया, तो हमें कई ओर से सहायता प्राप्त हुई। उस अमरीका से भी सहायता आई, जिसके लिए हमारे नेताओं ने कभी अच्छा शव्द भी उच्चारण नहीं किया था। जिस इग्लैड की स्वेज के मामले में हमने कटु आलोचना की थी, उससे भी सहायता आई। पश्चिमी जर्मनी तथा अन्य वहुत से देशों से सहायता प्राप्त हुई। अव हम उनके प्रति कम से कम कृतज्ञता का एक-आध शव्द का उच्चारण तो करें।

वरदान किंतु कव?

चीनी आक्रमण के कारण हमारे राष्ट्रजीवन की जो अनेक स्वस्थ प्रवृत्तियाँ गतिशील हो गई, उन्हे दृष्टि मे रखते हुए हम प्राय सुनते हैं कि यह आक्रमण के रूप में एक वरदान है। यह सत्य है कि विदेशी आक्रमण एक राष्ट्र को इस बात के लिए स्वर्णिम अवसर प्रदान करता हे कि वह अपने को स्वार्थपरता, आतरिक कलह, विघटनात्मक खिचाव आदि विनाशकारी प्रवृत्तियों से मुक्त करे तथा स्वय को एक सगठित एव शुद्ध एकात्म रूप में पुन प्रस्तुत करे। आसन्न सकट की भावना राष्ट्र मे व्यक्तियो को अन्य क्षुद्र भावों से ऊपर उठने के लिए प्रोत्साहित करती है और अति विशाल राष्ट्रीय व्यक्तित्व के सजीव अगों के रूप में सर्वोपरि राष्ट्रहित मे अपने हितो को विलीन करने की प्रेरणा प्रदान करती हे। किंतु इस सबकी उपलब्धि एव स्थायित्व तभी हो सकता है, जब उस महान अवसर, जो हमें मिला हे, को ग्रहण करने की इच्छा और वुद्धिमत्ता तथा उससे लाभान्वित होने की योग्यता हममें हो। अपनी इस सिद्धता के विना वरदान भी केवल एक झटका एव व्यर्थता से अधिक कुछ सिद्ध नहीं हो सकता।

एक बार धन की देवी लक्ष्मी एक भिखारी के सामने प्रकट हुई और उसे वरदान देकर सोने की वर्षा को ग्रहण करने के लिए कहा। किंतु उसने उससे यह भी कहा कि यदि सोना भूमि पर गिरेगा, तो मिट्टी हो जाएगा। भिखारी ने अत्यंत उत्कंठा से थैले को अपने दोनों हाथों से पकड कर फैला दिया। लक्ष्मी ने उसके थैले को इतने सोने से भर दिया कि कई पीढियों तक उसका परिवार पर्याप्त वैभव से सपन्न रहे। किंतु वह भिखारी लालची था, उसने लक्ष्मी जी से मुट्ठी भर सोना और देने की प्रार्थना की। लक्ष्मी ने एक मुट्ठी और डाल दी तथा अंतर्ध्यान हो गई। किंतु बोझ के कारण थैला फट गया और संपूर्ण सोना भूमि पर गिर कर मिट्टी हो गया। सर्वशक्तिमान के वरदान का उपभोग करने के लिए भी योग्यता एवं शक्ति की आवश्यकता होती है।

जडो का पोषण

यही बात उन राष्ट्रो के विषय मे भी है, जिन्हें विदेशी आक्रमणों का 'वरदान' मिलता है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का जन्म इसलिए हुआ है कि वह हमारे समाज मे इस प्रकार की इच्छा एवं योग्यता उत्पन्न करने के कार्य का निर्वाह करे, जो इस कठिनाई को एक 'अवसर' में परिवर्तित कर दे। संघ अपनी पूरी शक्ति के साथ जनशक्ति को जागृत एवं संचालित करने मे जुटा हुआ है। जीवनदायी आदर्श, सद्‌गुण एवं चरित्र के संस्कार देते हुए संघ यह कार्य कर रहा है, क्योंकि सशक्त भावात्मक एवं अमर राष्ट्रजीवन के लिए जनशक्ति की अनिवार्यता होती है। हमें विश्वास है कि अपने संगठन का प्रत्येक स्वयंसेवक उस समय अग्र पंक्ति में खडा होगा, जब जनसाधारण के कार्य एवं बलिदान करने का समय आता है। साथ ही हम एक गुट के रूप में आगे नहीं आना चाहते, क्योंकि युद्ध-काल मे किसी गुट या दल के पौरोहित्य की आवश्यकता नहीं होती। अपने बलिदानो और कष्टो का प्रचार करना भी अत्यंत अनुचित होगा, क्योंकि माता की वेदिका पर अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपने स्वामित्व की अत्यंत प्रिय वस्तुएँ भी समर्पण कर देना भूमि के प्रत्येक पुत्र का प्रथम एवं सर्वोपरि कर्तव्य होता है। यही है वह जीवनी शक्ति, जिसे हम संघ के द्वारा उसके आरंभ से ही समाज में निविष्ट करते आ रहे हैं।

ᗑ ᗑ ᗑ

११ भारत के गौरव को बढाएँ

विश्व की अपेक्षाएँ

विदेशों में वसे अपने भाई-वहनों को ध्यान में रखने की पहली वात यह है कि वे अपने दैनदिन व्यवहार में राष्ट्रीय स्वाभिमान का उत्कट भाव जाग्रत वनाए रखें। इसके लिए पूर्वजों द्वारा हमारे लिए छोडी गई गौरवशाली विरासत का प्रखर वोध सदैव अपने मन में रखना आवश्यक है। आज भी भारत के गौरव के जीवत प्रमाण यत्र-तत्र विद्यमान हैं।

दक्षिण अमरीका के मैक्सिको से लेकर सुदूर पूर्व प्रशात सागर के छोटे द्वीपों तक हमारे हिंदू धर्मप्रचारकों ने चतुर्दिक यात्राएँ करके हमारी पुरातन प्रज्ञा का सौरभ सर्वत्र विखेरा है। उन्होंने भेषज-शास्त्र, गणित, कला एव सस्कृति के क्षेत्रों में विशिष्ट उपलब्धियों के फलों का उपहार सर्वत्र दिया है। परतु इन सवसे ऊपर है स्थायी आध्यात्मिक मूल्यों का उपदेश एव आचरण, जिसने मानव-मन पर गहनतम प्रभाव अकित किया है।

स्याम (थाईलेंड) ने अपनी स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात् ससद के प्रथम अधिवेशन में ही सर्वसम्मति से भगवान मनु की प्रतिमा को अधिष्ठाता देवता के रूप में प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया। स्यामी भाषा के शिलालेख पर अकित है– 'मानवता के प्रथम एव महानतम विधिवेत्ता भगवान मनु।' इडोनेशिया में भी स्थानीय मुसलमानों ने हिंदू परपराओं को आत्मसात कर लिया है। उनके नाम, लोकगीत, नाटक, राष्ट्रीय प्रतीक इत्यादि सभी पर हमारे रामायण जैसे महाकाव्यों की छाया अकित है।

आदर्श राजदूत

यह सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि जव कोई व्यक्ति राजदूत वनकर विदेश जाता है, तो वह अपनी जन्मदात्री राष्ट्रीय सस्कृति, जीवन-मूल्यों व राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि होता है। उसके व्यवहार व कसौटी पर ही विश्व उसके देश के लोगों, मूल्यों व महानता को कसता है। हमारे जैसे प्राचीन एव महान देश के सदर्भ में तो यह और भी अधिक सत्य है। यदि हमारा व्यवहार उच्च सास्कृतिक मानदडों के अनुरूप न होकर, उन्हीं देशों का निर्जीव प्रतिविव मात्र बन जाए, तो उनकी दृष्टि में हमारी राष्ट्रीय छवि भी गिर जाएगी। राष्ट्र के प्रति आदर व श्रद्धा का अभाव हमारे देश व प्रवासी भारतीयों– दोनों को ही अपूरणीय क्षति पहुँचाएगा। यह तभी सभव है, जव

उनका व्यवहार हमारे धर्म व सस्कृति की सम्यक् भावना से अनुप्राणित हो। इससे वे आदर्श हिंदू के रूप में डटे रह सकेंगे, अपने राष्ट्र की प्रेरक छवि प्रस्तुत कर सकेंगे और वहाँ के निवासियों से वैसा ही प्रतिसाद पा सकेंगे।

कैसा दुर्भाग्य!

किंतु इस सदर्भ में मिलनेवाली सूचनाएँ प्राय बहुत दु खद होती हैं। वहाँ जाकर सभी अपनी अस्मिता को पूर्णरूपेण खो चुके लगते हैं। उनके आचार-विचार, रीति-रिवाज, खान-पान– सभी बदल जाते हैं। अपने धर्म, सास्कृतिक धरोहर एव इतिहास के सबध में उनका अज्ञान पर्वताकार हो जाता है। परिणामस्वरूप वे वहाँ के ऐसे विद्वानों के चगुल में फँस जाते हैं, जो जानबूझकर हमारे जीवन के विषय में भ्रामक सिद्धात एव व्याख्याएँ प्रसारित करते हैं। जो कुछ भी स्वकीय है, उसके प्रति उनके मन में एक प्रकार की घृणा बढने लगती है और विदेशी रीति-रिवाज उन्हें अनुकरणीय एव महनीय प्रतीत होने लगते हैं। वे उनके उन्मुक्त समाज और भौतिक वैभव के भोंडे प्रलोभनों के आगे प्राय परास्त हो जाते हैं और अपनी सस्कृति व राष्ट्रीयता को पूर्णतया विस्मृत कर देते हैं। कुछ तो वहाँ बसने तक का निश्चय कर लेते हैं।

स्व-सस्कारों का महत्त्व

अत यह आवश्यक है कि हमारे हिंदू भाइयों ने यहाँ जो अच्छे सस्कार आत्मसात किए हैं, वे विदेशस्थ भारतवासियों को राष्ट्रीय स्वाभिमान, अतीत की चतुर्दिक उपलब्धियों के बोध और अपने प्रवास-कालीन ध्येय को प्रदीप्त रखने हेतु नियमितरूपेण परस्पर मिलना चाहिए। केवल विशेष कार्यक्रमों अथवा अवसरों पर एकत्र होना पर्याप्त नहीं है। हमारे शास्त्रों में नृत्य, गीत और वाद्यों का उल्लेख है परतु वे तभी उपयोगी होते हैं, जब वे सुनिश्चित सस्कार देने के लिए सुनिर्धारित रूप में प्रयुक्त होते हैं। सगीत व नृत्य का सगम-मात्र 'सस्कृति' नहीं हो सकता। मूल्यरहित सास्कृतिक मनोरजन निश्चित रूप से मात्र सामाजिक गिरावट का कारण बनेगा। यदि सामान्य जीवन में हिंदू-मान्यताओं की पुनर्स्थापना का बोध गहन व अनवरत रूप से जीवित रखना है, तो समुचित सस्कारक्षम कार्यक्रमोंवाले सम्मेलनों का आयोजन अत्यत आवश्यक है। इसके अतिरिक्त घर में भजन एव श्लोकादि का दैनदिन गान भी करना चाहिए। विशेषकर बालक-बालिकाओं

को श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनके शुद्ध गायन का अभ्यास कराना चाहिए। जहाँ कहीं भी हमारे मदिर हैं, वहाँ हिदुओं को पवित्र अवसरों पर एकत्र आकर हवन एव सत्सग जैसे आयोजनों की आदत डालनी चाहिए।

समय-समय पर विद्वानों एव आध्यात्मिक गुरुओं की प्रवास-अवधि में उनसे निकट सपर्क रखते हुए उपयुक्त कार्यक्रमों का आयोजन उल्लिखित उद्देश्यों की प्राप्ति में अत्यत सहायक सिद्ध हो सकता है।

अच्छाइयो को आत्मसात करे

दु ख का विषय है कि विदेश-प्रवास पर जानेवाले हमारे देशवासी वहाँ के अनावश्यक आकर्षणों के वशीभूत होकर वहाँ के जीवन की वास्तविक बातों की गहराई में जाने का प्रयास नहीं करते। इस धरती पर कोई भी समाज सद्गुणों से एकदम शून्य नहीं होता, न ही उसमें केवल सद्गुण ही होंगे। हमें उनके गुण-अवगुणों में भेद करते हुए, उनका तटस्थ विश्लेषण करते हुए, अपने भी सशक्त व दुर्बल बिदुओं का मूल्याकन करना चाहिए। तभी हम दोनों पद्धतियों के उत्कृष्ट तत्त्वों का सुदर परिपाक प्राप्त कर सकेंगे।

विदेशों में बसे हमारे प्रतिभावान नवयुवकों को ऐसे तुलनात्मक अध्ययन को हाथ में लेकर उनके निष्कर्षों से अपने अन्य बधुओं को भी अवगत कराना चाहिए।

सभी देशों में ऐसे धर्मपरायण व्यक्ति होते हैं, जो अनुकरणीय होते हैं। हम उनके उदाहरण का अनुसरण कर सकते हैं। ताजा उदाहरण अमरीका के एक महान सत का है, जो अत्यत पूज्य व पवित्र थे। सभी प्राणियों के प्रति ऐसी निष्ठा व स्नेह रखते थे कि जब वे तालाब में अपने हाथ डुबाकर बैठते थे, उस समय मछलियाँ निडर होकर उनके चारों तरफ तैरतीं व खेलतीं रहती थीं। उनमें सभी जीवों के साथ ऐसा अद्‌भुत तादात्म्य-भाव था।

ऐसे रत्नो का चयन करो

विदेशी साहित्य में बहुत से ऐसे प्रेरक तत्त्व विद्यमान हैं, जिन्हें हम अपना सकते हैं। हमारे बहुत से उदात्त विचारों की गूँज उनके काव्य तथा दर्शन में सुनाई पडती हैं। ले हट की अत्यत मर्मस्पर्शी रचना अबू बेन

आदम' का स्मरण आता है–

अबू बेन आदम (उसका वंश युग-युग तक चले)
एक रात्रि शांत नीरव, गहन निद्रा से जगा
और अपने कक्ष-फैली चाँदनी में दृश्य देखा
पुष्प-पुंजों में लिली सा प्रभा-मंडित लग रहा
देवदूत स्वर्णपत्रों पर दिखा लिखता हुआ
गहन शांति ने अबू को हौसला था यों दिया
कक्ष-स्थित देवदूत से विनत हो यह कहा
'लिख रहे हो क्या महोदय?' पूछने पर सिर उठा
तरफ उसकी देख उसने, मधुर स्वर में यह कहा-
'नाम उनके लिख रहा हूँ, ईश जिनको प्यारा है'
अबू ने पूछा– 'मेरा भी नाम है इसमें?'
'नहीं है'–
पाकर यह उत्तर अबू ने फिर कहा
नम्र प्रार्थना से भरा स्वर ही रहा
'नाम मेरा लिखो उनमें, ईश-सृष्ट जिन्हें प्यारे'
देवदूत ने लिखा और अंतर्धान हो गया
निशा अगली में पुनः द्युतिमान होकर आ गया
अरु दिखाए नाम, जिनको प्यार ईश्वर का मिला था
सुखद था आश्चर्य, सर्वोपरि नाम उसका ही लिखा था।

स्थानीय लोगों की भावना समझें

यहाँ की स्थानीय जनता के प्रति ठीक दृष्टिकोण एवं व्यवहार-शैली का महत्त्वपूर्ण पहलू भी है। हमारे प्रवासी बंधुओं को अपने व्यवसाय एवं रोजगार का दायित्व निभाते हुए यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि उनका लक्ष्य धन का अर्जन एवं संचय मात्र नहीं है। उन्हें वहाँ के स्थानीय नागरिकों की समस्याएँ समझते हुए, उनकी अपेक्षाओं की ओर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से देखना चाहिए। अपने उपार्जन में से कुछ राशि उनके कल्याण हेतु एवं उन्हें हिंदुत्व के महान मूल्यों व सिद्धांतों से उद्‌बोधित करने हेतु सुरक्षित रखनी चाहिए। इसके साथ-साथ रहन-सहन के अपने व्यक्तिगत उदाहरण द्वारा यह उदात्त आदर्श स्थापित करना चाहिए कि हम किसी महान व पुरातन संस्कृति के अनुगामी हैं।

आँख खोलनेवाला अनुभव

यदि पारस्परिक व्यवहार के इन आधारभूत तत्त्वों की उपेक्षा की गई, तब हमें अपयश तो मिलेगा ही, हमारे समक्ष विविध कठिनाइयाँ भी उपस्थित हो सकती हैं। सभवत इसी एक कारण पूर्व अफ्रीकी देशों में बसे हिंदुओं को पिछले दिनों भारी कठिनाइयाँ उठानी पडीं। अफ्रीकी राष्ट्रीय नागरिकों द्वारा गोरे उपनिवेशवादियों के विरुद्ध सघर्ष में हमारे अधिकाश हिंदुओं ने उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप सक्रिय सहानुभूति नहीं दिखाई। उन्होंने स्थानीय जनता के कल्याण व शिक्षा-प्रसार हेतु अथवा उन्हें हिंदुत्व का दर्शन कराने हेतु अपनी कमाई में से कुछ भी व्यय नहीं किया। वहाँ की वैचारिक शून्यता को भरने का काम ईसाई एव इस्लामिक मिशनरियों द्वारा किया गया। हमारी इन सभी कमियों का दुष्परिणाम यह हुआ कि जब अफ्रीकी स्वतत्र हो गए, तब उनपर ईसाई एव मुसलमानों के प्रचार का आधिपत्य था। हिंदुत्व तथा हिंदुओं के प्रति उनकी सहानुभूति शीघ्र समाप्त हो गई। अत ससाधन व शक्ति के महत्त्वपूर्ण पदों से हिंदुओं को हटाने का उपक्रम प्रारभ हो गया। परिणामस्वरूप भारी सख्या में हिंदुओं को अपनी जीवन-भर की कमाई व सपत्ति को छोडकर उन देशों से भागना पडा। यह अनुभव समस्त प्रवासी हिंदुओं के लिए एक नेत्रोन्मीलक दृष्टात बन सकता है।

विश्व धर्म-प्रचारक बनें

यदि हमारे प्रवासी बधुओं को उन देशों में सुखी, सपन्न व सम्मानजनक जीवन जीना है तथा भारत की अधिक उज्ज्वल छवि प्रस्तुत करनी है, तो उन्हें अपने चितन एव जीवन-शैली में आमूल-चूल परिवर्तन करने होंगे। ऐसा करने के लिए हमें अपने हृदयों को इन सर्वोच्च दृढ विश्वासों से सदैव धडकाते रहना होगा कि हम विश्व-कल्याण का ध्येय वहन करनेवाले महान राष्ट्र हैं। इससे हमारे ऊपर अपने धर्म में सन्निहित सत्यों को सपूर्ण मानवता को समझाने का पवित्र दायित्व स्वत आ पडता है। यदि इस परम जीवनदृष्टि को सतत ध्यान में रखा जाए कि विश्व के समक्ष उपस्थित विभिन्न बुराइयों व चुनौतियों का सफल सामना हिंदुत्व के सर्वसमावेशी, वैज्ञानिक, किंतु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से ही किया जा सकता है तो हमारे समक्ष हर वस्तु स्फटिकवत स्पष्ट हो जाएगी।

१२ अस्पृश्यता का उपचार

अस्पृश्यता रोग की जड जनसामान्य के इस विश्वास में निहित है कि यह धर्म का अग है और इसका उल्लघन महापाप होगा। यह विकृत धारणा ही वह मूल कारण है, जिससे शताब्दियों से अनेक समाज-सुधारकों एव धर्म-धुरधरों के समर्पित प्रयासों के बाद भी यह घातक परपरा जनसामान्य के मन में आज भी घर किए बैठी है। गुरुनानक, आचार्य रामानुज, बसवेश्वर, शकरदेव, स्वामी दयानद, नारायण गुरु, गॉधी जी और वीर सावरकर सरीखे अनेक महापुरुषों ने हिंदू-समाज के मस्तक पर लगे इस कलक को मिटाने का अथक प्रयास किया है। फिर भी यह कलुषित दाग अभी विद्यमान है। आज भी तथाकथित उच्च जातीय लोग उन तथाकथित अस्पृश्यों को अपने समान मानने के लिए तैयार नहीं हैं। समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ है कि राजस्थान के एक गॉव में एक हरिजन युवक को इस कारण पीट-पीटकर मार डाला गया, क्योंकि उसने मूँछें बढा रखी थीं, जो केवल क्षत्रियों का ही 'विशेषाधिकार' माना जाता है। हमारे धर्माचार्य भी ऐसे आचरण की निदा नहीं करते, क्योंकि गलती से वे भी कुप्रथाओं को 'धर्म' मान बैठे हैं।

एक अविस्मरणीय आयोजन

मिथ्या धर्मधारणा से उत्पन्न इस सामाजिक बुराई में यह अतर्निहित है कि जनसामान्य की दृष्टि में अधिकाधिक धर्म-प्रवक्ता के रूप में मान्य परपरागत मठाधीशों को ही इस अधार्मिक आचरण का निदान प्रस्तुत करने हेतु प्रस्तुत होना चाहिए। इस दिशा में सन् १९६९ में विश्व हिंदू परिषद् के उडुपी (कर्नाटक) सम्मेलन में एक सही शुरुआत की गई। इसमें शैव, वीर शैव, माध्व, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिख आदि समस्त हिंदू सप्रदायों का प्रतिनिधित्व हुआ था। सम्मेलन में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित कर सपूर्ण हिंदू जगत् का आह्वान किया गया कि वे श्रद्धेय आचार्यो व धर्मगुरुओं के निर्देशानुसार अपने समस्त धार्मिक व सामाजिक अनुष्ठानों से अस्पृश्यता को निकाल बाहर करें।

धर्माचार्यों का आदेश-निर्देश

पूज्य धर्माचार्यो का ऐतिहासिक निर्देश इस प्रकार है— 'समस्त हिंदू-समाज को अविभाज्य एकात्मता के सूत्र में पिरोकर सगठित करने एव

स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना व प्रवृत्ति से प्रेरित विघटन को रोकने के उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विश्व-भर के हिंदुओं को अपने पारस्परिक व्यवहार में एकात्मता एव समानता की भावना को बरकरार रखना चाहिए। निस्संदेह इस प्रस्ताव की स्वीकृति को हिंदू-समाज के इतिहास में क्रांतिकारी महत्त्व का कदम माना जा सकता है। यह एक विकृत परपरा पर सच्ची धर्मभावना की विजय का स्वर्णिम क्षण था।

गलत दृष्टिकोण

इस प्रकार के प्रस्ताव को जबरन मनवाना नितात प्रति-प्रभावकारी सिद्ध होगा। केवल सकारात्मक एव आग्रहात्मक तरीके ही सुखद परिणाम ला सकते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व समाचार-पत्रों में यह प्रकाशित हुआ कि एक प्रमुख सामाजिक नेता ने कुछ अहिंदुओं और कथित अस्पृश्यों को लेकर काशी के विश्वनाथ मदिर में बलपूर्वक घुसने का प्रयास किया। यह भी प्रकाशित हुआ कि पुजारियों के प्रतिरोध के कारण वह प्रयास विफल हो गया। इस घटना के कुछ दिन बाद मेरा काशी-प्रवास हुआ। मैं पुजारियों से मिला और पूछा कि उन्होंने उनके प्रवेश का विरोध क्यों किया? उनका उत्तर था– 'देखिए यहाँ प्रतिदिन हजारों भक्तों का ताँता लगा रहता है। वे सभी गर्भगृह में प्रवेश करते हैं पवित्र शिवलिग का स्पर्श करते हैं और अपनी श्रद्धा-भेंट अर्पित करते हैं। किसी ने आज तक उनकी जाति, सप्रदाय के विषय में पूछताछ नहीं की, परतु जब वह नेता अपने प्रचार के ताम-झाम के साथ सारी दुनिया को यह दिखाने आया कि दीन-दलितों के उत्थान हेतु किसी मसीहा का जन्म हुआ है और हम सब अपराधी हैं, तो स्वाभाविकरूपेण हमने स्वय को अपमानित अनुभव किया और उनको उसी भाषा में उत्तर देने का निर्णय किया।'

वास्तव में यही बिंदु है, जहाँ हमारे अति उत्साही समाज-सुधारकों ने गलती की है। जोर-जबरदस्ती, समाज के एक वर्ग की मिथ्या निंदा, प्रचार ढोंग इत्यादि तरीके विपरीत परिणामकारी होते हैं। ऐसे निदान तो रोग से भी बदतर सिद्ध होते हैं।

आशका सही निकली

वास्तव में 'हरिजन' शब्द का राग अलापना एव उसपर बल देते रहना अलगाव की उस भावना को समाप्त करने में सहायक नहीं है, जिससे

उस वर्ग के हमारे बंधु शिकार हुए हैं। एक बार गाँधी जी से भेंट होने पर मैंने यह आशंका व्यक्त की कि 'हरिजन' शब्द चाहे जितना भी पवित्र क्यों न हो, किंतु इसका नवीन प्रचलन अलगाववादी चेतना को जन्म देगा और सामाजिक एकता के लिए घातक निहित राजनीतिक स्वार्थ-समूहों का निर्माण करेगा। किंतु गाँधी जी इससे आशंकित नहीं दिखे। दुर्भाग्यवश तब से यह खाई पटने के बजाय वर्ष-प्रतिवर्ष और चौड़ी होती जा रही है। इससे उत्पन्न मतभेद राजनैतिक मंचों पर भी जा पहुँचा है।

असत्य और दुष्प्रेरित

ऐसा लगता है कि इस समस्या को एक और दुष्ट आयाम प्रदान किया गया है। गत कुछ वर्षों से समाचार-पत्रों में सवर्ण हिंदुओं द्वारा हरिजनों पर हमलों के समाचार छापने की अचानक बाढ़-सी आ गई है। मेरा दृढ़ संदेह है कि ऐसे समाचार-संकलन किसी कुत्सित प्रोत्साहन का परिणाम हैं। अनेक बार मूल घटना ही सही नहीं होती। महाराष्ट्र के एक गाँव में किसी हरिजन की बलि का मामला प्रकाश में आया। घटना की छानबीन से पता चला कि अंधविश्वासी ग्रामीणों का मानना था कि वह युवक जादू-टोने का अभ्यास करता था, जिसके फलस्वरूप फैली महामारी से अनेक बच्चों की मृत्यु हो गई थी। यह भी प्रकाशित हुआ कि युवक ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था कि वह एक ओझा था। बलि की व्यवस्था करनेवालों में उसका चाचा प्रमुख था। इस प्रकार उक्त घटना में हरिजन-सवर्ण संघर्ष का प्रश्न ही विद्यमान नहीं है, किंतु समाचार-पत्रों ने इस प्रकरण पर हरिजनों के प्रति सवर्णों के अमानवीय व्यवहार की वीभत्सता का रंग चढ़ाकर प्रस्तुत किया।

उत्तरप्रदेश की ऐसी ही एक घटना और भी अधिक आँखें खोलनेवाली है। यह समाचार जोर-शोर से प्रकाशित हुआ कि किसी गाँव में सवर्ण हिंदुओं ने हरिजनों पर आक्रमण कर उनके घर जला दिए हैं। परंतु जाँच से ज्ञात हुआ कि उस गाँव में हरिजनों के अलावा केवल मुसलमान ही रहते थे और तथाकथित उच्च जाति का एक भी परिवार वहाँ नहीं रहता था। स्पष्ट है कि मुसलमानों द्वारा हरिजनों पर किए गए हमले को 'सवर्णों द्वारा हरिजनों पर अत्याचार' का विकृत रूप दे दिया गया।

भेद-भावपूर्ण व्यवहार क्यों?

मेरी आशंका है कि इस सुनियोजित एवं सूक्ष्म दुष्प्रचार में किन्हीं

विदेशी शक्तियों का हाथ है, अन्यथा ऐसे समाचारों को प्रमुखता मिलने का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। सपूर्ण देश में होनेवाले मुस्लिम दगों के समाचार देते समय दगालिप्त समुदायों के नाम देने में पूर्ण सावधानी बरती जाती है, क्योंकि ऐसा न करने से उन समुदायों के परस्पर सबध और भी कटु हो सकते हैं तथा झगडा-फसाद अन्य स्थानों पर भी फैल सकता है, किंतु यह समझ से परे है कि यह तर्क सवर्ण-हरिजन घटनाओं पर लागू क्यों नहीं होता? इससे इस संदेह की पुष्टि होती है कि हिंदू-समाज को कमजोर व विघटित करने का आतरिक एव बाह्य शक्तियों का षड्यन्त्र समाचार-सेवाओं को सुनियोजित रूप से प्रभावित करने तक जा पहुँचा है। दुर्भाग्यवश हमारे पत्रकार भी इस षड्यन्त्र के शिकार हो रहे हैं।

वही पुराना खेल

हमारा कटु अनुभव है कि अग्रेजों ने एक वर्ग या जाति को दूसरे के विरुद्ध खडा किया। ब्राह्मण के विरुद्ध अब्राह्मण को खडाकर 'बाँटो और राज्य करो' की कुटिल नीति चलाई। आज हमारे अपने सामान्य लोग ही नहीं, अपितु हमारे तथाकथित नेता भी स्वेच्छया इसके शिकार बन गए लगते हैं। हमें अतीत के अनुभवों से शिक्षा लेनी चाहिए और विदेशी शक्तियों एव देश के भीतर स्थित उनके हस्तकों की वैसी चालों से सतर्क रहना चाहिए। यह भी स्मरणीय है कि देश में ऐसे बहुत से लोग हैं, जो मात्र अलगाववादी गुटों के वोट प्राप्त करने हेतु ऐसा खेल खेलना चाहते हैं। हमारा देश पहले से ही भिन्न-भिन्न समूहों में विभाजित है, अत हमें विघटनकारी शक्तियों के लिए किसी भी प्रकार से सहायक नहीं बनना चाहिए।

नवीन मापदडो का निर्धारण

यह कहने कि आवश्यकता नहीं है कि यदि जातिगत आधार पर कोई व्यक्ति सामाजिक अथवा राजनैतिक अयोग्यता का शिकार है तो इस स्थिति का पूर्ण उन्मूलन किया ही जाना चाहिए। डा अबेडकर ने अनुसूचित जाति के विशेषाधिकार का प्रावधान सन् १९५० में हमारे गणतत्र की स्थापना से मात्र दस वर्ष की अवधि के लिए किया था, परतु इसे निरतर बढाया जा रहा है। केवल जातिगत आधार पर अनवरत विशेषाधिकार उनमें पृथक समूह बने रहने के निहित स्वार्थ भाव जगाने को बाध्य होंगे। इस कारण शेष समाज के साथ उनकी एकात्मता को क्षति पहुँचेगी।

हमारे समाज के सभी वर्गों में ऐसे लोग हैं, जो सचमुच अति दयनीय परिस्थितियों में रहते हैं। ऐसी कोई जाति नहीं है, जिसमें गरीब, जरूरतमद और कगाल लोग न हों। अत यह उचित होगा कि विशेषाधिकार लोगों की आर्थिक स्थिति पर आधारित हो। इससे समस्याजनित तनाव कम होंगे और दूसरे लोगों के मन की यह जलन भी दूर होगी कि केवल तथाकथित हरिजन ही विशेषाधिकारों का मजा लूट रहे हैं।

अनेक क्षेत्रो मे उत्कृष्ट

यह कहना कि ये तथाकथित अस्पृश्य जातियाँ मन-मस्तिष्क सबधी गुणों में आनुवाशिक रूप से ही अक्षम हैं और वे आनेवाले दीर्घ काल तक शेष समाज के स्तर तक नहीं पहुँच सकती, उनका अपमान ही नहीं, बल्कि तथ्यों का विडबनापूर्ण उपहास भी है। इतिहास साक्षी है कि गत एक हजार वर्षो के राष्ट्रीय मुक्ति सघर्षो में ये तथाकथित अस्पृश्य ही अग्रणी रहे हैं। महाराणा प्रताप, गुरु गोविदसिह और छत्रपति शिवाजी की सेनाओं के सर्वाधिक पराक्रमी व कट्टर योद्धाओं में यही लोग रहे हैं। दिल्ली तथा बीजापुर की विद्रोही शक्तियों के विरुद्ध छत्रपति शिवाजी के कुछ अति महत्त्वपूर्ण युद्धों में हमारे इन्हीं शूरवीर और साहसी बधुओं ने मानव आपूर्ति एव नेतृत्व प्रदान किया था।

केवल युद्धक्षेत्र में ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक जगत् में भी हमारे ये बधु श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं। इन जातियों में ऐसे असख्य साधु-सन्यासियों ने जन्म लिया है, जिन्होंने हमारे समाज के सभी वर्गो की असीम श्रद्धा-भक्ति प्राप्त की है। इन भाइयों में हमारे धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा तथा विश्वास सपूर्ण समाज के लिए सदैव प्रेरणादायक रहा है। धर्म के नाम पर शेष समाज के हाथों सभी प्रकार का अपमान तथा उत्पीडन सहकर भी इन बधुओं ने धर्म-परिवर्तन के प्रलोभनों का दृढतापूर्वक प्रतिकार किया है। देश-विभाजन के दौर में बगाल के लाखों नामशूद्रों (अछूतों) ने इस्लाम ग्रहण कर अपने प्राण बचाने के स्थान पर अवर्णनीय कष्ट सहन करना अधिक पसद किया। बाद में इन्हें भारत के सीमा-क्षेत्रों में ही हिंदू के रूप में अप्रवासी बनना पडा।

स्नेही व सहृदयी कार्यकर्ता बधु

उडुपी के विश्व हिंदू सम्मेलन में पारित प्रस्ताव एव निर्देशों को मात्र पवित्र उद्गारों द्वारा वास्तविक जीवन में चरितार्थ करना सभव नहीं है।

सदियों पुराने दुराग्रह मात्र सद्विचारों अथवा स्वेच्छा से दूर नहीं हो सकते कठोर परिश्रम व उचित प्रचार द्वारा नगर-नगर, गाँव-गाँव व घर-घर जाकर लोगों को इन प्रस्तावों को स्वीकार करने एव जीवन में उतारने का प्रशिक्षण देना होगा। वह भी केवल आधुनिक युग के दवाव में दी गई रियायतों के रूप में नहीं, वल्कि अतीत में हुई भूलों के लिए पश्चाताप-जनित विनम्र भाव के आवश्यक सिद्धात तथा जीवन-शैली के रूप में अपनाना होगा। इसके लिए हृदय-परिवर्तन एव दृष्टिकोण में नैतिक तथा भावनात्मक परिवर्तन करना ही पडेगा।

समाज द्वारा पीछे धकेल दिए गए बधुओं की आर्थिक व राजनैतिक स्थिति में सुधार करने तथा उन्हें शेष समाज के समकक्ष कधे से कधा मिलाकर खडा होने योग्य बनाने के लिए भगीरथ प्रयास करना होगा। परतु यह भी स्वय में अपर्याप्त है, क्योंकि सभव हे कि यह समानता अलगाव की भावना को झटक-फेंके बिना ही ला दी जाए। हमारा लक्ष्य केवल आर्थिक व राजनैतिक समानता नहीं, बल्कि वास्तविक परिवर्तन ओर परिपूर्ण एकात्मता है। यह परिवर्तन सरकारी योजनाओं अथवा राजशक्ति के बूते का नहीं है। चालाकी पूर्ण जोड-तोड में निपुण तथा एकता के नाम पर पैबद लगानेवाले राजनैतिक दलों से भी यह काम सभव नहीं।

इसके लिए आवश्यक है स्वत स्फूर्त व श्रमसाध्य कार्य, जो दैनदिन जीवन के व्यवहार में परिलक्षित हो तथा आध्यात्मिक, नैतिक एव सामाजिक स्तरों पर आयोजित हो।

एकता पर बल दो भेदों की अनदेखी करो

इसके लिए भजन-कीर्तन अथवा रामायण व महाभारत की कथाओं को सुनाने आदि का कार्यक्रम किया जा सकता हे, जहाँ सभी हिंदू विशुद्ध धर्म-प्रेम की पवित्र धारा में समान भ्रातृ-भावना से अनुप्राणित होकर अस्पृश्य-स्पृश्य आदि का भेद भूलकर एकत्र हों।

साक्षरता, स्वास्थ्य, खेल इत्यादि के प्रोत्साहन हेतु सेवा प्रकल्प प्रारभ किए जा सकते हैं। इस हेतु आधुनिक दृश्य-श्रव्य उपकरणों को भी उपयोगी ढग से अपनाया जा सकता है। परतु इन सभी गतिविधियों का केंद्र-बिंदु हृदय को प्रभावित करना, एकताकारी सत्प्रवृत्तियों पर बल देना तथा मतभेदों की उपेक्षा करना होना चाहिए।

इस स्वर्णिम सिद्धात का अक्षरश आचरण करने के कारण ही सघ में जाति, वर्ग, पथ, भाषा अथवा अन्य किसी प्रकार के भेदों का नाम तक नहीं है। समाज के प्रत्येक क्षेत्र से आए लाखों स्वयसेवक एक साथ उठते-बैठते, खाते-पीते तथा खेलते हैं। वे यह जानने की चिता भी नहीं करते कि उनके बगल में बैठा स्वयसेवक किस जाति बिरादरी का है।

सन् १९३४ में वर्धा के सघ शिविर में यह दुर्लभ दृश्य देखकर स्वय गाँधी जी को सुखद आश्चर्य हुआ था। इस शिविर में लगभग डेढ हजार स्वयसेवक विभिन्न पर्ण-कुटियों व छोलदारियों में ठहरे हुए थे। गाँधी जी का आश्रम निकट ही था। हजारों तरुण स्वयसेवकों की गतिविधियों से गुजरित शिविर देखकर गाँधी जी ने उसे प्रत्यक्ष देखने की इच्छा प्रकट की। तदनुसार वर्धा के तत्कालीन जिला सघचालक एव काग्रेस के पूर्व प्रातीय मत्री श्री अप्पा जी जोशी ने गाँधी जी को शिविर में सादर आमत्रित किया। गाँधी जी ने आकर शिविर की आवास, भोजनादि की व्यवस्थाओं को देखा। बाद में पूछा— 'यहाँ कितने हरिजन हैं?' हमारे सघचालक जी ने कहा— 'हमें नहीं मालूम, क्योंकि हम इस विषय में कभी कुछ पूछते ही नहीं।' गाँधी जी का प्रश्न था— 'आप, अब तो पूछकर हमें बता सकते हैं।' सघचालक जी ने उत्तर दिया— 'मैं यह नहीं कर सकता, क्योंकि हमारे लिए इतना ही पर्याप्त है कि ये सब हिंदू है।' 'तब क्या मैं पूछ सकता हूँ?' गाँधी जी के ऐसा कहने पर सघचालक जी ने कहा— 'यह आप पर निर्भर है।'

स्वयसेवकों से विस्तृत पृछताछ के बाद गाँधी जी को ज्ञात हुआ कि शिविर में हरिजनों सहित सभी जातियों के लोग हैं, जो अपनी जातियों के भान के बिना पानी पीने से लेकर खेलों तक के शिविर के समस्त कार्यक्रमों में आनद एव मस्ती से भाग ले रहे हैं। यह दृश्य देखकर गाँधी जी दग रह गए।

तत्पश्चात् डाक्टर जी भी गाँधी जी से मिले और उन्हें बताया कि किस प्रकार सघ अतर्निहित एकता पर बल देकर तथा ऊपरी मतभेदों की उपेक्षा करते हुए एकात्मता-स्थापना में सफल हो रहा है। इस दृश्यानुभव का गाँधी जी पर इतना गहरा प्रभाव पडा कि उन्होंने वर्षो बाद सितबर १९४६ में दिल्ली की भगी कॉलोनी में स्वयसेवकों को सबोधित करते हुए उसका पुन वर्णन किया। उन्होंने कहा— 'मैं स्वयसेवकों में अनुशासन, अस्पृश्यता का पूर्ण अभाव तथा कठोर सादगी को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुआ।'

सघ की यह अनूठी उपलब्धि स्वयसेवकों में सहज अकित इस दृष्टिकोण का परिणाम है, जो इस उद्‌घोष में परिलक्षित होता है– 'तुम हिदू हो, हमारे लिए यही पर्याप्त है। हमें और किसी वात की परवाह नहीं। हमारे लिए हिदुत्व का विचार ही महत्त्व का विषय है, जाति-वर्ग या किसी अन्य वात का हमारे लिए रत्ती भर भी महत्त्व नहीं है।'

11949
15/12/2009

१३ उपेक्षित बधुओ की सेवा

अपने देश के पूर्वाचल में एक विचित्र वात दिखाई देती है। हमारी सरकार ईसाइयों के अस्तित्व को तो मान्यता देती है, किंतु हिदुओं को नहीं। सरकार ने सभी गैर-ईसाइयों को हिदुओं से पृथक 'जनजाति' के रूप में श्रेणीबद्ध किया है। सन्‌ १८८१ की जनगणना में इसे प्रारभ करने के वाद हमारी सरकार ने उसी क्रम को चलाए रखा। अलगाव के समर्थक ये नेता तर्क देते हैं कि ये जनजातीय लोग पेड-पत्थर तथा साँपों की पूजा करते हैं, अत प्रकृति-पूजक हैं। इस कारण उन्हें हिदू नहीं कहा जा सकता। यह वात हिदुत्व के 'क, ख, ग' से अनभिज्ञ व्यक्ति ही कह सकता है। 'प्रकृति-पूजक' शब्द का अर्थ है 'समस्त सृष्टि में अनुस्यूत जीवन-सिद्धात।' अभिव्यक्ति का वाह्य रूप चाहे जैसा भी हो, पूजा तो उसी अतर्निहित आत्मा की ही होती है। क्या देश भर में हिदू वृक्ष की पूजा नहीं करते? तुलसी, विल्व, अश्वत्थ आदि वृक्ष सभी हिदुओं के लिए पवित्र हैं।

श्रीकृष्ण का साक्ष्य

अन्य रूपों की अपेक्षा जिन रूपों में आत्मा का अधिक प्रकाश होता है, उसका उल्लेख करते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अश्वत्थ (पीपल) का सकेत किया है। उन्होंने सर्पो तथा पशु-पक्षियों के विषय में कहा तथा नदियों, पर्वतों का भी उल्लेख किया। इस विभूति शृखला के उल्लेख का समापन श्रीकृष्ण इस उद्‌घोष से करते हैं–

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोंऽशसभवम्‌।।

(गीता, १०-४१)

(यश, प्रतिभा अथवा शक्ति से सपन्न प्रत्येक तत्त्व मेरे ही दिव्य तेज के अश से उद्भूत समझो।)

विघटनकारी अभियान जारी

अपने सपूर्ण देश में नाग-पूजा का प्रचलन है। सुदूर दक्षिण में सुब्रह्मण्य स्वामी ('नाग' का दूसरा नाम) के विशाल मदिर हैं। क्या इस आधार पर उन सभी श्रद्धालुओं तथा पूजकों को 'प्रकृति-पूजक' या 'जड-पूजक' कहकर अहिंदू घोषित किया जा सकता है?

अग्रेजों ने ऐसी घातक धारणाओं का बीजारोपण इसलिए किया, ताकि हिंदू-समाज को अधिकाधिक खडों में विभाजित किया जा सके। परतु आज हमारा दुर्भाग्य यह है कि विदेशियों के निष्क्रमण के बाद भी हमारे अपने ही लोग उन नीतियों को चालू रखे हुए हैं, जिनका जन्म और पालन-पोषण उनके समाज में हुआ है।

हृदय से कार्य करना

अब हमारा परम कर्तव्य है कि इन उपेक्षित बधुओं के बीच जाएँ और उनके जीवन-स्तर में सुधार लाने हेतु पूरी शक्ति से जुट जाएँ। हमें ऐसी योजनाएँ बनानी होंगी, जिनसे उनकी मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं एव सुख-साधनों की पूर्ति हो सके। उन्हें इन योजनाओं से लाभान्वित कराने हेतु हमें विद्यालय, छात्रावास व प्रशिक्षण-केंद्र खोलने होंगे, किंतु इन भौतिक सुख-सुविधाओं के साथ-साथ ईश्वर-भक्ति के माध्यम से उनमें राष्ट्र के प्रति प्रेम व स्वाभिमान उत्पन्न कर शेष हिंदू-समाज और अपनी पहचान में एकरूपता की भावना जगाना भी आवश्यक है। इसके लिए हमें ऊँच-नीच की मिथ्या धारणाओं का परित्याग कर समता की भावना के साथ उनमें घुलना-मिलना चाहिए। हमें उनके साथ निस्सकोच भाव से हिल-मिलकर खाना-पीना चाहिए तथा उनके साथ भक्तिभाव से भजन-कीर्तन करना चाहिए।

फिर जनजातियों के घुमतू स्वभाव की समस्या है। जब तक वे एक स्थान पर किसी निश्चित अवधि तक नहीं ठहरते, तब तक उन्हें कोई प्रशिक्षण एव सस्कार कैसे दिया जाए? निस्सदेह सरकार भी उनके सबध में प्रयत्नशील है, तथापि सरकार एक मशीनरी ही है। मशीन मनुष्यों के व्यवहार-ढग बदलने में अक्षम होती है। केवल मानवीय सहृदयता ही

जनजातियों को स्थिर जीवन अपनाने हेतु प्रेरित कर सकती है। यदि हम वन्य जतुओं को पालतू बना सकते हैं, तो क्या हम अपने इन बाधवों के मन बेहतर व परिष्कृत जीवन जीने हेतु तैयार नहीं कर सकते?

इन क्षेत्रों में विदेशी धर्म-प्रचारकों की कार्यशैली का अध्ययन भी आवश्यक है। उनके व्यवहार में कितना प्रबल समर्पण एव प्रयास दिखाई देता है। वे प्रसन्नतापूर्वक कितने भारी कष्ट सहन करते हैं। सुदूर देशों से आकर जगलों के बीच स्थानीय लोगों के मध्य झोपडियों में बसना निस्सदेह प्रशसनीय व अनुकरणीय है। वे उन लोगों में घुल मिलकर उनकी भाषा सीखकर उनके रीति-रिवाजों के साथ एकरूप हो जाते हैं। उनका व्यवहार अत्यत मृदुल एव स्नेहपूर्ण होता है। क्या हम इन मिशनरियों के अनुभव से कुछ लाभ नहीं उठा सकते?

अतीत से शिक्षा

इस सबध में अत्यत महत्त्व का विषय है जनगणना। इस हेतु हमें पहले से सतर्क रहना चाहिए। पिछले अनुभव बताते हैं कि इस्लाम के अनुयायी अपनी सख्या बढा-चढाकर लिखवा देते हैं। इसका प्रभाव हमारे राष्ट्रीय मामलों में दु खद रूप से प्रतिकूल होता है। अत हिंदुओं को सख्या के महत्त्व की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। सभी को बिना भूल-चूक अपना पजीकरण कराना चाहिए और स्वय को 'हिंदू' ही लिखवाना चाहिए, वे चाहे जिस वर्ग, जाति, उपजाति अथवा जनजाति के हों। पूर्वोत्तर राज्यों में विशेषकर नागा, खासी, जयतिया, मिकिर, मिजो आदि सभी को अपनी जाति 'हिंदू' ही लिखवानी चाहिए। भले ही उनकी वेश-भूषा, खान-पान और स्थानीय रीति-रिवाज कितने ही भिन्न क्यों न हों, हमें अपने सामाजिक अस्तित्व का आधारभूत सत्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए। ऐसी मूलभूत एकता के बिना इन अचलों के हमारे समाज-बधुओं के लिए विदेशी ईसाई प्रचारकों की कुटिल चालों को विफल करना कठिन होगा। उन्हें यह अनुभूति करानी होगी कि अनेक जनजातियों में विभाजित होने के कारण ही वे द्वितीय श्रेणी के माने जाते हैं। फलत अल्पसख्यक होते हुए भी ईसाई इन क्षेत्रों मे अपना प्रभाव जमाने व आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुए हैं।

वन्य प्रातों में निवास करनेवाले इन बधुओं से मिलने पर अनुभव होता है कि ये लोग अनेक गुणों से परिपूर्ण होते हैं, यथा— साहस,

बुद्धिमत्ता, परिश्रमशीलता, सत्य-निष्ठा, निश्छल आत्मीयता तथा सास्कृतिक एव आध्यात्मिक। हमें कुछ श्रेष्ठतम सैनिक इसी समाज ने दिए हैं। सभवत केवल महाराणा प्रताप ही ऐसे व्यक्ति थे, जो इनसे घनिष्ठ सबध स्थापित कर इन्हें शेष समाज की बराबरी पर ले आए थे। उन अचलों के वनवासी भील राजपूतों के साथ कधे से कधा मिलाकर स्वदेश व स्वधर्म की रक्षा शौर्यपूर्वक पीढी-दर-पीढी करते रहे।

हम सुधार करे

आजकल हमारे लोग इन लोगों के बीच केवल उनका शोषण करने के लिए जाते हैं। कुछ लोग 'गो-मासभक्षी' कहकर उनका तिरस्कार करते हैं और उनमें घुलने-मिलने अथवा उन्हें हिदू मानने से इनकार करते हैं। परतु क्या हमने उनकी सभी परिस्थितियों का सहानुभूति-पूर्वक विचार किया है? क्या किसी ने उनके पास जाकर उन्हें गाय के प्रति श्रद्धा के विषय में बताया है? क्या उसे 'माता' कहने का किसी ने आग्रह किया है? ऐसी स्थिति में दोष उनका नहीं, हमारा है। दूसरी बात यह है कि उनके पास खाद्य सामग्री का अभाव है। फलत आवश्यकता के कारण उन्हें गो-मास खाना पड गया होगा, फैशन या स्वाद के कारण नहीं। तब भी दोष हमारा ही है।

यह शेष हिदू-समाज का कार्य है कि वह उनके बीच जाए, उन्हें शिक्षित बनाए और उनके सास्कृतिक स्तर तथा जीवन स्थितियों में उत्कर्ष लाकर अपनी भूल का प्रायश्चित करे। यह कहना एकदम गलत है कि उनकी उपेक्षा की जडें हमारी समाज-रचना में हैं। प्राचीन काल में जब पचायत-प्रणाली समाज का मूलाधार थी, तब उसमें वनवासी जातियों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। इसका उल्लेख श्रीराम-कालीन राजनीतिक प्रणाली के वर्णन में भी मिलता है।

कर्मयोगी की भावना

गत अनेक शताब्दियों से इन भाई-बहनों के प्रति स्नेह व सपर्क का अभाव ही उनकी वर्तमान उपेक्षा व विकट परिस्थितियों का प्रमुख कारण है। शेष समाज शिक्षा से लाभान्वित होता रहा, किंतु इन्हे उससे वचित रखा गया। उपयुक्त तकनीकी व अन्य प्रशिक्षणों के अभाव में ये वर्ग अपनी उत्पादन-क्षमता एव समृद्धि में पिछडते गए। आज हमें यही शिक्षा देश के

सुदूरवर्ती वनाचलों में उन वधुओं तक पहुँचानी है, जिनके लिए धर्म अध-विश्वासपूर्ण कर्मकाडों का समुच्चय मात्र वनकर रह गया है अथवा जिन्हें सुदूरतम-पर्वतों में रहने के कारण धर्म को समझने और तदनुरूप जीवनयापन करने का अवसर ही प्राप्त नहीं हुआ। इस कार्य में विकट कठिनाइयों, कष्टों और विपत्तियों का सामना करना होगा। ऐसा अनुभव भी हो सकता है कि यह कृतज्ञताशून्य कार्य है। परतु हमें त्वरित फल अथवा किसी चमत्कार की अपेक्षा किए विना कठोर यथार्थ का सामना करते हुए, सच्चे कर्मयोगी की भाँति अनत धैर्य के साथ कर्म-पथ पर अग्रसर होना होगा।

सभी की सेवा

कुछ कार्यकर्त्ता सभी बुराइयों के लिए दूसरों को उत्तरदायी ठहराकर प्रसन्न हो जाते हैं। कुछ कार्यकर्त्ता राजनीतिक विकृतियों तथा कुछ ईसाई, मुस्लिम आदि दूसरे सप्रदायों की आक्रामक गतिविधियों पर दोषारोपण करते हैं, परतु हमारे कार्यकर्त्ता को अपने मस्तिष्क को ऐसी प्रवृत्तियों से मुक्त रखकर अपने धर्म एव वधुओं के लिए शुद्धभाव से कार्य करना चाहिए। जिन्हें सहायता की आवश्यकता है, उन्हें सहयोग देना और विपत्तियों से मुक्त करने हेतु सतत प्रयास करना चाहिए। इस सेवाकार्य में व्यक्ति-व्यक्ति में कोई भेद नहीं करना चाहिए, फिर वह चाहे ईसाई हो या मुसलमान अथवा किसी अन्य सप्रदाय का अनुयायी। दैविक-आपदा, कष्ट अथवा दुर्भाग्य कोई भेदभाव नहीं करते। इनसे सभी समान रूप से प्रभावित होते हैं। मानवता के कष्ट-निवारण के कार्य में सेवा करते समय कृपा अथवा दया-भाव से नहीं, बल्कि सभी के हृदयों में विद्यमान परमात्मा के प्रति समर्पित भक्तिमय अर्चना-भाव से कार्य करना चाहिए। हमारे धर्म की सच्ची शिक्षा यह है कि प्राणी मात्र के माता-पिता, बधु, सखा और सर्वस्वरूपी नारायण की सेवा में हमें अपना सब कुछ समर्पित कर देना चाहिए। हमारे कार्य, हमारे शाश्वत सनातन धर्म के यश एव गौरव की श्रीवृद्धि में योगदान करने में सफल हों, यही हमारी कामना हो।

१४ आत्मीयता ही सर्वोत्तम समाधान

हम यहाँ यह विचार करने के लिए एकत्र हुए हैं कि अपने सर्वाधिक प्रिय व आत्मीय धर्म और समाज के पुनर्जीवन हेतु हम क्या ठोस योगदान कर सकते हैं। इस सदर्भ में चाय-उत्पादकों का उदाहरण विषय को अधिक स्पष्ट कर सकेगा।

कुछ चाय-बागानों पर अंग्रेजों का स्वामित्व है। वह अपने कर्मचारियों से कैसा व्यवहार करता है? वह उनके घर जाता है, बच्चों को थपथपाता है और उनकी चिकित्सा आवश्यकताओं की देखभाल व्यक्तिगत रूप से करता है। इस प्रकार वह कर्मचारियों के पूरे परिवार से आत्मीय सबध बना लेता है। इतना ही नहीं, वह अपने बाग में एक गिरिजाघर भी बनाता है और वह स्वय तथा प्रबधकीय कर्मचारी प्रत्येक रविवार को सपरिवार बिना नागा किए गिरजाघर में पूजा हेतु जाते हैं। अपने कर्मचारियों को भी गिरिजाघर जाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और वहाँ जानेवाले को अतिरिक्त लाभ भी देते हैं। साप्ताहिक प्रवचन हेतु उनके लिए एक पादरी की व्यवस्था भी करते हैं। ऐसे प्रलोभन या फुसलाव द्वारा वे अपने कर्मचारियों को बडे पैमाने पर ईसाई बनाने में सफल भी हुए हैं।

विरोधाभास

इसका विपरीत उदाहरण देखें। वहाँ अपने देशवासी हिंदुओं के भी चाय-बागान हैं, किंतु यहाँ अपने कर्मचारियों से उनके सबध मधुरता के अतिरिक्त सब प्रकार के हैं। वे केवल अधिकाधिक काम लेकर उन्हें चूसते रहते हैं। कर्मचारियों में असतोष और विद्रोह पनपता है और वे अधिक वेतन व सुविधाओं की माँग करते हैं। तनाव दिन-प्रतिदिन बढ रहा है। तनाव केवल आर्थिक पक्ष तक ही सीमित नहीं है। उनके बीच परस्पर सामाजिक सपर्क एकदम नहीं है। कर्मचारियों से व्यवहार करते समय चाय-उत्पादक रत्ती-भर भी मानवीयता नहीं दिखाते। वे शायद ही कभी उनके घर जाते हों। उनके सुख-दुख में सम्मिलित होना तो और भी कम होता है।

उनसे कुछ तो सीखें

कैसी विडबना है कि हमारे देशवासियों से विदेशी लोग ऐसा मानवीय सबध रख सकते हैं, चाहे गर्हित उद्देश्य से ही सही, किंतु हमारे लोग अपने ही देशवासियों से कैसा हेय व निरकुश भेदभाव करते हैं। यह

सर्वोत्तम समय है कि हमारे चाय-उत्पादक व अन्य उद्योगपति अपने अधीन कर्मचारियों की विशाल संख्या के प्रति समय की धारा के अनुरूप अपना कर्तव्य पहचानें। वे भी इसी समाज की संतान हैं। आर्थिक व सामाजिक शोषण से त्रस्त इन दुःखी कर्मचारियों के आँसू पोंछने में उस आत्मीयता व मानवीयता का महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। उन्हें अपने हर औद्योगिक परिसर व श्रमिक बस्तियों में मंदिर बनवाकर साप्ताहिक भजन-पूजन, कथा-कीर्तन, धार्मिक प्रवचन आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।

अतर्निहित अच्छाई पर भरोसा रखें

कुछ उद्यमियों का मत है कि मानवीय व्यवहार से कर्मचारी अनियंत्रित हो जाते हैं और अनुचित लाभ उठाने लगते हैं। मेरे विचार से सामान्यतया ऐसा नहीं है। यदि कर्मचारियों को आभास हो कि आप प्रामाणिक हैं और आपकी आत्मीयता में दिखावा नहीं है, तो कालांतर में वे इसका प्रतिसाद अवश्य देंगे। मैं यह समझने में असमर्थ हूँ कि हमारे वे लोग हृदय की अच्छाई से इतने रहित हैं कि उदात्त मानवीय सद्गुणों की उपेक्षा करें। हमारा दैनंदिन अनुभव भी इस तर्क को गलत सिद्ध करता है। जब मैं काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक था, तब हमारा घरेलू नौकर कीमती सामान रखने के कारण अपने गाँव में गिरफ्तार हो गया। जब मैंने पुलिस को बताया कि यह कीमती वस्तु उसे मैंने दी थी और वह सदा ईमानदार रहा है, तो उसे छोड़ दिया गया। उसके बाद उसने बेईमानी बिल्कुल छोड दी और अनुकरणीय ईमानदारी व कृतज्ञता भाव से हमारी सेवा करता रहा।

प्राय यह पूछा जाता है कि 'हम कम्युनिस्टों का सामना कैसे करें? कर्मचारी-गण यदि एक बार कम्युनिस्ट विचारधारा में दीक्षित हो गए, तो वे हमारे प्रत्येक कार्य, वह चाहे जितने अच्छे इरादे से क्यों न किया गया हो, को संदेह की दृष्टि से ही देखेंगे।' इसपर भी मेरा मत है कि कम्युनिस्ट अपना पैर वहीं जमा सकते हैं, जहाँ व्यवहार में मानवीय स्पर्श नहीं होता। आत्मीयता से बड़ा आकर्षण किसी भी वाद में नहीं होता। कर्मचारी यदि कम्युनिस्ट है तो भी पहले वह मानव है, अर्थात् आत्मीयता का भूखा है।

हमारी हृदयहीनता

आत्मीयता का यही वह क्षेत्र है, जहाँ हम पिछड रहे हैं। यह पिछडापन व अभाव केवल चाय-बागान या कारखानों में ही नहीं है, बल्कि

गाँव-नगरों के समस्त लोगों के दैनदिन जीवन में भी बढता जा रहा है। सपन्न परिवारों के लोग महिलाओं को घरेलू नौकर रखते हैं। सामान्यतया वे अपने शिशु को लेकर काम करने आती हैं और उसे एक कोने में लिटाकर काम में लग जाती हैं। आमतौर पर देखा जाता है कि वह उपेक्षित शिशु कर्कश स्वर में रोता रहता है। क्या यह सामान्य दृश्य नहीं है कि गृह-स्वामिनी उसकी पूर्ण उपेक्षा करती है और यह भी नहीं कहती कि थोडी देर के लिए काम छोडकर उसे चुप करा लो।

हमारे देश के प्रत्येक प्रात में असख्य लोग भूखे, निर्वस्त्र, अशिक्षित तथा धार्मिक श्रद्धा अर्जित करने के अवसर से वचित रखे गए हैं। कम्युनिस्टों व ईसाई मिशनिरियों द्वारा इसी स्थिति का लाभ लेकर इनका शोषण किया जाता है। विकसित क्षेत्रों के भीतरी भागों में भी इनका जाल गहराई तक फैला हुआ है।

अनुकरणीय उदाहरण

यदि सुदूर देशों से आए विदेशी प्रचारक गर्हित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु यह सब कर सकते हैं, तो हम अपने धर्म व बधुओं के प्रति सकारात्मक स्नेह लेकर निश्चित रूप से इससे भी अच्छा कार्य कर सकते हैं। तमिलनाडु के इदितकराई गाँव का एक छोटा-सा प्रयोग उल्लेखनीय है। पाँच सौ वर्ष पूर्व छल-प्रपच द्वारा सारा गाँव ईसाई बना लिया गया था, परतु पिछले दिनों पूरे गाँव ने अपने पूर्व-धर्म हिदुत्व में लौटने का निश्चय किया। हमारे एक स्वामी जी ने वहाँ जाकर उन्हें पुन हिदुत्व में लौटाने का आयोजन पूर्ण कराया। परतु उन लोगों की बहुत समस्याएँ थीं। वे मछुआरे थे। बरसात में समुद्र में नहीं जा सकते थे, अत बेकारी व भुखमरी से पीडित थे। 'मगलौर गणेशबीडी' के मालिकों ने वहाँ एक केंद्र खोला, जहाँ काम करके महिलाएँ व बच्चे आजीविका कमा सकते थे। इसके बाद कुछ सहृदयी लोगों ने जाल के लिए फाइबर धागे (ताँत) दिए। हमारे कुछ स्वामियों ने मदिर-स्थापना में सहयोग किया। आसपास के गाँवों के लोग भी वहाँ प्राय आकर प्रसन्नता अनुभव करने लगे, क्योंकि वहाँ उनका आत्मीयतापूर्ण स्वागत किया गया। इदितकराई के इसी उदाहरण ने परवर्ती गाँवों में भी स्वस्थ प्रवृत्ति उत्पन्न की है। यह मानवीय स्पर्श का जादू है।

विशालहृदयता

ऐसे साहसिक उपक्रम पूरे देश में प्रारभ करने होंगे और निस्सदेह

इस हेतु बडी धनराशि आवश्यक है। अब यह उन लोगों का दायित्व है, जो भगवत्कृपा से सुसपन्न बने हैं। वे आगे आकर साधन स्रोतों से इसमें सहायक बनें। मदिरों का उत्तम रख-रखाव भी ऐसे लोगों का विशेष दायित्व होना चाहिए। दैनिक पूजा, स्वच्छता, पवित्रता आदि की सुव्यवस्था हेतु स्थानीय समिति बनाई जा सकती है। बाद में सभी मदिरों के क्रियाकलापों की देखभाल के लिए न्यास (ट्रस्ट) का निर्माण किया जा सकता है, जो मदिरों के मूल उद्देश्य को सुरक्षित रखने हेतु नियत्रण व मार्गदर्शन करे। मदिरों की वर्तमान उपेक्षा व जीर्ण-शीर्णता अपने देवी-देवताओं के प्रति हमारी हृदयहीनता पर दु खद आक्षेप ही है। मुसलमानों को देखें। वे अपने पीर के नाम पर इकट्ठी की गई ईंटों के ढेर पर भी वर्ष में दो बार सफेदी कराते हैं और वहाँ चॉद-सितारेवाला हरा झडा फहराते रहना सुनिश्चित करते हैं, चाहे वह स्थान सडक से हटकर किसी बेतुके स्थान पर ही क्यों न हो।

इस सबके लिए श्रद्धा व समर्पण का भाव महत्त्वपूर्ण है। यदि हृदय विशाल है, तो धन व साधन स्वत एकत्र होते चले जाते हैं। समाज के प्रति हमारा उत्कट स्नेह व उसे पुन सुसपन्न व गौरवशाली देखने की प्रबल आकाक्षा ही हमारे हृदय को उदार एव श्रद्धासपन्न बना सकती है।

१५ हम और हमारे विद्यार्थी

विद्यार्थियों को बाकी के समाज से पृथक वर्ग मानना ठीक प्रतीत नहीं होता। सर्वसामान्य जनता के गुण-विशेष ही युवकों में प्रकट होते हैं। अपरिपक्व अवस्था, अनुभवहीनता तथा वयसुलभ भावावेश के प्राबल्य के फलस्वरूप उनके क्रियाकलाप अदम्य उद्रेक के रूप में प्रकट होते हैं। आज के युवकों पर सद्वर्तन के कोई भी सस्कार नहीं किए जाते। उन्हें जीवन में एक प्रकार की अस्थिरता एव असुरक्षितता दिखाई देती है। परिणाम यह हुआ है कि वे हताश हो गए हैं। जिसके लिए वे अपनी शक्तियाँ लगाएँ और यत्न करें, ऐसा न तो कोई ध्येय उनके सामने है और न जनता में तथाकथित नेताओं अथवा मार्गदर्शकों का कोई प्रेरणादायक आदर्श ही है। 'गृह नाम की सस्था आज पूरी तरह ढह गई है। ये कुछ कारण हैं, जिनके

फलस्वरूप क्षोभ, अशांति, उच्छृखलता आदि बातें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं को हम युवकों, अर्थात् विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता कहते हैं।

समाज की तीन श्रेणियाँ

स्थूल रूप से हम अपने समाज की तीन श्रेणियाँ पाते हैं–

(क) पीढियों से निर्धनता, अशिक्षा और निकृष्टतम बात, याने सामाजिव विकलागता से पिस गए लोग इस श्रेणी में आते हैं। सौभाग्य से आज प्राथमिक स्तर तक सबको शिक्षा देने का भार शासन ने उठाया है उसका लाभ इस श्रेणी के विद्यार्थियों को प्राप्त हो रहा है। इन विद्यार्थियों की सुप्त योग्यताएँ जागृत हों और उनमें सद्गुणों का सचार हो, इसलिए स्नेह तथा मनोयोग के साथ उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। क्योंकि शैशवावस्था में उनका विकास यथायोग्य नहीं हुआ है। इस प्रकार यह कहना होगा कि उनकी पाटी कोरी है, परतु उसपर कुछ खरोंचें अवश्य लगी हैं। वह स्वाभाविक भी है। जिनका पूर्व जीवन कष्टमय रहा है, जिन्हें ज्ञान के प्रकाश से वचित रखा गया है, जिन्हें सपत्ति का आनद कभी मिला ही नहीं, जिन्हें राष्ट्रोत्थान-कार्य में सहकारी के रूप में कभी लिया ही नहीं गया, उनके हृदयों पर कुछ घाव रहें, तो क्या आश्चर्य? पर ये लोग भविष्य की आशा हैं। अत इनका सवर्धन विशेष चिता और निष्ठा के साथ किया जाना आवश्यक है।

(ख) दूसरी श्रेणी में सर्वसाधारण परिस्थिति में जीवन व्यतीत करनेवाले लोग हैं। जनजीवन के विविध क्षेत्रों में इन्होंने सदैव रीढ की हड्डी जैसा काम किया है। इनमें अपने-आपको सुप्रतिष्ठित दिखाने की एक जन्मजात विचित्र इच्छा रहती है। उसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी आय से कहीं अधिक व्यय करते हैं। वर्तमान आर्थिक परिस्थिति ने उनके जीवन पर करारी चोट पहुँचाई है। अत इनके जीवन से मानसिक शाति एव पारिवारिक शाति– दोनों बातें उठ गई हैं। उन्हें अपने लिए तथा अपनी सतानों के लिए भविष्य में निराशा दिखाई पडती है। यह परिस्थिति सब प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न कर सकती हैं। आज के हमारे विद्यार्थियों में अधिकाश युवक इसी श्रेणी के हैं। मूलत इनकी मनोरचना अच्छी है, परतु आशा न रहने के कारण, निराशामयी परिस्थिति में इनकी वृत्ति बिगडी है। निराशा के

उन्माद में आज का यह युवक किसी भी अनुत्तरदायी कार्य की ओर आकृष्ट हो सकता है।

(ग) समृद्धि और सम्मान-- दोनों का उपभोग जिन्हें प्राप्त हैं, ऐसे लोग तीसरी श्रेणी में आते हैं। इनके पास धन का आधिक्य है। इन्हें वडे-वडे पद प्राप्त हैं और तदनुपागिक अधिकार भी प्राप्त हैं। इस सयोग से तो किसी का भी दिमाग विगड सकता है, फिर यदि नवयुवकों का विगड जाए तो क्या आश्चर्य? युवक अपरिपक्व तो रहते ही हैं। न उनके पास पर्याप्त ज्ञान रहता है और न गॉट में कुछ अनुभव। साराश यह कि उनमें विवेक करने की शक्ति अति प्रारभिक अवस्था में रहती हैं। यह परिस्थिति युवकों के नैतिक जीवन की धज्जियॉ उडा सकती है। एक सस्कृत श्लोक (हितोपदेश, कथामुख-११) में यह समुचित रूप से कहा गया है--

यौवन धनसम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्।।

(यौवन, धन, सपत्ति, प्रभुत्व तथा अविवेक-- ये अकेले ही अनर्थ कर देनेवाले हैं, फिर जहॉ ये चारों हो जाएँ, वहॉ के अनर्थ का तो कहना ही क्या?)

विद्यार्थी अवस्था में सादगी व सयम-नियमपूर्वक रहने, मन को व्यसनों और दुर्गुणों की ओर जाने का अवसर न देने आदि की सतर्कता यदि हम रखते हैं, तो युवक अवाछनीय कार्यो एव अवाछनीय व्यवहार से दूर रह सकते हैं।

अधिक महत्त्व के प्रश्न

अपने इस विशाल युवक समुदाय को महान समाज-रचना में योग्य एव गुणवान नागरिक किस प्रकार वनाया जाए, यही आज की वास्तविक समस्या है। इस समस्या का हल केवल सतही विचार करने से अथवा ऊपर-ऊपर मरहम-पट्टी करने से नहीं निकलेगा। इन थोथी वातों का कोई भी ठोस परिणाम नहीं निकलेगा। उदाहरणार्थ-- प्रस्तुत प्रश्नमालिका में शैक्षणिक सस्थाएँ, शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात, उनका परस्पर सवध छात्रावास-व्यवस्था आदि विषयों पर प्रश्न पूछे गए हैं। ये सव वातें समस्या की जड तक नहीं पहुँचती। सस्थाएँ कैसे चलाई जाती हैं-- इसकी अपेक्षा ये प्रश्न अधिक महत्त्व के हैं कि शिक्षा का ध्येय एव आशय क्या है,

गुणवत्ता की दृष्टि से अध्यापकों का तथा वसतिगृह (हॉस्टल) प्रमुखों का स्वर क्या है? देश-भर में इन सबके आसपास कौन-सा वातावरण है? उनका विचार हमें दक्षतापूर्वक करना चाहिए।

वर्तमान शिक्षा केवल सूचनात्मक है

हमारी वर्तमान शिक्षा केवल वृत्तात्मक (इन्फॉरमेटिव) है, सस्कारात्मक (फॉरमेटिव) नहीं। उसका जोर इसी पर है कि देश का युवक किसी प्रकार डिग्री प्राप्त कर ले। हमारे युवकों का व्यक्तित्व उभरे, इस ओर उसका ध्यान नहीं है। आज जीवन-स्तर सुधारने की बातें कही जाती हैं। उनका सबध केवल जड वस्तुओं से है। आवश्यकताओं को बढाना, माँगों को पूर्ण करना, निम्नस्तरीय दुष्ट वासनाओं की पूर्ति करते हुए मनुष्यातर्गत पशु को पुष्ट करना ही उस जीवन-स्तर के सुधार का अर्थ है। मनुष्य का मानसिक, बौद्धिक एव आध्यात्मिक विकास करने से उसका कोई सबध नहीं है। इन सब बातों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि आज मनुष्य भले-बुरे तरीकों से पैसा जुटाने में लगा हुआ है। धन-प्राप्ति और उपभोग, यही मानो जीवन का लक्ष्य बन गया है। 'सास्कृतिक कार्यक्रम' सज्ञा का अर्थ नाचना, गाना और मनुष्य की निम्न भावनाओं को उत्तेजित करना ही माना जाता है। 'सास्कृतिक कार्यक्रम' का वास्तविक महत्त्व तो मनुष्य में बौद्धिक, भावनात्मक जगत् के उच्च गुणों का निर्माण कर, उन्हें विकसित करने में ही है। उसका महत्त्व मनुष्य में यथार्थ जीवन-मूल्यों को अनुप्राणित करने तथा भावनाओं व प्रवृत्तियों को नियत्रित करने में है। ये सब बातें आज पूर्णत दुर्लक्षित हैं। वे या तो अनावश्यक मानी जाती हैं या अनुचित।

मनुष्य-निर्माण

इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आज की शिक्षा-प्रणाली में आमूलाग्र परिवर्तन आवश्यक है। प्रत्येक विद्यार्थी को धर्म के आधारभूत तत्त्व अवश्यमेव पढाए जाने चाहिए। उन्हें अपना विशुद्ध एव सत्य इतिहास पढाना चाहिए तथा अपनी राष्ट्रीय विरासत के भव्यतम पहलुओं को उनके सम्मुख रखना चाहिए। प्राथमिक यौगिक क्रियाओं के द्वारा उन्हें मन सयम का शास्त्र अवश्य सिखाना चाहिए। शिक्षा का शेष भाग परिस्थिति, दैनिक जीवन के तथ्य, व्यक्तिमात्र की अभिरुचि आदि बातों पर निर्भर रहना चाहिए। वह जीवन की सब परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर सके और सब सकटों से जूझ सके— ऐसा

पाथेय विल्कुल प्रारभ से ही हमें उसके लिए जुटाना चाहिए। किसी भी विषय के सबध में क्यों न हो, कर्त्तव्य-भावना पर जोर रहना चाहिए। उत्कृष्ट कर्त्तव्यदक्षता सर्वोपरि महत्त्व की बात है। हो सकता है कि आजकल के स्वार्थपोषक वातावरण में वह अव्यवहार्य दिखाई दे।

ध्येयोन्मुख शिक्षा-प्रणाली

इसके लिए एक ही उपाय है। विद्यार्थियों की ग्रहणशील आयु में, उनके मन पर सतत सस्कारों से यह सत्य अकित कर देना चाहिए कि कर्त्तव्य सर्वोपरि है और सब अधिकार, चाहे व्यक्ति के हों, चाहे समूह के, कर्त्तव्य-सापेक्ष हैं और कर्त्तव्य की तुलना में गौण हैं। विद्यार्थियों में समुचित कर्त्तव्य-भावना जागृत करने के लिए हमारी शिक्षा-प्रणाली ध्येयोन्मुख होनी चाहिए। 'ध्येय' शब्द को लेकर मार्ग-भिन्नता अपनाई जा सकती है तथा उसके परस्पर-विरोधी अर्थ भी लगाए जा सकते हैं। फिर भी कुछ व्यापक मूलभूत तत्त्वों के सबध में सबका एकमत होगा, ऐसी मुझे आशा है।

मनुष्य-प्राणी अतिम परम सत्य के पथ का एक पथिक है। (उस अतिम सत्य की कल्पना क्या है और उसे पाने के लिए वह कौन सा मार्ग अपनाता है, ये बातें प्रस्तुत सदर्भ में गौण हैं।) उस सत्य को नि स्वार्थ व भक्तिपूर्ण सेवा से प्राप्त किया जा सकता है। मानवता की सेवा से ही हम सत्य की सेवा कर सकते हैं। मानवता की सेवा का प्रारभ अपने समाज की सेवा से होना चाहिए। समान पूर्वज, विरासत, परपरा व राष्ट्रीय अस्मिता से किसी भी समाज में एकरूपता निर्माण होती है। जिसने हम सबका सगोपन किया है और जिसकी भक्ति के साधारण गुण ने हमें एक राष्ट्रपुरुष के अगभूत रूप में सुबद्ध किया है, अपनी उस पवित्र मातृभूमि के विषय में हमारी मूलभूत कल्पनाएँ हैं। यह हमारी आधारभूत दृष्टि है। यदि हम इस एक ध्येय के प्रति तीव्र त्याग-भावना का दृढ आधार निर्माण करते हैं, तो सपूर्ण समाज की आकाक्षा, भावना और बुद्धि में सामजस्य प्रस्थापित होगा। जब इस सामूहिक इच्छा-आकाक्षा के साथ सामुदायिक ओर नियत्रित शारीरिक वल का सयोग होगा, तो वही वात निर्माण होगी, जिसे लोग 'अनुशासन' कहते हैं। सैनिक शिक्षा के द्वारा केवल शारीरिक स्तर पर कृति-सामजस्य उत्पन्न हो सकता है, इस दृष्टि से जब तक उसकी ओर देखा जाता है, तब तक वह ठीक है और शिक्षा के लिए इस सीमा तक वह पूरक भी सिद्ध होता है। सस्कारक्षम शालेय जीवन से महाविद्यालय की

शिक्षा पाने तक विद्यार्थियों को यथाक्रम उच्च सैनिक शिक्षा दी जानी चाहिए, अर्थात् यह शिक्षा सशस्त्र सैनिकों के स्तर जैसी ऊँची न हो। परतु केवल सैनिक शिक्षा के भरोसे अनुशासन का वास्तविक भाव नहीं भरा जा सकता। यह तो सार्वजनिक महान ध्येय के प्रति भक्ति से निर्मित इच्छानुशासन अंकित्त करने के लिए किए गए विशेष प्रयत्नों से ही भरा जा सकता है।

योग्य वातावरण

शैक्षणिक सस्थाओं को तथा वसतिगृहों (छात्रावासों) को दी गई सब सुविधाएँ इसी एक लक्ष्य हेतु कार्यान्वित होनी चाहिए। आज इन सुविधाओं का उपयोग केवल मनोरजन तथा आमोद-प्रमोद के लिए किया जा रहा है। विद्यार्थी-जीवन में इनका भी एक स्थान अवश्य है, परतु पूरे वातावरण में ज्ञान-लालसा का सचार होना चाहिए। ज्ञान के क्षेत्र में कुछ न कुछ विशेष मुझे करना है, देना है– ऐसी तीव्र इच्छा विद्यार्थियों के मन में सदैव रहनी चाहिए। अपनी ध्येय-सेवा में मुझे सुनिश्चित स्थान प्राप्त करना है, ऐसी आकाक्षा सबके मन में होनी चाहिए। इसके लिए व्याख्यान, परिसवाद, वाद-विवाद, खेल-व्यायाम, चित्रादि कलाप्रदर्शन, वन-विहार, पर्यटन, जीवनोपयोगी परिश्रम, प्रत्यक्ष जीवन के विविध व्यवसायों के लिए उपयोगी शारीरिक परिश्रम, दीन-दुखियों की सेवा की गतिविधियाँ निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त प्रारभ की जा सकती हैं।

मार्गदर्शक शिक्षक

इसके लिए शिक्षकों को तथा वसतिगृह-प्रमुखों को सतत मार्गदर्शन करना होगा। अत शिक्षकों में विशेष पात्रता की आवश्यकता रहेगी। सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि पढाने के विषयों का उन्हें उत्तम ज्ञान रहना चाहिए। फिर उनका चरित्र निष्कलक चाहिए। विद्यार्थियों के साथ प्रेमपूर्ण तथा आत्मीयता का व्यवहार करने का उनका सहज स्वभाव होना चाहिए। यदि शिक्षकों के मन पर पैसा कमाने का भूत सवार हो गया है, अपने परिवार के सदस्यों को दो रोटी मिलती रहें– इसके लिए यदि इधर-उधर के पूरक-उद्योग कर वे अपनी दृश्यमान सामाजिक प्रतिष्ठा किसी न किसी प्रकार सँभालते हैं, उन्हें यदि बहुत सारा काम दे दिया गया है और विद्यार्थियों की बहुत बडी सख्या यदि उन्हें सँभालनी पडती है, तब उन शिक्षकों का सुयोग्य स्तर रहने की अपेक्षा करना व्यर्थ है। हमें शिक्षकों की आर्थिक स्थिति सुधारनी चाहिए तथा उनकी कक्षा के विद्यार्थियों की सख्या

भी सीमित करनी चाहिए।

हमारा यह अनुभव है कि एक व्यक्ति सोलह से लेकर चौबीस पाल्यों की देखभाल सहज रूप में और उत्कृष्ट रीति से कर सकता है। वांछित फल प्राप्त करने के लिए हमें प्रमाण प्रस्थापित करना होगा। वसतिगृह प्रमुखों के लिए भी यही बात सत्य है।

माता-पिता का कर्तव्य

यान्त्रिक उद्योगों के विकास के साथ-साथ आज के जनजीवन में आर्थिक बोझ और खींचातानी बढ गई है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि हमारी प्राचीन 'गृह' सस्था उध्वस्त हो गई है। अपने पाल्यों की ओर ध्यान देने के लिए माता-पिताओं को तथा पालकों को बहुत कम समय मिलता है। उनसे अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती, परतु यदि वे अपना गृह-जीवन प्रेम तथा शाति से परिपूर्ण बनाते हैं यदि वे अपने धर्म का पालन करते हैं और स्वय को सद्गुणों से युक्त बनाते हैं, यदि वे सद्गुणों से परिपूर्ण धार्मिक जीवन का अवलबन करते हैं, यदि वे अपने परपरा से प्राप्त कुलधर्म-कुलाचारों को यथोचित प्रकार से करते हैं, सपूर्ण नहीं तो कम से कम उनका अत्यावश्यक भाग सपन्न करते हैं और अपने बच्चों को श्रद्धा, भक्ति एव कर्तव्य-भावनापूर्वक उसमें सहभागी होने के लिए आह्वान करते हैं तथा उन्हें उन सब बातों का अभ्यास कराते हैं, तो युवकों में सद्वर्तन एव अनुशासन सचारित करने के लिए इनका पर्याप्त प्रभाव पड सकता है। अडोसी-पडोसी अथवा आसपास के अन्य व्यक्ति भी यदि अपने व्यक्तिगत व्यवहार का स्तर अच्छा रखते हैं, तो वे भी इस दिशा में सहायक हो सकते हैं।

बच्चों का सीखना अनुकरण से होता है। शिक्षक, वसतिगृह-प्रमुख, माता-पिता, पडोसी— इन सबके जीवन का बच्चों के सस्कारक्षम मन पर बडा प्रभाव पडता है। अत इन लोगों को यह बात समझनी चाहिए और तदनुसार अपने जीवन को ढालना चाहिए।

विद्यार्थी-सगठन राजनीतिक दलों से मुक्त हो

देश के सर्वसामान्य वायुमडल का भी हमें इस सदर्भ में विचार करना होगा। आज का वातावरण जीवन के आर्थिक एव राजनैतिक पहलुओं को अत्यधिक महत्त्व देने से कलुषित हो गया है। इन क्षेत्रों में काम

करनेवाले लोगों को समाज के नेता और आदर्श के रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

क्वचित कुछ अपवादों को यदि हम छोड दें, तो इन लोगों का चरित्र और व्यवहार बडा अनुकरणीय रहता है– ऐसा कहना कठिन होगा। आए दिन इन लोगों द्वारा लोगों को उकसाना-भडकाना चलता रहता है। आदोलन चलते रहते हैं। जनता की भावनाएँ, जो बहुधा दुर्भावनाएँ ही रहती हैं, उत्तेजित की जाती हैं। फिर जो नेता आदर्श के रूप में सामने आते हैं, उनकी नैतिक क्षमता कोई खास प्रशसनीय नहीं रहा करती। आदोलनों में भावनाओं को ही उभाडा जाता है। युवकों का मन कोमल तथा भावना-प्रधान रहता है। साथ-साथ उनमें बहुत अधिक उत्साह रहता है। ऐसी परिस्थिति में वे इन आदोलनों से निर्लिप्त रहेंगे और उनपर उनका कोई प्रभाव ही नहीं पडेगा, ऐसी अपेक्षा करना अस्वाभाविक होगा।

आदोलनों के पुरस्कर्ताओं की तो यही इच्छा रहती है कि आदोलनों में भाग लेनेवालों की सख्या बढे और आदोलन जोर पकडे। फिर इस चचलमना तरुण-शक्ति को अपने काम में लाने का मोह उन्हें होता ही है। हम यह देखते हैं कि अधिकाश विद्यार्थी-सगठन किसी न किसी राजनैतिक पक्ष के या तो आश्रित हैं या उनके मार्गदर्शन में चलते हैं, क्योंकि इन सगठनों द्वारा राजनैतिक आदोलनकर्ताओं की मुट्ठी में सदा के लिए एक आज्ञाकारी शक्ति बनी रहती है। यह वस्तुस्थिति अवश्यमेव बदलनी चाहिए। उच्च कक्षाओं में शिक्षा प्राप्त करनेवाले विद्यार्थी राजनीति और राजनैतिक पक्षों का अभ्यास निष्पक्ष भाव से और शास्त्रीय दृष्टि से भले ही करें, परतु उन्हें चाहिए कि विद्यार्थी-सगठन के कार्य में किसी राजनैतिक पक्ष को या नेता को वे हस्तक्षेप न करने दें।

देश के सर्वसामान्य राजनैतिक वायुमडल में भी परिवर्तन आवश्यक है। हर समस्या के लिए आदोलन करने की आदत हमें छोडनी चाहिए। उसके स्थान पर आपसी चर्चा करने, परस्पर समझाने-बुझाने, एक-दूसरे के दृष्टिकोण को ग्रहण करने, शातिपूर्ण हल निकालने और इन सबके द्वारा कोई रचनात्मक कार्य करने का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। इस सबध में शासकों की रीति-नीति सबसे अधिक महत्त्व रखती है। शासक यदि अपने अतिरिक्त किसी दूसरे के मत को योग्य सम्मान और मान्यता नहीं देते और उनपर सयुक्त विचार न करने की जिद पर अडे रहते हैं, तो आदोलन

चलते ही रहेंगे और उनके साथ-साथ विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता भी उसी प्रमाण में नित्य बढती ही रहेगी।

सगठित युवा-शक्ति को स्वस्थ कामो मे लगाएँ

अत यह आवश्यक है कि विद्यार्थी-सगठनों का अन्य राजनैतिक या आदोलनकारी पक्षों से पूर्ण विच्छेद कर देना चाहिए और उनकी शक्तियों को ज्ञान-सवर्धक, सेवाभावी, श्रम-प्रतिष्ठा बढानेवाले, बधुभाव एव सामूहिक जीवन निर्माण करनेवाले स्वस्थ कार्यों में लगाना चाहिए। विद्यार्थी सगठन बद कर देना— यह समस्या का कोई उपाय नहीं है। विद्यार्थी-सगठनों को बढावा देना, विशेषत महाविद्यालय के स्तर पर अत्यावश्यक है। शालेय अवस्था में विद्यार्थी बहुत अपरिपक्व रहते हैं। न वे विद्यार्थी-सगठन का अर्थ समझ सकते हैं और न वे उनको चला ही सकते हैं। महाविद्यालय में सगठनों का कार्य एक और बात के लिए भी आवश्यक है। इन सगठनों के कार्य द्वारा तरुणों में विद्यमान अतिरिक्त शक्ति को समुचित दिशा प्राप्त होती है। उनके कार्य को किन लाभकारी मार्गों से ले जाना चाहिए, इसका निर्देश पाठ्यक्रमेतर (एक्स्ट्रा केरिकुलर) गतिविधियों के विषय में ऊपर की गई चर्चा में आ गया है।

पत्र-पत्रिकाओ की भूमिका

समाचार-पत्र तो जनजीवन का प्रतिबिब मात्र हैं। समाज की सब बुराइयाँ समाचार-पत्रों में शीघ्र ही प्रकट होती हैं। आज हम राजनीति तथा भौतिकवाद को बहुत महत्त्व देते हैं। इन बातों ने हमारी सब शक्तियों को ग्रस लिया है, अर्थात् इसी का बढा-चढा प्रतिबिब हम समाचार-पत्रों में पाते हैं। हमारे समाचार-पत्र खलबली मचाने तथा पाप एव अपराध-कथाओं की जुगाली करते रहने में गर्व का अनुभव करते हैं। इस वृत्ति में आमूलाग्र परिवर्तन आवश्यक है। राजनैतिक और आर्थिक पहलुओं को तथा उन क्षेत्रों में कार्य करनेवाले व्यक्तियों को अत्यधिक महत्त्व देने एव उन्हें आदर्श पुरुषों के रूप में चित्रित करने की अपेक्षा यदि परमेश्वर तथा मानवता की सेवा करनेवाले व्यक्तियों को अधिक महत्त्व देते हैं, तो पत्रकारों द्वारा देश की महान सेवा होगी। इन ईश्वर-भक्तों के पास या मानवता के सेवकों के पास कदाचित चमक-दमक नहीं होगी, परतु उनके जीवन निष्कलक और शुद्ध रहते हैं। वे नि स्वार्थ भाव से अथक क्रियाशील रहते हैं। उनका अनुकरण होना चाहिए। उनका अनुयायित्व बढना चाहिए। मुझे ऐसा लगता

है कि मासिक और अन्य नियतकालिक पत्रिकाएँ इस कार्य को भली-भाँति कर सकेंगी। दैनिक समाचार-पत्रों के लिए यह संभव नहीं दिखता।

दृश्य-श्रव्य साधन

आज शिक्षा के क्षेत्र में दृश्य-श्राव्य साधनों का बडा बोलबाला है यह ठीक भी है। पढाने में और चरित्र-गठन में इन साधनों से बडी सहायता होती है, परतु आज इस शक्ति का बडा दुरुपयोग हो रहा है समाचार-पत्रों में, दीवारों पर, घरों पर या जहाँ भी दृष्टि पडे, विज्ञापन ही दिखाई देते हैं। रेडियो, ध्वनिवर्धक यत्र तथा ट्राजिस्टरों से भद्दे गाने कानों पर आघात करते रहते हैं। हमेशा कोलाहल मचा रहता है। आँखों तथा कानों को पग-पग पर क्रमश उत्तेजक चित्रों एव गीतों का सामना करना पडता है। युवकों का नैतिक मानस इन बातों से कितना कुरेदा जाता होगा, इसकी सहज कल्पना कर सकते हैं।

नीति-निरपेक्षता भयानक

प्रगति के नाम पर यह सब चल रहा है। न कोई रोकता है, न टोकता है। भौतिक, राजनैतिक एव वैषयिक बातों को अत्यधिक महत्त्व देने की इस रुचि का परिणाम यह हुआ है कि सब प्रकार के नैतिक सात्विक मूल्य लुप्त होते जा रहे हैं। आज का नेतृत्व, उसका बनाया हुआ वातावरण और पाशवी क्षुधा की पूर्ति ही आधुनिकता, पुरोगामिता एव प्रगति का सार-सर्वस्व है। इस प्रकार की मिथ्या धारणा ने, समाज को, विशेषत नवयुवकों को नीति-निरपेक्ष बनने हेतु प्रोत्साहित किया है।

नैतिकता निस्संदेह अच्छी है और अनैतिकता निस्सशय बुरी, किंतु बुरी होते हुए भी अनैतिकता में एक अच्छाई यह है कि अनीति के कारण नीति-मूल्य ध्यान में आते हैं, कम से कम इसका अनुभव होता है कि हम नीति से फिसल रहे हैं, परतु नीति-निरपेक्षता निश्चित रूप से एक भयानक सकट है, क्योंकि उसमें नीति और अनीति-- दोनों के विषय में एक निर्मम उदासीनता बनी रहती है। जो अनीतिमान या पापी है, वह कभी न कभी अपने जीवन का नया पृष्ठ पलट सकता है, परतु नीति-निरपेक्ष व्यक्ति अच्छे-बुरे की समस्त अवधारणाओं को खूँटी पर टाँग देता है। अत उसके रोग का मानो उपाय ही नहीं हो सकता। ऐसे लोग समाज-सुधार की दृष्टि से अत्यत भयानक हुआ करते हैं।

विचार करने की मौलिक दृष्टि

विचार करने की अपनी पद्धति हमें सुधारनी होगी। हमें जीवन के मूलभूत तत्त्व प्रस्थापित करने होंगे। व्यक्ति तथा राष्ट्र के जीवन को परिपूर्ण करनेवाले मूल्यों को हमें स्वीकारना होगा। यही समय की माँग है। इसके अभाव में ही विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता के साथ, हमारे अन्य सामाजिक दोषों की जडें समाई हुई हैं। विद्यार्थियों की इस अनुशासनहीनता की समस्या को उसके व्यापक संबधों से पृथक मानकर उसका उपाय करने के लिए दौडने से हमें किसी भी प्रकार का लाभ होनेवाला नहीं है। इस सुधार को यदि हम तत्काल और गंभीरता के साथ हाथ में नहीं लेते हैं, तो अन्य सतही उपाय दिखावा मात्र रह जाएँगे, उनसे कोई भी परिणाम निकलनेवाला नहीं है।

हम एक ही समाज की संतान है और हमे अपने सुख दु ख परस्पर बाँटने है। इस एकात्मभाव का अभाव ही हमारी दुर्गति का मूल कारण है। समाज के प्रति हमारा प्रेम और समर्पण ठोस रूप मे प्रकट होना चाहिए। उदाहरणार्थ— हमारे समाज मे अनेक लोगो को दैनिक भोजन के बिना रहना पडता है क्या हम उनके प्रति संवेदनशील है? क्या हमारे मन मे उनके लिए कुछ करने की इच्छा जागृत होती है? प्राचीनकाल मे हमारे यहाँ 'बलिवैश्वदेव यज्ञ होता था जहाँ सर्वप्रथम निर्धन व भूखो को भोजन कराया जाता था शेष सब बाद मे खाते थे। आज भी हम समाज के भूखे लोगो के लिए मुट्ठीभर अन्न निकालकर अपना भोजन कर सकते है और करना भी चाहिए। यही वास्तविक 'बलि वैश्वदेव यज्ञ होगा।

— श्री गुरुजी

चतुर्थ भाग व्यक्ति निर्माण

१ सगठनात्मक दृष्टिकोण

किसी आदर्श को प्रत्यक्ष साकार करने के लिए एक विशिष्ट कार्यपद्धति की, एक विशिष्ट प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। विभिन्न सगठनों द्वारा अगीकृत विविध पद्धतियाँ आज चारों ओर दृष्टिगत होती हैं। अपने सघ की स्थापना के समय भी ये विभिन्न पद्धतियाँ प्रचलित थीं। यह बात नहीं थी कि सघ के सस्थापक डा हेडगेवार ने जब हमारे सगठन के लिए विशिष्ट पद्धति विकसित की, उस समय वे उन विभिन्न पद्धतियों से अनभिज्ञ थे। इसके विपरीत सघकार्य को प्रारभ करने के बहुत पहले से ही वे उन विभिन्न सगठनों की गतिविधियों में अत्यत सक्रिय रहे। वे उन पद्धतियों से पूर्णत परिचित थे।

यहाँ प्रश्न उठता है कि तब उन्होंने एक भिन्न पद्धति के साथ एक पृथक सगठन क्यों प्रारभ किया? क्या उन्होंने यह इसलिए किया कि वे एक स्वतत्र सगठन के सस्थापक और नेता के रूप में अपने लिए प्रतिष्ठा एव प्रशसा के इच्छुक थे? वस्तुत इससे अधिक सत्य से दूर और कोई बात नहीं हो सकती। डाक्टर जी को अन्यान्य मच पर्याप्त प्रशसा दे चुके थे। यदि वे इस देश के सर्वोच्च राजनीतिक सम्मान को प्राप्त करना ही चाहते, तो अपने असीम त्याग, असाधारण कार्यशक्ति और प्रतिज्ञा की दीप्ति के कारण उनके लिए यह सब एक साधारण खेल मात्र था। परतु उन्होंने इस बात का त्याग किया और एक शात एव अत्यत सादा अप्रदर्शनप्रिय सगठन-कार्य प्रारभ किया।

सही मार्ग की खोज

फिर वह कौन सा कारण है, जिसने उनको इस राष्ट्रीय कार्यक्षेत्र में एक नवीन कार्यपद्धति प्रारभ करने के लिए प्रेरित किया? बाल्यकाल से

ही उनकी प्रवृत्ति जाज्वल्य देशभक्ति की होने के कारण वे स्वाभाविक रूप से उस समय के क्रातिकारी आदोलनों की ओर आकृष्ट हुए। अत क्रातिकारी आदोलनों में सक्रिय भाग लेने के उद्देश्य से ही डाक्टर जी ने अकथनीय पारिवारिक कठिनाइयाँ होते हुए भी कोलकाता को डाक्टरी के अध्ययन के लिए चुना, क्योंकि उन दिनों कोलकाता क्रातिकारी आदोलनों का उबलता हुआ ज्वालामुखी था। उस ज्वालामुखी के अतर की सकटों से भरी आग्नेय धारा में वे अत्यत गहराई तक प्रविष्ट हुए और रहे, किंतु उनकी विवेकी दृष्टि सदैव जागृत रही। यद्यपि उनका हृदय उन क्रातिकारी साथियों के ज्वलत हृदयों के साथ-साथ स्पदित होता था, फिर भी पूर्ण राष्ट्रीय पुनरुत्थान के लिए उनकी पद्धति डाक्टर जी को यशस्वी साधन प्रतीत नहीं हुई। क्रातिकारी साथियों के गुप्त एव विद्युत के समान तेजस्वी, परतु क्षणिक प्रकाश करनेवाले आदोलन, उनके साहसिक पराक्रम तथा गौरवशाली बलिदान उनके ज्वलत हृदय में उच्चतर श्रद्धा का जागरण करते थे, किंतु उनका शात मस्तिष्क इस प्रकार की क्रातिकारी उल्काओं के अचिर प्रकाश से चकाचौंध हो जाने से इनकार करता था।

वे जानते थे कि समाज के साथ सीधे सबधों से वचित ये मुट्ठी-भर भूमिगत कार्यकर्ता सपूर्ण राष्ट्र को जागृत एव सगठित करने का कार्य एक अत्यत सीमित मर्यादा तक ही निभा सकते हैं। उन्होंने यह भी देखा कि उस रचना की उच्चतम पक्ति में भी अपने दल के रहस्यों की सूचना दे देनेवाले विश्वासघाती प्राय उत्पन्न हो जाते थे, जिससे उनकी अधिकतर क्रातिकारी योजनाएँ बुरी तरह नष्ट हो जाया करती थीं और इस प्रकार कितने ही क्रातिकारियों के भव्य पराक्रम एव बलिदानों पर एक बार में ही पानी फिर जाता था। अग्रेजों ने जिस प्रकार का सशक्त और सुगठित शासन हमारे देश में निर्माण किया था, उसे उडा देने के लिए अनुशासित, दृढ इच्छाशक्ति और राष्ट्रभक्ति से पूर्ण प्रशिक्षित लोगों के मुख्याधार के बिना किसी भी क्राति के सफल होने की आशा नहीं की जा सकती।

नागपुर लौटने पर वे काग्रेस द्वारा सचालित स्वतत्रता-आदोलन में कूद पडे। लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में काग्रेस तीव्र गति से एक जन-आदोलन का रूप ले रही थी। आरामकुर्सी में बैठे-बैठे राजनीतिक कार्य चलानेवाले उदारमतवादी राजनीतिज्ञों का युग समाप्त होकर, अग्रेजों के प्रति सामूहिक विरोध का एक नया युग प्रारभ हो चुका था। वातावरण स्वराज्य की भावना से व्याप्त था। तिलक जी के पश्चात् गाँधी जी ने उस

अग्नि को दूर-दूर तक फैलाया तथा प्रत्येक नगर और ग्राम में विरोध की इस ज्वाला को प्रदीप्त किया। गाँधी जी ने अपने निष्कलक चरित्र, पूर्ण नि स्वार्थ भावना, निर्भीकता और एक सरल एव प्रभावी, किंतु सर्वसाधारण के हृदय को स्पर्श करनेवाली पद्धति के द्वारा देश को सघर्ष और त्याग की नवीन ऊँचाइयों तक पहुँचा दिया। प नेहरू, जो उस समय अपने ज्वलत आदर्शवाद एव गतिमान व्यक्तित्व के साथ उदित हो रहे थे, उठती हुई पीढी की स्वाभिमानी एव स्वतत्र भावना के एक प्रेरणादायी प्रतीक और अग्रणी थे। ऐसे प्रबल पुरुषों के प्रयत्नों से देश में अग्रेज-विरोधी सघर्ष की एक लहर फैल गई। डाक्टर जी भी हर प्रकार के आघातों को सहते हुए अग्रिम पक्ति में डटे हुए थे। उन्होंने विदेशी शासकों को ललकारा और कठोर कारावास का दड भी भोगा। साथ ही साथ उन्होंने उस आदोलन का सूक्ष्म परीक्षण भी जारी रखा। उन्हें उसमें कुछ ऐसी बडी त्रुटियाँ दिखाई दीं, जिससे उन्हें अत्यत निराशा हुई और भय हुआ कि ये भयकर दोष आगे चलकर इस आदोलन की पोषित आकाक्षाओं को नष्ट कर देंगे।

उन्होंने देखा कि दोनों ही आदोलनों में मुख्य प्रेरक शक्ति अंग्रेज-विरोधी भावना है और उनमें राष्ट्रीय-स्वातत्र्य की स्पष्ट तथा भावात्मक दृष्टि का अभाव है। यह केवल सर्वसाधारण जनता पर ही नहीं, अपितु अधिकतर सभी नेताओं पर घटित होता था। हमारे राष्ट्रजीवन की भावात्मक निष्ठा के अभाव में कुछ समय के अनतर उन आदोलनों का प्रतिक्रियात्मक दिशाओं में भटक जाना अनिवार्य था।

दूसरे वे आदोलन उस प्रश्न का समाधान करने में असमर्थ थे, जो डाक्टर जी के मस्तिष्क में बाल्यावस्था से ही बराबर उठ रहा था। वह प्रश्न था कि किस प्रकार मुट्ठी भर विदेशी मुसलमानों अथवा अग्रेजों ने हमें दास बना लिया और इतने दीर्घकाल तक हम पर राज्य करते रहे? अग्रेजों को यहाँ से निकाल बाहर करने की बात तो ठीक थी, परतु मुख्य प्रश्न था कि वह कौन-सी मूल व्याधि है, जिसका परिणाम विदेशी आधिपत्य में हुआ? स्पष्ट था, हमारी विघटित अवस्था ही हमारी दासता के लिए उत्तरदायी थी, तो क्या ये आतकवादी आदोलनात्मक पद्धतियाँ उस मूल रोग का उपचार थीं? क्या जन-आदोलनों और क्रातिकारी कार्य के झटकों द्वारा स्थायी एकता निर्माण करना सभव था? स्वार्थपरता, अनुशासनहीनता तथा राष्ट्रीय चेतना के अभाव जैसी सभी दुष्ट प्रवृत्तियाँ, जो अनेक शताब्दियों से राष्ट्रीय जीवन को कमजोर करती रही हैं और जिनका परिणाम विदेशी आधिपत्य

में हुआ था, क्या एक ही चोट में समाप्त हो सकती थीं?

यह विचारणीय प्रश्न है कि सगठित राष्ट्रजीवन के भावात्मक और राष्ट्रजीवन की धारणा करनेवाले सद्गुणों में समाज के लोगों को दृढ किए बिना, केवल विरोधात्मक आधार पर जन-आवेश को उभाडना क्या उचित होगा? शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक 'जूलियस सीजर' में सीजर का उसके मित्रों द्वारा ही वध किए जाने के पश्चात् जब ब्रूटस तथा कैसिअस लोकप्रियता की भावनाओं के शिखर पर आरूढ थे, उस समय सीजर का एक मित्र एटोनी अत्यत चतुरता से भीड के कोप को मोड देकर जनरोष के तूफान को हत्यारों के ही विरुद्ध कर देता है। जैसे ही उत्तेजित भीड उनका पीछा करती है, एटोनी यह प्रसिद्ध वाक्य कहता है– 'दुष्टते! तू चल पडी है। जो मार्ग तेरी इच्छा हो, ग्रहण कर!' स्मरणीय है कि इस वाक्य में 'तेरी इच्छा' ही कहा है, 'हमारी इच्छा' नहीं। यही तो ऐसे सभी जन-आदोलनों का विनाशकारी दोष रहता है, जहॉ भावात्मक राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों पर आधारित आदोलन का नियत्रण और मार्गदर्शन करने की क्षमता रखनेवाले तदनुरूप देशव्यापी सगठन का अभाव होता है।

मानसिक क्राति के लिए

इस दिशा में गभीर चितन करने के पश्चात् डाक्टर जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लोगों की मानसिक अवस्था में क्राति ही आज की सबसे बडी आवश्यकता है। परकीय स्वामित्व सहित सभी बुराइयों एव कमजोरियों को दूर करने का रामबाण उपाय बाह्य ढॉचा बदलने की क्राति नहीं, अपितु मानसिक क्राति ही है। उन्हें यह भली प्रकार अवगत था कि सपूर्ण समाज की वृत्तियों, वैचारिक प्रक्रियाओं तथा आचरण में आमूल परिवर्तन लाने के लिए एक-एक व्यक्ति को लेना होगा तथा उसे सगठित राष्ट्रीय जीवन के अनुरूप ढालने के लिए अध्यवसाय के साथ प्रसिद्धि और प्रचार से दूर रहकर शात एव एकाग्र भाव से सस्कारित करना होगा।

राष्ट्र के पुनर्गठन का अर्थ उन विशेषताओं का पोषण करना है, जिनके द्वारा राष्ट्रीय चारित्र्य एव राष्ट्रीय ऐक्य सपादित होता है। इसका लक्ष्य मातृभूमि के लिए सर्वस्व-समर्पण की तीव्र भावना, बधुत्व-भाव, राष्ट्र-कार्य में अपना योग देने की भावना, राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति सम्मान का उत्कट भाव, अनुशासन पराक्रम, पौरुष और अन्य उदात्त सद्गुणों के प्रति गहरी श्रद्धा का भाव जागृत करना है। चरित्र-निर्माण और मन को

ढाले का यह कार्य केवल शपथ लेने और उपदेश देने से सपन्न नहीं किया जा सकता। राष्ट्र के प्रति समर्पण की यह भावना, वर्षानुवर्ष और दिन-प्रतिदिन स्थिर ज्योति के समान जलती रहे, इसलिए एक ऐसे वातावरण, जो इन गुणों के विकास में सहायक हो सके, में लोगों का नियमित और प्रतिदिन एकत्रित होना आवश्यक है। इस बात को मस्तिष्क में रखते हुए ही अतत सघ के सस्थापक ने सगठन के वर्तमान ढाँचे को विकसित किया।

प्रेरणादायक दृश्य

हमारी पद्धति की मुख्य बात, जो लोगों का ध्यान आकर्षित करती है, वह है हमारा दैनदिन कार्यक्रम। एक खुले मैदान में भगवाध्वज की छत्रछाया में युवकों और बालकों के समूह विभिन्न भारतीय खेलों के वातावरण में मग्न रहते हैं। वहाँ का वातावरण आनदोल्लास की ध्वनि-प्रतिध्वनियों से निनादित रहता है। साहसी युवकों के 'कबड्डी', 'कबड्डी' कहते हुए पाले में आगे बढने का यह दृश्य हृदय को पुलकित कर देता है। नेता की सीटी या आदेश की आवाज उनपर एक जादू-सा असर करती है, तुरत ही वहाँ पूर्ण व्यवस्था और शाति स्थापित हो जाती है। इसके बाद दड, सूर्यनमस्कार, सचलन आदि कार्यक्रम होते हैं। सामूहिक प्रयत्नों की भावना तथा स्वयस्फूर्त अनुशासन प्रत्येक कार्यक्रम में व्याप्त रहता है। फिर वे बैठकर सामूहिक रूप से देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत साघिक गीत गाते हैं। तत्पश्चात् चर्चा का कार्यक्रम होता है। राष्ट्रीय जीवन को प्रवाहित करनेवाली समस्याओं पर वे गहराई से विचार-विमर्श करते हैं और अत में ध्वज के सम्मुख पक्तिबद्ध खडे होकर प्रार्थना करते हैं– 'नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे ।' हे स्नेहमयी मातृभूमि तुझे बारबार प्रणाम की गूँज वातावरण को प्रभावित करती हुई आत्मा को आदोलित करती है। हृदय से उद्घोषित 'भारतमाता की जय' सपूर्ण कार्यक्रम को पूर्णता एव प्रेरणा देती हुई समारोप करती है।

इस सपूर्ण विशाल भारतवर्ष में केवल नगरों और कस्बों में ही नहीं, अपितु दूर-दूर तक फैले हुए ग्रामों, पहाडियों तथा घाटियों में भी ये प्रेरक दृश्य और आत्मा को आदोलित करनेवाले गीत सूर्योदय, सूर्यास्त अथवा रात्रि में प्रतिदिन नियमित रूप से हमें मिलते हैं। हम इसे 'शाखा' कहते हैं।

हमारे कार्य की वास्तविक भावना उस समय समझ में आएगी, जब कोई सघ-शाखा के सपर्क में आएगा। एक बार एक सभ्रात नागरिक नागपुर में हमारे एक उत्सव की अध्यक्षता करने आए। उन्होंने स्पष्टत स्वीकार किया– 'इतने वर्षों से मैं सघ के कार्य के प्रति काफी शकालु था। मैं सघ के कार्यकर्ताओं से अनेक प्रश्न पूछा करता था, पर आज जब मैंने स्वय सघ को देखा, मेरी सभी शकाएँ और संदेह दूर हो गए हैं।' प्राय जहाँ भी शाखा है, वहाँ इसी प्रकार की कहानी सुनने को मिलेगी।

इसका कारण स्पष्ट है। शाखा शाब्दिक शुष्क उपदेशों का पुलिदा मात्र नहीं, अपितु सिद्धातों का सजीव व्यवहार है। इस प्रकार की दैनिक साधना में लगे तरुण और वृद्ध सभी निष्ठावान और तत्पर मनुष्यों का यह दृश्य कार्य का एक ऐसा उत्कृष्ट, किंतु मौन संदेश देता है, जिसे कोई भी लिखकर अथवा व्याख्यान के रूप में कभी पर्याप्त मात्रा में व्यक्त नहीं कर सकता।

आयोजको की प्रचुरता

सघ के शात एव अत्यत व्यावहारिक पक्ष की ओर उसके द्वारा एकाग्रता के साथ राष्ट्रीय जीवन के सजीव अवयव के रूप में हृदयों को सस्कारित करने के वैशिष्ट्य की अपरिहार्य आवश्यकता उस समय स्पष्ट हो जाती है, जब हम बाहर समाज में व्याप्त वातावरण के साथ उसकी तुलना करते हैं।

एक बार मेरी भेंट एक वृद्ध सज्जन से हुई। उन्होंने कहा कि वे हमारे सगठन के सबध में सब कुछ जानते हैं। उनका कहना तो यहाँ तक था कि सघ की यह रूपरेखा उन्होंने ही डाक्टर हेडगेवार को दी थी। उन्होंने मुझे कुछ लिखित टिप्पणियाँ दिखलाईं, जिनमें सगठन के लिए आवश्यक एक आदर्श कार्यपद्धति की रूपरेखा थी। मैंने उनसे पूछा– '*आपने अपना सारा क्रियाशील जीवन इसी नगरी में व्यतीत किया है*, किंतु क्या आप मुझे यह बता सकते हैं कि हर परिस्थिति में आपका साथ देनेवाले कितने मित्र यहाँ है?' उन्होंने स्पष्टत उपेक्षा के साथ उत्तर दिया– 'मेरी मित्रता के योग्य एक भी व्यक्ति यहाँ पर नहीं है। ये सब पापी दुष्ट हैं।' तब मैंने उनके साथ विनोद करते हुए कहा– 'क्या अतिम दिन आपकी अर्थी ले जाने के लिए आपके पास स्वय के चार आदमी नहीं होने चाहिए?'

आज अपने देश में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐसे 'कुशल आयोजक', 'उपदेशक' ओर 'परामर्शदाता', उनकी विद्वत्तापूर्ण वार्ताएँ एव उपदेश प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं।

यह सर्वविदित है कि आकाक्षित ध्येय को प्राप्त करने के लिए एक व्यावहारिक पद्धति के साथ दृढता एव निरतर लगाव से कार्य किए बिना लोग ऊँची बातें तो करेंगे, पर उनके कार्य गिरे हुए रहेंगे।

उपास्य प्रतिमा

अपने कार्य के व्यावहारिक स्वरूप पर पूरा बल देने के साथ ही अपने आदर्श को प्राप्त करने में यशस्वी— ऐसी कार्यपद्धति का तदनुकूल ढाँचा विकसित करने की दिशा में सघ ने गभीर चितन किया। आदर्श कितना भी महान क्यों न हो, तदनुरूप पद्धति के बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमारे विभिन्न सप्रदायों में भी प्रत्येक व्यक्ति का अपने सप्रदाय के अनुरूप एक निश्चित प्रतीक रहता है। वह स्वय उस विशिष्ट पद्धति के अनुरूप परिधान और आभूषण धारण करता है, विशिष्ट मत्रों का उच्चारण करता है तथा विशिष्ट अनुशासन-सहिता का अवलबन करता है। शैव, शाक्त और वैष्णव— सभी के उपासना के तरीके हैं, अपनी कर्मकाड-सपादन पद्धति है एव उनके जीवन को विनियमित करनेवाली विशिष्ट सहिता एव परपराएँ हैं।

सगठित एव अनुशासित राष्ट्रजीवन के आदर्श के अनुरूप हमने भी एक विशेष कार्यपद्धति, प्रतीक, मत्र एव आचार-सहिता विकसित की है। एक महान और प्रेरणादायी प्रतीक के रूप में हमने चिरतन भगवाध्वज को चुना है। यह हमारी आँखों के सम्मुख प्रात, पथ, जाति, भाषा, पद्धति आदि के बाह्य बधनों से परे एक प्राचीन, पवित्र एव एकात्म राष्ट्रजीवन की पूर्वकालीन विशुद्ध जीवत प्रतिमा प्रस्तुत करता है। अनादिकाल से यह हमारे धर्म, सस्कृति, परपराओं और आदर्शों का प्रतीक रहा है। यह यज्ञ की पवित्र अग्नि के रग को, जो आदर्शवाद की अग्निशिखा में आत्मबलिदान करने का सदेश देती है तथा विश्व में सभी ओर अधकार दूरकर प्रकाश फैलानेवाले उदयोन्मुख तेजस्वी सूर्य के नारगी रग को अपने में मूर्तिमान करता है। यह हमारे भौतिक और आध्यात्मिक— सभी प्रयत्नों का मार्गदर्शक ध्रुवतारा है और इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ का अचूक साक्षी है। इसने साम्राज्यों के उत्थान और पतन, योगियों की तपस्या और वीरों के बलिदानों

को देखा है तथा युगों से इस विशाल भूमि के अगणित लक्ष-लक्ष लोगों के स्वप्नों का प्रतीक रहा है। सक्षेप में, यह हमारे राष्ट्रत्व का महानतम, उदात्ततम तथा एक सत्य प्रतीक रहा है।

एक ग्रथ और व्यक्ति-विशेष के पूजक नहीं

सघ ने इस जीवत प्रतीक को अपने मार्गदर्शक 'गुरु' के रूप में स्वीकार किया है। जब डाक्टर जी ने इस ध्वज को हमारे सामने गुरु के रूप में, हमारे आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया, तो उनके कुछ सहकारियों ने इसकी ओर असम्मतिपूर्ण दृष्टि से देखा। स्वय डाक्टर जी के रूप में जीते-जागते आदर्श को सामने देखने के कारण उन्होंने पूछा– 'डाक्टर जी को ही हम अपना आदर्श क्यों न मानें?' परतु सगठन की भावना के अनुरूप हमारे सस्थापक ने शाश्वत भगवाध्वज को ही हमारे आदर्श के रूप में रखा। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना ही महान क्यों न हो, राष्ट्र के लिए आदर्श नहीं बन सकता। राष्ट्रजीवन की अनतता की तुलना में व्यक्ति का जीवन आखिर क्षणभगुर ही है। महान से महान व्यक्ति भी राष्ट्र के शताब्दियों के जीवन के सौंदर्य एव सौरभ के सपूर्ण विकास का एक अशमात्र ही प्रतिबिंबित कर सकता है। साथ ही यह अपेक्षा भी निरर्थक है कि सभी लोग किसी एक ही व्यक्ति के प्रति समान श्रद्धा रखें, फिर वह कितना ही महान एव सम्माननीय क्यों न हो। कितने ही लोग श्रीराम की अपने इष्ट देवता के रूप में उपासना करते हैं, तो अनेक लोग श्रीकृष्ण को ईश्वर के रूप में पूजते हैं। ऐसा ही अन्य देवताओं के सबध में भी है। इसी कारण सघ ने एक ऐसे सार्वभौम प्रतीक को अपने सामने रखा, जो अपनी प्रेरणा में सबको समाहित किए हुए है।

आदर्श एव प्रेरणा के लिए व्यक्ति-विशेष पर निर्भर आदोलन के दुर्भाग्यपूर्ण अत की घटनाएँ ससार के अनेक राष्ट्रों के इतिहास में बिखरी पडी हैं। व्यक्तिपूजा के अभिशाप एव तानाशाहों के उदय ने मानवता के चेहरे को विकृत कर दिया। यह विकृति आदर्शो की अवहेलना करने तथा व्यक्ति-पूजा में लग जाने से पैदा हुई। हमारी सस्कृति का हमें सदैव आदेश रहा है कि किसी व्यक्ति को हम उतनी ही मात्रा में महान और श्रद्धेय समझें जितनी मात्रा में वह आदर्श को अपने जीवन में प्रकट करता है। सपूर्ण विश्व में केवल हमारा ही धर्म केवल ऐसा है, जो किसी व्यक्ति-विशेष की ऐतिहासिकता अथवा 'व्यक्ति प्रामाण्य' पर आधारित नहीं है।

हमारी सास्कृतिक परपरा का दूसरा विशिष्ट पहलू यह है कि हमने किसी भी ग्रथ को अपने धर्म और सस्कृति की एकमेव सर्वोच्च सत्ता नहीं माना। हमारे सभी धर्मग्रथ मानव-जीवन के एकमेव लक्ष्य के विभिन्न पहलुओं एव मार्गों का स्पष्टीकरण मात्र हैं। सघ ने भी अपने विचारों को प्रकट करने के लिए किसी एक पुस्तक को अधिकृत रूप से न स्वीकृत किया है, न तैयार किया है। एक बार एक प्रमुख धार्मिक नेता ने मुझसे पूछा- 'वह कौन-सी पुस्तक है, जिसका आप अनुसरण करते हैं?' मैंने उत्तर दिया- 'यदि हम अपने-आपको एक पुस्तक के शब्दों तक ही सीमित रखेंगे, तो हम किसी भी प्रकार उन मुस्लिम और ईसाइयों से अच्छे नहीं होंगे, जिनका धर्म केवल एक पुस्तक पर ही टिका है। इसलिए हमारी निष्ठा आदर्श के प्रति है, उससे कम के लिए अथवा अन्य किसी के लिए नहीं।'

इस उत्कृष्ट सास्कृतिक परपरा के अनुरूप सघ ने न तो किसी व्यक्ति-विशेष को और न ही किसी ग्रथ-विशेष को, अपितु भगवाध्वज को परम सम्मान के अधिकार-स्थान पर अपने सामने रखा है। यह तेजस्वी प्रतीक हमारे राष्ट्रीय जीवन की महानता एव श्रेष्ठता व्यक्त करता है एव इस प्रकार सपूर्ण राष्ट्र के प्रति विशुद्ध भक्ति जागृत कराने का प्रयत्न करता है।

राष्ट्र-पुनर्गठन का केंद्र

इस ध्वज की पावन उपस्थिति में शाखा के दैनदिन कार्यक्रम चलते हैं। हमारे समाज के सभी वर्गों के लोग वहाँ एकत्र होते हैं। भाषा, प्रात, जाति, सप्रदाय, दल अथवा पथ की बाह्य विभिन्नताएँ भूलकर वे एक ही मातृभूमि के पुत्र के रूप में एकत्र होते हैं और उसकी पवित्र धूलि में खेलते हैं। वे अत्यत भक्तिपूर्ण अत करण से मातृभूमि की प्रार्थना करते हैं। माता के गौरव के लिए वे अपने प्राणों को निछावर करने का सकल्प करते हैं। एक साथ खेलते और गाते हुए एकता की भावना उन्हें एक सूत्र में पिरोती है। जब वे साथ-साथ व्यायाम करते हैं तथा सचलन करते हैं, तब उनके हृदय एक साथ स्पदित होने लगते हैं।

शाखा-स्थल के कार्यक्रम से भी अधिक महत्त्व वातावरण का है। वातावरण में माधुर्य एव पवित्रता व्याप्त हो जाती है। अल्पकाल में ही एकत्र आनेवाले व्यक्तियों के अनेक विभिन्नत्व एव विविधता के मध्य एक स्वस्थ ऐक्य की भावना उदित होती है। सौहार्द एव सामजस्य की भावना उनके मानस में बद्धमूल हो जाती है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा इस

प्रकार के अन्य विभेदों को निमज्जित करनेवाला तथा राष्ट्र की एकता का प्रेरणादायक स्वप्न उनके लिए एक जीवत सत्य बन जाता है। इस प्रकार शाखा हमारे लोगों में राष्ट्रसेवा के लिए सर्वस्व-समर्पण के भावों को जाग्रत करती है और उनको परस्पर अमर बधुत्व के भावों से बाँधती है। यह विशुद्ध राष्ट्रीय चारित्र्य एव स्थायी राष्ट्रीय ऐक्य की भावना के निर्माण का सृजनात्मक केंद्र है।

जन-जागृति का माध्यम

इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय त्यौहारों को मनाने की परपरा, जिसको सघ ने विकसित किया है, वास्तविक और सपूर्ण राष्ट्रजीवन के प्रति भाव जगाने की दृष्टि से एक प्रभावी माध्यम है।

वर्ष प्रतिपदा, अर्थात् भारतीयों के नववर्ष का प्रथम दिन। यह हमारे महान युगप्रवर्तकों की स्मृतियों तथा उनकी अमर उपलब्धियों का स्मरण कराता है। यह एक सुखद सयोग है कि यह हमारे सघ-सस्थापक का भी जन्म-दिन है। हिंदू साम्राज्य दिनोत्सव (ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी) आठ सौ वर्ष पुराने उत्पीडनकारी मुस्लिम शासकों पर शिवाजी के पराक्रमी नेतृत्व में सन् १६७४ में हिदुत्व की पुनरुत्थानशील शक्ति के विजय का सूचक, सपूर्ण प्रभुत्वसपन्न राष्ट्रीय सिहासन की स्थापना का दिन है। गुरुपूजा (आषाढ पूर्णिमा) एक परपरागत दिन है, जब शिष्य अपने गुरु के प्रति अपनी श्रद्धाजलि समर्पित करता है। सघ ने इसे राष्ट्रीय स्वरूप दिया है। इसी दिन सघ के स्वयसेवक अपने गुरु भगवाध्वज की पूजा करते हैं, जो हमारे धर्म और राष्ट्रत्व का प्रतीक है। रक्षाबधन (श्रावण पूर्णिमा) इस बात का स्मरण कराता है कि हम सभी एक मातृभूमि के पुत्र हैं। हम इस दिन बधुत्व के प्रतीक 'राखी' को परस्पर बाँधते हैं। विजयादशमी (आश्विन शुक्ल दशमी) दुष्ट शक्तियों पर हमारे विजय की गौरवमयी परपराओं का स्मरण कराती है। यह सघ का स्थापना-दिवस भी है। मकर-सक्रमण, जो प्रकृति के अधकार से प्रकाश की ओर होनेवाले सक्रमण को सूचित करता है, हमारे लिए सदेश देता है कि हम स्वार्थ रूपी अधकार से राष्ट्रीय चेतना रूपी प्रकाश की ओर सक्रमण करें।

इस प्रकार एक ओर जहाँ शाखा में नित्य-प्रति के प्रशिक्षण से राष्ट्रीय चेतना, चारित्र्य एव एकता के सद्गुणों को व्यक्तियों में लाया जाता है, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रीय जागृति की ज्योति को विभिन्न राष्ट्रीय त्यौहारों

के द्वारा सतत प्रज्ज्वलित रखा जाता है।

संस्थावाद का अभिशाप

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि संघ में अनन्य निष्ठा के भाव किसी व्यक्ति अथवा संस्था के प्रति नहीं, वरन् संपूर्ण राष्ट्र के प्रति निविष्ट कराए जाते हैं। इस प्रकार की जीवनदायिनी भावना के अभाव में, किसी संस्था के केवल बाहरी रूप से लगाव या उसके प्रति गौरव-भाव राष्ट्रीय विघटन का एक और कारण बन जाएगा।

हमने अपने अतीत के इतिहास और वर्तमान समय में भी राष्ट्र के पुनर्संगठन के इस मूलभूत सिद्धांत को भुलाकर काफी हानि उठाई है। अतीत में अपने लोगों को जागृत और संगठित करने के लिए देश के अनेक भागों में कई प्रयत्न किए जा चुके हैं। उन आंदोलनों के महान प्रवर्तकों ने संपूर्ण समाज को संगठित और शक्तिशाली बनाने की दृष्टि से ही आंदोलन प्रारंभ किए, किंतु जैसे ही परिस्थितियाँ बदलीं और उन आंदोलनों के अस्तित्व में आने के तात्कालिक कारण दूर हुए, वैसे ही उन भावों के प्रति जो प्रेम था, वह उसके बाहरी स्वरूप के लगाव में बदल गया। परिणामस्वरूप आज के स्वार्थ से भरे वातावरण में ऐसे शुष्क पंथों को विरोधी एवं अलगाव रखनेवाले अनेक संप्रदायों में विकसित होते हुए हम देखते हैं।

मुसलमानों के भीषण आक्रमण और हत्याकांड के दिनों में पंजाब में एक महान संत गुरुनानक का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने लोगों में अपने प्राचीन धर्म के प्रति धूमिल होनेवाली आस्थाओं के बुझते अंगारों को फिर से प्रज्ज्वलित किया। उनका अनुसरण नौ गुरुओं की उज्ज्वल और पवित्र परंपरा ने किया। वे धर्म के प्रति भक्ति और त्याग के ज्वलंत उदाहरण के रूप में जिए और मरे। दसवें गुरु गोविंदसिंह ने यह अनुभव किया कि पौरुषपूर्ण कार्यों के बिना केवल धार्मिक श्रद्धा का अभ्युदय अधार्मिक और क्रूर शक्तियों के सम्मुख किसी उपयोग का नहीं होगा। उन्होंने अपने अनुयायियों को अदम्य शौर्य की भावनाओं से भर, उनको पराक्रमी सैनिकों की विजयी सेना के रूप में संगठित किया। किंतु कैसी विडंबना है कि आज वह जीवन-लक्ष्य, जिसने उस गौरवपूर्ण आंदोलन को जन्म दिया था, भुला दिया गया है और संस्था के बाहरी स्वरूप के प्रति लगाव में इतनी कट्टरता आ गई है कि उससे पृथकतावादी विकृत भावनाओं को जन्म मिला, जो

इसको अस्तित्व में लानेवाली मूल जीवनशक्ति पर ही कुठाराघात कर रही हैं।

वर्तमान समय का एक और उदाहरण लें। सन् १६४७ में जब अग्रेजों ने काग्रेस के हाथ में सत्ता हस्तातरित की, तब गाँधी जी ने काग्रेसजनों को काग्रेस भग करने की सलाह दी। परतु काग्रेस की पुरानी साख एव उसके प्रति सद्भावना का लाभ उठाकर स्वय को सरकार के रूप में स्थायी बनाए रखने के लिए काग्रेस के नेताओं ने गाँधी जी की सलाह की अवज्ञा की तथा काग्रेस के नाम और कीर्ति से चिपके रहकर काग्रेस को बनाए रखा। इसी का यह परिणाम है कि आज काग्रेसी लोग अपनी गद्दियों को बनाए रखने के लिए पतित से पतित कार्य करते समय अत करण में थोडी-सी भी चुभन अनुभव नहीं करते। जनता को अपने पक्ष में लाने और रखने के लिए ये जनता के स्वार्थो को उकसाते हैं तथा उन्हें अत्यत निम्न और अनैतिक परितुष्टि द्वारा प्रलोभित करते हैं अथवा अपने विरोधियों को धमकाते हैं, यहाँ तक कि उन्हें मार भी डालते हैं।

हमारे स्वय के अनुभव की घटना है। जब सन् १६४८ में सघ पर प्रतिबध लगा और मुझे जेल में बद किया गया था, उस समय एक दिन सुबह मैंने अपने कमरे में अनेक छपे हुए क्षमायाचना-पत्र देखे। ये उन स्वयसेवकों के लिए तैयार किए गए थे, जो सत्याग्रह कर कारावास भोग रहे थे। कुछ देर बाद जब जेल सुपरिंटेंडेंट मेरे पास आए, तो उन्होंने मुझसे कहा कि यह फार्म उन स्वयसेवकों को वितरित किए गए हैं, जो क्षमायाचना कर बाहर जाना चाहते हैं। मैंने उनसे कहा– 'यह एकदम स्पष्ट है कि हमारे लोगों में से कोई भी क्षमायाचना की बात स्वप्न में भी नहीं सोचेगा, क्योंकि ये सब अपनी स्वय की इच्छा से उस कार्य के लिए यहाँ आए हैं, जो उन्हें अपने प्राणों से भी प्रिय है। पर इस सबसे अलग मैं एक बात पूछता हूँ कि आप यह बताइए कि इन निम्न स्तर के तरीकों को अपनाकर आप क्या प्राप्त करना चाहते हैं? जब किसी व्यक्ति को उसकी प्रतिज्ञा किसी कारण से तोडने के लिए बाध्य किया जाता है, तब क्या यह कार्य उसके शेष जीवन के लिए उसे अकर्मण्य और अनैतिक नहीं बनाएगा? क्या इस प्रकार का ध्वस्त चारित्र्य राष्ट्रीय जीवन के लिए लाभदायक होगा? अग्रेजों द्वारा इस प्रकार क्षमायाचना करवाने के तरीकों को अपनाए जाने की बात कोई भी समझ सकता है, क्योंकि उनके लिए हमारे देश के युवकों के भावों को कुचलना विदेशी शासन यहाँ बनाए रखने के लिए आवश्यक

पाशविक शक्ति द्वारा आधिपत्य बनाए रखने का यह विचार हमारी संस्कृति और परपरा के लिए एकदम परकीय है। हमारा सपूर्ण अस्तित्व ही इन अहिंदू मान्यताओं के विरुद्ध विद्रोह कर उठता है। अति प्राचीन समय से ही हमारे यहाँ अनेक मत और पथ विकसित हुए हैं। हमारे यहाँ विविध प्रकार की राजनैतिक पद्धतियाँ विकसित हुईं। हमारे यहाँ गणतत्रात्मक सरकारें भी थीं और वशानुगत राजतत्र भी थे। परतु प्रत्येक स्थिति में व्यक्ति इस बात के लिए स्वतत्र थे कि वे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने स्वस्थ धार्मिक विश्वासों का अनुसरण करें। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तिगत वैशिष्ट्य, प्रकृति और रुचि के अनुसार अपना विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। इस भावना के अनुरूप समाज के जागरण और सगठन के लिए हिंदू धर्म-प्रचारकों का कार्य सदैव प्रेम, सेवा, चारित्र्य-निर्माण और त्याग के द्वारा हुआ, कभी भी पाशविक शक्ति और राजनीतिक बल के द्वारा नहीं।

सगठन के इसी तरीके के लचीले और आत्माभिव्यक्तिपूर्ण प्रतिमान ने समाज को अनेक अतुलनीय अत्याचारों और आक्रमणों के बावजूद अपनी एकता की भावना जीवित रखने में मदद दी। यदि हमारा प्रतिमान कठोर और ऊपर से थोपा हुआ होता, तो आज हमारा यह समाज उसी प्रकार एक शिलीभूत पदार्थ रह जाता, जिस प्रकार कुछ विशालकाय जानवर जडवत होकर धीरे-धीरे सरक्षण के कवच के कठोर जानलेवा आवरण के भार से ही समाप्त हो गए। इसीलिए सघ ने विदेशी सगठनों के उन सब आत्मघातक प्रकारों से अपने को बचाया और समाज के पुन सगठन के लिए शुद्ध तथा स्वस्थ राष्ट्रीय परपराओं का दृढ आधार लिया।

२ ध्येयात्मक दृष्टिकोण

अराजनीतिक सगठन

पूर्णरूपेण राष्ट्रीय पुनर्सगठन की कल्पना, जिसे साकार रूप प्रदान करने के लिए सघ प्रयत्नशील रहा है, में निहित अर्थ है इस कार्य का अराजनीतिक रूप। एक राजनीतिक दल लोगों के एक बहुत छोटे अश का ही प्रतिनिधित्व कर सकता है। राष्ट्रीय एकता की उपलब्धि निर्वाचनों तथा राजनीतिक प्रचार से नहीं हो सकती। राजनीतिक पद्धतियों द्वारा, यहाँ तक

कि राजनीतिक सत्ता द्वारा भी लोगों में निष्ठा, वीरत्व, चारित्र्य, सौहार्द तथा त्याग-भाव का जागरण कठिन ही है। वास्तव में राष्ट्रीय जीवन-रचना की सुग्रथित जड़ों के अभाव में राजनीतिक दल पारस्परिक विरोध को जन्म देते हैं तथा राष्ट्रीय रचना का विध्वस कर डालते हैं।

ढाँचे का प्रेम, भाव की उपेक्षा

सचमुच यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि राष्ट्रीय अस्तित्व की एकता के प्रति जीवित जागृत निष्ठा तथा राष्ट्रीय हितों के प्रति सर्वाधिक चेतना के अभाव में अधिकाश राजनीतिक दल विघटनकारी शक्तियों एव विलगाववादी मनोवृत्तियों के जनन-केंद्र मात्र ही बन गए हैं। सकीर्ण दलगत स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश के जाने-माने राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों अथवा कभी-कभी विदेशी शत्रु-राज्यों के साथ प्राय गठबधन करते हुए हम उन्हें पाते हैं।

कोई व्यक्ति पूछ सकता है कि क्या स्वस्थ प्रतिस्पर्धा की भावना से काम करनेवाले दो दलों का होना वाछनीय नहीं है, जिससे कि उनमें से प्रत्येक दूसरे के लिए शोधक के रूप में काम कर सके तथा इस विधि से हम राष्ट्र-शरीर को किसी एक व्यक्ति अथवा दल की तानाशाही के विष से मुक्त रख सकें? प्रजातात्रिक सस्था में निस्सदेह रूप से यह सुरक्षात्मक वैशिष्ट्य होता है, परतु उसका भी क्रियान्वयन उसी समय सभव है, जब लोगों में 'दल के परे राष्ट्र' का भाव सुदृढ रूप से विद्यमान हो। उन पाश्चात्य देशों में भी, जहाँ लोग गत कई शताब्दियों से उस विशिष्ट परपरा में सराबोर हो चुके हैं, पारस्परिक विरोध एव ईर्ष्या से दल पूर्णत मुक्त नहीं हैं। फिर भी वे राजनीतिक खींचातानी को सदैव एक सीमा में नियत्रित तथा राष्ट्रीय हित साधना के महान आह्वान के अधीन रखते हैं। उनके लिए ऐसी सस्थाएँ उनके जीवन के लिए हितकारक हैं तथा शक्ति प्रदान करती हैं। यदि एक स्वस्थ एवं शक्तिसपन्न व्यक्ति बहुत अच्छी मलमल की कमीज पहन ले, तो वह उसे बडी अच्छी लगेगी। परतु यदि एक ऐसा व्यक्ति जिसके हाथ पैर दुबले पतले हैं, जिसका सीना अदर की ओर धँसा हुआ है, जो सीधा खडा भी नहीं हो सकता, उसको पहनकर इधर-उधर घूमने का प्रयत्न करता है, तो वह स्वय को दूसरों के लिए विनोद की वस्तु बना लेता है।

अनुकरणीय

उदाहरण के लिए— अपने देश की परिस्थितियों की तुलना इग्लैंड की परिस्थितियों से करिए। कुछ वर्ष पूर्व जब पडित नेहरू अमरीका जाते

हुए लदन में रुके थे, तब लदन में रहनेवाले अपने ही कुछ स्वदेश-बधु केवल इसी हेतु हवाई अड्डे पर काले झडों का प्रदर्शन करने गए थे, क्योंकि वे दूसरे दल के व्यक्ति थे। वे विस्मरण कर बैठे कि विदेश में अपने प्रधानमत्री के विरुद्ध किया गया कार्य अपने राष्ट्र का अपमान था।

अब इग्लैंड का उदाहरण लें। जब ब्रिटेन के तत्कालीन विरोधी दल के नेता विस्टन चर्चिल अमरीका का प्रवास कर रहे थे, तब कुछ लोगों ने ब्रिटेन में सत्तारूढ लेबर पार्टी की सरकार के प्रति उनके दृष्टिकोण के सबध में कुछ प्रश्न पूछे थे। चर्चिल महोदय ने रुखेपन से उत्तर दिया था– 'बाहर हम सब एक हैं, घर में हमारे चाहे जितने भी मतभेद क्यों न हों।' दोनों महायुद्धों के समय भी वहाँ के लोगों ने भयकर दु ख और कष्ट सहन किए, किंतु वहाँ के किसी राजनीतिक दल ने उक्त परिस्थिति से किसी दलगत स्वार्थ की पूर्ति करने का प्रयास नहीं किया। उस देश में निर्वाचन के समय कम्युनिस्टों द्वारा अपनी जमानतें बचाने के बारबार विफल प्रयत्न भी उनके राष्ट्रभाव की गहरी जडों का ही परिचय देते हैं।

भयानक विपरीतता

विभिन्न देशों की इन सस्थाओं की अतरग कार्यशक्ति की ओर ध्यान न देकर, केवल उनकी बाह्य व्यवस्था के सतही दृश्य का अवलोकन करने के कारण ही कुछ लोग हमसे पूछते हैं— 'आपकी भाँति विशेष प्रयत्न न करते हुए भी इग्लैंड जैसे देश सकटों और कठिनाइयों पर विजय पाते हैं तथा प्रगति कर रहे हैं। वहाँ पर लोग अपने सामान्य दैनदिन जीवन में व्यस्त हैं। राजनीतिक दल देश के कार्य सफलतापूर्वक चला रहे हैं। फिर आपके जैसे स्वतत्र सगठन की और जैसा आप कर रहे हैं, इस दैनदिन प्रशिक्षण की क्या आवश्यकता है?'

परतु वहाँ प्रत्येक व्यक्ति जन्मजात देशभक्त है। वहाँ किसी व्यक्ति का उल्लेख करते समय 'वह देशभक्त है' ऐसा कहने की आवश्यकता उसी तरह नहीं पडती, जिस प्रकार किसी व्यक्ति का उल्लेख करते समय 'मनुष्य' शब्द उसके साथ जोडने की जरूरत नहीं पडती। वह एक मनुष्य है, यह पहले से ही स्वीकृत है, परतु अपने देश में हम कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए 'देशभक्त' शब्द का प्रयोग प्राय सुनते हैं। इग्लैंड में उसकी प्रत्येक सस्था में, चाहे एक स्कूल हो अथवा कॉलेज, साहित्यिक क्लब हो अथवा युवक सघ, सामाजिक सस्था हो अथवा

सांस्कृतिक, यहाँ तक कि घर पर भी बालक जो प्रथम पाठ सीखता है, वह है– 'हे इंग्लैंड! तेरे तमाम दोषों के पश्चात् भी मैं तुझसे प्रेम करता हूँ' और यहाँ हमारे महान नेतागण गौरवशाली हिमालय को एक ऐसा स्थान कहकर पुकारते हैं, जहाँ उनके शब्दों के अनुसार 'घास का तिनका तक पैदा नहीं होता।'

पुन: देशभक्ति की उस प्रेरणादायी परंपरा को देखिए, जिसका निर्माण इंग्लैंड ने शताब्दियों से किया है। गत कई शताब्दियों के संपूर्ण काल में उनमें कठिनाई से ही कोई देशद्रोही मिलेगा। द्वितीय महायुद्ध में विश्वासघात का केवल एक ही उल्लेखनीय उदाहरण था। तत्कालीन भारत सचिव लॉर्ड ऐमरी के पुत्र ने जर्मन लोगों के लिए काम किया था। युद्ध के पश्चात् उसपर मुकदमा चलाया गया तथा उसे मृत्युदंड दिया गया। दंड कम करवाने के लिए उसके पिता ने अपने उच्च पद के प्रभाव को उपयोग में लाने का विचार तक नहीं किया। उसके विपरीत उन्होंने दया-याचिका प्रस्तुत करना तक अमान्य कर दिया। मृत्युदंड के दिन उन्होंने उससे यह कहकर मिलना तक अस्वीकार कर दिया कि ऐसे व्यक्ति की शक्ल देखना भी पाप है, जो उनके परिवार की देशभक्ति की गौरवशाली परंपरा पर एक कलंक था। यहाँ राणा तथा पृथ्वीराज के काल से लेकर अंग्रेजों के शासन-काल तक देशद्रोहियों की एक पूर्ण जाति की जाति ने ही जन्म लिया है। और यही आज तक अबाधित गति से हो रहा है। आजकल अपने देश में उच्च पदों की प्राप्ति के लिए विश्वासघात करना मानो एक मानता ही बन गया है। जिस व्यक्ति ने, जबकि वह एक राजदूत था, भारत आनेवाले शस्त्रों से भरे हुए जहाज को चालाकी से पाकिस्तान के लिए मुड़वा देने की चाल चली थी, उसे बाद में एक राज्य का राज्यपाल बना दिया गया।

इंग्लैंड में राजनीति उनके लिए एक स्वस्थ खेल है। जब लेबर पार्टी के हाथ में सत्ता थी, तो उसने अमरीका व चीन में अपने राजदूतों के स्थान पर क्रमश: विरोधी दल के नेता व उपनेता को नियुक्त किया। क्या अपने देश में सत्ताधारी दल द्वारा ऐसी स्वस्थ परंपरा की कल्पना भी की जा सकती है? यहाँ सत्ताधारी दल के तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी तक के लोग अन्य दलों के सर्वाधिक बुद्धिमान व्यक्तियों से श्रेष्ठ माने जाते हैं। परिणामस्वरूप संपूर्ण प्रशासन पर सत्ताधारी दल का एकाधिकार है। वे इतने पर ही रुके नहीं। अपने दलगत स्वार्थों के साधन हेतु राज्य के साधनों का स्वतंत्रतापूर्वक लाभ उठाया जाता है। विरोधी दलों द्वारा आयोजित आंदोलन

एव प्रदर्शनों को क्रूर राजकीय साधनों से कुचलने की बात सोची जाती है।

नवीन अस्पृश्यता

नए प्रकार की अछूत भावना भी एक नूतन निर्मिति नहीं है। यह विकृति सन् १६३७ से ही आनी प्रारभ हो गई थी, जब काग्रेस ने राजसत्ता का स्वाद चखना प्रारभ कर दिया था। हमें अपने स्वत के अनुभव से ज्ञात है कि प्रारभिक अवस्था में काग्रेस के नेतागण सघकार्य से स्वतत्रतापूर्वक सवध रखा करते थे। हमारे सघ के जन्मदाता ने सघ की स्थापना के पश्चात् भी काग्रेस के आदोलनों में भाग लिया था। परतु सन् १६३७ में कुछ प्रदेशों में सरकार बनाने के पश्चात् काग्रेस ने स्वय को एक राजनीतिक खोल में बद कर लिया तथा अपने सदस्यों के सघ-गतिविधियों में भाग लेने पर प्रतिबध लगा दिया। इस तरह राजनीतिक जीवन में 'राजनीतिक अस्पृश्यता' का एक नवीन विप उत्पन्न कर दिया।

सन् १६३७ में एक बार काग्रेसी शासनवाले प्रदेश में एक राजनीतिक आदोलन को कुचलने के लिए गोली चलाने का आदेश दिया गया था। एक व्यक्ति ने काग्रेस-अध्यक्ष को लिखा कि अहिसा के लिए वचनबद्ध काग्रेस द्वारा बनाई गई सरकार गोली का मार्ग कैसे अपना सकती है? काग्रेस अध्यक्ष प जवाहरलाल नेहरू ने उत्तर दिया— 'अहिसा की हमारी नीति केवल अग्रेजों के विरुद्ध लागू होती है, स्वजनों के लिए नहीं।' उन सज्जन ने उस पत्र-व्यवहार को समाचार-पत्रों में प्रकाशित करवा दिया।

मूलगत उपचार

हमारी राष्ट्रशक्ति का ह्रास करनेवाले राष्ट्रीय विघटन के कीटाणुओं के रहते हुए यह कल्पना ही गलत है कि अन्य देशों की राजनीतिक तथा अन्य सस्थाओं की नकल करने मात्र से ही हमारी समस्याएँ हल हो जाएँगी तथा सर्वागीण राष्ट्रीय कायाकल्प हो जाएगा। हमारी व्याधि अधिक गहराई तक व्याप्त है, इसलिए उसके मूलभूत उपचार की आवश्यकता है। उस मूलभूत रोग का समूलोच्चाटन करने हेतु ही सघ ने दैनदिन प्रशिक्षण, त्याग, अनुशासन व राष्ट्रभक्ति जैसे गुणों को दिन-प्रतिदिन निविष्ट करने की पद्धति का विकास किया है, जिससे एक सगठित व उत्थानशील राष्ट्रीय जीवन की निर्मिति होती है।

अत हम कहते हैं कि हमें प्रतिदिन नियमित रूप से शाखा में एक साथ आना चाहिए। यह सामान्य अनुभव की बात है कि यदि एक विशिष्ट

विचार एक निश्चित समय पर नियमित रूप से दोहराया जाता है, तो वह हमारे व्यक्तित्व की गहराई में प्रवेश कर हमारे चरित्र का अभिन्न अग बन जाता है। अत नियमितता एव समय-पालन पर सघ में अथक बल दिया जाता है।

इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए एक छोटी-सी कहानी है। एक धनी व्यक्ति अपराह्न में अपने सुदर उद्यान में ठडी छाया में बैठने आया करता था। एक दिन एक मोर आ गया तथा अपने मनमोहक पख फैलाकर पेड पर बैठ गया। स्वामी ने सोचा– *'यदि इस समय यह प्रतिदिन आया करे तो कितना अच्छा रहेगा।'* उसने अफीम के एक अश को मिलाकर कुछ खाद्य-पदार्थ बनवाया तथा उसे मोर के सामने डाल दिया। मोर ने उसे खा लिया। वह बहुत उल्लसित हुआ। दूसरे दिन उस सुख के भाव का स्मरण कर वह पुन आया। उस धनी व्यक्ति ने अफीम की दूसरी खुराक उसको दे दी। अततोगत्वा उस पक्षी को इतना अभ्यास पड गया कि वह बिना उस अफीम के भी उक्त समय पर आया करता था।

यह मन का स्वभाव है। विचार, वाणी एव कृति में पुन-पुन एक विचार को दोहराने से आदत बनती है। इसमें नियमितता का बडा महत्त्व है। अनियमितता अच्छे चरित्र की निर्मिति को नष्ट कर देती है। अनेक व्यक्ति हैं जो कठोर परिश्रम कर रहे हैं, जैसे– निहाई पर जुटे लुहार, पेडों को काटनेवाले अथवा पत्थर तोडनेवाले मजदूर, परतु उनमें से कोई सैंडो नहीं बन जाता, यद्यपि वे अथक शारीरिक परिश्रम कर रहे हैं। इसका कारण यह है कि उनका परिश्रम अनियमित एव अव्यवस्थित है। परतु एक व्यक्ति जो कम थकान का, परतु नियमित व्यायाम करता है, अपना स्वास्थ्य बनाकर खिलाडी बन सकता है। प्रसिद्ध जर्मन सेनापति हिडेनबर्ग, जिसे प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी का राष्ट्रपति बनाया गया था, अस्सी वर्ष की आयु में भी शक्तिशाली और चपल था। उसकी आश्चर्यकारी कार्यशक्ति के विषय में पूछे जाने पर उसने कहा कि वह नियमित रूप से प्रतिदिन एक घटा लकडी काटा करता था। उसने इस आयु तक उस आदत को जारी रखा था।

क्षणिक आवेग का परिणाम

इसमें कोई सशय नहीं कि कोई प्रेरणादायी विचार सुनने तथा किसी विशिष्ट वस्तु का परिपालन करने का पक्का निणय लेने से हमारे

अदर उल्लासपूर्ण भावों का जागरण होता है, परतु वह भावना तथा निर्णय कितनी देर तक टिकता है? क्या यह अपना सामान्य अनुभव नहीं है कि हम अपने नवयुवकों को किसी पवित्र दिवस पर दैनदिन लिखने अथवा व्यायाम करने तथा इसी प्रकार की अन्य बातों का सकल्प कर दूसरे ही दिन उन्हें भूल जाते हुए देखते हैं?

हम प्राय ऐसे लोगों के सवध में आते हैं, जो उमग आने पर कार्य करते हैं। कुछ अवसरों पर हम लोगों की भावनाओं और सवेगों की बहुलता भी देखते हैं, परतु लोगों के मन पर अमिट सस्कार डालने के लिए ऐसे अस्थायी उफान सहायक सिद्ध न होंगे। आजकल लोग कहते हैं कि देश में धार्मिक जागरण की एक लहर आई हुई है। ध्वनिवर्द्धक यत्रों द्वारा धर्मोपदेश प्रसारित किए जाते हैं। प्रतिवर्ष गगा में एक डुबकी लेने के लिए लाखों लोग इकट्ठे होते हैं। पुराण, हरि-कथा प्रवचन सुनने, रामनवमी, सत्यनारायण पूजा तथा गणेशोत्सव आदि के लिए विशाल सख्या में लोग जमा होते हैं। परतु क्या इन कार्यक्रमों का इच्छित परिणाम निकल रहा है? क्या वे आज के आत्मकेंद्रित जीवन को समाप्त करने तथा चारित्र्य, सेवा एव त्याग के पवित्र उपदेशों के अनुकूल जीवन व्यतीत करने के पवित्र सकल्प को लोगों के मन में जगा पाए हैं?

श्री रामकृष्ण परमहस गगा-स्नान के लिए जानेवाले लोगों के विषय में विनोद से कहा करते थे– 'जैसे ही ये गगा के तट के निकट पहुँचते हैं, उनके पाप उनके शरीर से उडकर दूर के पेड़ों पर जाकर बैठ जाते हैं, परतु स्नान करने के पश्चात् जैसे ही वे वापस आते हैं, उनके पाप उनके ऊपर झपट पडते हैं।' निष्कर्ष यही निकलता है कि मनुष्य का चारित्र्य सवेग के क्षणिक उफानों से नहीं बदला जा सकता। लाखों लोगों में एक ही ऐसा होता है, जिसमें क्षणिक भावोद्रेक को चरित्र का अभिन्न अग बना लेने की बौद्धिक क्षमता हो। यही कारण है कि मानसिक अनुशासन के विषय में अपनी अधिकृत विभूतियों ने हमें भावावेश के वशीभूत न होने तथा भगवान के नाम पर ऑसू न बहाकर दैनदिन तपस्या करने के अनुशासन को स्वय पर लागू करने का विधान दिया है। सवेगों का बिखरना नाडियों को ध्वस्त कर देगा तथा उसे पहले से भी दुर्बल बनाकर नैतिक दृष्टि से समाप्तप्राय कर देगा। यह मदिरा के उस व्यसनी की भाँति है, जो मदिरा का प्रभाव समाप्त हो जाने पर अशक्त होकर गिर पडता है।

एक बार एक वयोवृद्ध सज्जन ने हमारी एक बैठक के उपरात

अत्यधिक उत्साहित होकर अपने परिवार के लोगों से कहा कि अब उनके तथा उनके परिवार के सबध-विच्छेद हो गए हैं। इसके आगे वे सघकार्य हेतु स्वय को समर्पित कर देंगे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जोश ठडा हो जाने के पश्चात् 'सर्वस्व त्याग के व्रत' का रचमात्र भी स्मरण तक न रखते हुए वे पुनरपि अपने आत्मकेंद्रित जीवन में लीन हो गए।

काल-मान्य पद्धति

फिर वह कौन-सी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा स्थायी सस्कारों को अकित किया जाए? मनोवैज्ञानिक हमें बताते हैं कि किसी आदर्श के अनुसार व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करने के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है। प्रथम, जिस आदर्श का सस्कार करना है उसका सतत ध्यान, दूसरे, उसी आदर्श के प्रति निष्ठा रखनेवाले व्यक्तियों का सतत साहचय, और अतिम, शरीर को ऐसी गतिविधियों में लगाए रखना, जो उस आदर्श के अनुकूल हों। किंतु सभी सामान्य लोगों के लिए, जिन्हें दिन के अधिकतर समय को अपने व्यक्तिगत एव पारिवारिक कार्यो में लगाना पडता है, जैसे- धनोपार्जन, बच्चों का पालन-पोषण आदि, यह दिन के २४ घटे वाला नियम अव्यावहारिक है। सर्वस्व-त्यागी योगी भी पूर्ण समाधि की स्थिति में तीन दिन से अधिक नहीं रह सकता, उसके पश्चात् उसका शरीरपात हो जाएगा।

अतएव हमारे महान समाज निर्माताओं ने सामान्य मनुष्य के लिए एक ऐसी पद्धति बनाई, जिसमें उन सस्कारों के सिद्धातों का सार समाविष्ट था। वह पद्धति यह है कि दिन की एक निश्चित कालावधि, प्रात साय अथवा रात्रि में अलग निकाल ली जाए तथा अपने शरीर, मन एव बुद्धि की सभी शक्तियाँ ओर क्रियाएँ, उस चुने हुए आदर्श पर नियत समय पर नियमित रूप से यथासमय केंद्रित की जाए तथा दिन का कम से कम कुछ समय समान निष्ठावाले लोगों के साथ व्यतीत किया जाए।

सघ ने भी अपनी शाखा द्वारा सस्कार देने की वर्तमान पद्धति को उसी कालमान्य प्रतिमान के आधार पर विकसित किया है। राष्ट्रीय पुनर्गठन के आदर्श के अनुरूप 'राष्ट्रदेवो भव' की भावना से स्फूर्त दैनिक सस्कारों की प्रक्रिया शाखा में चलाई जाती है। उसमें इसी भावना से ओतप्रोत सभी छोटी-छोटी दिखनेवाली हर तरह की चीजें जैसे- खेल, लाठी चलाने का शिक्षण, गीत, प्रचलन आदि कार्यक्रम एक सगठित एव सशक्त

राष्ट्रजीवन के लिए गहरे सस्कारों को प्रदान करने की शक्ति प्राप्त करते हैं।

एक योजनाबद्ध रूप में छोटी-छोटी चीजों का एकत्र लाया जाना ही सदैव एक बडी चीज का निर्माण कर देता है। 'पैसे को सुरक्षित रखो, रुपया स्वय सुरक्षित हो जाएगा'-- यह कहावत महान चरित्रों के निर्माण में अक्षरश सत्य उतरती है। महान चरित्र बनी-बनाई वस्तुओं के समान कहीं से एक दिन में ही नहीं आ जाते। उनका निर्माण शातिपूर्वक सतत कार्यशीलता से होता है। महानता एव श्रेष्ठता की उपलब्धि क्रमबद्ध इच-इच करके आती है तथा एक-एक पग की प्रगति के लिए प्रबल प्रयास करने पडते हैं।

बुराई का उपचार कैसे हो?

बुरे चरित्र भी कहीं पर लघु स्खलन से ही बनने आरभ होते हैं। एक युवक का यही हुआ। उसे हत्या के अपराध में मृत्यु-दड मिला था। उसकी माँ अपने पुत्र की अतिम अभिलाषा पूर्ण करने के लिए मिलने आई। किंतु जैसे ही उसने अपनी माँ को देखा, वह उस पर झपट पडा और उसके कान अपने दाँतों से काट लिए। वह खींचकर हटाया गया। मृत्यु समय भी अपनी माँ के प्रति ऐसे दुष्ट व्यवहार के लिए उसकी निदा की गई। तब उसने कहा कि 'मेरे दु खद अत का कारण मेरी माँ ही है।' पूछने पर उसने बताया कि 'बाल्यावस्था में मैं एक बार कुछ धन चुराकर अपनी माँ के पास ले आया था। उस समय इसने मेरे कान खींच कर मुझे ठीक नहीं किया। उस दिन से मेरा यह दुष्ट स्वभाव बढता ही गया और आज मैं उसी के दारुण परिणाम भोग रहा हूँ।'

बुरी आदतें और प्रवृत्तियाँ, जो विगत कतिपय शताब्दियों से हममें बढ रही हैं, एक दिन में धुलकर साफ नहीं हो सकतीं। इसलिए नित्य के सस्कार अत्यत आवश्यक हैं। शरीर को भी नित्य धोने की आवश्यकता होती है। तब मस्तिष्क, जो दूषणों के लिए शरीर से अधिक ग्रहणशील है, को बहुत अधिक परिश्रम एव नियमितता से शुद्ध करने की आवश्यकता है। विशेष रूप से इस बात की आवश्यकता इसलिए और भी है कि वह उन दुष्ट प्रवृत्तियों के सपर्क में सतत रहता है, जो हमारे चारों ओर के वातावरण में हैं। जब श्री रामकृष्ण ने अपने अद्वैतवादी गुरु तोतापुरी से प्रश्न किया-- 'एक सिद्ध पुरुष होकर भी सस्कारों की नित्य क्रियाएँ क्यों किया करते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया-- मस्तिष्क जब तक इस ससार में

रहता है, उसके नित्य शोधन की आवश्यकता ठीक उस प्रकार से है, जैसे पानी पीने के लिए उपयोग में आनेवाले पात्र को नित्य माँजना पडता है।'

मनुष्य-निर्माण की प्रक्रिया

इसलिए सघ ने सस्कारों के एक क्रम का विकास किया है, जिसके द्वारा व्यक्ति का मन, मेधा एव शरीर इस प्रकार से प्रशिक्षित होता है कि वह हमारे महान समाज के सगठित कलेवर का एक सजीव अग बन जाता है। उदाहरण के लिए– मानव-शरीर में कितने ही अग हैं और प्रत्येक अग में लाखों कोशिकाएँ हैं। प्रत्येक कोश सपूर्ण शरीर के साथ अपना ऐक्य अनुभव करता है और शरीर के स्वास्थ्य एव वृद्धि के लिए अपने को बलिदान कर देने को सदैव प्रस्तुत रहता है। वास्तव में यह ऐसे लाखों कोशों का आत्म-बलिदान ही है, जो प्रत्येक शारीरिक क्रिया के लिए शक्ति को उन्मुक्त रूप से उपलब्ध कराता है।

शाखा पर नित्य नियमित रूप से जो प्रशिक्षण दिया जाता है, उसके द्वारा तादात्म्य एव सामूहिक कर्मो को अच्छी प्रकार से करने की भावना का उदय होता है। इससे व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के आडे-तिरछे कोणों को घिसकर मिटा देने की प्रेरणा मिलती है तथा समाज में अपने शेष बधुओं के साथ ऐक्य भावना का व्यवहार एव अन्य मस्तिष्कों के विविध दृष्टिकोणों से अपना मेल बैठाते हुए सगठित और अनुशासित जीवन-पद्धति में खडे होने की योग्यता प्राप्त होती है। वहाँ पर एकत्रित व्यक्ति एक ही की आज्ञा साथ-साथ पालन करना सीखते हैं। अनुशासन उनके रक्त में प्रविष्ट होता है। शरीर के अनुशासन से मन का अनुशासन अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वे अपने व्यक्तिगत आवेगों एव सवेगों को महान राष्ट्रीय लक्ष्य की ओर उन्मुख करना सीखते हैं। इस प्रकार शाखा पर निर्माण होनेवाला आदर्श अनुशासन स्वेच्छा से गृहीत होता है, क्योंकि वह राष्ट्र के लिए उत्कट समर्पण की भावना से उत्पन्न होता है। इस प्रकार का अनुशासन व्यक्ति में छिपी सुप्त शक्तियों को राष्ट्रहित के साथ स्वैक्य स्थापित कर, समृद्ध और प्रस्फुटित करता है। पूर्ण विकसित पुरुषोचित सद्गुणों के साथ पारस्परिक स्नेह तथा सहयोग की भावना से ओतप्रोत एव स्वत स्फूर्त अनुशासन के बधन से बद्ध, एक साथ कार्य करने के लिए पूर्ण एव नित्य सिद्ध मनुष्य ही राष्ट्रीय शक्ति के अक्षय भडार का निर्माण करते हैं।

इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में अनुशासन एक अत्यत महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। समान लक्ष्यवाले, किंतु अनुशासन से रहित लोगों के एकत्रीकरण में सामूहिक शक्ति का अभाव होता है। ऐसा एकत्रीकरण अपने ध्येय को प्राप्त करने में असफल होता है। पुरी में प्रतिवर्ष लाखों मनुष्य जगन्नाथ जी के दर्शनों के लिए एकत्रित होते हैं। उस भीड में अनेकों गिर पडते हैं, अग-भग हो जाते हैं अथवा दूसरों के पैरों से कुचल जाते हैं। इस प्रकार की दुर्घटनाएँ सामान्य रूप से हुआ करती हैं। निस्संदेह सभी का लक्ष्य एक ही रहता है– जगन्नाथ स्वामी का दर्शन, किंतु वहाँ कोई व्यवस्था, कोई अनुशासन न होने से जगन्नाथ जी के दर्शन के स्थान पर गडबडी और अनर्थ ही होता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र का भी यही अनुभव है। कार्य करने के लिए क्षमता की दृष्टि से मुट्ठी-भर अनुशासित मनुष्यों की तुलना सैकडों लोगों की अव्यवस्थित भीड से किसी प्रकार नहीं की जा सकती। हमने अपने ही इतिहास में देखा है कि सख्या में कई गुना अधिक हमारी सेनाओं को अग्रेजी सेनाएँ सर्वथा पराभूत करने में सफल हो सकीं। इसका स्पष्ट कारण था उनका उत्तम कोटि का अनुशासन।

भूतकालीन इतिहास में अनुशासनहीनता हमारे विनाश का एक प्रमुख कारण रही है। सन् १७६१ में पानीपत का तृतीय युद्ध उदीयमान हिंदू स्वराज्य के लिए एक निर्णायक क्षण था। विशाल हिंदू सेना का सेनापति सदाशिवराव पेशवा था और आक्राताओं की सेना का अहमदशाह अब्दाली। जब हिंदू सेना के अधिकारी युद्धनीति का निर्णय करने के लिए मत्रणा करने बैठे थे, तब मल्हारराव होल्कर तथा कुछ अन्य लोगों ने शत्रु को परास्त करने के लिए गुरिल्ला-युद्ध का समर्थन किया। किंतु सदाशिवराव ने शत्रु को एक ही आघात में चूर-चूर कर देने के लिए सामने जमकर युद्ध करना अधिक उचित बताया। वैसा ही निर्णय लिया, कारण कि वह इस प्रकार के युद्धों में अद्वितीय सेनानायक के रूप में कई बार विजयश्री का वरण कर चुका था। इसपर मल्हारराव सहमत नहीं हुए और क्रोध में उन्होंने स्वय को युद्ध से विरत कर लिया। शेष सेना सदाशिवराव के नेतृत्व में युद्ध-क्षेत्र में उतरी। एक ऐसा निर्णायक क्षण उपस्थित हुआ, जब मल्हारराव होल्कर, जो कि युद्ध क्षेत्र से अधिक दूरी पर नहीं था, की थोडी-सी सहायता उस अतिम विनाशकारी पराजय को महान विजय में परिवर्तित कर देती और वह विजय सभवत हमारे इतिहास के सपूर्ण क्रम

को ही बदल देती, किंतु उसकी सेना केवल खडी देखती रही। परिणामत पानीपत में हमारी हिंदू सेनाओं का सपूर्ण उच्छेद एव हिंदू जाति के उत्कृष्ट वीरों का विनाश हुआ। यद्यपि दोनों का लक्ष्य एक ही था, अर्थात् शत्रु को खदेड कर बाहर करना, किंतु वे कार्य की एक समान पद्धति पर सहमत नहीं हो सके।

समय की माँग

अनुशासन की भावना, जो सघ की कल्पना के अनुसार राष्ट्र-पुनर्गठन के लिए आवश्यक है, केवल शरीर तक सीमित नहीं है। वह पुलिस अथवा फौज से नितात भिन्न प्रकार की है। एक बार एक मित्र ने मुझसे पूछा– 'आपका सगठन विक्रमादित्य द्वारा बनाए हुए सगठन जैसा है अथवा शकराचार्य की पद्धति का?' मैंने उत्तर दिया– 'वर्तमान काल में उनमें से किसी के द्वारा भी लाभ नहीं होगा। विक्रमादित्य के सैनिक सगठन ने कुछ काल के लिए शत्रु को निकाल बाहर करने का एक सीमित लक्ष्य सिद्ध किया और एक शती से कुछ अधिक काल तक रहा। किंतु इस प्रकार की पद्धति न तो हमारे लोगों को सदा के लिए एक कर सकती है और न उनमें चिरकालिक राष्ट्रीय सद्गुणों को ही अनुप्राणित कर सकती है। जहाँ तक बौद्धिक वाद-विवाद एव नैतिक शास्त्रार्थ की दूसरी पद्धति का सबध है, जिसे श्री शकराचार्य ने ग्रहण किया था, वह भी आज सफल नहीं हो सकती। क्योंकि उस काल में सप्राप्त बौद्धिक प्रामाणिकता तथा सच्चरित्रता का आज स्पष्ट अभाव है।

मडन मिश्र की पत्नी अपने पति और शकराचार्य के मध्य हुए प्रख्यात शास्त्रार्थ में निर्णायक बनकर बैठी और उसने अपना निर्णय शकराचार्य के पक्ष में दिया। शर्त के अनुसार मडन मिश्र तथा उसकी पत्नी– दोनों ही सन्यास लेकर उत्तम शिष्य बने। वर्तमान काल में इस प्रकार की अवस्था नहीं है। आज ऐसे लोग अत्यत अल्प हैं, जो बौद्धिक दृष्टि से इतने उन्नत और प्रामाणिक हों कि जिस बात को ठीक मानें, उसे स्वीकार कर तदनुसार कर्म करें।

यह हमारा एक सामान्य अनुभव है कि अधिकतर बडे-बडे नेता, जो सार्वजानिक रूप से सघ के विचारों का कठोरतापूर्वक विरोध करते हैं, अकेले में उसके प्रति अपनी पूर्ण सहमति प्रकट करते हैं। इसलिए हमने इस अनोखी पद्धति को विकसित किया है, जिससे हमारे सभी लोग एक

स्वप्रेरित, पूर्ण अनुशासित एव राष्ट्रभक्ति से पूर्ण शक्ति का रूप ग्रहण करें तथा उन्हें इस प्रकार शिक्षित किया जाए कि उनमें अपने विश्वासों के अनुसार कर्म करने का सामर्थ्य उदित हो।

सामान्य भ्रातियाँ

हम सघ में जिस अनुशासन का पालन करते हैं, उसके वास्तविक स्वरूप के सबध में बहुत सी भ्रातियाँ हैं। वे ही लोग, जो दड के भय अथवा धन और पद के लोभ से निर्माण हुए फौज व पुलिस के अनुशासन में सदैव रहने के अभ्यस्त हैं, जब सघ के कार्यक्रमों में व्याप्त और कार्यकर्ताओं के व्यवहार में पालन किए गए कठोर अनुशासन को देखते हैं, तो कहने लगते हैं कि सघ एक अर्ध-सैनिक सगठन, निजी सेना अथवा ऐसी ही कोई चीज है। यह उनके बहुत बडे अज्ञान को छिपाने तथा आत्मसयम और स्व-स्वीकृत अनुशासन द्वारा निर्मित सगठन के घटकों के व्यवहार में व्याप्त एकता की भावना, परस्पर सहकार्य, कार्योद्देश्य के लिए सपूर्ण समर्पण आदि की भावना को समझने में उनकी असमर्थता है।

इसी अज्ञान के कारण लोग हमसे पूछा करते हैं कि 'अणु और मिसाइल के इस युग में लाठी तथा इस प्रकार के पुराने शस्त्रों की आपकी शिक्षा से क्या लाभ?' वे इस बात को भूल जाते हैं कि अणुबम और मिसाइल जैसे शस्त्रास्त्रों का उपयोग करने की शिक्षा प्राप्त करना तो सेना का कार्य है। किसी भी देश में, यहाँ तक कि अमरीका और रूस में भी सामान्य लोगों के हाथों में इस प्रकार की वस्तुएँ देने की अनुमति नहीं है। उन देशों में भी जहाँ तक सामान्य जन का सबध है, उन्हें प्रारभिक शारीरिक व्यायामों और साधारण उपकरणों से ही शिक्षा दी जाती है। लोगों के हृदय में अपने शरीर एव मस्तिष्क को अनुशासित रखने के सस्कार जगाने के लिए ऐसी शिक्षा आवश्यक है।

कुछ और भी हैं, जिन्हें सभवत हमारे सगठन के नियमित कार्यक्रमों को करना कष्टकर प्रतीत होता है, कहते हैं कि वे किसी अनुबध से अपने को आबद्ध नहीं रखना चाहते और इसलिए भाँति-भाँति की बातें करते हुए कहते हैं कि यह तो व्यक्ति-स्वातत्र्य का युग है। इसी प्रकार के एक सज्जन ने सघ पर 'फासिस्ट' होने का आरोप मढा, क्योंकि उनके कथनानुसार सघ के सभी लोग कश्मीर से कन्याकुमारी तक, चाहे वे प्रौढ हों अथवा किशोर, किसी प्रश्न का एक ही प्रकार का उत्तर देते हैं। इससे

उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि संघ में विचारों की स्वतंत्रता नहीं है। मैंने उनसे पूछा– 'मैं कहता हूँ दो और दो चार होते हैं। आप क्या कहते हैं?' उन्होंने उत्तर दिया– 'हाँ, चार ही होते हैं।' मैंने कहा– 'तो आप बिलकुल जनतांत्रिक नहीं हैं। आपने तो वही उत्तर दिया है, जो मैंने दिया था। इसलिए आप भी फासिस्ट हैं।' किसी प्रश्न के लिए शुद्ध उत्तर तो एक ही हो सकता है, यह साधारण-सा तथ्य उन सज्जन की समझ में नहीं आया।

यह स्वाभाविक ही है कि संघ के स्वयंसेवक के मस्तिष्क में राष्ट्र-संबंधी सही दृष्टिकोण होने के कारण समय-समय पर उत्पन्न होनेवाली विभिन्न राष्ट्रीय समस्याओं के प्रति उसकी प्रतिक्रिया स्वयं-स्फूर्त रूप से एक प्रकार की ही हुआ करती हैं। इसे मानसिक सैनिकीकरण (रेजिमेंटेशन) समझने की भूल करना राष्ट्रवाद की भावना को सैनिकीकरण का उपकरण कहने के समान होगा। 'विचार-स्वातंत्र्य', 'वाणी-स्वातंत्र्य' आदि के आधुनिक एवं अपच विचार हमारे उन युवकों के मस्तिष्क में एक भयंकर उत्पात मचाए हुए हैं, जो स्वतंत्रता को 'स्वच्छंदता का अनुज्ञापत्र' और आत्मसंयम को 'मानसिक सैनिकीकरण' मानते हैं।

स्वयंसेवक एक ध्येयसेवी व्यक्ति

संघ में परिपोषित अनुशासन सुसंस्कृत लोगों का स्वाभाविक आत्मसंयम होता है। यह एक ऐसा अनुशासन होता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि राष्ट्र के प्रति उसका कर्तव्य महत्तर है तथा उसकी व्यक्तिगत और पारिवारिक आवश्यकताएँ रुकी रह सकती हैं। वह अपने को सुव्यवस्थित अंगांगिभाव से उस उच्चतर आह्वान के अनुरूप आचरण करने के लिए सिद्ध करता है। यह इस प्रकार का अनुशासन है, जिसमें सब अपनी प्रतिभा, भावना, कायिक शक्तियों एवं भौतिक संपत्ति को राष्ट्रीय कल्याण के महत्तर लक्ष्य की सेवा में संग्रहीत और संग्रथित करते हैं।

यही है वह स्वतःस्फूर्त, स्वेच्छया आत्मसंयम और स्वार्थत्याग की भावना, जो शाखा पर प्रशिक्षित व्यक्ति को अन्यों से अलग प्रकट कर देती है। वह एक 'स्वयंसेवक' कहा जाता है। स्वयंसेवक केवल एक वालंटियर ही नहीं होता, जैसा इन दिनों सामान्यतया समझा जाता है, जो किसी सार्वजनिक अवसर पर गणवेश धारण किए हुए इधर से उधर घूमता है और शारीरिक प्रदर्शनों में भाग लेता है। वह कोई निष्क्रिय सत्ता नहीं है, जो दूसरों की आज्ञानुसार बिना कुछ पारिश्रमिक लिए शारीरिक

करे। स्वयसेवक एक ध्येयसेवी व्यक्ति है, जिसकी एक राष्ट्रीय दृष्टि होती है। उसे यह अनुभूति तीव्रता से होती है कि उसे एक ऐसे राष्ट्र को सगठित करने की महती योजना को कार्यान्वित करना है, जो गत सहस्र वर्षों से अनेक कारणों से छिन्न-विच्छिन्न पड़ा हुआ है। वह इस ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह करने की तैयारी का दृढ निश्चय करता है। वह अपने स्वाभाविक आवेगों, सवेगों एव प्रवृत्तियों में साम्य स्थापित कर उनका निर्देश करना सीखता है, जिससे कि वह राष्ट्रीय पुनर्रचना के कार्य के लिए एक प्रभावी उपकरण बन सके। राष्ट्र की सेवा करते समय वह अपने मस्तिष्क से अपने लिए लाभ, सपत्ति, सत्ता, नाम और यश प्राप्त करने के सभी विचारों को मिटा देता है।

पारिवारिक भाव

यह पारिवारिक-भाव सघ-पद्धति के सभी विविध पहलुओं में व्यक्त होता है। जो स्वयसेवक सघ के विभिन्न शिक्षण-शिविरों और सम्मेलनों में भाग लेते हैं, वे कितने ही निर्धन क्यों न हों, सभी व्यय अपने ही पास से करते हैं। वे शिविर-शुल्क देते हैं, अपना गणवेश मोल लेते हैं, अपने आने-जाने का किराया देते हैं। वह यह सब प्रत्येक कार्य में स्वावलबन एव स्वार्थत्याग की भावना से स्फूर्त होकर करते हैं।

गुरुदक्षिणा की प्राचीन परपरा भी, जिसका सघ अनुसरण करता है, इसी भावना से युक्त है। वर्ष में एक बार गुरु-पूर्णिमा के शुभ पर्व पर प्रत्येक स्वयसेवक पवित्र गुरु भगवाध्वज का पूजन करता है और अपनी दक्षिणा समर्पित करता है। धन-सग्रह की प्रथा अथवा मासिक ओर वार्षिक चंदे के लिए सघ में कोई स्थान नहीं है। दक्षिणा-अर्पण पूजन के भाव से किया जाता है। स्वयसेवक अपने नाम व दक्षिणा को जनता में प्रकाशित भी नहीं करना चाहता। स्वयसेवक वास्तव में इसे त्याग नहीं समझता, वरन् इसे एक ऐसा स्वाभाविक कर्तव्य मानता है, जिसमें किसी चीज की, नाम की अथवा ख्याति की आशा करने का उसका अधिकार नहीं है। उन्हें तुकाराम के इस वचन की भावना के अनुसार प्रशिक्षित किया जाता है– 'आता उरलों उपकारा पुरता' (अब मेरा अस्तित्व केवल दूसरों की सेवा के लिए है।) ऐसे ही एक उत्स्फूर्त कवि के शब्द–

'तेरा वैभव अमर रहे माँ,
हम दिन चार रहें न रहें'–

सदैव स्वयंसेवक की आत्मा को उत्साहित करते रहते हैं।

किंतु दुर्भाग्य से आज अपने देश का सामान्य वातावरण एक आश्चर्यजनक विपरीतता उपस्थित कर रहा है। अपने त्याग की हुंडियाँ भुनाने का तथा अपनी सेवाओं के प्रतिदानस्वरूप कुछ माँगने की भावना का सभी जगह जोर है। ईश्वर की पूजा में भी नाम और यश की लालसा दिखाई देती है। हम मंदिरों में दान-दाताओं के नामांकित पत्थरों और पट्टिकाओं को देखते हैं। एक बार मेरी यात्रा में एक स्वामी जी मेरे साथ थे। उनके पात्र पर मैंने नाम खुदा हुआ देखा। नाम न तो उनका था और न उस आश्रम का ही था, जहाँ के वह थे। जब मैंने इसका कारण पूछा तो स्वामी जी ने कहा-- 'यह उस व्यक्ति का नाम है, जिसने बहुत बड़ी संख्या में इस प्रकार के पात्र आश्रम को भेंट किए थे'। क्या हम इसको दान कह सकते हैं? कुछ प्रतिदान, जो नाम प्राप्त करने के उद्देश्य से किया हुआ हो, दान नहीं, वरन् सौदा होता है। संघ में इस प्रकार का लाभपरायण भाव कभी विकसित नहीं होने दिया जाता। हम वास्तविक भक्ति से की गई दक्षिणा को वैसे ही उदात्ततम एवं उच्चतम मानते हैं, जैसा ईसा ने असीम संपत्तिवान व्यक्तियों द्वारा चर्च को दान दिए गए कोषों की अपेक्षा निर्धन वृद्धा के छोटे से सिक्के को उदारतर दान माना था।

सफलता की आधार शिला

विभिन्न पद्धतियाँ एवं परिपाटियाँ, जो संघ में विकसित हुई हैं, वे सभी इसी आत्मसमर्पण की भावना से स्फूर्त हैं तथा एक घंटे की शाखा उस भावना का उद्गम स्रोत है।

एक बार एक प्रौढ़ महिला अपनी गृहस्थी के विविध कार्यों को अपने बाएँ हाथ से कर रही थी। मैंने उससे इसका कारण पूछा उसने कहा कि वह अपने दाहिने हाथ को एक वर्ष के लिए परमात्मा को दे चुकी है, इसलिए उसका उपयोग उसकी पूजा में ही होगा। यद्यपि यह एक साधारण-सी प्रतिज्ञा है, किंतु इसके द्वारा दिन के विविध विभ्रांतकर क्रियाकलापों के बीच कितनी सुंदरता से ईश्वर-भक्ति की भावना प्रतीकात्मक रूप से निरूपित हुई है। वस्तुतः शाखा की मनुष्य निर्माण की प्रक्रिया, जिसके अंतर्गत 'एक घंटा समर्पण' आवश्यक होता है, के पीछे यही भाव है। इसके द्वारा उसमें भाग लेनेवाले मनुष्य संस्कारित होकर जीवन-पर्यंत समर्पित भाव से उद्यम के लिए तैयार होते हैं।

लोग प्राय इस बात पर आश्चर्य करते हैं कि क्या यह एक घंटे का छोटा-सा कार्यक्रम समाज में एक ऐसा अति श्रेष्ठ एव सशक्त परिवर्तन लाने में समर्थ होगा, जिसकी सघ ने कल्पना की है? यह एक अचूक अनुभव की बात है कि लोग जीवत उदाहरणों का अनुसरण किया करते हैं, शुष्क आदर्शों का नहीं। यह एक घटे का प्रशिक्षण राष्ट्रीय चारित्र्य की ऐसी जीवत प्रतिमाओं को आकार देता है, जिनमें से एक अबाध शक्ति विकीर्ण होती है, जो लोगों को उनके मार्ग पर खींच लाती है।

श्री रामकृष्ण के जीवन की एक बोधकारी घटना का उदाहरण लीजिए। एक बार एक महिला अपने बच्चे को उनके पास लाई और उनसे प्रार्थना की कि इसे मिठाई खाने की आदत पड गई है, जिससे कि इसका स्वास्थ्य बिगड रहा है। अत आप ऐसा कुछ उपाय कर दें कि यह मिठाई खाना छोड दे। श्री रामकृष्ण ने उससे एक सप्ताह के बाद आने को कहा। वह आई, किंतु उन्होंने पुन कुछ दिनों के पश्चात् आने को कहा। जब वह फिर आई तो श्री रामकृष्ण ने बच्चे को अपने निकट बुलाया और उससे कहा कि 'प्यारे बच्चे, अधिक मिठाई खाना अच्छा नहीं, इसे छोड दो।' बच्चे ने तुरत उसे छोडने का वचन दिया। उस दिन से बच्चे ने मिठाई का परित्याग कर दिया। एक शिष्य ने जो इस बात को ध्यानपूर्वक देख रहा था, श्री रामकृष्ण से पूछा– 'महाराज! आपने उस बच्चे से मिठाई न खाने के लिए पहले ही दिन क्यों नहीं कह दिया? उस महिला को इतनी दूर से तीन बार बुलाने की क्या आवश्यकता थी?' श्री रामकृष्ण ने उत्तर दिया– 'मुझमें भी मिठाई अधिक खाने की दुर्बलता है। फिर मैं किस प्रकार उस बच्चे को उस दुर्बलता से त्यागने के लिए कह सकता था? यदि मैं उसे उपदेश भी देता तो मेरे शब्दों का उस बच्चे पर कोई प्रभाव नहीं होता। इसलिए मैंने उस महिला को पुन आने के लिए कहा, किंतु इस कालावधि में मैं इस बात पर ध्यान नहीं दे पाया। अत मुझे उसे एक बार पुन बुलाना पडा। पश्चात् मैंने मिठाई की अनुरक्ति पूर्ण रूप से त्याग दी और बच्चे को उपदेश देने की योग्यता अपने में अनुभव करने लगा।'

मानवीय अनुभव का एक और भी तथ्य है कि शक्ति की सभी ओजस्वी अभिव्यक्तियाँ एव प्रयास अपरिहार्यत अनेक छोटे-छोटे प्रयासों से मिलकर बनते हैं।

हमारे एक मित्र ने तीर्थयात्रा से लौटने पर अपना एक अनुभव बताया था। वह एक मुसलमान पीर की दरगाह पर भी गए थे। मौलवी वहाँ

जानेवालों से निकट पड़े हुए एक बड़े पत्थर को उठाने के लिए कहता था। जब वे प्रयत्न करके असफल हो जाते थे, तो वह सबको एक साथ अपने हाथ उस पत्थर में लगाने को कहता और 'पीर साहब की फतेह' की ध्वनि के साथ उसे उठाने की आज्ञा देता था। पत्थर उठ जाता था। यह उस पीर का चमत्कार माना जाता था। उस चमत्कार को सुनने के बाद मैंने कुछ स्वयसेवकों को बुलाया और उनसे उससे भी बड़े पत्थर में एक-एक उँगली लगाने के लिए कहा और 'जय' की ध्वनि के साथ उसे उठाने को कहा कितना आश्चर्य कि वह पत्थर उस पीर के पत्थर से भी अधिक ऊँचाई तक उठ गया। तब पीर साहब की चमत्कारिक शक्ति का भेद खुल गया। उस शक्ति का रहस्य यही है कि छोटे-छोटे प्रयासों के टुकडे एक समन्वित रूप में प्रयुक्त हो गए और तब 'जय' की ध्वनि भी उसके लिए एक सहायता बन गई। इस प्रकार लाखों मनुष्य समर्पण एव अनुशासित कर्म की भावना से एक-एक घटा प्रतिदिन देते हुए कठिनतम कार्यों को पूर्ण कर सकते हैं तथा हमारे राष्ट्रजीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकते हैं।

सपूर्ण ऐक्य के लिए बीज-केद्र

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या करोडों व्यक्तियों को सघस्थान पर लाकर खडा करना और उनसे शाखा के प्रतिदिन के कार्यक्रमों को कराना सभव है? सघ तो केवल पुरुषों तक ही सीमित है, आधा समाज, अर्थात् स्त्रियाँ दैनिक शाखा पर नहीं आ सकतीं, फिर वृद्ध और बच्चों का भी एक बहुत बडा वर्ग निकल जाता है तथा ऐसे भी बहुत से लोग हैं, जो भाँति-भाँति के अपरिहार्य कारणों से शाखा की शिक्षा के नियमित कार्यक्रमों में भाग नहीं ले पाते, तब हम व्यक्ति-निर्माण की इस दैनिक प्रक्रिया के द्वारा सपूर्ण समाज को पुन सगठित करने में कैसे सफल होंगे?

एक घटे की शाखा से अलग कार्य के इस प्रमुख अग को भी पूरा करने के लिए स्वयसेवक अपने समाज-बधुओं से मिलते हैं, उनके सुख-दुख में हिस्सा बँटाते हैं और अपने निर्मल चरित्र, सर्वव्यापी प्रेम की भावना एव अनुशासित और समर्पित सेवा के द्वारा उनके हृदयों में विश्वास जागृत करते हैं। इस प्रकार स्वयसेवकों, उनसे सहानुभूति रखनेवालों तथा मित्रों के घरों में सभी आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सघ-भावना से आपूर्ण हो जाते हैं। शाखा उस क्षेत्र के लोगों के सामूहिक प्रेम एव इच्छाशक्ति की प्रतीक और

अग्रणी हो जाती है। इस प्रकार सतत एव शातिपूर्वक ये प्रतिदिन के और शेष दिन भर के 'हृदय के हृदय से सपर्क' समाज के सभी वर्गों को आवेष्टित कर लेते हैं। वे लोग भी, जो शाखा के प्रशिक्षण में प्रतिदिन भाग नहीं ले पाते, राष्ट्र के लक्ष्य के प्रति पारस्पारिक प्रेम और श्रद्धा के अटूट बधन में बँध जाते हैं।

गगा का समुद्र मे विलीन होना

इस प्रकार असीम धैर्य एव सतत उद्योग के साथ स्वयसेवक छोटे-छोटे ग्रामों और नगरों में पहुँचते हैं और प्रत्येक हृदय को स्पर्श करते हैं। सभी स्थानों पर राष्ट्रीय एकता का यही पवित्र वातावरण वे अपने साथ ले जाते हैं। भाषा, प्रात, भोजन और वस्त्र के भासमान भेद से उत्पन्न विघटन उनकी प्रभावी उपस्थिति के सामने लुप्त हो जाते हैं। ग्रामों में और सुदूर वनों के निवासियों में भी वे उस भाषा में बात करते हैं, जिसे वे लोग समझते हैं। वे राम और सीता की कहानियाँ तथा हमारे महान सतों एव वीरों के आख्यान सुनाते हैं। सपूर्ण देश में फैले हुए पवित्र स्थानों का वर्णन करके उनके मस्तिष्कों में अपनी मातृभूमि की पविन प्रतिमा को अकित करते हैं। धार्मिक और सामाजिक उत्सवों द्वारा एक व्यापक राष्ट्रीय भ्रातृत्व भावना का उन्हें बोध कराते हैं और इस प्रकार उन्हें राष्ट्रीय शक्ति के एक अक्षय प्रवाह के रूप में परिणत कर देते हैं।

स्वयसेवक नियमित रूप से मडल, जिला, प्रात और अखिल भारतीय स्तरों पर भी मिला करते हैं। शिक्षण-शिविर चलाए जाते हैं, जो राष्ट्रीय एकता की व्यावहारिक प्रक्रिया है। इस कल्पना से स्फूर्त एव सघकार्य की पद्धति में प्रशिक्षित स्वयसेवक इस राष्ट्रधर्म की ज्योति को देश के कोने-कोने में ले जाते हैं। इस प्रकार के जीवनों को देखकर सामान्य लोग भी राष्ट्र के हित में त्याग करने और कष्ट सहने के लिए प्रेरणा प्राप्त करते हैं। वैभवशाली और निर्धन– सभी लोग स्वेच्छा से उनके पदचिह्नों पर चलने के लिए खिचे चले आते हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय पुनर्गठन के लिए सपूर्ण समाज की अतर्निहित शक्तियाँ उन्मुक्त हो जाती हैं और पुनरुत्थानशील तथा पुनर्गठित राष्ट्रीय जीवन का स्वप्न सजीव हो उठता है।

इस स्थिति का निर्माण होने पर राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्र स्वयसेवकों द्वारा स्थापित परपरा चलाने के स्वचालित केंद्र बन जाएँगे। पीढी के बाद पीढी को ढालने के लिए सस्कार देने की यह प्रक्रिया बराबर

चलती रहेगी। इस प्रकार राष्ट्रीय पुनर्संगठन तथा पुनरुत्थान के लिए अविरल जीवन-स्रोत का काम देगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे राष्ट्रजीवन में सघ ने जिस प्रक्रिया को चालू किया है, वह अनत और सर्वग्राही है। सगठित राष्ट्रजीवन की स्वाभाविक दशा का स्वप्न साकार होने पर उसकी सभी सस्थाएँ और परपराएँ बुद्धिमत्ता एव तत्परता के साथ राष्ट्रीय सस्कारों के जीवत बीजों का सिचन करेंगी। उस समय सघ का अलग सस्थागत नाम और स्वरूप बनाए रखने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी। तब सघ राष्ट्र में उसी प्रकार विलीन हो जाएगा जिस प्रकार गगा समुद्र में विलीन हो जाती है।

३ अप्रतिम कार्य प्रणाली

प्रतिष्ठापित तथ्य

विगत चालीस वर्षों का सघ-वृद्धि का इतिहास और इस अवधि में हुए सघकार्य के हितकारी परिणाम इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि सघ के महान सस्थापक की दृष्टि अत्यत व्यावहारिक थी। जिस कार्यप्रणाली का विकास उन्होंने किया, उसने अपनी श्रेष्ठता पूर्णतया सिद्ध कर दी है। यह तथ्य अब भली-भाँति प्रतिष्ठापित हो चुका है और सघ से असबद्ध लोग भी इसे स्वीकार करते हैं कि सघ की कार्यप्रणाली एक सफल कार्यप्रणाली है।

पावन धूलि

एक बार पजाब में एक बडे सैनिक अधिकारी मुझे मिले। उन्होंने प्रश्न किया— 'सघ में कौन-सी विशेष शिक्षा मिलती है?' मैंने उत्तर दिया— 'केवल खेलने और गीत गाने की।' उन्होंने पुन पूछा— 'यह कैसे हो सकता है? आप लोग उन्हें इसके अतिरिक्त भी कुछ अवश्य सिखाते होंगे। मैं व्यक्तिगत रीति से भारत-विभाजन के विकट दिनों की पजाब की अनेक घटनाएँ जानता हूँ, जब सघ के अनेक स्वयसेवकों ने वीरता और बलिदान में हमारे प्रशिक्षित सैनिकों को मात कर दिया। मुझे यह भी वि

उनमें से अनेकों ने लोगों की रक्षा में हँसते-हँसते अपने प्राणों की बलि चढा दी। इसी से मुझे यह जानने की उत्सुकता है कि वह कौन-सी विशेष शिक्षा है, जिसके कारण आपके सघ के लोग ऐसे सूरमा बन जाते हैं।' मैंने उन्हें अपनी सघ-शाखा के सहज और सरल कार्यक्रम की रूपरेखा समझाई और कहा कि हमारी समस्त शिक्षा 'कबड्डी' इस एक शब्द से व्यक्त होती है। मेरी इस बात को सुनकर वे अत्यत अविश्वास-युक्त दृष्टि से मेरा मुँह देखने लगे।

वास्तव में अपने सघस्थान की पावन धूलि में ही वह शक्ति निहित है, जहाँ महिमामयी मातृभूमि के पुत्र प्रचुर सख्या मे एकत्र होकर खेलते, अपनी देवीस्वरूपा मातृभूमि भारत माता का यशोगान करते और उसकी गौरव-वृद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं। यह वही भाव है जिसके कारण वेलिगटन के ड्यूक के मुख से यह प्रसिद्ध उद्‌गार निकला था– 'वाटरलू का युद्ध एटन और हैरो के मैदानों में जीता गया था।'

अनुपम कार्य-शैली

आजकल विशेष रीति से जब विघटनकारी शक्तियाँ हमारे राष्ट्र को छिन्न-विच्छिन्न करने को उद्यत हैं, एकमात्र सघ की शाखा द्वारा ही सपूर्ण समाज को एकत्र आने और अक्षुण्ण राष्ट्रीय एकता के सजीवन-स्रोत का रसपान करने का उच्च स्वर से आह्वान मिलता है। सघ के प्रारभिक दिनों, जब सघ के पूजनीय जन्मदाता जीवित थे, की एक घटना है, जिससे सघ की कार्यपद्धति की सक्षमता का अनुमान लग सकता है। सन् १९३४ में वर्धा में सघ-शिविर लगा, जिसमें एक सहस्र से अधिक स्वयसेवक बैरकों और तबुओं में आवास कर रहे थे। निकट ही गाँधी जी का आश्रम था। शिविर में इन नवयुवकों की चहल-पहल देखकर उन्होंने शिविर का अवलोकन करने की इच्छा प्रकट की। तदनुसार वर्धा के सघचालक जी, जो पहले प्रातीय काग्रेस कमेटी के मत्री भी रह चुके थे, गाँधी जी को आदरपूर्वक शिविर में लाए। गाँधी जी ने शिविर में आकर वहाँ की आवास एव भोजनादि सबधी सपूर्ण व्यवस्था का अवलोकन किया और पूछा– 'शिविर में भाग लेनेवालों में हरिजन कितने हैं?' सघचालक जी ने कहा– 'मुझे इसकी जानकारी नहीं, कारण मैंने इस सबध में कभी पूछताछ नहीं की।' इसपर गाँधी जी ने कहा– 'तो कृपा कर, अब पूछकर मुझे बताए।' सघचालक जी बोले 'यह मुझसे न होगा। हम सघ के लोगों के लिए तो ये

सब हिंदू हैं, यही पर्याप्त है।' गाँधी जी ने कहा– 'तो फिर मैं स्वय पूछ लूँ?' सघचालक जी ने उत्तर दिया– 'जैसी आपकी इच्छा।' सभी स्वयसेवकों से प्रत्यक्ष एव अत्यत आग्रहपूर्वक बार-बार पूछने पर गाँधी जी को विदित हुआ कि शिविर में हरिजनों सहित सभी जातियों के लोग थे और एक-दूसरे की जाति के सबध में बिना किसी प्रकार का विचार किए वे सघ-शिविर के सभी कार्यक्रमों में खाने-पीने से लेकर खेलने कूदने तक– आनद और समरसतापूर्वक साथ-साथ भाग ले रहे थे। यह देखकर उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इसके पश्चात् डाक्टर जी ने महात्मा जी से भेंट की और सघ की कार्यप्रणाली को स्पष्ट करते हुए उन्हें बताया कि सघ, जो सपूर्ण देश में एकता और सगठन की स्थापना करने में सफल हो रहा है, उसका रहस्य यह है कि हम समाज में अतर्निहित एकता के तत्त्वों को विशेष महत्त्व देते हैं और विभेदों की उपेक्षा करते हैं।

सभी दृष्टियो से सफल

ऐसे अनेक अवसर आए हैं, जब स्वयसेवकों के अनुशासन एव समर्पण-भाव की परीक्षा हुई और शाखा की व्यक्ति-निर्माण की प्रक्रिया कसौटी पर कसी गई और ऐसी प्रत्येक परीक्षा की आँच में तपकर स्वयसेवकत्व रूपी कुदन और अधिक निखरा व चमका है। सन् १९४८ में जब सरकार ने न्याय के सभी सिद्धातों को तिलाजलि देकर सघ पर प्रतिबध लगा दिया था, तब सघ को राष्ट्रजीवन में न्याय और सत्य के पक्ष का मडन करने हेतु देशव्यापी आदोलन करना पडा। सरकार के समस्त प्रयत्नों के बावजूद इस आदोलन को दबाया नहीं जा सका। इस आदोलन की पूर्ण सफलता से यह प्रमाणित हो गया कि सघ की कार्य-प्रणाली में राष्ट्र-हितार्थ असीम बलिदान, शौर्य तथा अनुशासन के सस्कार करने की अद्वितीय शक्ति है।

हम अपने चारों ओर जो अन्य कार्यपद्धतियाँ देखते हैं, निश्चय ही ये शोर मचाने में विश्वास करती हैं, किंतु उस शोर के पीछे उसके अदर क्या है, यह विचारणीय प्रश्न है। निस्संदेह ढोल बहुत जोर का शब्द करता है, लेकिन अदर उसमें पोल ही पोल होती है। इसी से दूसरे लोगों के द्वारा जोर-जोर से ढोल पीटने तथा डिमडिम बजाने से सघ का स्वयसेवक रचमात्र भी प्रभावित नहीं होता। सघ के पास ऐसी कार्यपद्धति है, जिसने पुनरुत्थानशील एव पुन सगठित राष्ट्रजीवन के स्वप्न को साकार करने में अपनी उपादेयता सब दृष्टियों से प्रमाणित कर दी है।

आदर्शानुकूल प्रणाली

हम सब यह जानते हैं कि सभी महान व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं होते और सभी प्रसिद्ध व्यक्ति महान नहीं होते। ऐसे ही एक महान किंतु अप्रसिद्ध, विशेष व्यक्तित्वसपन्न पुरुष के जीवन का एक दृष्टात है। एक बार किसी यूरोपियन ने उनसे कहा— 'आप हिंदू लोगों की कैसी अजीब पोशाक है। आप लोग धोती पहनते हैं। जरा लडाई करनी पडे तो आप लोग उसमें उलझ कर गिरे बिना न रहें।' उन महापुरुष ने तत्क्षण उत्तर दिया— 'आपसे यह किसने कहा कि हम सदा युद्ध के लिए समुद्यत रहते हैं? हम हिंदू लोग सुसस्कृत मनुष्य हैं और हम विश्व-शाति का विचार करते हैं। हमारा आदर्श वाक्य है— ओ३म् शाति , शाति , शाति । तदनुरूप ही हमारा आचार और वेशभूषा है। आप यूरोपीय जनों का चित्त सदा विक्षुब्ध रहता है, आप लोग सदा कट्टर शत्रु के रूप में एक दूसरे का गला काटने को तैयार रहते हैं। इसलिए आप ऐसी वेश-भूषा धारण करते हैं, मानो सदैव ही रणक्षेत्र में हों। हम निर्भय तथा शातिप्रिय हैं, इसलिए तदनुकूल वेश-भूषा धारण करते हैं। हम युद्ध का बाना तभी धारण करते हैं, जब हमें कोई उसके लिए ललकारता है।' कितना उचित उत्तर था यह।

हमारी कार्य-विधि भी इसी प्रकार हमारे द्वारा अगीकृत विशिष्ट लक्ष्य के नितात अनुकूल है। बहुधा हमारी शाखा का अत्यत साधारण और सज्जाशून्य खुरदरा स्वरूप अनेक अत्यत बुद्धिसपन्न व्यक्तियों को भी चकरा देता है और तब उनके मन में शका उठने लगती है कि क्या शाखा-कार्यक्रम द्वारा ऐसे उदात्त लक्ष्य की प्राप्ति सभव है? मान लो कि कोई माली बाग में आम के फलों का उत्पादन करना चाहता है। क्या वह अधिक सुस्वादु फलों की प्राप्ति हेतु आम के बीज को शहद से भरे और इत्र से सुवासित गमले में बोएगा? इसके विपरीत क्या वह आम के बीज को खाद से युक्त मिट्टी में नहीं बोएगा? यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि बहिरग का खुरदरापन, शक्ति और चारित्र्य के सस्कार डालने के लिए अत्यत आवश्यक है।

वयस्कों का दायित्व

अपनी शाखा के दैनदिन कार्यक्रमों के बाह्य रूप को देखने से अपने समाज में विशेषतया वयस्क प्रौढ वर्ग में यह भ्रात धारणा निर्मित हुई है कि हमारे नित्य के खेलकूद, व्यायाम, गीत एव प्रार्थना इत्यादि के कार्यक्रम केवल बालों और तरुणों के लिए हैं तथा प्रौढों का काम केवल

सहानुभूति प्रदर्शन करने एवं अल्पवयस्कों को आशीर्वाद, प्रोत्साहन तथा सहायता देने का ही है। यह तो अपने संगठन की मूल भावना को न समझने जैसा होगा। जब हम कहते हैं कि हमारा कार्य समाज के संगठन का है, तब हमारा तात्पर्य समाज की वर्तमान पीढ़ी से ही होता है और वर्तमान समाज की पीढ़ी से हमारा तात्पर्य समाज के प्रौढ़ वर्ग– गृहस्थजनों से होता है। बालकों को 'वर्तमान समाज' कोई नहीं कहता। यदि कुछ नंग-धड़ंग बच्चे नगर की किसी सड़क पर खेल रहे हों, तो उन्हें देखकर क्या कोई यह कहेगा कि अमुक नगर के नागरिक सड़क पर नंग-धड़ंग होकर खेलते रहते हैं? अंततोगत्वा बालक कल का समाज, अर्थात् भावी पीढ़ी मात्र हैं। अतः समाज के संगठन का कार्य पूर्णतया वर्तमान पीढ़ी, अर्थात् प्रौढ़ वर्ग पर ही आ पड़ता है और उन्हीं को राष्ट्र के पुनः संगठन के इस महान व्रत की पूर्ति के लिए आगे बढ़कर काम करना होगा।

जब यह बात प्रौढ़ों के सम्मुख रखी जाती है, तब वे दो कारणों से अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। पहला कारण वे समयाभाव बताते हैं। किंतु क्या यह सत्य नहीं है कि क्षमतावान व्यस्त व्यक्ति ही सार्वजनिक क्षेत्र में अतिरिक्त कार्य करने के लिए समय निकाल सकता है। एक बार इसको अपना परमावश्यक कर्तव्य समझने लगे, फिर तो वह स्वयं ही अपने शेष कार्यों का समायोजन इसके साथ कर लेगा और इस कार्य के लिए कुछ समय निकाल लेगा। आलसी और निकम्मा मनुष्य ही समय की कमी की दुहाई देता है। इस बात से यद्यपि विरोधाभास जान पड़ता है, किंतु यथार्थता यही है।

दूसरा कारण यह है कि वे यह सोचते हैं कि इतने सभ्रांत और वयस्क व्यक्ति होकर उन्हें हाफ-पैंट पहनकर निरे बालकों के समान इधर-उधर घूमना और शारीरिक कार्यक्रमों में भाग लेना शोभा नहीं देता। यह उन्हें अपनी मान-मर्यादा के प्रतिकूल जान पड़ता है। किंतु क्या यह मनोवृत्ति उचित है? यदि सचमुच ही समाज में हमारी मान-प्रतिष्ठा है, तो यह हमारे आंतरिक गुणों एवं योग्यताओं के कारण है अथवा वस्त्र-भूषा के कारण? यदि हम यह सोचते हों कि प्रतिष्ठा का कारण वस्त्र-सज्जा है, तब तो इसका समस्त श्रेय दर्जी या धोबी को मिलना चाहिए। यदि हममें आंतरिक गुणों या श्रेष्ठता का लेश भी नहीं है, तब बाह्य सज्जा इस अभाव की पूर्ति में क्वचित ही सहायक हो सकती है। इस संबंध में हमें एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर चलना चाहिए। भगवद्गीता में

आदर्शानुकूल प्रणाली

हम सव यह जानते हैं कि सभी महान व्यक्ति प्रसिद्ध नहीं होते और सभी प्रसिद्ध व्यक्ति महान नहीं होते। ऐसे ही एक महान किंतु अप्रसिद्ध, विशेष व्यक्तित्वसपन्न पुरुष के जीवन का एक दृष्टात है। एक वार किसी यूरोपियन ने उनसे कहा— 'आप हिंदू लोगों की कैसी अजीव पोशाक है। आप लोग धोती पहनते हैं। जरा लडाई करनी पडे तो आप लोग उसमें उलझ कर गिरे विना न रहें।' उन महापुरुष ने तत्क्षण उत्तर दिया— 'आपसे यह किसने कहा कि हम सदा युद्ध के लिए समुद्यत रहते हैं? हम हिंदू लोग सुसस्कृत मनुष्य हैं और हम विश्व-शाति का विचार करते हैं। हमारा आदर्श वाक्य है— ओ३म् शाति , शाति , शाति । तदनुरूप ही हमारा आचार और वेशभूषा है। आप यूरोपीय जनों का चित्त सदा विक्षुब्ध रहता है, आप लोग सदा कट्टर शत्रु के रूप में एक दूसरे का गला काटने को तैयार रहते हैं। इसलिए आप ऐसी वेश-भूषा धारण करते हैं, मानो सदैव ही रणक्षेत्र में हों। हम निर्भय तथा शातिप्रिय हैं, इसलिए तदनुकूल वेश-भूषा धारण करते हैं। हम युद्ध का वाना तभी धारण करते हैं, जब हमें कोई उसके लिए ललकारता है।' कितना उचित उत्तर था यह।

हमारी कार्य-विधि भी इसी प्रकार हमारे द्वारा अगीकृत विशिष्ट लक्ष्य के नितात अनुकूल है। वहुधा हमारी शाखा का अत्यत साधारण और सज्जाशून्य खुरदरा स्वरूप अनेक अत्यत वुद्धिसपन्न व्यक्तियों को भी चकरा देता है और तव उनके मन में शका उठने लगती है कि क्या शाखा-कार्यक्रम द्वारा ऐसे उदात्त लक्ष्य की प्राप्ति सभव है? मान लो कि कोई माली वाग में आम के फलों का उत्पादन करना चाहता है। क्या वह अधिक सुस्वादु फलों की प्राप्ति हेतु आम के बीज को शहद से भरे और इत्र से सुवासित गमले में वोएगा? इसके विपरीत क्या वह आम के बीज को खाद से युक्त मिट्टी में नहीं वोएगा? यह अनुभव-सिद्ध तथ्य है कि वहिरग का खुरदरापन, शक्ति और चारित्र्य के सस्कार डालने के लिए अत्यत आवश्यक है।

वयस्कों का दायित्व

अपनी शाखा के दैनदिन कार्यक्रमों के वाह्य रूप को देखने से अपने समाज में विशेषतया वयस्क प्रौढ वर्ग में यह भ्रात धारणा निर्मित हुई है कि हमारे नित्य के खेलकूद, व्यायाम, गीत एव प्रार्थना इत्यादि के कार्यक्रम केवल वालों और तरुणों के लिए हैं तथा प्रौढों का काम केवल

सहानुभूति प्रदर्शन करने एव अल्पवयस्कों को आशीर्वाद, प्रोत्साहन तथा सहायता देने का ही है। यह तो अपने सगठन की मूल भावना को न समझने जैसा होगा। जब हम कहते हैं कि हमारा कार्य समाज के सगठन का है, तब हमारा तात्पर्य समाज की वर्तमान पीढी से ही होता है और वर्तमान समाज की पीढी से हमारा तात्पर्य समाज के प्रौढ वर्ग– गृहस्थजनों से होता है। बालकों को 'वर्तमान समाज' कोई नहीं कहता। यदि कुछ नग-धडग बच्चे नगर की किसी सडक पर खेल रहे हों, तो उन्हें देखकर क्या कोई यह कहेगा कि अमुक नगर के नागरिक सडक पर नग-धडग होकर खेलते रहते हैं? अततोगत्वा बालक कल का समाज, अर्थात् भावी पीढी मात्र है। अत समाज के सगठन का कार्य पूर्णतया वर्तमान पीढी, अर्थात् प्रौढ वर्ग पर ही आ पडता है और उन्हीं को राष्ट्र के पुन सगठन के इस महान व्रत की पूर्ति के लिए आगे बढकर काम करना होगा।

जब यह बात प्रौढों के सम्मुख रखी जाती है, तब वे दो कारणों से अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। पहला कारण वे समयाभाव बताते हैं। किंतु क्या यह सत्य नहीं है कि क्षमतावान व्यस्त व्यक्ति ही सार्वजनिक क्षेत्र में अतिरिक्त कार्य करने के लिए समय निकाल सकता है। एक बार इसको अपना परमावश्यक कर्तव्य समझने लगे, फिर तो वह स्वय ही अपने शेप कार्यों का समायोजन इनके साथ कर लेगा और इस कार्य के लिए कुछ समय निकाल लेगा। आलसी और निकम्मा मनुष्य ही समय की कमी की दुहाई देता है। इस बात से यद्यपि विरोधाभास जान पडता है, किंतु यथार्थता यही है।

दूसरा कारण यह है कि वे यह सोचते हैं कि इतने सभ्रात और वयस्क व्यक्ति होकर उन्हें हाफ-पैंट पहनकर निरे बालकों के समान इधर-उधर घूमना और शारीरिक कार्यक्रमों में भाग लेना शोभा नहीं देता। यह उन्हें अपनी मान-मर्यादा के प्रतिकूल जान पडता है। किंतु क्या यह मनोवृत्ति उचित है? यदि सचमुच ही समाज में हमारी मान-प्रतिष्ठा है, तो वह हमारे आतरिक गुणों एव योग्यताओं के कारण है अथवा वस्त्र-भूषा के कारण? यदि हम यह सोचते हों कि प्रतिष्ठा का कारण वस्त्र-सज्जा है, तब तो इसका समस्त श्रेय दर्जी या धोबी को मिलना चाहिए। यदि हममें आतरिक गुणों या श्रेष्ठता का लेश भी नहीं है, तब बाह्य सज्जा इस अभाव की पूर्ति में क्वचित ही सहायक हो सकती है। इस सबध में हमें एक महत्त्वपूर्ण दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर चलना चाहिए। भगवद्गीता में

कहा गया है–

यद्यदाचरति श्रेष्ठ तत्तदेवेतरो जन। (गीता, ३-२१)

(श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, अन्य व्यक्ति भी वैसा ही करते हैं।) जब वास्तविक श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा से युक्त समाज के प्रौढ वर्ग के लोग किसी श्रेष्ठ आदर्श के अनुरूप आचरण करते हैं, तो वह समाज के लोगों के लिए भी सम्मान्य और स्वीकार्य हो जाता है। जब महात्मा गाँधी और पडित मदनमोहन मालवीय जी गोलमेज परिषद् में सम्मिलित होने के लिए इग्लैंड गए थे, तो स्वदेशी वेशभूषा में ही गए थे। इससे उनकी प्रतिष्ठा को कोई आँच नहीं आई, उल्टे उनके प्रति लोगों का सम्मान और बढ गया।

आज वयस्क पीढी के कधों पर विशेष उत्तरदायित्व आ पडा है कि विघटन और भ्रष्टता के विषैले कीटाणुओं से भरे हुए वर्तमान विषाक्त वायुमडल से अपनी खिलती हुई नई युवा पीढी को बचाएँ, उसकी रक्षा करें, ताकि राष्ट्र को उसके स्वाभाविक गौरव और महानता के उच्चतम शिखर तक पहुँचाने में समर्थ उदात्त और पौरुषयुक्त मनुष्यत्व के रूप में वह फले-फूले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें राष्ट्र-सगठन के लक्ष्य, जिसे करने में सघ अनेक वर्षों से सफलतापूर्वक जुटा हुआ है, को अपने दैनिक जीवन में जीवत उपकरण के रूप में स्वय के उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करना होगा।

शुभ लक्षण

एक बार स्वामी विवेकानद की मनोनीत शिष्या भगिनी निवेदिता ने कहा था– 'यदि सभी हिंदू मिलकर प्रतिदिन प्रात साय केवल १० मिनट सामूहिक प्रार्थना किया करें, तो केवल इतना करने से ही हिंदू-समाज अपराजेय बन जाएगा।' राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ की दैनदिन शाखा के द्वारा उस समर्पित महान आत्मा के उत्कट भावपूर्ण स्वप्न के साकार होने के पूर्व-लक्षण प्रकट होने लगे हैं।

अपने पुनीत राष्ट्र के चरणों में समर्पित एव अनुशासित, राष्ट्रव्यापी सूत्रबद्ध, भ्रातृभाव के पुनर्निर्माण के सतत, मौन, अथक तथा नित्य चलनेवाले कार्य, अर्थात् शाखा के परम आह्वान को हम सब सुनें और तदर्थ उठकर खडें हों, यही आज की आवश्यकता है।

४ वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय चारित्र्य

हमारी धारणा

हमारी राष्ट्रीय परपरा में चरित्र का सदैव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। चरित्र के दो पहलू होते हैं। एक वैयक्तिक है और दूसरा वह, जो हमारे और समाज के पारस्परिक सबधों के रूप में प्रकट होता है। चरित्र के ये दोनों पहलू निर्दोष एव पवित्र होने चाहिए। किंतु इन दिनों प्राय यह सुना जाता है कि यदि व्यक्ति सामाजिक क्षेत्र में भली प्रकार कार्य करता है, तो उसके व्यक्तिगत व्यवहार की ओर देखने की क्या आवश्यकता है? सभव है वह अनेक बुराइयों में लिप्त हो। चूँकि वह जनहित के कार्य में लगा हुआ है, अत उसके व्यक्तिगत जीवन में क्यों झाँका जाए?

जो भी हो, हमारी सस्कृति ने वैयक्तिक चारित्र्य की पवित्रता को श्रेष्ठ स्थान दिया है। हमने ऐसे व्यक्ति, जो स्वार्थी हो अथवा जिसमें शराब, स्त्री और धन की लिप्सा जैसे अनेक दुर्गुण हों, को कभी भी महात्मा नहीं कहा। हमारे लिए महात्मा अन्य सब बातो से बढकर पवित्र और आत्मसयमी चरित्रवाला व्यक्ति है। अत्यत प्राचीन युग-द्रष्टाओं से लेकर आज तक के महान व्यक्तियों तक सभी का जीवन पूर्ण रूप से पवित्र है। जिनको हम अपनी सस्कृति और दर्शन के आदर्श के रूप मानते हैं, उनके विचार, वाणी और कार्य का सभी उच्च सत्यों के साथ स्वरैक्य था। केवल ऐसे ही व्यक्ति हमारी राष्ट्रीय परपरा के तेजस्वी प्रतीक रहे हैं। किंतु सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले वर्तमान व्यक्तियों ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। आजकल यह एक सामान्य धारणा है कि यदि कोई व्यक्ति दान देने में उदार है, अच्छे भाषण देता है या सार्वजनिक कार्य के लिए अनेक बार कारागृह गया है, तो उसका व्यक्तिगत आचार कितना ही घृणास्पद क्यों न हो, क्षम्य माना जा सकता है।

साधनों की पवित्रता

हमारी सस्कृति कहती है कि 'ध्येय' व सामाजिक हित को प्राप्त करने के 'साधन' (व्यक्ति) भी शुद्ध एव पवित्र होने चाहिए। अनेक बार हम यह सुनते हैं कि साध्य ही साधन के औचित्य का निर्णय करता है। अधिकाश आधुनिक विचार और विचारधाराएँ, जो आज के मनुष्य की कल्पनाओं पर छा गई हैं, इसी वर्ग में आती हैं। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति,

जो किसी सामाजिक परिवर्तन लाने का साधन है, को पृष्टभूमि में ही डाल दिया गया है। यही कारण है कि सपूर्ण ससार में भयकर गति से मनुष्य का पतन हो रहा है, क्योंकि लक्ष्य की प्राप्ति के प्रयत्नों, जो प्राय राजनीतिज्ञों द्वारा निर्धारित किए गए हैं, में मनुष्य-तत्त्व के विचार को तिलाजलि दी जाती है, किंतु हमारी सस्कृति का आदेश भिन्न है। हम राम और शिवाजी को जितनी उनकी उज्ज्वल राष्ट्रीय उपलब्धियों के लिए श्रद्धा अर्पित करते हैं, उतनी ही उनके पवित्र एव निष्कलक वैयक्तिक चारित्र्य के लिए भी। यह दृष्टिकोण हमारी मूलभूत मान्यताओं के विपरीत है कि यदि व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में ठीक कार्य करे, तो उसके व्यक्तिगत चरित्र की किसी साधारण सी कमजोरी को उपेक्षित किया जा सकता है अथवा उसे उचित भी माना जा सकता है।

फिर भी यह सत्य है कि जब दो बुराइयों में किसी एक को चुनना अपरिहार्य हुआ, तब हमने व्यक्तिगत जीवन की कुछ कमजोरियों को सहन किया है, यदि वे सामाजिक हित में बाधक नहीं बनतीं, पर उनको उचित नहीं ठहराया है।

अततोगत्वा बुरे साधनों से अच्छे परिणाम नहीं मिलते। कुछ थोडे समय के लिए बुरे साधन अच्छे परिणाम देते हुए दिख सकते हैं, किंतु वे केवल अल्पकालिक होते हैं। यह लगभग उसी प्रकार है, जैसे बर्फ के तूफान में फँसने पर आग के बीच बैठकर अपने को गरमाने का प्रयत्न करना। उस उष्णता के परिणामस्वरूप शीघ्र ही हम राख बन जाएँगे। आज हमारे देश में विभिन्न व्यक्तियों और दलों के द्वारा चुनाव किस प्रकार लडे जाते हैं, इससे हम सब भली-भाँति अवगत है।

सन् १९३७ के निर्वाचनों की एक घटना है। मैंने एक काग्रेसी उम्मीदवार से पूछा कि उसने निम्न हथकडों को क्यों अपनाया? उसने उत्तर दिया— 'देखिए, बुराई का बुराई से ही सामना किया जाता है।' मैंने उससे पूछा— 'क्या तुम कोलतार में कोयला मिलाकर उसे सफेद बना सकते हो? यदि इस तर्क का अवलबन किया गया, तो एक ऐसा समय आएगा, जब हमारे इस देश में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जो ईमानदार और अच्छा बनना चाहेगा। यह जानते हुए भी कि हमें कुछ समय तक हानि उठानी पडेगी, क्या हमें इन बुराइयों के बीच से अपना मार्ग बनाने के लिए नहीं लडना चाहिए?' आजकल स्थिति इस सीमा तक आ चुकी है कि जिन्होंने इन निकृष्ट तरीकों में अधिक से अधिक निपुणता प्राप्त कर ली

खेमों में रहती थी। सेना-अधिकारियों का उस पर इतना विश्वास था कि वे उसके सामने अपनी योजनाओं पर मुक्त रूप से विचार-विमर्श किया करते थे। पर जहाँ तक उस महिला का प्रश्न था, वह नियमित रूप से विरुद्ध पक्ष को इनकी योजनाओं की जानकारी दिया करती थी। जब उसके इस रूप का पता लगा और वह पकडी गई, तभी विजय प्राप्त की जा सकी। यदि वे सैनिक अधिकारी दृढ चरित्र के होते और जैसी कि प्रत्येक हिंदू से अपेक्षा की जाती है, वे पर-स्त्री मात्र को देवी माता के रूप में समझते, तो वे अपने देश को क्षति और अनर्थ से बचा सकते थे।

एक नीति-कथा

कुछ लोग चाटुकारिता-प्रिय होते हैं। यदि कोई उनपर स्तुति की वर्षा करता है, तो वे उल्लसित होते हैं और फूलकर कुप्पा हो जाते हैं। तब उनसे जो कुछ करवाना हो, वह सब कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। लोग अनेक बातों का प्रतिकार कर सकते हैं, परतु खुशामद का नहीं। भयकरतम विष पचाना अपेक्षाकृत अधिक आसान है, किंतु स्तुति और सम्मान पचाना सरल नहीं। एक कथा है– भगवान शकर सबके सरक्षण के लिए गरल पी गए और उससे अप्रभावित रहे, पर वही शकर भस्मासुर की स्तुति के शिकार बने और स्वय के लिए आपत्तियों को बुला लाए। स्तुति मनुष्य को फूले हुए फुटबाल की तरह फुला देती है, जिसको कि सदैव एक ओर से दूसरी ओर के लिए ठोकर मारी जाती है। ऐसी स्थिति में कोई भी आकर अतिशयोक्तिपूर्ण शब्दों मे उसकी प्रशसा कर अपनी स्वार्थ सिद्धि कर सकता है। तब कहीं यह व्यक्ति भ्रम-मुक्त हो पाता है या शायद तब भी नहीं।

इस पाठ को सिखलाने वाली एक पुरानी कथा है। एक बार एक कौआ अपनी चोंच में मास का टुकडा लिए एक पेड पर बैठा था। कौवे को देखकर उस पेड के नीचे एक सियार आकर बैठ गया और कौवे की ओर देखकर स्तुति करने लगा 'क्या सुदर रग तुमने पाया है मेरे मित्र! यह वही श्याम रग है जो श्रीकृष्ण का था। पिछली बार मैंने तुमको गाते हुए सुना। ओह! गधर्वों ने भी तुमसे ईर्ष्या की होती। मैं पुन तुम्हारा स्वर्गिक गान सुनने का अवसर पाकर कितना भाग्यवान होता।' कौवा उस स्तुति से फूल गया और डोलने लगा। उसने सोचा– 'चलो, इस मित्र को सतुष्ट कर दें।' जैसे ही उसने अपनी चोंच खोली, मास का टुकडा नीचे आ गिरा। सियार ने तत्परता से उसे झपट लिया ओर यह कहते अपने रास्ते हो लिया कि 'अब मुझे तुम्हारे सगीत से प्रेम नहीं है।'

आज हमारे देश के अनेकों बडे लोगों में खुशामद के सबंध में यह कमजोरी है और विश्व में ऐसे अनेक धूर्त लोग हैं जो स्तुति के इस सूक्ष्म साधन का उपयोग कर लेते हैं। यदि वे कहते हैं कि 'आप कितने शांतिप्रिय अहिंसावादी और उदार हैं। आप अतिश्रेष्ठ अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिनामा व्यक्तियों में से एक हैं, आदि, आदि।' तब इस स्तुति से हमारे नेताओं के पैर जमीन से ऊपर उठ जाते हैं और प्रशंसक जो कुछ चाहते हैं, उसे देना स्वीकार कर लेते हैं, चाहे वह नहर का पानी हो, धन हो, अन्य सामग्री हो अथवा हमारे सैनिक हों, जो कि संसार भर में होनेवाले संघर्षो में युद्ध-बलि के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं।

प्रत्येक कदम पर सतर्कता

यदि हम प्रत्येक परिस्थिति में राष्ट्र की सेवा के योग्य बनना चाहते हैं, तो इन सभी प्रकार की कमजोरियों का हमें कठोरता से सामना करना पडेगा। उसके लिए शुद्ध व्यक्तिगत चरित्र को विकसित करना पडेगा। विशेषत जब सार्वजनिक क्षेत्र का कार्यकर्ता लोगों के मध्य काम करता है, तो जनता की दृष्टि उसपर गडी रहती है। यदि वह किंचित् मात्र भी फिसलता है, तो वह तुरंत ध्यान में आता है और लोग सहसा बोल उठते हैं, 'अरे, कैसा पतन है!' यद्यपि वे सामान्य व्यक्ति की इससे भी अधिक भयंकर गलतियों को अनदेखी कर देते हैं। हम रंगीन वस्त्र एक दिन को पहनें अथवा सप्ताह-भर, उसमें कोई विशेष परिवर्तन दिखाई न देगा, किंतु स्वच्छ सफेद वस्त्र पर पानी की एक बूँद भी कुछ समय के लिए अपना चिह्न छोड जाएगी। इसलिए हम जितना ही अधिक शुद्ध बनने की आकांक्षा करते हैं, अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को उतना ही अधिक सावधानी से परखना पडेगा। हमें अपने-आपको प्रत्येक कदम पर यह मानकर सतर्क करना होगा कि बाहर का संपूर्ण समाज हमारी कमियों को लोगों में प्रकट करने तथा उनपर आघात करने के लिए हमारी ओर बारीकी से और दत्तचित्त होकर देख रहा है।

सज्जनता की अति

अब हम उसके राष्ट्रीय पहलू का विचार करें। हम अपने चारों ओर उत्तम व्यक्तिगत चरित्र से युक्त व्यक्तियों को देखते हैं। हो सकता कि वे स्वच्छ एवं निर्दोष इसलिए बने रहे हों, क्योंकि उन्हें गलत मार्ग अपनाने का अवसर न मिला हो अथवा उनका इतना साहस न हुआ हो। इस प्रकार

की नकारात्मक निष्क्रिय एव तथाकथित अच्छाई और भद्रता का कोई उपयोग नहीं। ऐसे सज्जनों के वारे में डाक्टर जी विनोद में कहा करते थे– 'देखो ये श्रीमान कितने सज्जन हैं। ये आफिस समय पर जाते हैं, सध्याकाल घर वापस आ जाते हैं, पत्नी और वच्चों के साथ गप्पें लगाते हैं, भोजन करते हैं और सो जाते हैं। उन्होंने कभी एक वार भी किसी के मामलों में दखल नहीं दिया। यद्यपि उनको यहाँ रहते हुए २५ वर्ष से भी अधिक समय वीत चुका है, फिर भी वे यह नहीं जानते कि पडोसी कौन हैं और न वे पडोसी ही इनके विषय में अधिक कुछ जानते हैं। इस प्रकार के भले, निरीह और विनम्र सज्जन के सपर्क में हम क्वचित ही आते हैं।' डाक्टर जी फिर उस तथाकथित सज्जनता की आडे हाथों खवर लेते थे, जिसके कारण व्यक्ति पडोसियों के सुख-दु ख के प्रति सवेदनाशून्य हो जाता है तथा समाज के साथ किए गए अपमान और अवमानना को निर्बलता के साथ सहन कर लेता है। वे कहा करते थे कि यही वह निद्य मनोवृत्ति है, जो हमारे राष्ट्र की वुराइयों के मूल में है।

भूतकाल में भी हमारे यहाँ अनेकों पवित्र और सदाशययुक्त व्यक्ति थे। इसके होते हुए भी हमको विगत हजार वर्षो से निरतर भयकर आपत्तियों का सामना करना पडा। कुछ लोग तो इस सीमा तक जाकर कहने लगे कि अत्यधिक व्यक्तिगत अच्छाइयों ने ही हमारे राष्ट्र को आपत्तियों में डाला। परतु यह इतिहास का सही अध्ययन नहीं है। वास्तविक कारण राष्ट्रीय चरित्र की कमी थी, जो व्यक्तिगत चरित्र का ही दूसरा अपरिहार्य पहलू है। हम केवल एकाकी व्यक्ति मात्र नहीं हैं, हम समाज के एक अविभाज्य अग हैं। उस सवध में भी हमें चरित्र की पवित्रता को महत्त्व देना चाहिए एव उसे अपने व्यवहार में प्रकट करना चाहिए। यदि हमने इस पहलू की ओर दुर्लक्ष्य किया तो केवल व्यक्तिगत पावित्र्य और अच्छाई राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी नहीं होगी। इतना ही नहीं, यदि समाज ही जीवित नहीं रहा तो व्यक्तिगत अच्छाई और चारित्र्य वर्बर आक्रमणकारियों के पैरों तले रौंद दिए जाएँगे। यही हमारे इतिहास में घटित हुआ है।

भयकर उदाहरण

यदि कोई विशेष उदाहरण ही देना हो, तो गुजरात के राजा कर्ण के प्रधानमत्री का दिया जा सकता है। वह वेद का ज्ञाता एव अनेक कलाओं

और शास्त्रों में पारगत था। एक बार राजा ने अपनी कमजोरी के क्षण में एक सरदार की पत्नी का हरण कर लिया। इसपर प्रधानमत्री गुस्से में आपे से बाहर हो गया और उसने राजा को इस पाप का दड देने की प्रतिज्ञा की। उसे लगा कि उसकी पवित्रता और धर्म-ज्ञान को चुनौती दी गई है। उसने अपनी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए कौन सा मार्ग अपनाया? वह जानता था कि गुजरात की उत्तरी सीमा पर मुस्लिम सेनाएँ खडी हैं। इसके पूर्व वे गुजरात को अधीन करने के लिए और उसे जीतने के लिए अनेकों निष्फल प्रयत्न कर चुके थे। प्रधानमत्री सीधा मुगल सुल्तान से मिलने दिल्ली गया और अपने राजा को उसके पापपूर्ण कार्यार्थ दडित करने के लिए सुल्तान की मदद माँगी। शत्रु इस स्वर्णिम अवसर को पाकर अत्यत प्रसन्न हुआ। राज्य की सुरक्षा के सभी भेदों को जाननेवाले प्रधानमत्री के द्वारा दी गई बहुमूल्य जानकारी के साथ शत्रु ने गुजरात पर आक्रमण किया। इसके परिणामस्वरूप कर्णावती का शक्तिशाली हिंदू सीमात प्रहरी-राज्य, जिसने अनेक वर्षों तक काफी सफलतापूर्वक मुस्लिम आक्रमण को दक्षिण तक फैलने से रोका था, का पतन हो गया। तत्पश्चात् केवल गुजरात ही नहीं, वरन् सपूर्ण दक्षिण भारत मुस्लिम लुटेरे आक्रमणकारियों के पैरों में झुक गया। अतत इस सबसे उस प्रधानमत्री को क्या मिला? निस्संदेह रूप से राजा मारा गया, पर उसी के साथ प्रधानमत्री के हजारों निजी सबधी भी तलवार के घाट उतार दिए गए। उसकी आँखो के सामने अगणित महिलाओं का शील भ्रष्ट किया गया, मदिरों को धूल में मिला दिया और जिस घर में वह वेदों का पाठ और ईश्वर की आराधना करता था, उसे गाय काटने के बूचडखाने में परिवर्तित कर दिया गया। इसके सिवाय आनेवाले अनेकों शतकों तक अपनी मातृभूमि के एक बडे भू-भाग को पराधीनता प्राप्त हुई।

हम देखते हैं कि एक ओर तो राजा का व्यक्तिगत चरित्र कुछ पतित था, पर उसका राष्ट्रीय-चरित्र प्रखर था। दूसरी ओर प्रधानमत्री व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से पावित्र्य से पूर्ण था, प्रकृति से ईश्वर-भीरु था, कितु उसमें राष्ट्रीय-चारित्र्य का अभाव था, जिससे व्यक्ति सपूर्ण राष्ट्र की भलाई किसमें है— यह सोच पाता है और अपना सब कुछ, यहाँ तक कि पवित्रता और न्यायपरायणता की उसकी व्यक्तिगत भावनाएँ भी, राष्ट्र कल्याण की वेदी पर त्याग देने के लिए प्रेरित होता है। इस प्रकार राजा और प्रधानमत्री दोनों ही, जिसके लिए दोनों ही के मन में प्रेम था, उस

राष्ट्र के मागन दुर्भाग्य के कारण बने।

वास्तव में उस प्रधानमंत्री द्वारा व्यक्तिगत चारित्र्य एवं धर्म का प्रकट किया गया विकृत भाव हमारे इतिहास की एकाकी घटना नहीं है। यह भावना काफी गहराई तक बद्धमूल है और उसने इन शताब्दियों में राष्ट्रद्रोहियों की एक संपूर्ण जमात को उत्पन्न किया है। वह ईश्वर का 'धर्मात्मा' पुजारी ही था, जिसने कि उस महमूद गजनवी का मार्गदर्शन किया और उसे सहायता दी जो सोमनाथ को भ्रष्ट करने के घोषित उद्देश्य के साथ निकला था। औरंगजेब का प्रसिद्ध सरदार जयसिंह, जो शिवाजी को नष्ट करने आया था, एक विद्वान, प्रखर ईश्वर-भक्ति और बुद्धि एवं हृदय के अनेक सद्गुणों से युक्त था। किंतु शिवाजी के द्वारा स्वदेश और स्वधर्म के नाम पर की गई अनुरोधपूर्ण प्रार्थना एवं क्रूर विदेशियों का दास रहने की अपेक्षा उनके विरोध में राष्ट्रभक्त शक्तियों का नेतृत्व करने का आमंत्रण व्यर्थ गया। राजा जयसिंह अपनी ईश्वरभक्ति तथा 'सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति' की शपथ से ही पूर्ण संतुष्ट था। ईश्वरभक्ति की धारणा तथा व्यक्तिगत ईमानदारी और स्वामिनिष्ठा की भावना का यह कितना विपर्यस्त और भयंकर स्वरूप था? यह स्पष्ट है कि जब चरित्र के दोनों ही पहलू अभिव्यक्त होते हैं, तभी व्यक्ति और समाज प्रगति करता है, पनपता है। वे मानो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक पर राष्ट्र का चिह्न अंकित है और दूसरे पर उसका मूल्य। किसी भी एक का घिसना उसकी उपयोगिता को समाप्त कर देता है।

राष्ट्रीय पहलू

इसलिए यह अनिवार्य है कि वैयक्तिक अच्छाई एवं चारित्रिक पवित्रता राष्ट्रीय-हित में सक्रिय एवं गतिशील बनाई जाए। यह राष्ट्र के प्रति ऐसे संपूर्ण समर्पण के रूप में व्यक्त होनी चाहिए जो प्रतिफल के रूप में किसी बात की, चाहे वह नाम या ख्याति या अन्य किसी प्रकार का लाभ हो, अपेक्षा न करे। हमें इस बात की चिंता नहीं करनी चाहिए कि जिनकी हम सेवा करते हैं, वे हमारी प्रशंसा करते हैं या नहीं। वास्तव में हमारे लिए यही अधिक अच्छा है कि वे ऐसा न करें, क्योंकि तभी हम जनस्तुति के उस बंधन से मुक्त रहेंगे जो हमें ऐसे मार्ग पर ले जाए जो अभीष्ट न हो। हम अपने राष्ट्र को इष्ट देवता के रूप में देखते हैं। हमारा समर्पण, हमारी अपने सर्वस्व की भेंट, राष्ट्र देवता की पूजा के रूप में होनी चाहिए। तब हम बदले में किसी भी वस्तु की इच्छा कैसे करें?

आज सर्वस्व-समर्पण और त्याग का यह भाव तिरोहित हो गया है। यदि लोग सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करते हैं, तो बदले में कुछ अपेक्षा करते हैं। यदि धन की नहीं तो नाम या जय-जयकार की अथवा किसी समाचार-पत्र में कम से कम अपने चित्र के छप जाने की। एक बार अपने देश के एक प्रमुख नेता जो सदैव भव्य स्वागतों के अभ्यस्त थे, एक स्थान पर गए। उन्हें यह देखकर धक्का लगा कि उनके स्वागत के लिए वहाँ कोई भी नहीं था, न वहाँ उनकी जय-जयकार हो रही थी, न हार थे और न कोई चित्र लेनेवाला ही था। उनको यह सब अपमानजनक लगा और वे तुरत वापस लौट गए। यह स्वार्थी व्यवहार का परिष्कृत रूप है। अन्य व्यावहारिक और लाभकर तरीके भी अपनाए जा रहे हैं। यदि राष्ट्र के नाम पर कोई व्यक्ति अपनी ही सेवा करता है, तो वह राष्ट्रभक्ति नहीं, वरन् स्वार्थभक्ति ही है। ऐसे व्यक्ति द्वारा जनता की सेवा अपने व्यक्तिगत गौरव को बढाने के लिए एक आवरण एक मुखौटा मात्र है।

इन दिनों बहुत से व्यक्ति ईश्वर की उपासना भी इसी प्रकार करते हैं। 'पुत्रान् देहि, धन देहि' इत्यादि की याचना करते हैं। जब तक किसी वस्तु की कामना है, यह उपासना नहीं, व्यापार मात्र है। हमारे सभी धर्मग्रथों एव महापुरुषों ने इस ओछे दृष्टिकोण का उपहास किया है। पूजा केवल पूजा के लिए होती है, उसी में उसका आनद निहित है। यदि हमें किसी बात के लिए याचना ही करनी हो तो वह उपासना की अधिक क्षमता और पात्रता एव त्याग और सेवा के मार्ग पर बढने की अधिक शक्ति के लिए होनी चाहिए।

महाभारत में युधिष्ठिर के सबध की एक घटना है। एक बार जब पाडव द्रौपदी के साथ जगलों में भटक रहे थे, तब द्रौपदी ने युधिष्ठिर को निरतर ईश्वर का नाम दुहराते सुना। अपनी दु खपूर्ण अवस्था का पूर्ण बोध होने के कारण उसने कटुता से पूछा– 'आप सदैव ईश्वर का नाम क्यों लेते हैं? आप अपने बाल्यकाल से ही उनके भक्त हैं। आपने अनेक यज्ञ किए और सभी शास्त्रोक्त कर्तव्यों का पालन किया है। पर अब तक ईश्वर ने आपको कौन-सा अनुकूल जवाब दिया है? आपको राजगद्दी के वास्तविक अधिकार से भी वचित कर दिया है। अब आप आपत्तियों की छाया में यहाँ-वहाँ भटकने को विवश कर दिए गए हैं। क्या आप तब भी उसका नाम जपते थके नहीं?' युधिष्ठिर ने सौम्यभाव से उत्तर दिया– 'उस हिमालय की ओर देखो, कितना शात और भव्य है? क्या हम इसे प्रेम नहीं

करते? क्या हमारा प्रेम इसलिए है कि हम इससे कुछ अपेक्षा रखते हैं? हम इससे प्रेम करते हैं उसकी भव्यता, नीरवता और पावित्र्य के लिए। ईश्वर इससे भी अपरिमित भव्य है। उस अनत दिव्यता के समक्ष उसके परमानद को प्राप्त करने एव उससे अधिकाधिक प्रेम की इच्छा के अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं माँगना।'

उपासना की शक्ति

उपासना व्यापार नहीं है। यह मात्र आत्मसमर्पण है, मात्र एकपक्षीय कार्य है। हम केवल देते हैं। केवल इसी प्रकार के पूर्ण समर्पण करनेवाले लोग ही राष्ट्र को विनाश के खडहरों से महानता के शिखर तक ले जा सकते हैं। खडोबल्लाल का प्रेरक उदाहरण हमारे सामने है। कुछ पूर्व-धारणाओं के कारण सिहासन पर बैठने के पश्चात् सभाजी ने खडोबल्लाल के पिता, जो कि शिवाजी के अष्ट-प्रधानों में से एक थे, को मृत्यु के घाट उतार दिया। सभाजी एक स्वाभिमानी और वीर युवक था। वह उस वेदना और अपमान के घूँट को पी गया। पुन जब सभाजी, जिसे मदिरा और मदिराक्षी का व्यसन था, ने अपनी पापी दृष्टि उसकी बहन पर डाली। तब उसने बहन को अपने पावित्र्य की रक्षा के लिए प्राणात करने की अनुमति दी, किंतु उसने सभाजी के प्रति अपनी राजभक्ति को नहीं त्यागा, क्योंकि वह जानता था कि सभाजी अनेक व्यक्तिगत दुर्गुणों के होते हुए भी, उस समय पुनरुत्थान-शील हिंदू स्वराज्य के एकीकरण का प्रतीक था, जिसके आसपास समस्त हिंदू शक्तियाँ एकत्र होने का प्रयास कर रही थीं। बाद में जब सभाजी को औरगजेब ने बदी बना लिया, तब खडोबल्लाल ने ही अपने प्राण सकट में डालकर उसको छुडाने का प्रयत्न किया।

एक ध्येय के प्रति समर्पण की सच्ची भावना के कारण सभाजी की मृत्यु के पश्चात् राजाराम उसकी राजभक्ति का केंद्र बना। एक बार पुन हम उसे राजाराम, जो जिजी के किले में शत्रु से घिरा पडा था, को सफलतापूर्वक मुक्त करने के प्रयास में अपने पुत्र के जीवन को मृत्यु के मुँह में डालते हुए और अपनी सब सपत्ति त्यागते हुए देखते हैं। अत में वह अपने जीवन को स्वराज्य के लिए अतिम भेंट के रूप में चढा देता है। कैसा उदात्त, श्रेष्ठ और अशेष आत्म-त्याग है आत्म-बलिदान है।

इतिहास का सपूर्ण मार्ग इसी प्रकार के बलिदानों के परिणामस्वरूप बदलता है जिसमें न केवल व्यक्ति का स्वय का जीवन ही समाहित है,

अपितु उसका वह सब भी, जो उसे अत्यत प्रिय है। शिवाजी की मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य की भावना से सुलगनेवाले अगारों को बुझाने के लिए औरगजेब पाँच लाख की सेना के साथ जब दक्षिण की ओर आया, तो वह स्वय भी उन लपटों में घिर गया जो खडोबल्लाल जैसे योद्धाओं के बलिदानों की चिताओं की अग्नि से निकली थीं। वह दक्षिण में ही स्वय मृत्यु का ग्रास बन गया।

जब चरित्र प्रस्फुटित होता है

यही सच्चा राष्ट्रीय-चरित्र है। सतत प्रयत्नों के द्वारा हम अपने जीवन में इसे विकसित करें। सपूर्ण समाज के प्रति विशुद्ध प्रेम से आप्लुत अत करण से, स्वार्थपरता अथवा अपने लिए किसी प्रकार की अपेक्षा के लेश से भी रहित हों, हम अपने राष्ट्र की सेवा करें। शुद्ध पवित्र राष्ट्रभक्ति की झिलमिल करती किरणों में हमारा चरित्र-रूपी कमल खिल उठे।

ऐसी अविचल और अशेष भक्ति प्राप्त करने की हम आकाक्षा करें और उसके लिए प्रयत्नशील हों। ऐसी भक्ति, जो बुद्धि एव अह के साधारण धरातल से ऊपर उठकर हमारे सपूर्ण अतरतम के साथ एकरूप हो जाए। पवित्र भक्ति का यह गहन, दिव्य एव शाश्वत प्रवाह हमारे रोम-रोम में व्याप्त हो जाए। सभी महान आत्माएँ हमें इस एक ही दिशा की ओर, एकचित्त समर्पण की दिशा की ओर बुला रही हैं। चैतन्य महाप्रभु अद्वितीय ख्यातिप्राप्त विद्वान थे। विभिन्न आध्यात्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ में उन्होंने अपने समकालीन सभी महान विद्वानों को पराजित किया था। किंतु बुद्धि की उस प्रखरता एव ज्ञान की इस समस्त व्यापकता के होने पर भी उन्होंने अपने जीवन के उत्तरार्ध में सभी तर्क एव शास्त्रार्थों को तिलाजलि दे दी थी। जो भी उनसे शास्त्रार्थ करने आते थे, उन सबके समक्ष महाप्रभु भक्ति से पूर्ण केवल इन शब्दों का उच्चारण करते थे– 'हरिबोल, हरिबोल'। इन शब्दों में व्यक्त भक्ति का भावावेग श्रोताओं को एक धारा में प्रवाहित करता था और उन्हें शुष्क शास्त्रार्थों की निस्सारता का एव भक्ति की दिव्यता का ज्ञान कराता था।

इस प्रकार की तीव्र भक्तिवाला व्यक्ति, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विलक्षण शक्तियों को विकसित कर लेता है। हमारे दैनदिन जीवन में भी क्या हम नहीं देखते कि साधारण श्रमिक भी सर्वोत्तम कार्य तभी

करता है, जब वह अपने कार्य की उपासना एव कार्य से प्रेम करता है? इसी प्रकार कलाकार अपनी कला की सर्वोच्च अभिव्यक्ति तभी पाता है, जब वह अपने अत करण के अनुकूल चित्र को चित्रित करने में स्वय को भूल जाता है? राष्ट्रभक्ति के मार्ग में इस प्रकार की पूर्ण एकाग्रता की अवस्था को विकसित करने का प्रयास हमें करना चाहिए, और हमें अपना जीवन विशुद्ध चरित्र के भिन्न-भिन्न समस्त पहलुओं से युक्त एक सजीव उदाहरण के रूप में विकसित करना चाहिए।

५ पौरुषवान बने

नि स्वार्थ सेवाभाव जगाएँ

एक बार जब मैं एक श्रेष्ठ साधु से वार्तालाप कर रहा था, तब आजकल बहुधा होनेवाली विद्यार्थी-हडताल की चर्चा चल पडी। साधु ने विचार व्यक्त किया– "यह सब हमारे नेताओं द्वारा छात्रों को बार-बार 'राष्ट्र के आधारस्तभ' तथा 'भविष्य के कर्णधार' इत्यादि बताने का ही कटु फल है। छात्रों की बुद्धि अपरिपक्व तो होती ही है, ऊपर से इस प्रकार की बातों को बार-बार सुनकर वे और भी गर्वोन्मत्त हो जाते हैं। युवकों में तो नि स्वार्थ सेवा की मनोवृत्ति उत्पन्न करना ही ठीक है, जिसमें अहभाव को सिर उठाने का मौका ही न मिले। उन्हें 'राष्ट्र के आधार-स्तभ' या 'भावी कर्णधार' आदि कहकर उनके अह को उभारने के कारण उनमें तनिक से भी अन्याय या अपमान के विरुद्ध, चाहे ये अन्याय और अपमान वास्तविक हों या काल्पनिक, विद्रोह करने तथा हडतालें और हिसात्मक कार्यों में भाग लेने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है।"

साधु के उन विवेकपूर्ण वचनों को सुनकर मुझे श्री रामकृष्ण परमहस के जीवन की एक घटना का स्मरण हो आया। एक बार उनके कुछ शिष्यों में दीनों की सहायता करने, उनपर दया दृष्टि रखने तथा इसी प्रकार की बातों पर वार्ता हो रही थी। उसी समय वहाँ भगवत्-प्रेमोन्माद की दशा में श्री रामकृष्ण आ पहुँचे और उनकी भर्त्सना करते हुए बोले– 'दीनों पर दया दिखानेवाले तथा सहायता करनेवाले तुम कौन हो? वे तो

स्वय नारायण के जीते-जागते रूप हैं। तुम्हें केवल उनकी सेवा करने का अधिकार है।'

नींव के पत्थर बनें

यह दृष्टिकोण हमारे अदर सच्ची नि स्वार्थ सेवा की भावना उत्पन्न करेगा तथा हमें पवित्रता, विनयशीलता तथा दृढ-चारित्र्य से सपन्न पतितावस्था की पहली सीढी, अहमन्यता से बचाएगा। हमें नींव के पत्थर को अपना आदर्श बनाना है। नींव में स्थित पत्थर को कोई देखता नहीं, कोई उसकी प्रशसा नहीं करता। वह सुघड और परिमार्जित भी नहीं होता, तथापि पूरे भवन का आधार वही है। यदि वह अपने स्थान से हिल या हट जाए तो सपूर्ण प्रासाद गिर पडेगा। भवन के केंद्रवर्ती कलश तथा अन्य सभी भागों से अधिक महत्त्वपूर्ण है नींव का पत्थर। किंतु इतना होते हुए भी वह पत्थर स्व-अस्तित्व को भुलाकर तथा अपनी सत्ता को विलीनकर सेवाभाव से अपने स्थान पर अचल रहता है। इसी भावना से युक्त होकर हमें लोगों के मध्य कार्य करना होगा। नाम और कीर्ति के तीव्र प्रकाश में दर्प और शान से इतराने तथा शिखर पर चढकर चमकने की इच्छा तो व्यक्ति के अदर आतरिक श्रेष्ठता के अभाव तथा आत्म-चाटुकारिता के अवगुण का ही भेदोद्घाटन करती है। आखिर चोटी पर बैठने में कौन सा बडप्पन है। गुबद के कलश पर तो कौआ भी बैठ सकता है।

सच्ची सेवा

हमारे देश के महापुरुष सेवा-भाव को सदा भगवान के प्रति भक्ति प्रकट करने का सर्वोत्तम प्रकार मानते आए हैं। किसी ऐसी ही महान आत्मा की *सर्वशक्तिमान से प्रार्थना है*–

न त्वह कामये राज्य न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दु खतप्ताना प्राणिनामार्तिनाशनम्।।

(न मुझे राज्य की इच्छा है, न स्वर्ग और न मोक्ष की। मैं तो केवल दु खों से तप्त प्राणिमात्र की व्यथा को हरना चाहता हूँ।)

सेवा की यही यथार्थ भावना है। ऐसा पुरुष सतत यही प्राथना करता है कि उसे सेवा करने के लिए अधिक शक्ति तथा क्षमता प्राप्त हो। वह जीवन की पूर्णता इस बात में मानता है कि उसने प्रभु का दिया हुआ सब कुछ उसके सेवार्थ समर्पित कर दिया है। वह कहता है– 'हे भगवान,

मैंने आपके चरणों में अपने जीवन की झोली खाली कर दी है। इसी में मेरे जीवन की पूर्णता है।'

स्वामी विवेकानद कहा करते थे– 'महान गुरु गोविंदसिंह के समान लोगों की सेवा के लिए सब कुछ सहने को तत्पर रहो। अपना तथा अपने निकटस्थ सगे और प्यारे सबधियों का रक्त चढाकर वे कार्यक्षेत्र से चुपचाप अलग हट गए और सुदूर दक्षिण में उनकी मृत्यु हुई, किंतु उनके मुख से उन लोगों के विरुद्ध शाप का एक भी शब्द न निकला, जिन्होंने अत्यत कृतघ्नतापूर्वक उनका परित्याग कर दिया था।'

समाज का सच्चा सेवक ऐसा ही होता है। वह समाज से अपने लिए प्रतिफल नही चाहता, वरन् समाज की भलाई के लिए कष्ट उठाने और त्याग करने में ही पूर्णता और आनद मानता है।

ऐसे लोग दूसरों की व्यथा हरने या उनके आँसू पोंछने में न उल्लास का अनुभव करते हैं, न अह-सतुष्टि की भावना उनके मन को छूती है। ऐसा भाव-विपर्यास केवल उन्हीं में निर्माण होता है, जिन्हें दूसरों के दु खों से तादात्म्य की अनुभूति नहीं होती।

मुबई में एक विधवाश्रम का वार्षिकोत्सव था। आश्रम की प्रगति का वार्षिक वृत्त प्रस्तुत करते हुए मत्री जी ने इस बात से सतोष प्रकट किया कि उस आश्रम में प्रतिवर्ष आश्रयार्थी विधवाओं की सख्या बढ रही है। अत में उन्होंने यह आशा प्रकट की कि विधवाश्रम की इसी प्रकार निरतर प्रगति होती रहेगी। यदि वह उन महिलाओं की दु खपूर्ण दशा से सचमुच दु खी होता, तो वह कभी भी उनकी 'सख्या बढती जाने' की प्रार्थना न करता। सच्ची भावना से सेवा कार्य में सलग्न व्यक्ति की भावना रुग्णा माँ की सेवा में रत पुत्र की सी होती है। हम सब अपने समाज के पुत्र हैं और उसकी जो भी सेवा करें उसी पवित्र और उदात्त भावना से करें।

स्वावलबन के प्रतीक

विनम्रता तथा सेवा-भावना का अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम आत्मविश्वास तथा स्वावलबन ही खो बैठें। अपने देश के सभी महापुरुष इन दोनों सद्गुणों के समन्वय के प्रतीक रहे हैं। वस्तुत ये दोनों गुण एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं।

महाराष्ट्र के प्रख्यात विद्वान श्री महादेव गोविंद रानडे अपने

प्रारभिक जीवन में ही अनाथ हो गए थे। अपनी छात्रावस्था में वे मधुकरी (भिक्षा) के लिए जाया करते थे। मधुकरी या भिक्षावृत्ति उन दिनों असम्मान-जनक नहीं समझी जाती थी। वे मदिरों के दीपों के नीचे बैठकर उनके प्रकाश में पढाई किया करते थे। बगाल के चोटी के शिक्षाविद् श्री ईश्वरचद विद्यासागर भी अत्यत दरिद्र थे। उनके पास मैट्रिक तक शिक्षा पूरी करने तक के लिए पर्याप्त पैसा न था। तब उन्होंने कोई नौकरी कर ली, जिसके द्वारा अर्जित अल्प धन से उन्होंने कालेज तक की पढाई की। स्वावलबन ही वह जीवन-सूत्र था, जिसने इन श्रेष्ठ पुरुषों को विद्वत्ता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाया।

इनके अतिरिक्त हमारे समक्ष स्वामी रामतीर्थ का प्रेरणादायी उदाहरण भी है। वे अत्यत दरिद्र कुल में उत्पन्न हुए थे। उन दिनों की प्रथा के अनुसार उनका अल्पायु में ही विवाह हो गया था। उनके मैट्रिक पास कर लेने पर उनके पिताजी चाहते थे कि वे कहीं नौकरी आदि करके कुटुब का पालन करें, किंतु उन्होंने अपना अध्ययन जारी रखने का दृढ निश्चय कर लिया था। इसपर विवाद बढा और पिता ने उन्हें घर से निकल जाने को कहा। उन्होंने पिता को नमस्कार किया और पत्नी को साथ लेकर घर छोडकर चले गए। उस समय उनकी आयु लगभग १५ वर्ष थी और उनकी पत्नी लगभग आठ वर्ष की थी। बचपन में भक्तिपूर्वक सीता और द्रौपदी के अपने पतियों के साथ वनानुगमन की कहानियाँ सुनी होने के कारण उनकी पत्नी ने भी इस विपत्ति का अत्यत धैर्य और साहस से सामना किया। रामतीर्थ को एक छोटा-सा कमरा मिल गया, जहाँ उन्होंने पत्नी के रहने की व्यवस्था कर दी। उन्हें एक स्कूल में अशकालीन अध्यापक का काम मिल गया और वे कालेज में भर्ती हो गए। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी जीवन और ब्रह्मचर्य के सभी नियमों के बधनों से बद्ध होने के कारण वे अपनी माता के अतिरिक्त किसी अन्य स्त्री के हाथ का भोजन कैसे कर सकते थे? अत वे अपने और पत्नी के लिए भोजन स्वय बनाते थे। उन्होंने पत्नी को पढाना भी शुरू किया। अभाव एव दरिद्रता की इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद वे सभी परीक्षाओं में बडे अच्छे अकों से सफल होते रहे। एम ए में उन्होंने सस्कृत ली थी। इससे पूर्व उनको सस्कृत का तनिक भी ज्ञान नहीं था, किंतु उन्होंने सफल होने का वज्र-सकल्प किया और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। महापुरुष इसी प्रकार अपनी सकल्प-शक्ति एव दृढ निश्चय के बल पर सभी बाधाओं और विपरीत

परिस्थितियों को पार कर सफलता के उच्चतम शिखर पर पहुँच जाते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है— 'स्वावलंबन ही सर्वोत्तम अवलंबन है।'

एक बार एक ग्रामीण अपनी बैलगाडी में दूसरे गाँव को जा रहा था। मार्ग में उसकी गाडी के पहिए कीचड में फँस गए। वह व्यक्ति बैठकर अपने भाग्य को कोसने और इस विपत्ति से छुटकारे के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। थोडी देर बाद उस मार्ग से एक अन्य व्यक्ति निकला और उसने उस ग्रामीण को हाथ जोडते और अपने भाग्य पर रोते हुए देखा। उस ग्रामीण से कहा— 'उठो और मेरे साथ गाडी के पहिए को कधा लगाकर धकेलो।' चुटकी बजाते गाडी कीचड के बाहर आ गई। वह व्यक्ति जाते समय ग्रामीण से यह कहता गया कि 'ईश्वर उसी की मदद करता है जो अपनी मदद आप करता है।'

व्यक्तिगत उत्कर्षवाद का अभिशाप

आज हमें अपने चारों ओर कौन-सा दृश्य दिखाई देता है? क्या हमारे नवयुवकों में स्व-प्रयत्न तथा स्वावलंबन दृष्टिगोचर होते हैं? उदाहरण के लिए, विद्यार्थियों को ही लें। वे घर पर नित्य टिप्पणियाँ लिखने का कष्ट उठाना नहीं चाहते। पाठ्यपुस्तकों का अध्ययन भी अब पुराने जमाने की बात हो गई है। वे छपी हुई टीकाओं तथा प्रश्नोत्तरियों की खोज में रहते हैं और उन्हें रट लेते हैं। यदि इनके बिना भी काम चल जाए तो और भी अच्छा। एतदर्थ वे इस चक्कर में रहते हैं कि कहीं से परीक्षा के पूर्व ही परीक्षा में आनेवाले प्रश्नों का पता चल जाए। कभी-कभी तो परीक्षा-भवन में नकल करने में भी वे संकोच नहीं करते। कभी-कभी तो वे हनुमान जी के मंदिर की परिक्रमा भी कर लेते हैं, पर वे कभी जरा ठहर कर यह नहीं सोचते कि ज्ञान प्राप्त करने तथा सीखने के लिए व्यक्तिगत प्रयत्न करना आवश्यक है। यह स्वाभाविक ही है कि वे परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् भी भोंदू के भोंदू ही रह जाते हैं।

हमारे शिक्षित नवयुवक सुगम कार्य तथा सुलभकर द्रव्य के लिए लालायित रहते हैं। वे सस्ते प्रकार की आजीविका के पीछे भागते हैं, जो आत्मसम्मान और स्वावलंबन के एकदम विपरीत है। सरकारी नौकरियों के पीछे भागने का कारण भी यही क्षुद्र मनोवृत्ति है। सुनिश्चित नियमित मासिक वेतन, अल्प-श्रम, अत्यल्प उत्तरदायित्व और अवकाश-प्राप्ति के पश्चात् पेंशन का अल्पतम प्रतिरोध का यह मार्ग अधिकांश लोगों को बहुत

भला लगता है। वे सुविधा और आराम के सबसे सरल संक्षिप्त मार्ग की खोज में रहते हैं। उदरपूर्ति के लिए यह आजीविका कितनी तिरस्करणीय है?

कभी-कभी भले और सदाशय व्यक्ति भी इसी ढर्रे पर चलने लगते हैं। फिर सरकारी नौकरी के कारण जीवन में अपनी निष्ठाओं के अनुसार कार्य न कर पाने का रोना रोते हैं। यह उसी प्रकार है, जैसे कोई व्यक्ति पहले फाँसी के फँदे में अपना गला फँसा दे और फिर चिल्लाए कि 'हाय, मैं मरा जा रहा हूँ।'

सुलभ धनोपार्जन के संक्षिप्त उपाय के रूप में सरकारी नौकर बनकर अपनी आत्मा को बेचना वास्तव में पाशविकता की ओर जाने का संक्षिप्त उपाय है। कुली के रूप में क्यों न हो, अपना पसीना बहाकर जीविका उपार्जित करने में एक अनोखा आनंद है। मैं एक एम काम परीक्षा उत्तीर्ण रिक्शा चलानेवाले को जानता हूँ। उसे आलस्य और गुलामी के जीवन की अपेक्षा यह कठिन परिश्रम और स्वातंत्र्य का जीवन अधिक पसंद है। ऐसे आत्मसम्मान एवं स्वावलंबन के जीवन का हमें आदर करना चाहिए।

हम सुगम धन, अल्प प्रयत्न और अधिक आराम के पीछे भागनेवाले व्यक्तिगत उत्कर्षवादी न बनें। रामतीर्थ और विद्यासागर जैसी विभूतियाँ जिस भूमि में उत्पन्न हुईं, उसके शिक्षित नवयुवकों के लिए ऐसी भीरुता शोभा नहीं देती। अतएव हम अपने जीवन को उन प्रेरणादायी आदर्शों के अनुसार ढालें और सेवा-भाव, आत्मसम्मान तथा विनयशीलता के साथ आत्मविश्वास का समन्वय स्थापित करें। तब हमारी सभी सुप्त गुण-संपदा एवं शक्तियाँ वीर्यशाली पौरुष के सौष्ठव एवं सुरभिपूर्ण पुष्प के रूप में विकसित हो सकेंगी।

ऊँची कथनी, करनी शून्य

अब हमें यह विचार करना है कि अपने नित्य जीवन में हम निःस्वार्थ सेवा की इस भावना तथा अन्य गुणों का प्रकटीकरण किस प्रकार करें। हमारी अर्चना और सेवा का विषय क्या हो? क्या हमें 'मानवता' की सेवा करनी है? इसमें संदेह नहीं कि आजकल अनेक व्यक्तियों के मुख से 'विश्व-बंधुत्व', 'मानवता की सेवा' तथा इसी प्रकार की और बहुत सी बातें सुनने को मिलती हैं, किंतु जब ऐसे व्यक्ति यथार्थता के फंदे में पड़ते हैं, तब उनकी यह काल्पनिकता काफूर हो जाती है। मुझे एक महानुभाव के

बारे में ज्ञात है कि वे वेदात के सर्वश्रेष्ठ वाक्य 'सर्वं खल्विद ब्रह्म' का बारबार उच्चारण किया करते थे, किंतु जब किसी हब्शी पर उनकी दृष्टि पड जाती थी तो घृणा के मारे मुँह फेर लेते थे। हमारे शिक्षित नवयुवक मानवता की कौन कहे, अपने देश के गॉवों के वातावरण तक को सहन करने की क्षमता नहीं रखते। आजकल एक नारा दिया जाता है-- 'गॉवों की ओर लौट चलो।' किंतु उस पुकार को सुनता कौन है? जब वे गॉवों के मानवों के अभावग्रस्त जीवन की कठोर नग्नता को देखते हैं, तब उनकी बडी-बडी बातें हवा हो जाती हैं। एक बार एक युवा व्यक्ति ग्रामोत्थान के कार्य के लिए गया। वह तिल का तेल खाने का अभ्यस्त था, जबकि उस गॉव के लोग अलसी के तेल का सेवन करते थे। वह अलसी के तेल की गध सहन नहीं कर पाता था। उसे प्रतीत होता था मानो गॉव का सारा वातावरण उस विकराल दुर्गंध से भरा हुआ हो। न वह खा सकता था, न सो सकता था। वह वहॉ एक दिन भी न ठहर सका और वापस आ गया।

जब तक हमें अपने आदर्श के अनुरूप आवश्यक प्रशिक्षण नहीं मिलता, तब तक हम कठोर वास्तविकता की कसौटी में खरे नहीं उतर सकते। एक बार मेरी भेंट एक ऐसे युवक से हुई, जो कुश्ती की कला सीखने का इच्छुक था। किंतु जब उससे कपडे उतारने को कहा गया, तो घबडाकर कहने लगा-- 'कपडे उतार कर कुश्ती नहीं सीखनी। यदि सारे कपडे पहने हुए कुश्ती जैसी कोई चीज हो तभी मैं उसे सीख सकूँगा।' तब मैंने उसे मच्छरों के साथ कुश्ती लडने को कहा। जो लोग मानवता की सेवा जैसे ऊँचे-ऊँचे आदर्शो की बातें करते हैं उनकी यही गति होती है। उनके समक्ष उन आदर्शों को व्यवहार रूप देने का कठिन उत्तरदायित्व आता है, तब वे पराङ्मुख और अकर्मण्य होकर बैठ जाते हैं।

मध्यम मार्ग

'मैं और मेरा परिवार'-- बस, यह मनोवृत्ति पेंडुलम का दूसरा सिरा है, जिसे लोग अपनाते हैं। एक बार एक स्थान के एक प्रमुख एडवोकेट ने मुझसे कहा-- 'यदि मैं सारी मानवता का विचार नहीं कर सकता, तो मैं केवल अपने परिवार का विचार क्यों न करूँ?' मैंने कहा-- 'हमारा राष्ट्रीय वैभव और सुख उसी दिन धूल में मिल गया, जिस दिन से हमने 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या का विचार किया। उसी प्रकार जब हमने केवल व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन की सकुचितता में अपने को लीन कर दिया, तब भी

हमारी वैसी ही अधोगति हुई। अत हमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति– दोनों ही दोषों का परिहार करके मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। मन की यह सतुलितता तथा साम्यावस्था हमें तभी प्राप्त हो सकती है, जब हम इन दोनों अतिरेकों के बीचवाले स्वर्ण-मध्यम मार्ग 'राष्ट्र' का विचार करें।

प्रतिक्रियावादी 'प्रगतिशीलता

हमें समर्पण की प्रेरणा देनेवाला एकमात्र आदर्श है– 'राष्ट्र-सेवा।' इससे व्यावहारिक आदर्श के दोनों पक्षों– यथार्थवाद और आदर्शवाद से सबधित आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

यह सुविदित है कि हममें सेवा की भावना उन्हीं वस्तुओं और व्यक्तियों के प्रति जाग्रत होती है, जिनके प्रति हमारे मन में प्रेम, गर्व या श्रद्धा की भावना होती है। अत सर्वप्रथम हमें अपने मन को अपने राष्ट्रीय जीवन के विविध पक्षों, यथा– धर्म, इतिहास, परपरा, जीवन-दर्शन, आकाक्षाएँ, श्रद्धा एव मान-बिदु आदि के प्रति उत्कट प्रेम, गर्व और श्रद्धा की भावनाओं के जागरण द्वारा सुसस्कारित करने की आवश्यकता है।

किंतु आजकल हमारे देश में स्वय को 'प्रगतिशील' कहलानेवाले अनेक लोग हैं, जिन्हें हमारे समस्त प्राचीन जीवनादर्श प्रतिगामी तथा गर्हित प्रतीत होते हैं। भारतीय जीवन-मूल्यों के विपक्ष में उनका सबसे बडा तर्क यह है कि वे पुराने हो गए हैं। ये नूतन मसीहा नवोन्माद से पीडित हैं। उनके लिए पुराना सब कुछ बुरा है। वे अपने नवीन अधकचरे सिद्धातों को इसलिए अधिक उपादेय मानते हैं, क्योंकि वे उत्तरकालीन हैं। यह वैसा ही हास्यास्पद है, जैसे कोई डाक्टर किसी रोगी को मर जाने की राय इस आधार पर दे कि कालक्रम में मृत्यु जीवन के पश्चात् आती है। सूर्य प्राचीन है, सचमुच अत्यत प्राचीन हो गया है और ट्यूब का प्रकाश अधकार-निवारण का नवीन आविष्कार है, इसलिए क्या हम सूर्य को छोडकर उसके स्थान पर ट्यूब के प्रकाश को अपनाएँगे?

किन्हीं वस्तुओं को केवल इसलिए व्यर्थ और प्रतिगामी बताना कि वे प्राचीन हैं, निकृष्टतम दासता ('बौद्धिक दासता') को स्वीकार करना है। इसपर भी वे बौद्धिक दास स्वय को इस युग के 'प्रगतिशील' घोषित करते हैं। यह मनोदौर्बल्य का और बुद्धि के दिवालिएपन का सूचक है, जिसके कारण मनुष्य स्वतत्रता एव निर्भयतापूर्वक भावात्मक एव पूर्ण विचार नहीं कर पाता।

मानसिक दासता

मन की दुर्बलता को बढाने में सहायक दूसरा कारण है पाश्चात्य लोगों की तुलना में अपने को हीन मानने की भावना। यह भावना इस देश में ब्रिटिश शासन के दिनों से गर्हित दाय-दान के रूप में हमें मिली है। पिछली एक शताब्दी में इस देश में ऐसी अनेक विभूतियों ने जन्म लिया, जिन्होंने विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकने का प्रबल उद्योग किया। किंतु उनमें से अधिकाश के मन आग्ल दासता से जकडे हुए थे। उनमें पराजय और हीनता की भावनाएँ घर किए हुए थीं। इसका कारण अत्यत साधारण है और वह समस्त सद्गुणों को धन और शक्तिमत्ता के साथ सबधित करने व मानव-सुलभ दुर्बलता में निहित है। सस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति है–

यस्यास्ति वित्त स नर कुलीन ।
स पण्डित स श्रुतिमान् गुणज्ञ ।।

इसमें यह बताया गया है कि मनुष्य का मन स्वभावत ही श्री तथा सामर्थ्य सपन्न लोगों को पाडित्य, ज्ञान, कुलीनता आदि सद्गुणों से विभूषित मानता रहता है। जब विदेशियों के विरुद्ध भारतीयों द्वारा छेडे गए युद्ध में अग्रेज विजयी होते प्रतीत हुए और कुछ काल के लिए ऐसा आभास होने लगा कि मानो हम पूर्णतया पराभूत हो चुके हैं, तो देश में सर्वत्र निराशा, निश्चेष्टा और आत्मविश्वासशून्यता छा गई। इसी कारण हमारे देश के लोगों के मन में यह धारणा पोषित होने लगी कि जो विजेता जाति सैन्य-शक्ति, कूटनीतिज्ञता में हमसे बढकर तथा भौतिक ऐश्वर्य से सपन्न है, अवश्य ही वह हमसे सभी विषयों में श्रेष्ठ होगी। यही कारण था कि हमारे यहाँ के लोगों ने ब्रिटिश राज्य के प्रारभिक दिनों से ही अग्रेजों के रहन-सहन और रीति-रिवाजों की भद्दी नकलकर और पश्चिम से उधार लिये हुए विचारों को बडे विश्वासपूर्ण शब्दों में व्यक्त करना शुरू कर दिया था। प्रत्येक यूरोपीय आदर्श, चाहे वह कितना ही बेतुका क्यों न हो, ब्रह्म-वाक्य बन गया। इसके विपरीत अपने देश की प्रत्येक वस्तु मिथ्या एव मूर्खतापूर्ण ठहराई जाने लगी। विशेषकर समाज का पाश्चात्य ज्ञान-प्राप्त शिक्षित वर्ग तो वास्तव में 'काली चमडीवाला अग्रेज' ही बन गया।

अत कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसे शिक्षित व्यक्तियों ने अग्रेजों द्वारा अत्यत चतुराई से प्रचारित इस असामान्य बेतुकेपन को कि हमारी पराजय और अवनति का मूल कारण हमारी जीवन-पद्धति है, बडी सरलता से

अपने गले उतार लिया। उन्होंने स्व-सस्कृति के प्रति अवमानना तथा विदेशीय जीवनादर्श के प्रति मोहातिशयता से प्रेरित होकर हमारे राष्ट्रीय जीवन के पुनर्निर्माण के प्रयत्न प्रारभ किए। ब्रिटिश जनों ने भी अत्यत नीतिज्ञता के साथ देश के इस नीचे स्तर के नेतृवर्ग को सवर्धित करने का यत्न किया। विदेशी शासकों ने पददलित राष्ट्रों में स्वतत्रता के प्रचड रोष को हल्का करने के उद्देश्य से सदैव सच्चे राष्ट्रभक्त तत्त्वों को दबाने तथा समझौतावादी तत्त्वों को पोषित करने की नीति अपनाई है।

पशुता द्वारा देवत्व का मूलोच्छेदन

निकृष्ट अनुकरण की इस मनोवृत्ति का हमारे राष्ट्रजीवन पर विनाशक परिणाम हुआ। इसने हमारी जीवन-दृष्टि को बदल दिया। जैसा हमें विदित है, अनुकरण की प्रवृत्ति व्यक्ति की जीवन-दृष्टि की अतर्निहित प्रतिभा तथा मौलिकता के सर्वथा अभाव की परिचायिका है। अत सर्वप्रथम इस प्रवृत्ति के कारण हममें भौतिक विलास और शारीरिक सुखों के बेहद उपभोग के पाश्चात्य जीवन-ढाँचे का आलिगन करने की उन्मत्त लालसा उत्पन्न हुई और हम स्वार्थ-त्याग और आत्म-सयम के श्रेष्ठ आदर्शों को छोड बैठे। पाश्चात्य जीवन तो बहिर्मुखी है। भौतिक सुखोपभोग इसका चरम आदर्श है।

व्यक्ति-स्वातत्र्य के पश्चिमी विचार का अतर्निहित भाव यह है कि मन के ऊपर इद्रियों को उच्छृखल आधिपत्य की पूर्ण छूट दे दी जाए और मनुष्य को बर्बर प्रवृत्तियों का दास बना दिया जाए। हमने भी पाश्चात्यादर्शों के अधानुकरण में 'जीवनयापन-स्तर को उठाने' का नारा प्रतिध्वनित किया, जिसका साधारण अर्थ यह है कि हम भौतिक वस्तुओं के और अधिक दास बन जाएँ अथवा दूसरे शब्दों में मनुष्य को पशुता के दासत्व बधन में और अधिक जकड दिया जाए। पाशविकता के इस गौरवान्वयन का ही परिणाम है कि चारों ओर स्वार्थपरता और द्वेष का साम्राज्य है। आज के नवयुवक का बस एक ही जीवन-स्वप्न है-- अधिकतम आनद और विलास।

राजनीति-प्रोक्रस्टीज की शय्या

इस अनुकरण प्रवृत्ति का दूसरा परिणाम यह हुआ कि अपने सस्कृति-प्रधान राष्ट्रीय जीवन का विस्मरण कर हम राजनीति को जीवन की धुरी मानने के थोथे विचार के शिकार हो गए। इस विपर्यस्त विचार का

अनुकरण करते हुए हमने देश की जनता को 'राजनीतिक दृष्टि से जागरूक' होने की सलाह दी। यहाँ तक कि हम अपने समस्त जीवन-मूल्यों को राजनीति की आवश्यकताओं के अनुसार फिर से ढालने की बातें करने लगे। परिणाम स्वरूप राजनीति जीवन का पर्याय बन गई और राजनीतिक अपरिहार्यता की क्षणिक सनक के अनुकूल उसे बनाने के लिए हमने अपने धर्म, अपनी भाषा और यहाँ तक कि अपने इतिहास को बदल डाला। राजनीति को तो प्रतिक्षण रग बदलने वाली नीति कहा ही गया है– 'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।'

राजनीति तो समाज की सेवा का एक उपकरण, एक व्यवस्था मात्र है। यह बाह्य व्यवस्था ही सब कुछ या जीवन नहीं है। परतु हमने भ्रम से साधन को ही साध्य समझ लिया। शरीर की आवश्यकता के अनुसार मनुष्य वस्त्र पहनता है, वस्त्र के आकार और बनावट के अनुसार तो अपने शरीर की काट-छाँट नहीं करता।

प्रोक्रस्टीज नामक हिसक दस्यु की एक कथा है। कहते हैं कि वह पथिकों की असावधानता का लाभ उठाकर उन्हें आमत्रण देकर अपने वन्य-कुटीर में ले जाता था। उसे एक खाट पर सुलाता था और यदि अभ्यागत पथिक उस खाट से लबा होता, तो वह क्रूर लुटेरा उसकी अतिरिक्त लबाई को छाँट देता था और यदि छोटा हो तो बलपूर्वक खींचकर उसे लबा करता था। इस प्रकार वह डाकू पथिकों की हत्या करने के एक अभिनव ढग को प्रयोग में लाता था। हमारे देश के नेतागण भी ठीक इसी प्रकार राजनीति की शय्या के हिसाब से हमारे राष्ट्र की काट-छाँट और खींच-तान कर रहे हैं, जिसका अवश्यभावी परिणाम यह हुआ कि हमारा युग-पुरातन सामाजिक-जीवन पतन की भयावह दुरवस्था को प्राप्त हो गया है।

यह सुविदित है कि प्रत्येक परिवार का एक इष्टदेव होता है। किसी परिवार में इष्टदेवता के रूप में राम की उपासना होती है, किसी में भवानी की और किसी में शकर की। इस इष्टदेवता के स्थान पर यदि किसी परिवार में किसी प्रेतात्मा की कुल देवता के रूप में प्रतिष्ठा की जाए, तो उस परिवार का सर्वनाश निश्चित है। हम अपने देश में यही होते देख रहे हैं। अपने हृदयसिहासन से प्राचीन आध्यात्मिक तथा सास्कृतिक परपराओं के इष्टदेवता को अपदस्थ कर, उसके स्थान पर हमने भौतिकवाद तथा राजनीति की पाश्चात्य प्रेतात्मा को प्रतिष्ठित कर लिया है।

'स्व'-विरहित स्वातंत्र्य

आजकल हमें अपने जीवन में सर्वत्र अमरीका, इग्लैंड या रूस की जीवन-पद्धति के अनुसार पुन ढालने के प्रयत्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं। हम उसे स्वतत्रता किस प्रकार कहें, जिसमें 'स्व' (राष्ट्रीय वैशिष्ट्य, अस्मिता) का लेश न हो। उसे तो 'परतत्रता' ही कहना चाहिए। यदि लेनिन को आदर्श मानकर राष्ट्र-रचना की जाएगी तो फिर 'स्व-तत्र' कहाँ, वह तो लेनिन-तत्र होगा। वास्तव में हमारी ऐतिहासिक परपरा में सदा से स्वतत्रता का मूल अभिप्राय राष्ट्रीय जीवन-मूल्यों का, अर्थात् स्वधर्म और स्वसस्कृति का सरक्षण तथा सवर्द्धन माना जाता रहा है।

पहिया तभी घूम सकता है, जब उसका धुरा पहिए के अदर हो, बाहर नहीं। अपने से बाहर केंद्रवाले वृत्त का तो अस्तित्व ही असभव है। उसी प्रकार भारतीय जीवन का केंद्र भारत से बाहर रहा, तो नष्ट-भ्रष्ट हुए बिना न रहेगा। यदि किसी व्यक्ति की निष्ठाएँ देश की सीमा के बाहर होती हैं, तो उसे हम देशद्रोही कहते हैं। तब क्या यह इससे भी बढकर देशद्रोह नहीं है कि हम देश की सीमा के बाहर के आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण करें।

कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि आप किस 'वाद' को मानते हैं। इस प्रश्न से ही स्पष्ट है कि प्रश्नकर्ता यूरोपीय विचार-पद्धति के दास हैं और उन्होंने स्वय को यूरोपीय 'वादों' की सकीर्णता में आबद्ध कर लिया है। वे सोच भी नहीं सकते कि हमारा भी कोई अपना ठोस अधिष्ठान है, जिसके आधार पर आदर्श राष्ट्रीय जीवन का निर्माण किया जा सकता है।

हमें हीनता और अनुकरण की इन शृखलाओं को तोडकर स्वय को मुक्त करना होगा। इसका यह अर्थ नहीं कि हमें दूसरे देशों में जो शिव और शुभ है, उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। वरन् यह कि उनको जैसे के वैसे ग्रहण न कर, उनके श्रेष्ठ तत्त्वों को आत्मसात कर अपने राष्ट्र-शरीर का रक्त-मास बना लेना चाहिए। किंतु हम तो उन पश्चिमी बातों को स्वीकार करने में अपने राष्ट्र की अस्मिता का ही त्याग कर रहे हैं। हमारी दशा उस व्यक्ति के समान होने जा रही है जो पेट में बलात् ठूँसे हुए भोजन को पचा सकने में असमर्थ और उसके भार के कारण मरणासन्न हो रहा है।

विदेशियों की यह मानसिक दासता हमारे स्वभावगत सद्गुणों को नष्ट कर हमें जगत् की दृष्टि में उपहासास्पद बना देगी। वह कुख्यात घटना तो हम सब जानते ही हैं कि हमारे देश के एक विदेशस्थ राजदूत ने पोप

से वातचीत के दौरान यह कहा था कि जब तक मानवजाति के पास बाइबिल के 'सरमन आन दि माउन्ट' (ईसा मसीह के प्रवचन विशेष) की एक भी प्रति सुरक्षित है, तब तक भगवद्गीता की समस्त प्रतियाँ अग्नि में झोंक देने पर भी विश्व की कोई क्षति नहीं होगी। 'प्रगतिशील' थैली के ही चट्टे-बट्टे एक अन्य राजदूत ने तो जिस देश में उनकी राजदूत के रूप में नियुक्ति हुई थी, उस देश के लोगों को उपहार के रूप में भारत के राष्ट्रीय गानों के सग्रह में सिनेमा के एक घटिया प्रेम-गीत को सम्मिलित कर दिया था। हमारे देश के सौभाग्य से उनके अधीनस्थ किसी कर्मचारी की देशभक्ति की भावना के कारण राष्ट्रीय अपमान की वह घटना होते-होते बच गई।

आत्मा-विहीन शरीर

अधानुकरण की इस प्रवृत्ति को लक्ष्य कर एक बार एक पश्चिमी सज्जन ने आलोचना के स्वर में कहा था— 'जब मैं दिल्ली आया तो मुझे अनुभव हुआ कि मैं भारत में नहीं हूँ, यह लदन अथवा न्यूयार्क की सस्ती नकल मात्र है। यदि ऐसा ही चलता रहा, तो मुझे लगता है कि आपके देश का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। यह अधिक से अधिक किसी दूसरे देश का पिछलग्गू या दास राष्ट्र बन सकेगा।' यह कितनी विचित्र बात है कि जब कोई अग्रेज हमारे देश में आता है, तो हम उससे अग्रेजी में बात करते हैं, जब हम लदन जाते हैं तो वहाँ भी अग्रेजी ही बोलते हैं। हमें अपने 'अतर्राष्ट्रीयतावादी' होने का अभिमान है। किंतु यह राष्ट्रीय स्वाभिमान के निपट अभाव तथा अधम मानसिक दासता के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब श्रीमती विजयलक्ष्मी पडित राजदूत पद पर नियुक्त होकर रूस गईं, तो उन्होंने अपना परिचय-पत्र अग्रेजी भाषा में प्रस्तुत किया, किंतु हमारे देश की राष्ट्रभाषा में न होने के कारण वह अस्वीकृत हो गया। तदुपरात उस परिचय-पत्र की हिंदी प्रति प्रस्तुत की गई। उसे पुन लौटा दिया गया, क्योंकि हिंदी रूपातर में कुछ अशुद्धियाँ थीं। यह कितनी लज्जा की बात है।

हमारे देश में कतिपय अग्रगण्य जन हैं, जो अपने लेखों ओर भाषणों में भारतीय सस्कृति तथा दर्शन की प्रशसा करते नहीं अघाते ओर इस बात का दावा भी करते हैं कि उनके आधार पर हम विश्व का नेतृत्व कर सकते हैं। किंतु इसे विडबना ही कहना चाहिए कि वे ही लोग अग्रेजी को बनाए रखने तथा विदेशी व्यवस्था, पद्धतियों और रीति-नीतियों को

अंगीकार करने की आवाज उठाते हैं।

जिन दिनों ब्रिटिशों से हमारा संग्राम चल रहा था, उन दिनों विदेशी वस्त्रों की होलियाँ जलीं और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। किंतु अब जब ब्रिटिश लोग चले गए हैं, हम न केवल उनकी भाषा और वेश-भूषा से चिपके हुए हैं, वरन् आज से दस वर्ष पूर्व हम जितनी विदेशी वस्तुएँ प्रयोग में लाते थे, उससे कई गुना अधिक आजकल लाने लगे हैं। जिन जीवनावश्यक वस्तुओं का उत्पादन अपने देश में संभव नहीं, यथा सैन्योपयोगी कतिपय सामान, दवाइयाँ इत्यादि, उनको विदेशों से आयात करने की आवश्यकता तो समझ में आ सकती है। किंतु ताश, लिपिस्टिक तथा ऐसी व्यर्थ की चीजों के लिए करोड़ों रुपए पानी में फेंकने की यह मूर्खता क्यों? क्रिकेट का व्ययसाध्य खेल, जो हमारे देश में न केवल फैशन बन गया है, वरन् जिसके लिए हम करोड़ों रुपए फूँकते रहते हैं, इस बात का प्रमाण है कि हमारे दिल और दिमाग पर अभी भी अंग्रेज हावी हैं। पंडित नेहरू और अन्य संसद-सदस्यों ने कुछ वर्ष पूर्व जो क्रिकेट का मैच खेला था, उसकी जड़ की गहराई में यह आँग्लपरता ही थी। उन्होंने अपने देश के राष्ट्रीय खेल कबड्डी को, जिसकी प्रशंसा अनेक देशों ने 'एक महान खेल' कहकर की है, खेलना पसंद क्यों नहीं किया?

यह भी कितनी अद्भुत बात है कि हमने पाश्चात्य सभ्यता के केवल भद्दे बाह्य स्वरूप को ही ग्रहण किया है। उनके राष्ट्रीय गौरव तथा स्वदेश भक्ति की भावनाओं, जो संपत्ति और विपत्ति की स्थितियों में समान रूप से पश्चिमी लोगों की प्रत्येक क्रिया को अनुप्राणित करती हैं, की ओर हमारी दृष्टि भी नहीं जाती। कुछ दशाब्दियों पूर्व इंग्लैंड को सर्वतोमुखी संपन्नता और वैभव के बावजूद आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा था। इंग्लैंड के सभी नेता इस चुनौती का सामना करने के लिए एक-मत और एक-हृदय होकर जुट गए। इस हेतु उन्होंने स्वदेशी की भावना को पुनरुज्जीवित करने का निश्चय किया। उन्होंने इस दृष्टि से प्रदर्शनियों का आयोजन किया और अपने प्रचार-यंत्र को सक्रिय कर उसे गति प्रदान की। इंग्लैंड के राजा इस आंदोलन की अग्र-पंक्ति में थे। राजा तथा इतर नेताओं ने स्वयं स्वदेशी वस्तुओं का अबाध व्यवहार करना प्रारंभ किया और इस प्रकार समूचे राष्ट्र के सामने आदर्श प्रस्तुत किया। इस प्रकार वे अपने देश को आर्थिक सर्वनाश के कगार से सुरक्षित खींच लाने में सफल हुए। इधर हम पाश्चात्य जीवन की चकाचौंध के व्यामोह में फँसे हुए स्वदेशी की

भावना को तिलाजलि दे बैठे हैं और अपने राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ह्रास एव सर्वनाश को बुलावा दे रहे हैं।

हमारे जीवन के पुण्यतम क्षेत्र भी इस क्षय से बचे नहीं रह सके। विवाह हमारे यहाँ धार्मिक सस्कार माना जाता है, किंतु उसमें भी न केवल बरात की अगवानी के समय, अपितु शास्त्रोक्त पाणिग्रहण सस्कार के समय भी प्राय वर की वेश-भूषा आपाद-मस्तक सूट-बूट और टाई युक्त अग्रेज की सी ही होती है। बडा आघात लगता है, धार्मिक सस्कार के अवसर पर भी विदेशी व्यक्तियों का यह वानरानुकरण देखकर। हमें यत्र-तत्र-सर्वत्र यही नैराश्यपूर्ण अपमानास्पद दृश्य दिखाई देगा। जो राष्ट्र अपनी स्वजीवन-पद्धति के प्रति निष्ठावान नहीं रहते, वे अपने पॉवों आप कुल्हाडी मारते हैं। उनका भविष्य कभी उज्ज्वल नहीं हो सकता।

हमारे पूर्वज अपने राष्ट्रीय आदर्शों के प्रति सचेत थे और राष्ट्रीय स्वाभिमान के भाव उनमें जाग्रत थे। यही कारण है कि वे जगत् भर में वद्य थे। अपनी आतरिक गरिमा की चेतना से सपन्न, वे विश्व के समक्ष अपनी बातों को आत्मविश्वास के साथ रखते थे। अपने लिए वे जिस 'आर्य' शब्द का प्रयोग करते थे, वह स्वय ही सस्कृति ओर चारित्र्य का द्योतक था। उन्होंने सगर्व घोषित किया था कि– 'न त्वेवार्यस्य दास्यभाव' (आर्य कभी दास नहीं हो सकता।) तथा

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ।
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा ।।

(मनुस्मृति २-२०)

(समस्त पृथ्वी के मनुष्य इस देश के अग्रजन्मा पुरुषों के चरणों में बैठकर चरित्र की शिक्षा लें।)

आज भी अपने राष्ट्रीय जीवन और आदर्श के प्रति उत्कट प्रेम और गर्व के भाव हमारे देश के वास्तविक उज्ज्वल स्वरूप को विश्व के समक्ष उपस्थित करने में समर्थ हैं। इस भूमि के प्रत्येक पुत्र के हृदय में शुद्ध देशभक्ति की ज्वाला प्रज्ज्वलित करने की आवश्यकता है। ऐसे हृदयों की उष्णता और तेजोमयता ही हमारे देश में वर्तमान युग के मूढतारूपी अधकार का निवारण करने में पूर्णतया समर्थ होगी।

इस दृढ निष्ठा को लेकर हम राष्ट्रीय कायाकल्प के मार्ग पर दृढतापूर्वक आगे बढें। अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धा और भक्ति को विगलित

करनेवाले चातुर्य एव बहुधा शठतापूर्वक तर्कों से हमें प्रभावित नहीं होना है। एक बार हमारे देश के एक अग्रगण्य व्यक्ति ने एक लेख में यह विचार व्यक्त किया था कि राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ के लोग 'कट्टर देशभक्त' हैं। हमें नहीं मालूम कि उनके इस कथन का आधार क्या था? किंतु जहाँ तक हमारा सबध है, हम अनुभव करते हैं कि देशभक्ति में श्रेणियाँ नहीं होतीं। भक्ति तो आत्मसमर्पण की तथा अपने को बिना किसी 'स्व' का विचार किए, पूर्ण एव नि शेष रीति से उत्सर्ग कर देने की भावना है। सच्ची भक्ति आधे मन से कदापि नहीं हो सकती, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग इस प्रकार की विशुद्ध देशभक्ति की भावना को सहन नहीं कर सकते। हो सकता है यह इतनी उष्ण हो कि वे उसके ताप को सहन न कर पाते हों। सम्भवत इसी से उन्हें देशभक्ति को श्रेणियों में विभाजन की आवश्यकता प्रतीत होती है– उष्ण, मदोष्ण तथा शीतल। जिन्होंने साहसपूर्वक भक्ति का प्याला अतिम घूँट तक पिया है, उन्हें 'मताध' या 'कट्टरपथी' जैसे शब्दों से भयभीत या दिग्भ्रात होने की आवश्यकता नहीं है। हम तो ललकार कर कहते हैं– 'हाँ, हम उस प्रकार की उत्कट तीव्र ज्वालामयी देशभक्ति का निर्माण करने में सलग्न हैं।'

राष्ट्रीय गौरव-स्रोत

सचमुच अत्यत प्राचीन युग से हमारे समाज के महान निर्माताओं के जीवन में ये गुण व्याप्त रहे हैं। नि स्वार्थ, आत्मविश्वासयुक्त और निष्ठावान ध्येयसेवी तथा राष्ट्रीय वैशिष्ट्याभिमानी जनों ने ही सदैव विपदा के काल में अपने राष्ट्र के सुप्त पौरुष को जगाया और उसे खडहरों के ढेर से उठाकर पुन गौरव के साथ खडा किया है। निश्चय ही ऐसे पुरुष राष्ट्र के प्राण होते हैं। प्राचीन समय में भी शिक्षित तथा मेधा-सपन्न युवक व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के समस्त विचार को तजकर समाज की सेवा और उन्नति के लिए अग्रसर होते रहे हैं। वे नि स्वार्थ सेवा, त्याग और चारित्र्य की जीवित प्रतिमाएँ थे। वे कद-मूल खाकर अथवा द्वार-द्वार भिक्षा-कण माँगकर अपने भौतिक अस्तित्व को बचाए रखते थे। उनकी समस्त शक्ति सामान्य जन के कल्याण के एकमात्र कार्य में ही लगती थी। वे लोगों से मिलते थे, उनके सुख-दु ख में समरस होते थे, उनके भौतिक अभावों और क्लेशों को शमित या न्यून करने का प्रयत्न करते थे तथा उन्हें जीवन के उच्चतम मूल्यों से अनुप्राणित करते थे। उन प्रज्ञावान, स्वार्थ-त्यागी

युवकों का हृदय उच्च शिखर के समान था, जहाँ से प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की धाराएँ प्रवाहित होकर हमारे समाज के सभी स्तरों को सिक्त कर देती थीं। वे सनातन स्रोत थे, जहाँ से सास्कृतिक श्रेष्ठता तथा भौतिक ऐश्वर्य की युगल धाराएँ राष्ट्रीय जीवन को आकठ पूरित करती हुई बहती थीं और हमारे राष्ट्र को भौतिक श्री एव आध्यात्मिक गौरव का प्रकाशस्तभ बनाती थीं।

माँ की अभिलाषा

हम उन महान आदर्शों के अनुसार पुन अपना आचरण ढालें। हम वर्तमान समय के समस्त क्लैब्यकारी विचारों को तजकर, अपनी प्यारी एव पवित्र मातृभमि के हित, राष्ट्रीय गौरव से ओतप्रोत, सेवा, आत्मविश्वास तथा समर्पण के भव्य भावों को श्वास-प्रश्वास में बसाए हुए, सच्चे जीवत पुरुष बनें। इस प्रकार के ध्येय-सेवी उत्साह से प्रज्ज्वलित तरुणों का वृद ही हमारे देशवासियों में कार्य करने तथा देश को आभ्यतर एव बाह्य सकटों की विभीषिका से बचाने के लिए समुद्यत होने की प्रेरणा दे सकेगा।

हमें स्वय को भाग्यशाली समझना चाहिए कि हम वर्तमान सकटपूर्ण घडी में जन्मे हैं। अपने लोग शाति, समृद्धि, श्री एव शक्ति-सपन्न राष्ट्र में जन्म लेने को ही सौभाग्य की बात मानते हैं। आज हमारे देश में ऐसे लोग पर्याप्त सख्या में हैं, जो इस प्रकार से सोचते हैं और वहाँ के सुख-विलासों से प्रलुब्ध होकर अमरीका, इग्लैंड आदि देशों में जा बसते हैं। किंतु वास्तविक वीरता से युक्त पुरुष कुछ और ही सोचते हैं और इस बात के लिए ईश्वर को धन्यवाद देते हैं कि इस देश में रहते हुए उन्हें कठिनाइयों, अभावों, विपदाओं और कष्टों का सामना करना पड रहा है, जिसमें से अपने प्रयत्नों एव सघर्षों के द्वारा उनका निवारण कर समृद्धि की ओर जाने का उन्हें अवसर मिला है। वैभव, समृद्धि तथा विपुलता के काल में हमारे जीवन का अर्थ होगा केवल जन्म लेना, कुछ काल तक सुख-सुविधापूर्वक जीवनयापन करना तथा एक दिन मर जाना, किंतु विपरीत परिस्थितियों में हमें अपने अदर के सर्वोत्तम को प्रकट करने, अपने पौरुष की परीक्षा करने और विश्व के समक्ष भव्यतापूर्ण प्रचड व्यक्तित्व के रूप में खडे होने का अवसर मिलता है। हमें अपनी पूर्ण उच्चता को प्राप्त करने और मानव-कल्पना की उच्चतम उडान के आगे की ऊँचाई तक उडान भरने का सुयोग प्राप्त होता है।

आज माँ को अन्य सभी बातों से अधिक आवश्यकता है ऐसे पुत्रों की जो तरुण, मेधावी, त्यागी और इससे भी बढ़कर वीर्यवान तथा पौरुषसंपन्न हों। जब नारायण (शाश्वत ज्ञान) तथा नर (शाश्वत पौरुष) का संयोग होता है, विजय निश्चित समझनी चाहिए। ऐसे प्रभावसंपन्न पुरुष ही इतिहास के निर्माता होते हैं।

६ ध्येयवादी मनुष्य

राष्ट्र को पुनर्गठित करने का पवित्र लक्ष्य, अर्थात् अपने सभी भाइयों को समान चिरकालिक भ्रातृ-भावना में आबद्ध करने का कार्य अत्यंत जटिल है, क्योंकि जिन्हें हम संगठित करना चाहते हैं, वे हमारे बंधु आज विविध कारणों से एक-दूसरे से पृथक, छिन्न-विच्छिन्न अवस्था में हैं। उनमें से प्रत्येक को संगठन में अनुकूल कार्य देते हुए राष्ट्र की सेवा के लिए योग्य बनाने का कार्य सरल नहीं है। इसमें अनेक प्रकार की मानव-प्रकृतियों के परस्पर व्यवहारों का समावेश होने के कारण इसके कार्यकर्ताओं के लिए आचरण के स्थूल नियमों का बनाना भी कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक निजी व्यक्तित्व होता है और इस कारण उसके साथ एक विशिष्ट प्रकार के व्यवहार की आवश्यकता होती है। इसलिए हम यहाँ राष्ट्रीय लक्ष्य के प्रति निष्ठावान कार्यकर्ता के लिए मुख्य मार्गदर्शक रेखाओं पर ही ध्यान केंद्रित करेंगे।

जिस समय व्यक्ति राष्ट्र के पुनर्निर्माण का ध्येय लेकर कार्य करना आरंभ करते हैं, तब उनके सामने दो मुख्य बाधाएँ पग-पग पर आती हैं, उनमें से एक है राष्ट्रीय चेतना का अभाव और दूसरी है अपने लोगों में संगठित जीवन की भावना की कमी। इसलिए उन्हें दूसरों के कार्यों पर अभिप्राय व्यक्त करने का तथा उन्हें अपने से नीचा समझने का प्रलोभन सदैव प्राप्त रहता है। इससे प्राय आत्म-श्लाघा और गर्व का उदय होता है। यह पहला गर्त है, जिससे राष्ट्रीय कार्य के कार्यकर्ता को बचना चाहिए।

यदि वह इस पूर्वधारणा को लेकर कार्य आरम्भ करता है कि दूसरे सब लोग बेकार हैं तो भला वह लोगों के बीच कार्य किस प्रकार कर सकेगा, उनके प्रेममय सहयोग को कैसे प्राप्त कर सकेगा?

इतना बडा हो जाने से क्या लाभ कि जिससे अपने ही लोगों में प्यार और मैत्री की भावना से मिल-जुलकर जी न सके। सत कबीर ने कहा है–

बडा भया तो क्या भया, जैसे पेड खजूर।
पछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर।।

तुलनात्मक दृष्टि से छोटे वृक्ष भी, जो थोडी छाया और थोडे फल दे सकते हैं, उससे अधिक उपयोगी होंगे। इसलिए यदि किसी कार्यकर्ता में महान गुण हैं, तो भी उसे अपनी ऊँचाई से उतरकर सामान्यजनों के स्तर पर जाना चाहिए और समाज में अपने शेष भाइयों के साथ मिलना-जुलना चाहिए। उसे दूसरों के साथ इस प्रकार एकरूप होना चाहिए कि वे उसे असाधारण न समझें। अपनी योग्यता एव त्याग की चेतना से उत्पन्न पृथकत्व की किचित् छाया भी उसके और अन्य लोगों के मध्य में न आने पाए। अतत कार्यकर्ता जिन विविध सद्गुणों को स्वय में उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, वे सब समाज-देवता के चरणों पर ही तो चढाने के लिए हैं। यही है वास्तविक महानता का सार।

साधारण को महान बनाना

इसी प्रकार से हमारे युग-निर्माताओं ने अपने समाज की बिखरी हुई शक्तियों को सगठित कर एक महान अजेय शक्ति में परिवर्तित किया था। शिवाजी गरीब निरक्षर कृषकों में अत्यत प्रेम और भ्रातृत्व के भाव से मिले, आदर्श के वातावरण में उनका पोषण किया तथा उन्हें विजयी राष्ट्रीय वीरों के रूप में बदल दिया। वे उन लोगों तक पहुँचे, जो मुसलमान बादशाहों की गर्हित दास्य-वृत्ति को ही सब कुछ मान बैठे थे और उन्हें स्वदेश एव स्वधर्म का कार्य करने के लिए आकृष्ट किया। अद्वितीय योद्धा मुरारबाजी देशपाडे एक ऐसा ही रत्न था, जिसे उन्होंने शत्रुओं से छीन लिया। उन्होंने ऐसे अनेकों को पुन शुद्ध किया, जो मुसलमान स्त्रियों के प्रलोभन तथा मुस्लिम राजसत्ता के व्यामोह एव अत्याचारों के कारण मुसलमान हो गए थे। उनके एक सेनानायक नेताजी पालकर, जिन्हें औरगजेब ने पकडकर मुसलमान बना लिया था, फिर से शिवाजी के पास

आए। शिवाजी ने उन्हें पुन हिंदू-समाज में सम्मिलित कर लिया तथा अन्य लोग उनसे मिलने में कुछ सकोच न करें, इसलिए अपने ही परिवार की एक कन्या का उनसे विवाह करके रक्त-सबध स्थापित कर लिया। राष्ट्र के सगठन के लिए उनकी दृष्टि कितनी व्यापक थी।

प्राचीनकाल का श्रीकृष्ण के जीवन का भी इसी प्रकार का एक उदाहरण है। विश्व को नरकासुर की भीति से मुक्त करने के पश्चात् उसके द्वारा अपहृत सहस्रों स्त्रियों को उन्होंने छुडाया था, परतु इसके कारण समाज के नेताओं के सम्मुख एक गभीर समस्या खडी हो गई। उस समय श्रीकृष्ण स्वय आगे आए। उनके मस्तिष्क एव हृदय के अनुपमेय गुणों के कारण सारा ससार उन्हें महानतम धर्म-निरूपक मानता था। औपचारिक रूप से उन्होंने उन सब स्त्रियों को अपनी धर्मपत्नी घोषित कर उन्हें समाज में सम्मानपूर्वक स्थान प्रदान किया। वास्तव में समाज का यही उच्चतम धर्म है कि अपने प्रत्येक सदस्य, चाहे वह कितना ही निम्न स्तर का क्यों न हो, को समाज में सम्मानजनक एव उपयोगी स्थान प्राप्त करा दे। कवि मोरोपत ने कहा है–

परि प्रभुहि सग्रही सकल वस्तुला ठेविती।
गुणा न म्हणता उणा अधिक आदरे सेविती।।

(महान व्यक्ति सभी वस्तुओं को अपने पास रखते हैं, किसी वस्तु को 'व्यर्थ' कहकर त्यागते नहीं।)

पूर्वावश्यकता

यह सत्य है कि सद्गुणों और दुर्बलताओं में सब एक समान नहीं होते। फिर भी उन्हें समान सुगठित सगठन में एक साथ लाना पडता है, ताकि प्रत्येक मनुष्य को इस बात की प्रेरणा मिले कि उसमें जो कुछ शक्ति और सद्गुणों की दृष्टि से सर्वोत्तम है, उसे वह समाज के लिए अर्पण करे। इसकी उपलब्धि के लिए राष्ट्र के कार्यकर्ता में समाज के साथ पूर्ण तादात्म्य की भावना की आवश्यकता सर्वप्रथम है।

एक बार एक साधु एक कुत्ते को अपनी गोद में लिए हुए सडक के किनारे पडी हुई जूठन के टुकडों को बडे प्रेमपूर्वक उस कुत्ते के साथ-साथ स्वय भी खा रहा था। उसके निकट से जाते हुए व्यक्ति ने उसे पहुँचा हुआ महात्मा जाना और उसके पास गया, किंतु उसे देखकर वह साधु भाग खडा हुआ और उसे अपना पीछा करने से विरत करने के लिए उसकी ओर

पत्थर फेंकने लगा। लेकिन उसे पीछा करने में दृढ देखकर उस साधु ने ठहर कर पूछा– 'तुम मेरे पीछे क्यों आ रहे हो?' उस व्यक्ति ने उत्तर दिया– 'महाराज, मुझे ज्ञात हो गया है कि आप पहुँचे हुए महात्मा हैं। आपने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है, कृपया मुझे भी वह मार्ग बताइए।' साधु ने कहा– 'अच्छा, तुम शहर की नाली का पानी यहॉ बहते हुए देख रहे हो। जिस दिन तुम्हें यह अनुभूति हो जाएगी कि यह गगा-जल से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है, उस दिन तुम ईश्वर का साक्षात्कार करने योग्य हो जाओगे।' सामाजिक सगठना का कार्य, जो वास्तव में राष्ट्र-देवता का साक्षात्कार करने का ही कार्य है, इसी प्रकार की तादात्म्य की भावना के आधार पर चलाया जा सकता है, जब हम सडक के एक भिखारी और एक महान विद्वान दोनों ही को प्रेम और भ्रातृत्व की समान दृष्टि से देखने की योग्यता निर्माण करेंगे।

मिथ्याभिमान की वृत्ति से बचो

इस सबध में एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बात है, जो राष्ट्र के ध्येयसेवी व्यक्ति के ध्यान में सतत रहना चाहिए। उसका सभी के साथ का स्नेह और घनिष्ठता का व्यवहार ऐसा हो कि उसमें दभ और बनावटीपन का कोई चिह्न न रहे, न उसमें दयालुता के बनावटी भावों के लिए ही कोई स्थान होना चाहिए। कोई सगठन केवल शिष्ट किंतु सारहीन व्यवहार के आधार पर पनप नहीं सकता। कार्यकर्ता की भ्रातृत्व की भावनाएँ स्वाभाविक एव स्वत स्फूर्त होनी चाहिए। उस सपूर्ण समाज को परमात्मा का व्यक्त स्वरूप इस दृष्टि से देखते आना चाहिए। बाह्य आकृति पर विचार न करते हुए प्रत्येक व्यक्ति में उसे वही दिव्यता का स्फुलिग दिखाई देना चाहिए। हमारी सस्कृति आतरिक एकता की अनुभूति से यही समानता की दृष्टि प्राप्त करने के लिए हमें प्रेरित करती है।

एक बार प्रसिद्ध दार्शनिक, राजा जनक के दरबार में बैठे विद्वानों की सभा में बालक महात्मा अष्टावक्र पहुँच गए। नवागतुक की कुरूपता को देखकर एकत्रित विद्वान अपनी हँसी को नहीं रोक सके। बालक ने शातिपूर्वक कहा– 'मैं तो यहाँ इसे दार्शनिकों की सभा समझ कर आया था, किंतु अब मुझे ज्ञात हो रहा है कि मैं गलत स्थान पर आ गया हूँ, क्योंकि यहाँ तो केवल मोची और कसाई ही हैं।' उस सम्मानित सभा-मडली को यह सुनकर बडा धक्का लगा। जनक ने बालक से उसके इस कथन की

व्याख्या करने को कहा बालक साधु ने उत्तर दिया– 'इन सज्जनों ने मेरी हड्डी, मास और चमडी से मुझे पहचाना है। कसाई हड्डी और मास का व्यापार करता है और मोची चमडे का। सच्चा दार्शनिक तो मनुष्य की आत्मा को पहचानता है, जो सबमें एक ही है।'

स्वर्णिम समन्वय

कोई कितना ही गुणवान और महान क्यों न हो, उसे यह विस्मरण नहीं करना चाहिए कि दूसरों में भी गुण होते हैं। यह कल्पना करना धृष्टता होगी कि सर्वशक्तिमान ने ज्ञान का दीप कुछ ही लोगों को दिया है और शेष सभी को अँधेरे में रखा है। हमारे प्राचीन ऋषियों तक ने, जो अत्यत गर्व के साथ अपने को 'आर्य' कहते थे और जिन्होंने सपूर्ण विश्व को आर्य बनाने का निश्चय किया था, यह घोषणा की थी कि अन्यों, अर्थात् म्लेच्छों में भी उदात्त एव श्रेष्ठ व्यवहार की क्षमता है। हमारे पूर्वजों में यह एक अद्वितीय गुण था कि वे दूसरों के आत्मसम्मान को बिना ठेस पहुँचाए उन्हें अपना बना लेते थे। राष्ट्र के पुनरुत्थान का कार्य इसी भावना, अर्थात् किसी को भी न छोडने और सबका सम्मान करने से चलाना चाहिए।

राष्ट्र के कार्यकर्ता को सर्वप्रथम इस दृढ विश्वास के साथ कार्य आरभ करना चाहिए कि सभी व्यक्ति सद्गुणसपन्न, भले एव उत्तरदायित्व निभाने योग्य हैं, अथवा बनाए जा सकते हैं। किसी में भी मूर्खता या देशद्रोह की वृत्ति अतर्निहित नहीं है। कभी-कभी उसे कुछ व्यक्तियों की आलोचना करना आवश्यक हो सकता है, जिनके विचार और कार्य राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध जाते हों, किंतु ऐसा करते हुए भी उसे उनके व्यक्तित्व के प्रति उचित सम्मान व्यक्त करना चाहिए और उनकी अच्छी बातों को स्वीकार करना चाहिए।

सौजन्य मे विश्वास का प्रतिपादन

वास्तविकता यह है कि दूसरों में भलाई को पहचान लेना मानवीय गुणों में से एक सर्वोत्तम और विरल गुण है। कार्यकर्ता के लिए मार्गदर्शक सिद्धात होना चाहिए, दूसरों के गुणों के बीजों का सिचन करना तथा उनकी बुराइयों को सावधानी से बिना दूसरों पर प्रकट किए हुए और अपने श्रेष्ठ चरित्र का उदाहरण उनके सामने रखकर दूर करना। अनेक व्यवहारकुशल लोगों का यह उपदेश है कि लोगों से उनकी योग्यतानुसार काम के लिए

आवश्यक औपचारिक व्यवहार ही करना चाहिए। किंतु जिसने संपूर्ण समाज को संगठित करने को अपना जीवन-लक्ष्य बना लिया है, उसके लिए जैसी वृत्ति की आवश्यकता है, यह उपर्युक्त औपचारिक भाव उसके विपरीत होगा। अपने भाइयों के हाथों बार-बार झिड़की और अपमानों के होने पर भी कार्यकर्ता को उसी प्रेम और सेवा के भाव से उनके द्वार पर पुनः-पुनः जाना चाहिए।'

एक बार एक साधु ने नदी में स्नान करते हुए बिच्छू को धारा में बहते देखा। उसने उसे बचाने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया। किंतु उसके डंक मारने पर उसने उसे छोड़ दिया। उसने पुनः उसको पकड़कर किनारे पर फेंक देना चाहा। बिच्छू ने पुनः डंक मारा। उसने बार-बार यह प्रयास किया और बिच्छू ने भी प्रत्येक बार डंक मारा। किंतु अंत में उसने उसे पानी से बाहर फेंक ही दिया। एक व्यक्ति, जो यह आश्चर्यजनक दृश्य देख रहा था, बोला कि तुम कितने मूर्ख हो कि बिच्छू की डंक मारने की प्रवृत्ति को भली-भाँति जानते हुए भी उसे बचाने का बार-बार प्रयत्न करते रहे। साधु ने शांति से उत्तर दिया— 'हाँ, जब इस प्रकार का जड़ जीव भी अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति को नहीं त्यागता, तो क्या मेरे जैसे बुद्धिसंपन्न मनुष्य को अपनी प्रवृत्ति को त्याग देना चाहिए?'

अविचल साहचर्य का निर्माण

अतः इसी समाज में अपने भाइयों के संबंध में उनका हमारे प्रति जन्मजात विरोध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। कार्यकर्ता को जिस उपेक्षा और विरोध का सामना करना पड़ता है, वह उन भाइयों के अज्ञान के ही कारण है। उसका अल्पकाल टिकना निश्चित ही है। इसलिए उसे प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचना चाहिए। जीवन में उसका वर्तमान भाव और अवस्था कुछ भी क्यों न हो, उसके अंतर्जात सौजन्य में विश्वास रखते हुए मित्रता और समानता के भाव से कार्यकर्ता मिलता रहे। उसमें यह आत्मविश्वास भी होना चाहिए कि वह अपने विशुद्ध स्नेह और उन लोगों के प्रति सम्मान की भावना तथा अपने श्रेष्ठ चरित्र के उदाहरण द्वारा लोगों की विविध दुर्बलताओं, बुराइयों एवं स्वभावगत विभिन्नताओं पर विजय प्राप्त करेगा।

अच्छा चरित्र ही पर्याप्त नहीं होता। ऐसे भी लोग हैं, जो शुद्ध चरित्र से तो संपन्न हैं, किंतु जिनकी वाणी और व्यवहार अत्यंत अशिष्ट तथा चुभनेवाले हैं। वे अपनी अशिष्टता पर गर्व भी करते हैं। वे कहते हैं—

'हम साफ-साफ बात करते हैं, यदि किसी को बुरा लगे तो हमें उसकी जरा भी परवाह नहीं।' किंतु जिस कार्यकर्ता ने राष्ट्र के संगठन के लिए स्वयं को निष्ठापूर्वक समर्पित किया है, उसका ऐसा बनना कदापि लाभप्रद नहीं होगा। राष्ट्र के कार्यकर्ता के लिए वाणी का माधुर्य अनिवार्य गुण है। एक राजा की कहानी है, जो अपनी आयु के संबंध में सदैव ज्योतिषियों से पूछा करता था। उससे सभी ज्योतिषियों ने यही कहा कि उसका जीवन बहुत लंबा है किंतु उसका पुत्र उसके सामने ही मर जाएगा। यह दुःखद बात स्वाभाविक ही उस राजा को क्रोधित कर देती थी और वह उन ज्योतिषियों को दंडित करता था। अंत में एक बूढ़ा ज्योतिषी आया और उसने कहा कि महाराज आप तो बड़े ही भाग्यशाली हैं। आप अपने हाथों अपने पौत्र को राजसिंहासन पर बैठाएँगे। राजा ने अत्यंत प्रसन्न होकर उस ज्योतिषी को भली प्रकार से पुरस्कृत किया। अन्य ज्योतिषियों की भाँति उसने कटु भविष्यवाणी करने के स्थान पर उसी सत्य को भिन्न प्रकार से मधुर ढंग से कहा था। इसलिए कहा गया है कि 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्।'

जब कार्यकर्ता अपने चरित्र की शक्ति के साथ वाणी एवं व्यवहार के माधुर्य का संयोग कर लेता है, तभी वह दूसरों को एकत्र कर सकता है, सभी प्रकार की परीक्षाओं एवं कष्ट में साहचर्य-भावना के साथ खड़ा कर सकता है।

चंद्रशेखर आजाद का उदाहरण है। आजाद का नाम भी चरित्र, साहस और क्रांतिकारी भावना का एक उपाख्यान हो गया है। अंग्रेजों की संपूर्ण गुप्तचर सेना उनका पीछा कर रही थी। एक बार जब वह गुप्त रूप से अपने एक मित्र के यहाँ, जो सरकारी नौकर थे, रहते थे, उस समय पुलिस ने संदेह में उस मकान को घेर लिया। वह मित्र जोर-जोर से पुलिस की बात का प्रतिवाद कर रहा था और यह विश्वास दिला रहा था कि वह चंद्रशेखर के विषय में कुछ नहीं जानता। घर के अंदर मित्र की पत्नी ने आवाज सुनी। चंद्रशेखर भी अंदर बालकों के साथ खेल रहे थे। वह संक्रांति का दिन था। उस महिला ने एक क्षण में ही सोच लिया और डाँटती हुई जोर की आवाज में कहा– 'अरे मूर्ख नौकर, तू यहाँ बच्चों के साथ समय बरबाद कर रहा है। उठ, टोकरी ले, हमें अभी पड़ोसियों में मिठाई बाँटनी है।' तुरंत ही चंद्रशेखर नौकर की भाँति उठे और एक टोकरी सर पर रखकर उस महिला के पीछे-पीछे चल दिए तथा पुलिस की

आँखों के सामने ही घर से निकल गए। मिठाई-वितरण के पश्चात् न तो चद्रशेखर वापस आए और न ही टोकरी। जो व्यक्ति घर के बच्चों में आनद से खेलता रहता था, उसने उस परिवार को राष्ट्रभक्ति, साहस एव विलक्षणता का वास्तविक दुर्ग बना दिया था। हम जहाँ भी रहें और काम करें, हमारा ढग यही होना चाहिए, यही आदर्श होना चाहिए।

सभी सद्गुणो का एक शत्रु

जब कार्य बढता है तथा प्रतिष्ठा प्राप्त करते हुए प्रभावी होने लगता है, तब लोग स्वाभाविकत ही कार्यकर्ताओं की प्रशसा करना आरभ कर देते हैं। कार्यकर्ता के लिए वही खतरे का स्थान है। उसमें अपनी योग्यता और प्रभाव की चेतना जागृत होती है और उसमें एक प्रकार का मिथ्याभिमान उत्पन्न हो जाता है। तब जो भी उसके निकट आते हैं, उनकी नाक में उसके अहकार की दुर्गंध प्रवेश करती है और वे उससे स्वय को पर्याप्त दूर रखने का प्रयत्न करने लगते हैं। सत ज्ञानेश्वर ने अहकार की विचित्र प्रकृति का अत्यत सुदर वर्णन किया है—

नवल अहकाराचे गोठी। विशेष न लगे अज्ञानाचे पाठी।
ज्ञानियाचे पडे कठी। महा सकटी घालितसे।।

(अहकार की गति विचित्र होती है। वह अज्ञानियों का स्पर्श नहीं करता, किंतु विद्वानों की गर्दन पकड कर दबोच लेता है और उनके लिए गभीर सकट उपस्थित कर देता है।)

अतएव उसे अत्यत सावधानी से सब ओर दृष्टि रखनी चाहिए, ताकि वह इस अहकार की प्रताडक गतिविधियों का शिकार न हो जाए। अपने गुणों का मिथ्याभिमान सभी सद्गुणों का शत्रु है। इसमें से प्रलोभन उत्पन्न होने लगते हैं।

हमारे प्राचीन साहित्य में जैमिनी की एक कथा है। वह महर्षि व्यास के शिष्य थे। व्यास ने एक बार उनसे एक श्लोक लिखने के लिए कहा- 'बलवान् इद्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति।' अर्थात् इद्रियों का आकर्षण विद्वान को भी विभ्रात करता है।

जैमिनी को अपने आत्मसयम की शक्ति पर आवश्यकता से अधिक विश्वास था, उन्होंने कुछ शब्दों में परिवर्तन कर उसे निम्न प्रकार से लिखा- 'बलवान् इद्रियग्रामो विद्वास नापकर्षति', अर्थात् इद्रियों का आकर्षण विद्वान को विभ्रात नहीं करता।

व्यास ने इसे देखा पर शात रहे। जैमिनी एक वन में रहते हुए तपस्या कर रहे थे। एक दिन सायकाल वर्षा और तूफान आया। एक सुदरी युवती पानी में भीगी हुई उस अधकार में आश्रय खोजती हुई उस युवा तपस्वी की कुटि में आई और रात टिकने की अनुमति के लिए प्रार्थना करने लगी। धूनी में अग्नि थी, वहाँ जाकर वह अपने कपडे सुखाने लगी। उसी समय हवा के एक झोंके से उसकी साडी उड गई और वह नग्न हो गई। युवा जैमिनी का सयम जवाब दे गया। वह उस तरुणी के पास पहुँचे और अपनी कामुक इच्छा को तृप्त करने की प्रार्थना करने लगे। उसने उन्हें इस काम-वासना से विरत करने के लिए प्रयत्न किया, समझाया कि वह तपस्वी हैं, उन्हें ऐसे प्रलोभनों में नहीं पडना चाहिए। किंतु सब व्यर्थ हुआ। अत में उसने इस शर्त पर उनकी इच्छा पूर्ण करना स्वीकार कर लिया कि वह उसे अपने कधों पर बैठा कर अग्नि की तीन परिक्रमा करें। अपने कामोन्माद में वह उसके लिए भी तैयार हो गए और उस स्त्री को अपने कधों पर उठा लिया। जैसे ही उन्होंने अग्नि की परिक्रमा आरभ की, वह उनके सिर को पीटते हुए उलाहना देकर पूछने लगी– 'विद्वास नापकर्षति?' उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि एक स्त्री उनके गुरु के वचनों का उन्हें स्मरण दिला रही है। उन्होंने अपनी परिक्रमा समाप्त कर उसे कधे से उतारकर जब खडा किया, तो यह देखकर चकित रह गए कि स्वय उनके गुरु वेदव्यास सामने खडे हुए उनकी ओर देख रहे हैं तथा उनके अधरों पर एक सार्थक मुसकान है। जैमिनी पश्चात्ताप में डूब गए। वे तुरत गए और उस श्लोक को मूल रूप में परिवर्तित कर दिया।

आत्मविश्वासी बनो

हमारे सभी महापुरुषों ने निश्चल भाव से यही आज्ञा दी कि प्रत्येक व्यक्ति को वह कितना ही भला और सद्गुणसपन्न क्यों न हो, अपने सब व्यवहारों में नम्र एव कुशल होना चाहिए। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि लोगों के साथ कार्य करते हुए अथवा कठिन परिस्थितियों का सामना करते समय कार्यकर्ता को अपना आत्मविश्वास खो देना चाहिए। सभी बडे कार्यकर्ताओं में आत्मविश्वास तो वास्तविक रूप से उनका जीवन-प्राण होता है।

शात, स्थिर एव आत्मविश्वासी मनुष्य ही कठिनतम कामों को कर सकते हैं। इग्लैंड के पुरुष-सिह विस्टन चर्चिल का वह चित्र हमारे सामने

निराकुल आत्मविश्वासी मस्तिष्क की शक्तियों की कल्पना प्रस्तुत करता है, जिसमें वह द्वितीय विश्व-युद्ध में बम-वर्षा से ध्वस्त लदन नगर के ध्वसावशेष के एक ढेर पर सीधा खडा हुआ अपने देशवासियों से कह रहा है कि– 'मैं यहाँ रोने नहीं आया हूँ, वरन् रक्त, स्वेद, परिश्रम, आँसू तथा विजय का आश्वासन देने आया हूँ।'

जैन साहित्य में एक सुदर कथा है। एक बार श्रीकृष्ण, बलराम और सात्यकि एक वन में भटक गए। उन्होंने एक वृक्ष के नीचे रात्रि बिताने का विचार किया और यह निर्णय किया कि प्रत्येक दो-दो घटे पहरा देगा। आरभ में सात्यकि जागता रहा और अन्य दोनों सो गए। किंतु थोडी देर बाद एक ब्रह्मराक्षस पेड पर से कूदा और उसने सात्यकि को धमकाया कि वह तीनों को खा जाएगा। सात्यकि को क्रोध आया और वह उस राक्षस से युद्ध करने लगा। किंतु सात्यकि को यह देखकर अत्यत आश्चर्य हुआ कि वह राक्षस आकार और शक्ति में बढता ही जा रहा है। सात्यकि अत्यत क्षुब्ध हो गया। दो घटों के बाद पूर्णतया थककर उसने बलराम को जगाया और स्वय सोने चला गया। जैसे ही सात्यकि ने अवकाश लिया कि राक्षस भी लुप्त हो गया। किंतु जब बलराम उठे, तो पुन प्रकट हुआ। बलराम ने उसकी अपार शक्ति को जानकर क्रोध से मत्त होकर उससे युद्ध करना शुरू किया, किंतु उनकी भी वही दशा हुई। दो घटे के व्यर्थ युद्ध के पश्चात् उन्होंने भी श्रीकृष्ण को जगाया और सोने चले गए। राक्षस श्रीकृष्ण के सामने भी आया, किंतु वे शात बने रहे। उन्हें अपनी अति विशाल शक्तियों का ज्ञान था और जानते थे कि राक्षस से कैसे निपटना चाहिए। उन्होंने हँसी-मजाक करते और खेल करते हुए राक्षस पर आघात करना शुरू किया। और कैसा आश्चर्य! जैसे-जैसे श्रीकृष्ण इस प्रकार से लडते रहे, राक्षस आकार में छोटा होने लगा। अत में श्रीकृष्ण ने उसे पकड़कर अपने वस्त्र के एक कोने में बाँध लिया। प्रातःकाल जब बलराम और सात्यकि जगे, उन्होंने श्रीकृष्ण को बहुत प्रशात और विश्रात अवस्था में पाया, मानो कुछ हुआ ही न हो। उस समय उन्हें महान आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने देखा कि वह भयकर राक्षस एक छोटे कीड़े के समान श्रीकृष्ण के वस्त्र के कोने में बँधा है।

अपनी स्वय की शक्ति में उत्कट आत्मविश्वास से प्रसूत मस्तिष्क की शांति निश्चित रूप से शक्ति का अभय स्रोत होती है। क्रोध एवं उत्तेजना ज्ञान, निर्णय तथा दृढ क्रिया को नष्ट कर देते हैं।

फिर भी कार्यकर्ता को आत्मविश्वास के नाम पर गर्व का शिकार नहीं होना चाहिए और न विनीत तथा नम्र बनने के प्रयास में आत्मविश्वास को ही खो देना चाहिए। मन की इस सही सस्थिति को उद्योगशीलता के द्वारा निर्माण करना चाहिए।

मन की इस समता को विकसित करने के लिए अपने विगत इतिहास के महापुरुषों के चरित्रों पर एक दृष्टि डालना, प्रेरणादायी सहायता सिद्ध होगी। हम उन अत्युच्च व्यक्तियों के समक्ष कितने छोटे, कितने क्षुद्र मालूम पडते हैं, जो स्वार्थ-त्याग, धैर्य एव पौरुष के चरम उत्कर्ष पर पहुँच गए थे। विचार एव कर्म के उन श्रेष्ठ व्यक्तित्वों की तुलना में हमारे पास ऐसा क्या है, जिसपर हम गर्व करें? हमें उस ज्ञान की एक बूँद भी प्राप्त नहीं हो पाई है, जिसे शकराचार्य ने अपनी ३२ वर्ष की छोटी आयु में ही प्राप्त कर लिया था। बाल्यावस्था में ही उन्होंने सन्यासी का कठोर जीवन ग्रहण कर लिया था और राष्ट्र-पुनरुत्थान का सदेश देश के चारों कोनों तक ले गए थे। उन्होंने अकेले ही पृथ्वी और आकाश को हिला दिया तथा लोगों में एक बार पुन अपने परपरागत जीवन-मूल्यों की वास्तविक चेतना को जागृत कर दिया। इस प्रकार के दीप्तिमान जीवनों का सतत स्मरण हमारे हृदयों को अपनी दीप्ति से प्रकाशित कर आत्मविश्वास और आत्मविलोपन के साथ उनके पद-चिह्नों पर चलने की प्रेरणा देता है।

'निरहकारिता' ही सफलता है

यदि कार्यकर्ता में अहकार और मिथ्याभिमान का लेश भी रहा, तो वह सौहार्द और तादात्म्य की सच्ची भावना से अपने समाज के सुख-दु ख के साथ समरस नहीं हो सकेगा। सच्ची मैत्री की यह परीक्षा है कि अपनी प्रतिकूल आलोचनाओं को सुनकर भी बुरा न माने। यदि कोई व्यक्ति कुछ ऐसी बात उसके प्रति कहता या करता है, जो दूसरों की दृष्टि में उसे हानि पहुँचाने अथवा अपमानित करनेवाली लगती है, फिर भी वह उसकी चोट को अल्पमात्रा में भी अनुभव नहीं करता, तभी वह उस व्यक्ति के प्रति सच्ची मित्रता का अधिकार जता सकता है।

एक छोटी सी कविता है जो इस भाव को अत्यत सुदरता से व्यक्त करती है। एक युवक और एक युवती में परस्पर बडा प्यार था। किंतु उस लडकी के माता-पिता उसे उस युवक के साथ विवाह करने की अनुमति नहीं दे रहे थे। इसलिए वे दूर के एक एकात स्थान में मिले। वह युवक

कविता में कहता है– 'मैंने उसका गला घोंट दिया और मार डाला, किंतु उसे पीड़ा का अनुभव नहीं हुआ।' इसका यही अर्थ होता है कि जब सच्चा प्रेम है तो पीड़ा अथवा नाराजगी का लेना देना नहीं रह जाता। यदि अप्रसन्न होने की भावना रही, तो इसका अर्थ है कि हमने अहंकार को वास्तव में मिटाया नहीं है। यही वह कसौटी है, जिसे हमें इस प्रकार के प्रत्येक अवसर में अपने पर लगाना चाहिए।

जब कार्यकर्ता अपने अहंकार को पूर्ण एवं बिना किसी दुराव के अपने चुने हुए जीवन-लक्ष्य की वेदिका पर समर्पित कर देता है, तभी वह स्वयं को उसका योग्य माध्यम बना सकता है। एक अच्छा सुर मिलाया हुआ संगीत का यंत्र ही किसी विशेषज्ञ के हाथ में मधुर गान के स्वर झंकृत कर सकता है। इसी प्रकार जब कार्यकर्ता अपनी अहं प्रकृति के सभी कोणों को घिस डालता है, तभी उसकी प्रत्येक बात तथा व्यवहार में आत्मविश्वास एवं ध्येय के प्रति उत्साह का प्रेरणादायी स्वर उठने लगता है।

कुछ लोग हैं, जो कहा करते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ नहीं बदली जा सकतीं। वे कुत्ते की पूँछ के समान हैं, जो प्रत्येक बार सीधी करने के प्रयत्न करने पर फिर टेढ़ी हो जाती हैं। किंतु यह केवल अर्ध सत्य है और उन्हीं पर लागू होता है, जिनका कोई जीवन-लक्ष्य नहीं होता। एक लक्ष्योन्मुख मनुष्य के लिए 'नर करनी करे तो नर का नारायण बन जाए'– यह संदेश पूर्ण रूप से ठीक है। स्मरण रखो– 'प्रत्येक संत का अतीत है और प्रत्येक पापी का भविष्य।' यह भाव कि 'मुझमें परिवर्तन नहीं होगा, मैं जैसा कुछ हूँ, मुझे ग्रहण करो'– समाज को संगठित करने के लिए लाभदायक नहीं। वह तो उस पायदान के समान है, जिसपर लिखा रहता है– 'मेरा उपयोग करो।' क्या जीवन समर्पित किए हुए एक निष्ठावान सजीव मनुष्य में और एक जड वस्तु में कोई अंतर नहीं होता? नियमित चिंतन एवं आत्मनिरीक्षण से कार्यकर्ता को सभी आवश्यक गुणों का अपने में विकास करना चाहिए और अपने नियत आदर्शों की प्राप्ति में सफल होने के योग्य अपने जीवन का निर्माण करना चाहिए।

एक जीवन एक लक्ष्य

आत्मनिरीक्षण के द्वारा कार्यकर्ता इस बात का सही-सही ज्ञान प्राप्त कर लेगा कि उसने राष्ट्रीय जीवन के आदर्श के साथ तादात्म्य प्राप्त करने में कितनी प्रगति की है तथा कहाँ तक वह आदर्श उसके जीवन का

ऐसा सर्वग्रासी अतर्वेग बन गया है, जो उसके विचारों, भावनाओं तथा क्रियाओं को सबके साथ या एकात में भी सचालित करता रहे। उसके एकात में किए हुए विचारों और कार्यो से ही मनुष्य के वास्तविक चरित्र का पता लगता है। विशेषतया आजकल जब युवा मस्तिष्क सब प्रकार के अश्लील चित्र, गाने, सिनेमा, उपन्यास तथा मनोविनोद जैसे आधुनिक सभ्यता के अगणित प्रलोभनों से घिरे हुए हैं, तब अनजाने में ही भावों को ग्रहण करने के बहुत अवसर रहते हैं। अनेकानेक आकर्षण उसे विभिन्न दिशाओं में खींच रहे हैं और यदि वह पूर्ण सावधान नहीं रहता, तो उसका मन तूफानी समुद्र में पतवारहीन जहाज के समान हो जाएगा। इस प्रकार का अस्थिर मन व्यक्ति को नष्ट कर देता है। कहा है– 'अव्यवस्थितचित्ताना प्रसादोऽपि भयकर।' (अस्थिर मनवाले की प्रसन्नता भी खतरनाक होती है।) फिर ऐसे मस्तिष्क की उस अवस्था के विषय में क्या कहा जाए, जब वह क्रोध के आवेश में हो। अत जो कार्यकर्ता एक ध्येयनिष्ठ समर्पित जीवन जीना चाहता है, उसके लिए चारों ओर के इन आकर्षण तथा दुराचार के वातावरण में यह अत्यत आवश्यक है कि वह सदा कठोरता के साथ आत्मनिरीक्षण करता रहे।

अपनी इच्छा के सतत एव सचेतन प्रयोग के द्वारा कार्यकर्ता को उस अवस्था की उपलब्धि हो सकती है, जिससे वह सभी सासारिक प्रलोभनों के होते हुए भी राष्ट्रीय पुनरुत्थान के अपने चुने हुए लक्ष्य पर अपनी सपूर्ण शक्तियों को केंद्रित कर देता है। क्योंकि पवित्रता एव दिव्यता की शक्तियाँ बुराइयों के आकर्षणों से अधिक बलवती होती हैं तथा सदैव कार्यकर्ता के साथ रहकर सत्य भाव से किए गए उसके छोटे से छोटे प्रत्येक प्रयत्न पर अपने दैवी पखों की छाया किए रहती हैं और उसे अधिकाधिक शक्ति प्रदान करती रहती हैं। ऐसी अवस्था में उस आदर्श की पूर्ति में ही उसके जीवन का एकमात्र आनद और सात्वना होगी। उस आनद के सामने अन्य सभी बाह्य आकर्षण नीरस हो जाएँगे।

एक बार लोकमान्य तिलक एक प्रसिद्ध सगीतज्ञ के गायन के कार्यक्रम में ले जाए गए। सगीत से विशाल दर्शक-समाज आनदमग्न हो गया, किंतु तिलक उसी प्रकार अप्रभावित बैठे रहे। सगतीज्ञ ने इस बात को देखा और तिलक जी से पूछा कि क्या सगीत उनकी रुचि का नहीं था। तिलक जी ने उत्तर दिया– 'निस्सदेह तुम बहुत ही सुदर गाते हो। किंतु मेरे कान भगवद्‌गीता के स्वर्गीय सगीत से पूर्णरूपेण भरे हुए हैं, इसलिए

मैं आपके सगीत का आनद नहीं ले सका।'

आत्मसमर्पण का आनद

आदर्श के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना से भरे हुए हृदय में उठनेवाले स्वाभाविक आनद एव प्रेरणा के स्रोत, इस अधकार तथा नैराश्य की सभी शक्तियों को पराभूत कर देंगे। दो योगियों के बारे में एक कथा है। वे परमात्मा के साक्षात्कार के लिए कठोर तपस्या कर रहे थे। नारद जी उसी मार्ग से भगवान के लोक को जा रहे थे। उन योगियों ने नारद से प्रार्थना की कि वे भगवान से यह बात ज्ञात कर उन्हें सूचित करें कि उनके साक्षात्कार के लिए उन्हें और कितने जन्मों तक तपस्या करनी पडेगी? वापसी में नारद जी उन दोनों योगियों से पुन मिले। पहले से उन्होंने कहा– 'केवल चार जन्म। यह सुनते ही उस योगी को बडी निराशा हुई और वह रोकर कहने लगा 'हे ईश्वर, अभी भी चार जन्म।' दूसरे से नारद ने कहा– 'तुम्हें तो अभी इतने जन्मों तक प्रतीक्षा करनी होगी, जितने कि इस सामने के इमली के पेड में पत्ते हैं।' कितु नारद को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह तो आनद से नाचने लगा। जब नारद ने इसका कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया– 'अब मुझे ईश्वर तक पहुँचने के पूर्व की ठीक-ठीक जन्म-सख्या मालूम हो गई है। इसके पश्चात् मैं निश्चय ही ईश्वर से मिलूँगा। यह सच में कितनी बडी सात्वना की बात है।' जैसे ही उसने यह कहा, आकाशवाणी सुनाई दी– 'तुम तो इसी क्षण एक ऐसी आत्मा हो जिसे ईश्वर का साक्षात्कार हो गया है।' इस प्रकार की जीवन भर के लिए अध्यवसाय की भावना, पूर्ण विश्वास एव अविचल इच्छा शक्ति ही चमत्कार दिखा सकती है।

आगे, और अधिक आगे बढना

बिना अत्यधिक कष्ट और त्याग के महान कार्य सपन्न नहीं हुआ करते। कार्यकर्ता को इसके लिए व्यक्तिगत और पारिवारिक सुखों के रूप में भारी मूल्य चुकाना पडेगा तथा ध्येय-पथ पर चलते हुए कष्टों एव सकटों के जीवन को मुस्कराते हुए स्वीकार करना होगा। कर्तव्यनिष्ठ जीवन की सकटों से भरी यात्रा के लिए मार्गदर्शक रूप में श्रीराम का दीप्तिमान उदाहरण ध्रुव तारे के समान है। बाल्यावस्था में ही वे विश्वामित्र के द्वारा माता-पिता से दूर ले जाए गए। इस प्रकार राजकुमारों के जीवन को त्यागकर वनवासियों का जीवन बिताना पडा और राक्षसों से युद्ध भी करना

पड़ा। बाद में जब सीता का पाणिग्रहण करके वे अयोध्या लौट रहे थे, तब भीषण परशुराम का सामना करना पड़ा। इसके पश्चात् चैन की साँस भी ले पाते तथा सुख-भोग कर सकने से पूर्व ही चौदह वर्ष के लिए वनवास की यात्रा करनी पड़ी। वे चौदह वर्ष भी विघ्न-बाधाओं तथा राक्षसों के साथ संघर्ष से भरे हुए थे। उन्हीं वर्षों में रावण द्वारा सीता-हरण तथा लंका में महायुद्ध हुआ। जैसे ही लौटकर अयोध्या आए और राजा के रूप में अभिषिक्त हुए, वैसे ही उन्हें राजा का कर्तव्य निभाने के कारण एक विशेष अवस्था में सीता को त्यागना पड़ा। दुर्वासा के क्रोध का शमन करने के लिए और उनके क्रोध से अयोध्या को नष्ट होने से बचाने के लिए उन लक्ष्मण को भी उन्हें त्यागना पड़ा, जिन्होंने सभी विपत्तियों में छाया के समान उनका अनुसरण किया था, जो उनको प्राणों के समान प्रिय थे। निश्चय ही उनका जीवन सभी चारित्रिक एवं योग्यताओं के मानदंडों के अनुसार अद्वितीय था और कष्ट सहने तथा त्याग में भी अद्वितीय था।

एक छोटी सी कविता है, जिसमें एक युवक की कहानी है, जो वर्षा और तूफान में पहाड़ी मार्ग पर अपने हाथ में एक झंडा उठाए हुए जा रहा है, जिसपर 'उत्कर्ष' चिह्न अंकित है। थोड़ी देर के बाद उस अंधकार में उसे एक छोटा सा झोंपड़ा दिखाई देता है जिसमें दिया जल रहा है। जैसे ही वह उसके निकट पहुँचता है, एक वृद्धा झोंपड़े से बाहर आकर उसे रोकती है और कहती है— 'मेरे बच्चे, इस तूफान और वर्षा में तुम कहाँ जा रहे हो? मेरे कोई अपना पुत्र नहीं है। तुम यहाँ रहो और हमारी संपूर्ण संपत्ति का भोग करो।' किंतु उस युवक ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया। तभी उसकी सुंदर पुत्री बाहर आती है और उस सुंदर तथा सुदृढ़ युवा को अपनी मोहक वाणी से संबोधित करती है— 'मैंने अभी तक अपना हृदय किसी को अर्पण नहीं किया है, किंतु अब मैंने वह तुम्हें दिया। कृपया यहीं रहिए।' उस युवक का उत्तर वैसा ही दृढ़ था। वह कहता है— 'मैं तो आगे जाता हूँ। कोई वस्तु मुझे रोक नहीं सकती।' इतना कहकर वह आगे बढ़ गया।

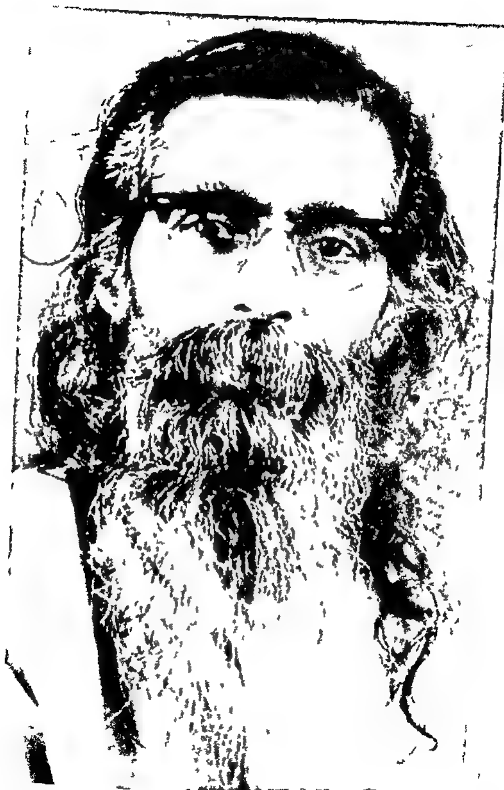
इसी प्रकार की एक घटना तात्या टोपे के जीवन में वास्तविक रूप से घटित हुई थी। तात्या टोपे सन् १८५७ के स्वातंत्र्य संग्राम का अद्वितीय सेनानायक था। 'अजीजन' नाम की एक मुसलमान नर्तकी उस सेनानायक के पुरुषोचित सौंदर्य पर मोहित हो गई। उसने उसके हृदय को जीतने के लिए अपने सभी आकर्षणों का उपयोग किया। किंतु तात्या टोपे ने उससे

कह दिया— 'देखो, तुम जानती हो कि मेरे जीवन की एक ही अभिलाषा है कि अंग्रेजों को देश के बाहर निकाल दिया जाए। मुझमें किसी दूसरे विचार के लिए स्थान ही नहीं है। पर तुम यदि सचमुच मुझे प्यार करती हो और मेरे हृदय को आनद पहुँचाना चाहती हो, तो इस श्रेष्ठ कार्य में मेरा हाथ बँटाओ।' अजीजन तुरत तैयार हो गई। उसने अपनी सपूर्ण सपत्ति तात्या टोपे को दे दी और उसकी योजना के अनुसार अंग्रेजी सेना के शिविर में गई। वहाँ उसने अपने रूप-लावण्य से उन कप्तानों को मोहित किया तथा सभी गतिविधियों में साथ रहकर उनकी योजनाओं को राष्ट्रीय विप्लव के नेताओं तक पहुँचाती रही। युद्ध में भी अपने जीवन के अत तक वह लक्ष्य के प्रति प्रामाणिक रही।

ऐसे होते हैं वे व्यक्ति, जो अपने स्पर्श मात्र से निकृष्ट को उत्कृष्ट बना सकते हैं, सभी कठिनाइयों को सुअवसरों में परिवर्तित कर सकते हैं तथा अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए महान सग्राम में सम्मोहनों को भी अपना सहायक बना सकते हैं। स्वामी विवेकानद के शब्दों में 'वे भीषण की पूजा करते हैं और सकटों में ही जीवित रहना उन्हें प्रिय है। स्नायुओं में यौवन की जोशीली शक्ति तथा नेत्रों में आदर्शवाद की चमक लिए हुए सम्मोहनों एव प्रतिकूलताओं के सभी तूफानों में सुस्थिर अविचल खडे हुए और अपने चारों ओर प्रेरणा की किरणें विकीर्ण करते हुए वे विजयिष्णु भाव से आगे बढते जाते हैं। जब तक उन्हें अपने स्वप्नों का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो जाता, वे एक के बाद दूसरी सफलता को प्राप्त करते हुए आगे बढते ही जाते हैं।'

हमारे कार्य के लक्ष्य का अतिम स्वरूप हमारे समाज की पूर्ण सगठित अवस्था है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति आदर्श हिदू मनुष्यत्व की मूर्ति बनकर समाज के सगठित व्यक्तित्व का सजीव अग होगा।

— श्री गुरुजी



ऋऋऋ